दो शब्द

वेदमूर्त्ति पं० मोतीलाल शास्त्री द्वारा प्रणीत गीताविज्ञान-भाष्य-भूमिका के द्वितीय खण्ड के लिये "दो शब्द" लिखने की धृष्टता हमें करनी पड़ रही है। हमारे इस प्रयास को धृष्टता न कह यदि पागलपन कहा जाय तो विशेष उपयुक्त होगा। क्योंकि हमारे सरीखे विद्या बुद्धि वाले मनुष्यों के लिये पं० मोतीलाल सरीखे विद्वानों की पुस्तकों के लिये दो शब्द लिखने की चेष्टा करना पागलपन नहीं तो क्या है ? किन्तु हमारा यह पागलपन क्षम्य है और इसके कारण हैं।

आज से प्रायः दो-ढ़ाई वर्ष पूर्व पं० मोतीलालजी शास्त्री से हमारा शाक्षात् हुआ था। उनके व्याख्यानों एवं उनके अन्दर छिपे हुये व्यक्तित्व को देखकर हमने उन्हें एक बड़ा पागल समझा था। क्योंकि होश-हवास दुरुस्त रहते हुये क्या कोई भी मनुष्य आजकल के दिनों में वेदतत्त्व सरीखे नीरस विषय को लेकर उसके जीर्णोद्धार के उद्देश्य से विना किसी सहायता एवं सहारे के इतना बड़ा बोझ अपने सिर पर उठा सकता है ? किन्तु पंडितजी ने इतने बड़े बोझ को केवल उठाया ही नहीं प्रत्युत् हमें यह देख कर आश्चर्य्य हुआ कि आपने उसके एक अंश की पूर्त्ति भी कर डाली है। १५-२० वर्षों तक लगातार श्री गुरुचरणों[1] में बैठ कर सतत् अध्ययन के साथ-साथ आपने वैदिक विज्ञान सम्बन्धी साहित्य पर इसी उम्र में (आप की उम्र यही ३०-३२ वर्ष की होगी) प्रायः ५०-६० हज़ार पृष्ठ लिख भी डाले हैं जिनका प्रकाशन अपेक्षित है। साथ-साथ अपने इस संचित ज्ञान-भंडार का प्रचार सर्व साधारण में करने के लिये जगह-जगह पर आपने व्याख्यान देने[2] भी आरम्भ कर दिये हैं और इस उद्देश्य से कष्ट

१—जयपुर निवासी स्वर्गीय मधुसूदनजी ओझा, जिनका देहांत हाल ही में जयपुर में हो गया, कहा जाता है कि वैदिक-विज्ञान के अपने समय के आप एक ही विद्वान थे और अपना सारा जीवन आपने वैदिक रिसर्च में ही बिता दिया। उन्हीं ओझाजी की एक मात्र देन पं० मोतीलालजी शास्त्री हैं।

२—आपने अबतक बम्बई, हैदराबाद, कलकत्ता, बनारस इत्यादि स्थानों में धारावाहिक रूप से महीनों तक व्याख्यान दिये हैं।

साध्य यात्रायें भी की हैं। हमने देखा यह तो पागल ही नहीं वरञ्च भयंकर
अवाधगति से किसी भी विघ्नवाधा की परवाह किये विना अपने महान् उद्देश्य-
है और इसे सम्भव समझता है। ऐसे पागल के संसर्ग में आने से हम पर भी
असर होना स्वाभाविक था और उस पागल के स्वप्न को पूरा करने के
पागल हो उठे।

मित्रों ने कहना शुरू किया 'ऐसे जटिल साहित्य के प्रकाशन से लाभ ही क्या।
हज़ार पृष्ठ पढ़ेगा ही कौन'। हम सुनते थे और हंसते थे। वे हमें पागल समझते थे
उन्हें पागल समझते थे। रुपये-आने-पाई में मशगूल रहने वाले उन भोले दोस्तों क
नहीं कि आज तक संसार के साहित्य में करोड़ों २ पृष्ठ प्रकाशित हो चुके हैं और
और लोग उन्हें पढ़ रहे हैं। वे सब पढ़ने वाले पागल हैं। और हमारे इस साहित
वाले भी कुछ पागल अवश्य मिल जायंगे। दुनिया मे सभी तो लक्ष्मी के वाहन नही
सरस्वती के पुजारी भी हैं जिनके अध्ययन के बल पर आज की यह दुनिया और
निक साधन अवलम्बित हैं। उन्हे इस वात का पता नहीं कि पंडितजी के इस
पीछे भी आज भारतवर्ष मे पागलों की कमी नहीं है। वे ही पागल इस साहित्य के

हमें इतनी आशा तो है। लेकिन यदि जर्मनी के उन विद्वानों का उदाहरण हमारे
दोस्तों के सामने रखें जिन्हों ने अपना सारा जीवन जर्मनी सरीखे देश में हमा
अध्ययन मे बिता दिये हैं तो वे सचमुच में पागल हो जायंगे। आज जर्मनी सरी
हमारे वेदों का प्रकाशन हो रहा है। वेदों के प्रामाणिक संस्करण के लिये आज
विद्वानों का मुँह देखना पड़ रहा है। वहा भी उनका धारावाहिक अध्ययन करने वाले
और आज वहा वेदों के अध्ययन एवं प्रकाशन के लिये लाखों मार्क सालाना खर्च
रहे हैं। तो क्या हमे हमारे वैदिक विज्ञान को पढ़ने वाले लोग यहां नहीं मिलेंगे।
वड़ा पागलपन है। अस्तु,

हमने औरों के साथ महसूस किया कि हमारे भारतीयत्व एवं उसके अस्तित
यह अत्यन्त आवश्यक है कि पंडितजी के द्वारा प्रतिपादित यह साहित्य प्रकाशित कि
क्योंकि पश्चिमीय विचारधारा के संघर्ष में आये हुये मस्तिष्क को सिवाय पंडि
प्रणाली के और कोई दूसरी प्रणाली अपने धार्मिक गूढ़ तत्त्वों को हृदयंगम नहीं करा
जहां हमारा प्राचीन पंडित समुदाय विभिन्न दैनिक एवं धार्मिक कृत्यों
विधि एवं निषेध की आज्ञा देकर चुप हो जाता है वहां उसी वस्तु के "क्यों और
वैदिक-ज्ञान खुलासा करता है जिसकी आज हमें अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि

ाह समय नहीं रहा जब हम बिना कारण जाने किसी कार्य्य को करना शुरू कर दें, उस कारण को हम तबतक नहीं जान सकते जब तक हम ज्ञान के आधारभूत वेदों को । सहारा न बनावें।

सी उद्देश्य को लेकर हम ने झोली उठाई और ७-८ हजार रुपये इकट्ठे भी किये लेकिन खा कि यह तो समुद्र में विन्दु के बराबर भी नहीं है। इस विशाल साहित्य को समु-रूप से सम्पादित कर प्रकाशित करने में कम से कम एक लाख रुपये अपेक्षित हैं। इतनी कम मांग कर कहां तक पूरी करें। यह कार्य्य तो तभी सम्भव हो सकता है जब कोई का लाड़ला वर-पुत्र हमारी तरह इस साहित्य के पीछे पागल हो जाय। और पर-ा की असीम अनुकम्पा से हमारे श्रेष्ठतम नागरिक श्रीयुत् वंशीधरजी जालान (सूरजमल मल) के रूप में हमें एक ऐसा पागल मिल भी गया। आज इसी पागल गोष्ठी के पन के फलस्वरूप हम श्रीयुत् वंशीधरजी की ओर से यह प्रथम-पुष्प उदार पाठकों की में भेंट कर रहे हैं।

इस नवीन-योजना के अनुसार यह निश्चय किया गया था कि कलकत्ते के आस-पास सी निर्जन-स्थान में एक 'वैदिक-विज्ञान-आश्रम' की स्थापना की जाय जहां पंडितजी र अपनी ही तरह के कुछ बिगड़े दिमाग वालों को इकट्ठा कर अध्ययन का कार्य्य करें साथ-साथ ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य्य भी करते रहें। साल में महीने-दो-महीने भारत के न्न स्थानों में व्याख्यानों का सिलसिला जारी रहेगा ही। किन्तु कुछ तो श्रीयुत् वंशीधरजी स्वस्थता के कारण बाहर रहने की वजह से, कुछ कलकत्ते के आसपास आश्रमोपयुक्त । के न मिलने के कारण तथा कुछ पंडितजी के पागलपन को कलकत्ते का वातावरण अनुकूल जँचने के कारण यह योजना अभी तक कार्य्य रूप में परिणत नहीं की जा सकी। तमा जाने कभी यह कार्य्य रूप में परिणत भी होगी। परन्तु यह पौधा राजस्थान की मि को छोड़ कर बंगाल की सुजलाम्-सुफलाम् भूमि में पनपता हुआ नहीं दीखता। फिर स से जहां तक बन सकेगा उसे यहीं से सींच कर बड़ा करने की कोशिश करेंगे।

विनीत—

कलकत्ता,
चैत्र, सं० १९९८ वि०

वेणीशंकर शर्म्मा
गंगाप्रसाद भोतिका

हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका

द्वितीयखण्ड 'ग' विभाग

ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा की संक्षिप्त

विषयसूची

* *
*

हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका

द्वितीयखण्ड 'ग' विभाग

ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा की विस्तृत

विषयसूची

विषय — पृष्ठसंख्या

विषयसूची

विषयसूची

विषयसूची

विषय	पृष्ठसंख्या

ण—गीताप्रतिपादितत्रिब्रह्मसंस्था— १३१-१३३

त—अद्वैतवाद का समर्थन— १३३-१४७

इति—सिद्धान्तवादः

समाप्ता चेयं 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा'

विषयसूची

हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका

द्वितीयखण्ड 'ख' विभाग

कर्म्मयोगपरीक्षा की संक्षिप्त

विषयसूची

* *

*

हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका

द्वितीयखण्ड 'ख' विभाग

कर्म्मयोगपरीक्षा की विस्तृत

विषयसूची

विषयसूची

इति—सदर्भसङ्गति

विषयसूची

विषय पृष्ठसंख्या

ट—नित्यसिद्ध ईश्वरीययोग— २५७-२५८

ठ—कर्त्तव्ययोग के दो भेद— २५८-२६०

विषय पृष्ठसंख्या

ड—अविद्याचतुष्टयी— २६०-२६३

*—प्रकरणोपसंहार— २६३—

इति—योगसङ्गतिः

इति—वैदिककर्म्मयोगः

३—वर्णव्यवस्थाविज्ञान—३१५-५१४

क—जिज्ञासुवर्ग का क्षोभ— ३१५-३१८

विषयसूची

विषयसूची

च—अदिति-दितिमूला वर्ण-अवर्णसृष्टि— ३६०-३७५

विषयसूची

ढ—धर्म्मभेदमूलक आहारादि की विभिन्नता— ४२१-४२७

विषय	पृष्ठसंख्या

ण—वर्णव्यवस्था का सामाजिक नियन्त्रण— ४२७-४२६

त—वर्णव्यवस्था, और वादी के १३ आक्षेप— ४२६-४४७

श्रीः

सम्पादकीय

कर्म्मगर्भित ब्रह्म की प्रेरणा से 'आत्मपरीक्षा' के अनन्तर 'गीताभाष्यभूमिका' का ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' तथा (अंशात्मक) 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक द्वितीय खण्ड का 'ख' विभाग गीताप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। "जब गीताभूमिका ही इतनी विस्तृत है, तो स्वयं गीताभाष्य कितना विस्तृत होगा, और महाविस्तृत इस गीता-प्रपञ्च को कौन पढ़ेगा" इन श्रुतियों के समाधान के लिए यही निवेदन करना पर्य्याप्त होगा कि, जिस लक्ष्य से हमें इस बहुविस्तार का आश्रय लेना पड़ा है, उस लक्ष्य-सिद्धि की दृष्टि से तो यह बहुविस्तार भी स्वल्पमर्य्यादा का ही पोषक बन रहा है। सामयिक नाट्यग्रन्थ, उपन्यास, अल्पनिबन्ध (ट्रैक्ट) आदि साहित्य जिस रूप से सार्वजनीन बनते हुए प्रचार-प्रसार की दृष्टि से सफल हो रहा है, वैसे हमारा यह बहुविस्तृत 'शब्दप्रपञ्च' सार्वजनीन बन जायगा, सर्वसाधारण इससे लाभ उठा सकेंगे, इस उद्देश्य से हमारा प्रयास कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

हमारा अपना ऐसा विश्वास है कि, विगत २-३ सहस्राब्दियों में आर्षसाहित्य (वैदिक-साहित्य) पर जो व्याख्याएं हुई हैं, उनमें सामयिक 'सन्तमत' की प्रतिच्छाया का समावेश रहा है। व्यापक आर्षसाहित्य व्याप्य व्याख्याओं के अनुग्रह से सामयिक, अतएव परिवर्त्तनशील संकुचित मतवादों की तरह एक साम्प्रदायिक साहित्य बन गया है। फलतः आर्षसाहित्य का विज्ञानसम्मत मौलिकस्वरूप अस्तप्राय हो चुका है। परिणाम इसका यह हो रहा है कि, प्रतीच्य विद्वानों के द्वारा उपहाररूप से प्राप्त बुद्धिवाद की उपासना करने वाले, बुद्धिवादसम्मत कृत्रिमज्ञान के अनुग्रह से श्रद्धा-विश्वासमय आत्मवादसम्मत सहजज्ञान की उपेक्षा करने वाले वर्त्तमानयुग के भारतीय शिक्षितों की दृष्टि मे आर्षसाहित्य विशुद्ध कल्पना का साम्राज्य रह गया है। भारतीय आर्षसाहित्य को परमेश्वर की वाणी समझने वाले प्रत्येक आस्तिक को अपने ही बन्धुवर्ग की इस उपेक्षा से यदि अन्तर्वेदना का अनुभव हो, तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है। अपनी इसी वेदना की चिकित्सा के लिए यह आवश्यक समझा गया कि, जिन

शिक्षितों का दृष्टिकोण आर्षसाहित्य के प्रति विपरीत-भावना का अनुगामी वन रहा है, उसे वदलने के लिए आर्षसाहित्य का सोपपत्तिकरूप उनके सम्मुख रक्खा जाय।

अपने उक्त संकल्प के सम्बन्ध में हमारे सामने धर्म्मप्राण, एवं शास्त्रैकशरण भारतवर्ष की 'लक्षणैकचक्षुष्कता' उपस्थित हुई। **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'—'शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह—तदस्माकं प्रमाणम्'** इस वीजमन्त्र को कभी विस्मृत न करने वाली आर्षप्रजा के परितोष के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि, शब्दप्रमाण को आधार वना कर ही उसके सम्मुख कोई वस्तु रक्खी जाय। विना किसी आप्त ग्रन्थ को मध्यस्थ वनाए केवल युक्ति-तर्कसम्मत साहित्यविटप भारत की शास्त्रवासनावासितभूमि में कभी पुष्पित पल्लवित नहीं हो सकता।

लोकनिष्ठा के नाते वर्त्तमान में 'गीताशास्त्र' ने विशेष ख्याति प्राप्त कर रक्खी है। गीता उस अमानव पुरुष की दिव्यवाणी है, जिसे हम सगुणब्रह्म का पूर्णावतार मानते आए हैं। अपने इस स्वतःप्रमाण समकक्ष-माहात्म्य के कारण गीता जहां सर्वोत्कृष्ट शास्त्र है, वहां आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) की संक्षिप्त, तथा सारगर्भित विषयसूची वनती हुई भी उत्कृष्टता में इतर शब्दशास्त्रापेक्षया यह अग्रगामिनी सिद्ध हुई है। गीता वह कोशशास्त्र है, जिस में वैदिकसाहित्य में प्रतिपादित परात्पर, पुरुष, प्रजापति, ऋषि, पितर, देवता, असुर, गन्धर्व, मनु, ब्रह्म, प्रणव, आत्मगति, संचर, प्रतिसंचर, ज्ञान, विज्ञान, सदसत्, अहोरात्र, व्योम, रज, अम्भ, यज्ञ, कर्म्म, इत्यादि रहस्यपूर्ण विषयों का तालिकारूप से समावेश हुआ है। वेदशास्त्र में अनन्य व्यासङ्ग रखने वाले, अतएव 'वेदव्यास' नाम से प्रसिद्ध भगवान् वादरायण ने इसी वेदनिष्ठा के आधार पर गीता को 'सर्वशास्त्रमयी' कहना अन्वर्थ माना है। वैदिक साहित्यानुशीलन करने वाले आर्षव्यक्तियों के लिए गीताशास्त्र आधारशिला है। ठीक इसके विपरीत वैदिकसाहित्य को अनुपयोगी माननेवालों के लिए वेदार्थोपबृंहक गीताशास्त्र एक असमाधेय प्रश्न है। गीता और वेद का आत्म-शरीरवत् घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेद यदि आत्मा है, तो गीता उसका शरीर है। आत्मवञ्चित शरीर जैसे 'शव' है, निस्तत्व है, एवमेव वेदशास्त्रवञ्चित गीता निस्तत्त्व है। सम्पूर्ण वैदिक परिभाषाओं को अपने गर्भ में रखने वाला जो गीताशास्त्र एक रहस्यपूर्ण शास्त्र है, उसे साम्प्रदायिक रंग में रंग डालना भारतवर्ष के बौद्ध-जगत् का कङ्काल उपस्थित करना है। सचमुच हमारा यह सीमातीत दुर्भाग्य है कि, गीता जैसे रहस्यपूर्ण शास्त्र को आज हमनें आर्षसिंहासन से उतार कर पङ्क में

फँसा दिया है। भारतश्री के मुकुट का यह अमूल्यरत्न काच-खण्ड से वेष्टित कर दिया गया, यह जान कर किस आर्षप्रेमी को वेदना न होगी ?

हमारे इन उद्गारों का सामयिक लक्ष्य केवल यही है कि, गीताशास्त्र आर्षशास्त्र का निकटतम, (किन्तु न्योक[1]) सखा है। एकमात्र इसी दृष्टि से हमें आर्षसाहित्य के मौलिक-स्वरूप-परिचय के प्रसङ्ग में गीता को माध्यम बनाना पड़ा है। स्वयं आर्षसाहित्य में से 'शतपथब्राह्मण' एवं परिगणित 'उपनिषत्', इन दो का माध्यम स्वीकार किया गया है। मन्त्रसंहिताभाग, एवं आरण्यकभाग ब्राह्मण, तथा उपनिषद्-व्याख्या से गतार्थ हैं। नितान्त मौलिकदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली व्याख्याएं बहुविस्तृत हैं, पुनरुक्तिदोषाक्रान्त हैं, अतएव सर्वसाधारण के लिए अनुपयुक्त हैं, यह सब कुछ सहन करते हुए भी हमें अपने साहित्य-भाण्डार की क्षतिपूर्त्ति के लिए विस्तारभाव को उपास्य बनाना पड़ा है। यह भाषासाहित्य कोश में सुरक्षित रहने वाली वह निधि है, जिस का दैनन्दिनव्यवहारों में कोई उपयोग नहीं हुआ करता, अपितु आवश्यकतानुसार समय समय पर थोड़ा बहुत व्यवहार में ले लिया जाता है।

अपने आप को पूर्ण साहित्यिक मानने वाले एक प्रतिष्ठित पुरुष ने प्रस्तुत साहित्य की पृष्ठसंख्याओं के नामश्रवण पर मन्दस्मितभाव से ये उद्गार प्रकट किए थे कि, "इतना कौन पढ़ेगा, किसे समय है, दैनिक जीवन में इस का क्या उपयोग, समाज का द्रव्य क्यों नष्ट किया जाय" ? संयोग वैसा ही था। एक प्राचीन स्मृतिभवन का जीर्णोद्धार हो रहा था, उसी के निरीक्षण के अवसर पर हमारे सामने ये उद्गार उपस्थित हुए थे। हम आत्मसंयम न रख सके। प्रकृतिवश कहना पड़ा कि, "नितान्तशून्य जङ्गल में बने हुए इस महाकाय भवन का क्या उपयोग ? क्यों इस में पैसा खर्च किया जा रहा है"। यदि पुरुष महोदय हमारी ही तरह दर्शकमात्र होते, तब तो सम्भव था, वे इस कार्य्य की भी अनुपयोगिता सिद्ध करने की चेष्टा करते। परन्तु दुर्भाग्यवश आप ही इस कार्य्य के परम्परया सञ्चालक भी थे, एवं शिल्पियों का निरीक्षण ही अत्रागमन का मुख्य उद्देश्य था।

तपःपूत महर्षियों की विमल ज्ञानधारा के परिचायक प्रभूत आर्षसाहित्य को अनुपयोगी कहने वाले हमारे देश के सम्पन्न महानुभावों ने क्या कभी यह भी सोचा कि, थोड़ा-सा

---

१ अवरश्रेणी के मित्र को वैदिकभाषा में 'न्योक' कहा जाता है, जैसा कि—'सवाहमस्मि सख्ये न्योकाः' (ऋक् सं० ५।४४।१५) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।

जीवन, क्षणभङ्गुर ससार, सब अपने अपने शुभाशुभ कर्म्मों के निविड तन्त्र से तन्त्रायित, फिर सम्पत्तिसंग्रह का क्या उपयोग ? दैनिक जीवन की उपयोगिता से कहीं सहस्रकोटिगुणित धनसञ्चय का क्या प्रयोजन ? जिस भारतभूमि ने सब से पहिले अपने प्राङ्गण मे ज्ञानधारा प्रवाहित की, जिस भारतवर्ष ने ज्ञानगरिमा को सर्वोच्च आसन प्रदान किया, जिस भारत ने साहित्यरत्नराशि को जड धातुराशि के साथ तौलने का कभी भूल से भी सकल्प न किया, वह भारतवर्ष आज इस प्रकार अपने मौलिक साहित्य को धातुखण्डों से भी हल्का मान बैठेगा, यह कौन जानता था। जाओ ! देखो ॥ और पश्चात्ताप करो ॥।

उन केम्ब्रिज, तथा ऑक्सफोर्ड की युनिवर्सिटियों मे, जहा के विद्वान् उपयोगिता, अनुपयोगिता जैसे नगण्य प्रश्न के सस्मरण से भी दूर रहते हुए उस देश के मौलिक साहित्य के उद्धार मे अहोरात्र सलग्न हैं, जिस देश के अभिमानी उन साहित्योपासकों को 'विधर्म्मी'-'म्लेच्छ' कहते हुए लज्जा से यत्किञ्चित भी तो नतमस्तक नहीं होते। इतर साहित्य की चर्चा में हम पाठकों का विशेष समय नहीं लेना चाहते। विचार उस वैदिक साहित्य का करना है, जिसे हमने अपनी बपौती मान रक्खी है, परन्तु सपूती के लक्षण यह हैं कि, वृद्धपिता का जीवित रहना भी हमे अखर रहा है।

वेदिकसाहित्य के पुनरुद्धार मे प्रतीच्य विद्वानों ने जो परिश्रम किया है, करोडो रुपयों की आहुति दी है, उन के इस त्याग का महत्त्व केवल उन की प्रशंसा पर ही समाप्त नहीं हो जाता। यद्यपि यह ठीक है कि, इस कार्य्य से उन के ज्ञानीय जगत में पर्य्याप्त विकास हुआ है। परन्तु इस देश पर उन का जो ऋण है, वह अकथनीय है। 'बङ्गाल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना करने वाले स्वनामधन्य सर विलियम जोन्स', 'वेद का साहित्य और इतिहास' नामक महत्वपूर्ण निबन्ध के लेखक सर्वश्री 'रुडाल्फ रोठ', सभाष्य सहिताओं का शुद्ध सस्करण प्रकाशित करने वाले सुप्रसिद्ध साहित्यप्रेमी माननीय 'मेक्समूलर' आदि उन प्रतीच्य विद्वानों की वैदिक साहित्यनिष्ठा को देखते हुए हमे अपने वर्त्तमान पर कैसी करुणा आती है, यह अवाच्यवाद है। भले ही पश्चिमी विद्वानों की वेदव्याख्या भारतीय मौलिक दृष्टिकोण से मेल न खाती हो। परन्तु जिन वेदग्रन्थों का अस्तित्व वेदभक्तभारतीयों की दृष्टि से मिट चुका था, उन ग्रन्थों का समुद्धार कम महत्त्व नहीं रखता। उन महापुरुषों न कभी यह सकल्प विकल्प न किया कि, सुदूर पूर्व की इस प्राचीनतम जटिलभाषा मे सकलित वैदिकसाहित्य पर क्यों माथापच्ची की जाय। उन के अन्तर्जगत् में कभी यह तुच्छ

प्रश्न स्थान न पा सका कि, इतना पढ़ेगा कौन ? । 'प्राच्यसाहित्य का उद्धार आवश्यक है' केवल इसी मूल को लक्ष्य में रख कर उन पुरुषपुङ्गवों ने अपना समस्त जीवन साहित्य-सेवा मे लगा दिया। साथ ही यहा की गवर्न्मेन्ट ने भी इस साहित्यिक क्षेत्र मे मुक्तहस्तता का परिचय देते हुए अपने को अनुकरणीय बनाने मे कोई बात न उठा रक्खी।

ठीक इसके विपरीत हमारे देश की मनोवृत्ति कैसी है ? इसका स्पष्टीकरण केवल इसी से हो रहा है कि, भारतवर्ष मे आज एक भी पुस्तकालय ऐसा नहीं है, जहा विदेशों में प्रकाशित वैदिकग्रन्थों का पूरा संग्रह भी सुरक्षित हो। सर्वसाधारण की कौन कहे, जिन विश्वविद्यालयों का ध्यान सर्वप्रथम इस ओर जाना चाहिए था, वे भी इस ओर से मुकुलितनयन बने हुए हैं। 'ऐशियाटिक सोसाइटी-कलकत्ता'—'भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट-पूना' 'आनन्दाश्रम-पूना' आदि जो परिगणित संस्थाएं इस दिशा मे प्रयास कर रहीं हैं, वे भी अर्थाभाव के कारण सङ्कटापन्न हैं। देश के धनिक इस ओर से उदासीन हैं। आध्यात्मिकवाद के प्रथम गुरू भारतवर्ष के इस आध्यात्मिकपतन का इससे अधिक दुःखान्त अभिनय और क्या होगा।

अस्तु, साहित्य के नाते हमारा पतन किस सीमा पर जा पहुँचा है, इस अप्रियचर्चा को अधिक तूल रूप देना व्यर्थ है। सामयिक प्रतिष्ठा-रक्षा के लिए धनिक समाज ऐसे ऐसे समाधान सोचा ही करेगा, परन्तु जिन्हें अपने साहित्य की लगन है, वे ऐसे नगण्य भावों की उपेक्षा करते हुए 'स्वान्तः सुखाय' के आधारपर अपने लक्ष्य पर दृढ़ ही रहेंगे। अवश्य ही कोई समय ऐसा आवेगा, जब हमारे ये सम्पन्न महानुभाव मोहनिद्रा का परित्याग कर उत्साह प्रकट करेंगे। और समझेंगे कि, मौलिक साहित्य सर्वथा संरक्षणीय है, भले ही दाल-रोटी की तरह इसका दैनिक जीवन मे कोई उपयोग न हो।

निवेदन किया जा चुका है कि, भारतवर्ष की 'प्रमाणभक्ति' को सुरक्षित रखने के लिए गीता को मध्यस्थ बना कर वैदिक विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है। गीतासाहित्य मुख्य रूप से 'भूमिका-आचार्य-भाष्य' इन तीन भागों मे विभक्त हुआ है। तीनों में से 'गीताभूमिका' का कार्य्य प्रक्रान्त है। इसके 'बहिरङ्गपरीक्षा-अन्तरङ्गपरीक्षा-सर्वान्तरतमपरीक्षा' नामक तीन खण्ड हुए हैं। बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड ५०० पृष्ठों में 'वैदिक-विज्ञानप्रकाशनफण्ड कलकत्ता' के सहयोग से प्रकाशित हो गया है। दूसरे 'अन्तरङ्ग-परीक्षा' खण्ड में 'आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा' इन चार विषयो का समावेश हुआ है। एवं तीसरे सर्वान्तरतमपरीक्षा' खण्ड मे 'भक्ति-

योगपरीक्षा, बुद्धियोगपरीक्षा, गीतासारपरीक्षा' इन तीन विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है। यही 'गीताभूमिका' का संक्षिप्त परिचय है। इस के अनन्तर 'गीताचार्य्य' एवं गीतामूल भाष्य का समावेश है, जिन का परिचय अप्रस्तुत है।

'अन्तरङ्गपरीक्षा' नामक भूमिका द्वितीय खण्ड के सम्बन्ध मे पहिले यह संकल्प था कि, 'आत्मपरीक्षा' को तो एक विभाग में प्रकाशित किया जाय, एवं शेष 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्म-योगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा' इन तीन विषयों का एक विभाग निकाला जाय, इस प्रकार 'क'-'ख' रूप से द्वितीयखण्ड प्रकाशित किया जाय। तदनुसार इसी वर्ष मे कलकत्ता फण्ड से 'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीयखण्ड का 'क' विभाग ५०० पृष्ठों मे प्रकाशित कर दिया गया। अनन्तर एक नवीन झञ्झावात हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ, जिस का परिचय करा देना भी अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

निरन्तर ४-५ वर्षों से हम इस प्रयास में हैं कि, ५० सहस्रपृष्ठात्मक इस वैदिक साहित्य के प्रकाशन की सुव्यवस्था के साथ साथ एक ऐसी संस्था प्रतिष्ठित की जाय, जिसमें मतवाद से असंस्पृष्ट विशुद्ध प्राच्यप्रणाली से वैदिक-स्वाध्याय का अनुष्ठान हो। गतवर्ष कलकत्ते के प्रवास में इस स्वप्न की सत्यता के कुछ आभास मिले। सुप्रसिद्ध साहित्य-प्रेमी श्रीयुत माननीय 'श्री बन्सीधरजी' जालान का ध्यान इस कार्य्य की ओर गया। आपने आश्रमव्यवस्था के साथ साथ ग्रन्थ प्रकाशन की व्यवस्था का भी आश्वासन दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, यदि हम प्रकृतिस्थ बने रहते, तो इस आश्वासन से लक्ष्य सिद्धि सम्भव थी। परन्तु जन-कलकलपूर्ण उस महानगरी ने ६ मास के निवास से ही यह चेतावनी दे डाली कि, कलकत्ता आश्रम बना सकता है, ग्रन्थप्रकाशन की व्यवस्था कर सकता है, परन्तु आध्यात्मिक विकास का द्वार यहां अवरुद्ध है। परिस्थितियों ने शीघ्र ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि, प्रका-शन-आश्रम के प्रलोभन स्वाध्याय कर्म्म के अन्यतम शत्रु हैं। जिस समय परिस्थितियों के जाल मे फस कर हम समय की हत्या कर रहे थे, उसी समय कलकत्ते में प्रकाशनकार्य्य आरम्भ हो गया था। इसी लक्ष्य से प्रभावित होकर 'आत्मपरीक्षा' प्रकाशन की प्रस्तावना मे यह स्पष्ट कर दिया था कि, भविष्य में हमारे कार्य्य का केन्द्र भी कलकत्ता होगा, एवं निवास भी वहीं होगा।

अतीत घटनाओं की स्मृति के आधार पर यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि, अपने स्वाध्यायकर्म्म की रक्षा के लिए हमे सभी प्रलोभनों का परित्याग करना पड़ा है। पिता, भ्राता, बन्धुजन, तटस्थ व्यक्ति, कार्य्यसहयोगी, जिनसे भी कुछ भी प्रतिबन्ध की छाया प्रतीत हुई,

तत्काल अपने कर्म्म की रक्षा की गई है। 'स्वाध्याय-विरोधी भावों का परित्याग करते हुए ही हमें प्रकाशन-आश्रम का प्रलोभन स्वीकृत है' इस सत्य, किन्तु वर्त्तमानयुग की मनोवृत्ति से विपरीत जाने वाले सिद्धान्त के आधार पर ही हमें अपने लक्ष्य पर पहुंचना है। सर्वानुकूल कलकत्ता स्वाध्यायाश्रम मे प्रतिकूल सिद्ध हुआ-सा प्रतीत हुआ। फलतः हमें वहां से अनिश्चित समय तक के लिए लौट आना पड़ा। यह भी निश्चित है कि, जबतक आत्मानुगतभावों की रक्षा का पूर्ण विश्वास न हो जायगा, तबतक दुबारा इस भूल को दोहराने का अवसर न मिलेगा।

हमारा यह सत्य विश्वास है कि, श्री जालानजी के सहयोग में किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं है। अपने जीवन में यह पहिला ही अवसर मिला, जहां वैदिकसाहित्य स्थान पा सकता है। इस दैवी सहयोग को सुरक्षित रखने की कामना करते हुए, विचारविपर्य्यय का भार एकमात्र अपनी प्रकृति पर डालते हुए हम जालानजी का हृदय से अभिनन्दन करते हैं, जिनके उदार सहयोग से गीताभूमिका-प्रत्यंश प्रकाशित हो रहा है। 'ब्रह्म०, कर्म्म० ज्ञान०' तीनों विषयों की पृष्ठसंख्या रूपरेखा-काल मे यद्यपि ६०० पृष्ठ के ही लगभग थी। परन्तु प्रेस-प्रतिलिपि सम्पन्न करते हुए तीनों विषयों की पृष्ठसंख्या १२०० के लगभग जा पहुंची। अतएव एक विभाग का संकल्प छोड़ कर तीनों के लिए 'ख'—'ग'—'घ' ये तीन विभाग नियत करने पड़े।

प्रकाशन सुविधा की दृष्टि से ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा का अर्द्धभाग, इन दोनों का 'ख' विभागात्मक एक स्वतन्त्र खण्ड रखना पड़ा, कर्म्मयोगपरीक्षा के शेष भाग का 'ग' विभागात्मक स्वतन्त्र खण्ड, तथा 'ज्ञानयोगपरीक्षा' का 'घ' विभागात्मक स्वतन्त्र खण्ड बनाते हुए (ख-ग-घ इस रूप से) अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीय खण्ड की समाप्ति सामयिक मानी गई। इन तीनों विभागों में से ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा तथा वर्णव्यवस्थाविज्ञानपर्य्यन्त 'कर्म्मयोगपरीक्षा', ये दो विषय प्रस्तुत 'ख' विभाग में समाविष्ट हैं। 'ग' विभागात्मक आगे के शेष 'कर्म्मयोगपरीक्षा' प्रकरण मे **आश्रमव्यवस्थाविज्ञान, संस्कारविज्ञान, कर्म्मतन्त्र का वर्गीकरण**, इन तीन विषयों का समावेश रहेगा। यह प्रकाशन भी कलकत्ते मे ही श्री जालानजी की ओर से हो रहा है। और ऐसा विश्वास है कि, अक्षय तृतीया तक यह कार्य्य भी सम्पन्न हो जायगा। इन दोनों विभागों के अनन्तर प्रकाशन-कार्य्य कलकत्ते मे होगा? अथवा जयपुर मे? इसका समाधान परिस्थिति से सम्बन्ध रखता है, जिस की सूचना यथासमय प्रकाशित कर दी जायगी।

प्रस्तुत 'ख' विभाग के 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' प्रकरण का प्रधानतः दार्शनिक दृष्टिकोण से सम्बन्ध है। अतएव उपयोगिता की दृष्टि से यह केवल विद्वानों के अनुरञ्जन की ही सामग्री है। वैदिक युग से भी प्राचीन साध्ययुग मे प्रचलित ऋग्वेद के 'नासदीयसूक्त' में प्रतिपादित सुप्रसिद्ध १० वादों के स्पष्टीकरण के साथ साथ इस प्रकरण में गीताप्रतिपादित 'ब्रह्म-कर्म्म' पदार्थों का तात्त्विक विश्लेषण हुआ है। विषयविभाग की दृष्टि से 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक एक प्रधान प्रकरण है। इसमें '१—दशवादरहस्य, २—विद्वानों की वादचतुष्टयी, ३—सिद्धान्तियों का सिद्धान्तवाद' इन तीन अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है। तीनों प्रकरणों में क्रमशः १२, ४, १६, परिच्छेदों का समावेश हुआ है, जैसा कि विषय सूची में स्पष्ट कर दिया गया है। तत्त्वतः यह विभाग गीता के—'अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' (गी० १३।१२) इस सूत्र का स्पष्टीकरणमात्र है।

इसी 'ख' विभाग में पूर्वकथनानुसार 'वर्णव्यवस्थाविज्ञान' पर्य्यन्त जिस 'कर्म्मयोग-परीक्षा' का समावेश हुआ है, उस के सम्बन्ध में भी दो अक्षर कह देना अप्रासङ्गिक न होगा। 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' प्रकरण जहां प्रधानतः विद्वदनुरञ्जन-सामग्री है, वहां कर्म्मयोगपरीक्षा का प्रस्तुत प्रकरण सामयिक धार्म्मिक व्यामोह का निराकरण करता हुआ सर्वसाधारण के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा आत्मविश्वास है। सम्पूर्ण 'कर्म्मयोगपरीक्षा' में निम्न लिखित विषयों का समावेश हुआ है—

उक्त सात प्रकरणों मे क्रमशः १ २ ३ ४ ५ ६ ७ / ५-१३-४-२०-११-७२-५७, इन परिच्छेदों का समावेश हुआ है। १३२ परिच्छेदात्मक, ७ अवान्तरप्रकरणात्मक, कर्म्मयोगपरीक्षा-प्रकरण के क्रमशः ४२ परिच्छेदात्मक आरम्भ के ४ प्रकरणों का ही प्रस्तुत 'ख' विभाग में समावेश हुआ है,

जैसा कि 'विषयसूची' से स्पष्ट है। शेष प्रकरणों का परिचय दूसरे 'ग' विभाग के सम्पादकीय की प्रतीक्षा मे है। उचित था कि, सम्पादकीय से यहीं विश्राम ले लिया जाता। परन्तु वर्त्तमान भारतीय समाज की कर्म्मप्रवृत्ति को लक्ष्य मे रखते हुए यह आवश्यक है कि, प्रतिपाद्य कर्म्मरहस्य के सम्बन्ध मे कुछ एक ऐसी परिस्थितियों का स्पष्टीकरण किया जाय, जिन के आधार पर पदे पदे निष्काम-कर्म्मवाद की घोषणा से हृत्कम्प करने वाले आज के ये अभिनिविष्ट कर्म्मयोगी अपने भ्रान्त दृष्टिकोण को वदलने का अनुग्रह कर सकें।

ब्रह्मगर्भित कर्म्ममूर्त्ति, सदसल्लक्षण, न सत्-नासत् रूप से उपगीयमान, लोकात्मक, लोकानुप्रविष्ट, लोकातीत, सर्वधर्म्ममूर्त्ति, सर्वधर्म्मशून्य, तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य वाह्यत., तदेजति, तन्नैजति, इत्यादि अचिन्त्य विलक्षण भावों से युक्त प्रजापति के भोग्यस्थानीय कर्म्मप्रधान पाञ्चभौतिक महाविश्व के एक अणुतम प्रदेश मे अपना अस्तित्व प्रतिष्ठित रखने वाला मानव समाज यदि समय समय पर किंकर्त्तव्य-विमूढ वन जाता है, तो इस में कोई आश्चर्य्य नहीं है। अचिन्त्य, विलक्षण प्रजापति एतद्रूप ही इस का स्थूलशरीर स्थानीय महाविश्व, तद्रूप ही कर्म्मसूत्र। ऐसे कर्म्मसूत्र की ग्रन्थियां यदि मानवीय वुद्धि से न खुल सकें, तो इस में कौन सा आश्चर्य्य है।

"हमे अपने, अपने कुटुम्ब, समाज, जाति, ग्राम, नगर, राष्ट्र, तथा विश्व के हितों के लिए किस समय, किस ढंग से, क्या कर्म्म करना चाहिए, एवं किन कर्म्मों से अपने आप को वचाना चाहिए" ? इस प्रश्न ने सृष्टि से आरम्भ कर अद्यावधि सहस्रों उत्तरदाता उत्पन्न किए। प्रत्येक ने अपने अपने वौद्ध-धरातल पर वैठ कर वुद्धिवाद सम्मत उत्तरों से सहजज्ञानानुगत मुग्ध मानव समाज के स्वाभाविक कर्म्म विकास का दलन किया, और अच्छी तरह किया। परिणामस्वरूप ईश्वरीय दिव्यज्ञान-स्रोत से अविछिन्नधारा रूपेण प्रवाहित मानवसमाज का सहजज्ञानस्रोत अपने मूलप्रवाह से वञ्चित होकर कृत्रिम-वुद्धिवाद का अनुगामी वनता हुआ अपना सर्वस्व खो वैठा। स्वल्पकायात्मक इस सम्पादकीय मे सहज, कृत्रिमज्ञानधाराओं की मीमासा अप्राकृत है। इन दोनों के आधार पर प्रकृत मे वक्तव्यांश यही है कि, सहजज्ञान की प्रेरणा से सम्वन्ध रखने वाले सहज कर्म्म ग्राह्य हैं, एवं कृत्रिमज्ञान की प्रेरणा से सम्वद्ध कृत्रिम कर्म्म त्याज्य हैं। आज मानव समाज ने त्याज्य कर्म्मों को ग्राह्य मान रक्खा है, ग्राह्य कर्म्मों की उपेक्षा कर रक्खी है, और निश्चयेन इस विपर्य्यय का एकमात्र कारण है—'उत्तरदाताओं का 'वुद्धिवाद', जिसे हम अपनी सहजभाषा मे 'समझदारी—वुद्धिमानी—पाण्डित्य' आदि नामों से व्यवहृत कर सकते हैं।

अटक से कटक पर्य्यन्त, कन्या से कुमारी पर्य्यन्त परिक्रमा करने से हमें इस तथ्य पर पहुंचना पड़ेगा कि, आज कर्म्मभूमि-भारतवर्ष के कर्म्मठ युवक गीतोपदिष्ट निष्कामकर्म्म को सर्वात्मना उदरसात् करने के लिए सब साधनों से सन्नद्ध बैठे हैं। सर्वत्र निष्कामकर्म्मयोग की दुन्दुभि का तुमुलनाद पाञ्चजन्य के नाद को फीका बना रहा है। योगशास्त्र की कायाकल्प-विधि को चरितार्थ करने के लिए आज घर घर में 'करिष्ये वचनं तव' कहने वाले कर्म्मयोगी अर्जुन प्रकट हो चुके हैं, और नर-नारायण का अभेद सूचित करने के लिए नरावतार हमारे ये अर्जुन स्वयमेव नारायण पदवी को भी अलंकृत कर रहे हैं। शिष्य-गुरु का भेद मिट चुका है। सब योगारूढ़ हैं, उपदेष्टा हैं, निष्कामकर्म्मयोग के सन्देशवाहक हैं। परन्तु.....।

क्या कभी हमनें स्वस्थचित्त होकर गीताशास्त्र के निष्काम कर्म्मयोग की जटिलता का मनन किया ? गीताभक्त उत्तरदाताओं नें ज्ञान-विज्ञानात्मिका रहस्यपूर्ण वैदिक परिभाषाओं के आधार पर प्रतिष्ठित गीताप्रतिपादित कर्म्मरहस्य के तात्त्विक स्वरूप पर दृष्टि डालने का क्या अंशतः भी कष्ट उठाया ? उदाहरण के लिए उस निष्काम कर्म्मयोग को ही सामने रखते हुए प्रचलित गीताभक्ति की मीमांसा कीजिए। सकाम कर्म्म का जहां जीवज्ञानानुबन्धी कृत्रिम ज्ञान से सम्बन्ध है, वहां निष्काम कर्म्म का ईश्वरीय ज्ञानानुबन्धी सहजज्ञान से सम्बन्ध माना गया है। हमारी अध्यात्म-संस्था में दोनों ज्ञानधारा प्रवाहित हैं। तत्त्वतः परिस्थिति तो यह है कि, ईश्वरीय सहजज्ञानधारा ही जीवज्ञानधारा की मूल जननी है। वेदान्त सिद्धान्तानुसार दोनों तत्त्वतः एक ही वस्तुतत्त्व है। और इस अद्वैतदृष्टि से जीव के यच-यावत् कर्म्म परम्परया ईश्वरीय ज्ञान से युक्त रहते हुए निष्काम ही हैं। जिन कर्म्मों में ईश्वरीय प्रेरणा का प्राधान्य है, वे सब कर्म्म जीवेच्छा से कोई सम्बन्ध न रखते हुए निष्काम हैं। जब जीवात्मा का अस्तित्व ही पृथक् नहीं, तो इस के कर्म्म, एवं इस की कामना, दोनों का स्वातन्त्र्य कैसा। जब जीवात्मा की प्रत्येक कामना, तथा कामना से सम्बद्ध कर्म्म, दोनों हृदयस्थ तन्त्रायी ईश्वर[1] के तन्त्र से तन्त्रायित हैं, तो कहां इस की कामना, एवं कहां इस का कर्म्मस्वातन्त्र्य। स्वयं गीताशास्त्र ने अपने प्रस्थानत्रयीभावानुबन्धी सख्यभाव (अद्वै-

---

१—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (गी० १८।६१)

तभाव) को सुरक्षित रखते हुए इसी ईश्वरतन्त्र की सर्वव्याप्ति का समर्थन किया है[1]। इस प्रकार 'तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्तः' आभाणक को सर्वात्मना चरितार्थ करने वाले अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार जीव के सभी कर्म्म उस की सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रप्रज्ञा-प्रेरणा पर ही अवलम्बित हैं।

उक्त अद्वैत-दृष्टि से जीवात्मा के यच्चयावत् कर्म्म उसकी अपनी कामना से कोई सम्बन्ध न रखते हुए यद्यपि 'निष्काम' ही कहे जायेंगे, तथापि 'नाथ ! तवाहं, न मामकीनस्त्वम्' इस वेदान्त-सिद्धान्त के आधार पर प्रतिष्ठित उस व्यावहारिक द्वैतवाद का भी अपलाप नहीं किया जा सकता, जिसको मूल बना कर अहङ्कार (जीवात्मा) ओङ्कार (ईश्वर) का उपासक बना करता है। इसी व्यावहारिक द्वैत-भाव की दृष्टि से जीवात्मा भी अपना एक स्वतन्त्र क्षेत्र बना डालता है। और अपने इस स्वतन्त्र-क्षेत्र के अनुग्रह से अवश्य ही यह सासारिक (वैकारिक) विषयों मे आसक्त होता हुआ अपनी मानस-कामना का प्रवर्त्तक बन जाता है। इस मानस-कामना की दृष्टि से इसके कर्म्म काम्य बन जाते हैं, एवं ये ही काम्यकर्म्म संस्कार के जनक बनते हुए आगे जाकर पतन के कारण बनते हैं। इस पतन से बचने का उपाय है निष्काम कर्म्म का अनुष्ठान।

परन्तु प्रश्न हमारे सामने यही है कि, क्या हम निष्काम कर्म्म का अनुष्ठान कर सकते हैं ? उत्तर मे यही कहना पड़ेगा कि, जहा 'हम' का सम्बन्ध है, वहा निष्काम-भाव का आत्यन्तिक अभाव है। एक सब से महत्त्वपूर्ण बात, आज उन गीताप्रेमियों के सम्मुख यह कहते हुए हमे अणुमात्र भी गीतासिद्धान्त का भय नहीं है कि, 'संसार का कोई भी व्यक्ति निष्काम-कर्म्म नहीं कर सकता'। यह विश्वास करने की बात है कि, निष्काम-कर्म्म का हमारी (जीवात्मा की) विषयानुगत मानस-कामना से कोई सम्बन्ध नहीं है। निष्काम कर्म्म हम कर नहीं सकते, अपितु निष्काम कर्म्म हुआ करते हैं। ईश्वरीय कामना

१—गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलय स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

से सम्बन्ध रखने वाले प्राकृतिक कर्म्म हीं (जिन के बिना जीवनयात्रा का निर्वाह असम्भव है) निष्काम कर्म्म हैं। और ये कर्म्म प्रकृति की प्रेरणा से स्वत एव होते रहते हैं [१]।

हम अपने जीवन में दोनों कर्म्मों का साक्षात्-कार कर सकते हैं। जिन कर्म्मों में अहन्ता का सम्बन्ध है, जिन के सम्बन्ध में हम-'हम निष्काम कर्म्म कर रहे हैं' ऐसी मानस भावना है, वे सब कर्म्म जीवेच्छा से सम्बन्ध रखते हुए काम्य-कर्म्म है, और निश्चयेन ये सब कर्म्म संस्कार-जनक बनते हुए बन्धन के प्रवर्त्तक हैं। कितने एक कर्म्म ऐसे हैं, जिनकी प्रेरणा का हमें भान भी नहीं होता, और वे 'करिष्यस्यवशोऽपि तत्' के अनुसार हो ही पड़ते हैं। इन्हीं प्राकृतिक कर्म्मों को हम 'सहज-कर्म्म' कहेंगे, ये ही सहजकर्म्म गीता-परिभाषानुसार निष्काम-कर्म्म कहे जायँगे, जिनके लिए अपनी वाणी से हम किसी प्रकार का अभिनय नहीं कर सकते।

अपनी जीवनधारा में उक्त दोनों कर्म्मों का परस्पर संघर्ष चलता रहता है। पार्थिव-शरीर प्रधान जीवात्मा पार्थिव (भौतिक) आकर्षण के अनुग्रह से काम्य-कर्म्मों के कुचक्र में फँस कर स्वतःसिद्ध निष्काम-कर्म्मों की उपेक्षा करने लगता है। इसके इस प्रज्ञापराध का परिणाम यह होता है कि, कामना के आत्यन्तिक आवरण से यह अपना ईश्वरीय-स्वरूप भूल जाता है। इसकी इस भूल के परिमार्ज्जन के लिए गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। गीताशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है-'वेदशास्त्रसिद्ध प्राकृतिक कर्म्मों का रहस्योद्घाटन करते हुए उनकी ओर जीवात्मा को प्रवृत्त करना'।

वैदिक कर्म्म ही शास्त्रीय कर्म्म हैं, एवं 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' इस गीता-राद्धान्त के अनुसार वैदिककर्म्म ही गीता का कर्म्मयोग है। गीता के इस कर्म्मयोग का प्रकृति से सम्बन्ध है, प्रकृति का प्राकृतिक अग्नि-वाय्वादि प्राणदेवताओं के साथ सम्बन्ध है। प्राणदेवता अव्ययेश्वर द्वारा प्रादुर्भूत वर्णव्यवस्था से नियन्त्रित हैं। स्व-स्व वर्ण के प्रकृत्यनुगत स्व-स्व धर्म्म हीं गीता के विभक्त स्वधर्म्म हैं। तत्त्वतः प्रकृतिसिद्ध, वर्णाश्रम संस्कारयुत, वैदिक कर्म्म ही गीता का निष्काम-कर्म्मयोग है।

१—प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥ —गी० ३।२७।

गीताप्रतिपादित इसी कर्म्मयोग की स्वरूप व्याख्या के लिए 'कर्म्मयोगपरीक्षा' में "वैदिक कर्म्मयोग, वर्णव्यवस्थाविज्ञान, आश्रमव्यवस्थाविज्ञान, संस्कारविज्ञान, कर्म्मतन्त्र का वर्गीकरण", इन प्रकरणों का समावेश करना आवश्यक समझा गया है। वर्णाश्रमसंस्कार-सिद्ध शास्त्रीय कर्म्मयोग के अतिरिक्त गीतोक्त 'निष्कामकर्म्मयोग' की और कोई व्याख्या नहीं हो सकती। जो महानुभाव वर्णाश्रमसंस्कार के महत्व को भुलाते हुए अपने कृत्रिम-ज्ञान के आधार पर गीता की व्याख्या करना चाहते हैं, वे सर्वथा भ्रान्त-पथ के अनुयायी हैं। अस्तु, स्वयं 'गीताभाष्य' इन सब समस्याओं का यथाप्रकरण समाधान करने वाला है। प्रकृत में वक्तव्यांश केवल यही है कि, वर्णाश्रम को मूल बना कर ही प्रस्तुत 'कर्मयोग-परीक्षा' पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रही है।

अन्त में प्रकाशन के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनुचित न होगा। अबतक जितने प्रकाशन हुए हैं, उन सब की अपेक्षा यदि प्रस्तुतः प्रकाशन अच्छा हुआ है, तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है। बाह्यसाधनों का सौकर्य्य बाह्यस्वरूप की श्रेष्ठता का कारण बन ही जाता है। इसके अतिरिक्त प्रेसाध्यक्ष, हमारे अनन्य सहयोगी श्रीयुत माननीय भगवतीप्रसादसिंहजी 'वर्म्मा' महोदय का अकथ श्रम भी इस सौष्ठव का मुख्य कारण है। आपने प्रकाशन-सौन्दर्य्य के साथ साथ प्रूफ-संशोधन में जो अकथ श्रम उठाया है, बदले में कृतज्ञता प्रकाश के अतिरिक्त हमारे पास और क्या है। सर्वथा मौलिक-साहित्य, नितान्त पारिभाषिक शब्द, फिर ऐसा संशोधन, सचमुच आश्चर्य्य है। हमारा विश्वास है कि, यदि सौभाग्य से ऐसे योग्य महानुभाव का सहयोग हमे मिल जाता, तो प्रकाशन सम्बन्धी सारी त्रुटियाँ दूर हो जातीं। प्रकाशन परिग्रह-आयोजन में, श्री हनुमान पुस्तकालय कलकत्ता में सुरक्षित वैदिक ग्रन्थों की सुलभतया प्राप्ति में प्राच्यसंस्कृति के अनन्य भक्त सर्वश्री श्यामदेवजी देवड़ा से जो सहयोग प्राप्त हुआ है, वह भी कम महत्व नहीं रखता। आपके सहयोग से प्राप्त होनेवाले दुष्प्राप्य वैदिकग्रन्थों से स्वाध्याय-कर्म्म में जो लाभ हुआ है, उसका श्रेय आप ही को है। आशा है, प्राच्यसंस्कृतिप्रेम के नाते भविष्य में भी आपका इसी प्रकार सहयोग मिलता रहेगा। साहित्याभिनय के मूल सूत्रधार श्रद्धेय श्री वेणीशङ्करजी शर्म्मा, तथा माननीय श्री गङ्गाप्रसादजी भोतिका के सम्बन्ध मे हम क्या कहे। जिनके प्रयास से हमें पूर्ण सहयोग प्राप्त हुए, वर्ष में ४ ग्रन्थों के प्रकाशन का आयोजन हो सका, सतत जिनसे उत्साह मिलता रहा, भविष्य में भी जिनका सहयोग अप्रतिहत

रहेगा, उन साहित्यनिष्ठों के सम्बन्ध में कुछ भी कहना उनका महत्त्व कम करना है। सर्वान्त में मानुष अनृतभाव से सम्बन्ध रखनेवाले प्रकाशन-दोषों के लिए क्षमा मांगते हुए, सर्व-सहयोगियों की मङ्गल कामना करते हुए, 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' भावना से स्व० श्री गुरुचरणों में प्रणतभाव से प्रस्तुत रचना भेंट करते हुए सम्पादकीय उपरत होता है।

जयपुर राजधानी
फाल्गुन, वि० स० १९९७

विधेयः—
मोतीलाल शर्म्मा-भारद्वाजः (गौड़ः)

*　*
*

सेठ श्री वंशीधरजी जालान

आप ही के दान
से यह ग्रन्थ-रत्न
प्रकाशित हुआ है।

श्री

अथ

गीताविज्ञानभाष्य-भूमिकायां

'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा'

आत्मकल्याण के लिये प्रवृत्त गीता-शास्त्र प्रधान रूप से आत्मा के ब्रह्म-कर्म्म इन दो दिव्य रूपो को ही लक्ष्य बनाता है। इन्हीं दोनों दिव्य रूपों की समष्टि 'आत्मा' कहलाती है। भूमिका द्वितीय खण्ड के 'क' विभाग में इसी आत्मतत्त्व की परीक्षा हुई है।

ब्रह्म-कर्म्म तथा ज्ञान क्रिया का तात्त्विक स्वरूप —

आत्मपरीक्षा आरम्भ करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, "गीताशास्त्र की अन्तरङ्ग परीक्षा मे आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा इन चार विषयो की प्रधानता है" (देखिये गी० वि० भा० भू० द्वि० ख०,'क' विभाग, २ पृष्ठ)।

उक्त चारों विषयों म आत्मपरीक्षा का समष्टि परीक्षा से सम्बन्ध है, एवं शेष तीनों ब्रह्म-कर्म्म-कर्म्म-ज्ञान परीक्षाओ का व्यष्टिपरीक्षा से सम्बन्ध है। एक ही आत्मतत्त्व के ज्ञान-कर्म्म ये दो विवर्त्त हैं। ज्ञान कर्म्ममय आत्मा के इस भौतिक विश्व मे दिव्य तथा लौकिक दो रूप प्रतिष्ठित है। आत्मसम्बन्धी दिव्य ज्ञान 'ब्रह्म' नाम से एव आत्मसम्बन्धी दिव्य कर्म्म 'कर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। इसी आत्मा के लौकिक रूप, 'ज्ञान' तथा 'क्रिया' नाम से व्यवहृत हुए हैं। क्रियातत्त्व कर्म्म का ही रूपान्तर है, अतएव हमने आत्मा के इस अलौकिक रूप को क्रिया न कह कर 'कर्म्म' ही कह दिया है। वस्तुत ब्रह्म कर्म्मपरीक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले कर्म्म शब्द को तो कर्म्मपरक समझना चाहिए, एव कर्म्मयोगपरीक्षा के कर्म्म शब्द को क्रियापरक मानना चाहिए। निष्कर्ष यही हुआ कि, आत्मा के दिव्यरूप ब्रह्म कर्म्म कहलाएँगे, एव लौकिकरूप ज्ञान क्रिया कहलाएँगे।

ब्रह्म और ज्ञान को, कर्म्म और क्रिया को परस्पर मे पर्य्याय माना जाता है। यह पर्य्याय सम्बन्ध किसी तात्त्विक दृष्टि से यद्यपि ठीक कहा जा सकता है; परन्तु व्यवहार मार्ग में इन चारों शब्दों को पृथक्-पृथक् अर्थों के ही वाचक माना जायगा। निरस्तसमस्तोपाधिलक्षण, प्रत्यस्ताशेषभेदलक्षण, सत्तामात्र (सामान्य सत्तालक्षण), व्यापक, निर्विकल्पक, अतएव वाङ्मनसपथातीत विशुद्ध ज्ञान ही 'ब्रह्म' [1] कहलाएगा। यह ब्रह्मलक्षण ज्ञान, किंवा ज्ञानलक्षण ब्रह्म ही आत्मा का दिव्य ज्ञान पर्व कहलाएगा। सम्पूर्ण विश्व इसी दिव्यज्ञान का उपबृंहण है, अतएव इसे "ब्रह्म" कहना अन्वर्थ बन जाता है। यह ब्रह्मज्ञान आपामरविद्वज्जन, आबालवृद्ध, जडचेतन यथयावत् पदार्थों मे समान रूप से व्याप्त है। कहीं भी कभी भी इस ब्रह्मज्ञान का अभाव नहीं है। चूकि यह ब्रह्मपदार्थ लोकदोषों से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ सर्वत्र समरूप से व्याप्त है, अतएव गीताशास्त्र ने इस निर्दोष ब्रह्म (दिव्यज्ञान) को 'समंब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है। जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये मनः .स्थितः।
> निर्दोषं हि 'समंब्रह्म' तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
>
> —गीता ५।१९

रसात्मक इस समब्रह्म के आधार पर बलात्मक स्वाभाविक कर्म्म नित्य प्रतिष्ठित रहता है। इसी नित्य कर्म्म को "दिव्यकर्म्म" कहा गया है। यह कर्म्म उस ब्रह्म का स्वाभाविक धर्म्म है, अतएव कामना रहित बनता हुआ यह सर्वथा अबन्धन है। अपने इस स्वाभाविक नित्यकर्म्म मे निरन्तर रत रहता हुआ भी ब्रह्म पुष्करपलाशवन्निर्लेप बना रहता है। स्वस्वरूप से क्षणिक, अतएव अशान्त रहता हुआ भी यह दिव्यकर्म्म रसात्मक ब्रह्म की नित्यशान्ति को अपना आलम्बन बनाता हुआ शान्त बन रहा है। आत्मोपकारक इसी कर्म्म को "निःश्रेयस" (मुक्ति) का साधक माना गया है। चूकि बलात्मक इस दिव्यकर्म्म का आधार स्वयं रसात्मक ब्रह्म है, अतएव इसे 'ब्रह्मोद्भव" (ब्रह्म से प्रकट होने वाला) कहा जाता है, जैसा कि—'कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (गी० ३।१५) इत्यादि वाक्य से स्पष्ट है। तात्पर्य्य यह हुआ कि, ब्रह्मशब्द जहाँ लोकातीत नित्य-ज्ञान का वाचक है, वहा कर्म्मशब्द लोकातीत

---

[1] प्रत्यस्ताशेषभेद यत् सत्तामात्रमगोचरम्। वचसामात्मसंवेद्य तज् ज्ञान 'ब्रह्म' संज्ञितम्।

नित्यकर्म्म का वाचक है। इन्हीं दोनों के समन्वय से सम्पूर्ण लोकसृष्टियों का विकास हुआ है, जैसा कि आगे के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

रसात्मक ब्रह्म एवं बलात्मक कर्म्म के समन्वय से उत्पन्न पाञ्चभौतिक विश्व में यद्यपि ब्रह्म-कर्म्म के अतिरिक्त किसी तीसरे तत्त्व की सत्ता नहीं है, तथापि विश्वोपाधि के संसर्ग से विश्वात्मक ब्रह्म और कर्म्म के स्वरूप में अन्तर हो जाता है। वही व्यापक ज्ञान लोकसृष्टि में युक्त होकर परिच्छिन्न बन जाता है, एवं वही शान्तकर्म्म यहां अशान्ति का रूप धारण कर लेता है। इस वैषम्य का एकमात्र कारण है, ब्रह्म के आधार पर होने वाले कर्म्मों का चिति सम्बन्ध। ग्रन्थिबन्धन को ही 'चिति' कहा जाता है। इसी चिति से कायभाव (मर्त्यभाव) का विकास होता है। इसी कायभाव से ज्ञान-क्रिया में नानात्त्व का उदय होता है। और इसी नानात्त्व को लौकिक रूपों का आधार माना गया है। विश्वसीमा के गर्भ में प्रतिष्ठित जितने भी प्राणी हैं, प्रत्येक में ब्रह्म कर्म्म प्रतिष्ठित हैं, यह भी कहा जा सकता है; एवं प्रत्येक प्राणी ब्रह्म-कर्म्म की समष्टि है, यह भी माना जा सकता है। इस व्यष्टिरूप ब्रह्म-कर्म्म-युग्म में ब्रह्म गौण है, कर्म्म प्रधान है। व्यष्टिगत ब्रह्मपदार्थ को ब्रह्म न कह कर 'ज्ञान' कहा जाता है, एवं व्यष्टिगत कर्म्मपदार्थ को कर्म्म न कह कर 'क्रिया' कहा जाता है। प्रत्येक व्यष्टि के ज्ञान और क्रिया सर्वथा पृथक् २ हैं। किसी भी प्राणी के ज्ञान-क्रियाभावों की परस्पर में तुलना नहीं की जा सकती। प्रत्येक की संस्था भिन्न है। इस प्रकार समष्टिरूप वही ब्रह्म-कर्म्मयुग्म व्यष्टिरूप में आकर अनेक भावों में परिणत होता हुआ ज्ञान-क्रिया नामों का पात्र बन रहा है।

इस प्रकार निरुपाधिक भावों के लिए जहां ब्रह्म-कर्म्म शब्द नियत हैं, वहां सोपाधिक रूपों के लिए ज्ञान-क्रिया शब्द नियत हैं। निरुपाधिक अवस्था में ब्रह्म-कर्म्म की साम्यावस्था है, यही सांख्यपरिभाषानुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति की साम्यावस्था है। सोपाधिक अवस्था में ब्रह्म-कर्म्म की ज्ञान-क्रियारूप से विषमावस्था है, एवं यही प्रकृति की विषमावस्था है। प्रकृति का साम्यभाव मुक्ति का अधिष्ठाता है, एवं विषमभाव सृष्टि की मूलप्रतिष्ठा है। फलतः एक ही तत्त्व के ब्रह्म-कर्म्म, ज्ञान, क्रिया ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। पहिला विवर्त्त समष्टिरूप है, दूसरे दोनों विवर्त्त व्यष्टिरूप हैं। एक ही आत्मा की तीन स्थानों में व्याप्ति हो रही है। ब्रह्म-कर्म्मभाव आत्मा का पहिला व्याप्तिस्थान है, ज्ञानभाव दूसरा व्याप्तिस्थान है, एवं क्रियाभाव तीसरा व्याप्तिस्थान है। इन्हीं तीनों व्याप्तियों के स्पष्टीकरण के लिए हमें क्रमशः

ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा इन तीन प्रकरणों का आश्रय लेना पड़ा है। ब्रह्म-कर्म्म नामक दिव्यभावों का व्यापक भाव से सम्बन्ध बतलाया गया है। व्यापक तत्त्वों के साथ न योग सम्बन्ध बन सकता, न वियोग सम्बन्ध। योगभाव केवल परिच्छिन्न भाव से ही सम्बन्ध रखता है। अतएव व्यष्टिरूप परिच्छिन्न ज्ञान-कर्म्मपरीक्षाओं को ही (ज्ञानपरीक्षा—कर्म्मपरीक्षा न कह कर) ज्ञानयोगपरीक्षा-कर्म्मयोगपरीक्षा नामों से व्यवहृत किया है। प्रस्तुत भूमिका खण्ड में आत्मा के इन्हीं तीनों रूपों की परीक्षा हुई है। तीनों में से सर्वप्रथम क्रमप्राप्त "ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा" का ही संक्षिप्त विवरण गीताप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

इति विषय-प्रवेशः

*

* *

दशवाद-रहस्य

विविधभावाक्रान्त, असंख्य प्राणि-अप्राणिसंकुलित इस विश्व का मूल क्या है ?, इस साधारण से प्रश्न के समाधान में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार देखे सुने जाते हैं। सम्भवतः सर्वसाधारण की आज यह मान्यता होगी कि, सृष्टिमूल के सम्बन्ध में उपलब्ध होने वाले अर्वाचीन मतवाद तात्त्विक ज्ञान की शिथिलता का फल है। परन्तु जब हम हमारी पुरातन सभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले इतिहास के पन्ने उलट कर देखते हैं तो हमें इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि, सृष्टिमूलविषयक विभिन्न मतवादों का आविर्भाव-तिरोभाव चिरकालिक है, धारावाहिक रूप से अनादिकाल से प्रवाहित है। यही नहीं, जिस आदियुग में मनुष्य का बौद्धजगत् तत्त्वदर्शन की चरम सीमा पर पहुँच चुका था, उस युग में भी हमें सृष्टिमूल के सम्बन्ध में अनेक (१०) मतवाद उपलब्ध होते हैं। और यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि, जब तक विद्वानों की दृष्टि मतवादमूलक 'दर्शन' भाव पर प्रतिष्ठित रहेगी, तब तक कभी दार्शनिकों का इस सम्बन्ध में सम दृष्टिकोण नहीं बन सकता।

सृष्टिमूलविषयक १० मतवादों का संक्षिप्त परिचय :—

पूर्व के आत्मपरीक्षा प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, मतवाद का एकमात्र दार्शनिक दृष्टि से सम्बन्ध है। एवं दार्शनिक दृष्टि कभी एक नहीं हो सकती। फलतः सृष्टिमूल का जब भी दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जायगा, तभी विभिन्न मतवादों का सामना करना पड़ेगा। (देखिए गी० वि० भा० भूमिका 'आत्मपरीक्षा' पृष्ठ सं० २६ से ४० पर्य्यन्त)। अर्वाचीन भारतीय दार्शनिक इस सम्बन्ध में अपने क्या विचार रखते हैं ? इस सम्बन्ध में हमें जो कुछ वक्तव्य था, वह पूर्व के आत्मपरीक्षाप्रकरणान्तर्गत **'दार्शनिक दृष्टि से आत्मपरीक्षा'** नामक प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रस्तुत प्रकरण में तत्त्ववाद के सम्बन्ध में हमें उन दार्शनिक मतवादों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराना है, जिनकी कि स्मृति भी आज भारतीय विद्वानों के प्रज्ञानधरातल से मिट चुकी है। एवं जिनका कि **देवयुग** से भी पहिले पुष्पित पल्लवित रहने वाले **साध्ययुग**, किंवा **भणिजायुग** से सम्बन्ध है।

युगचर्चा में हम अपने पाठकों का अधिक समय नहीं लेना चाहते। इस सम्बन्ध में बहिरङ्गपरीक्षात्मक भूमिका प्रथम खण्ड में थोड़ा सा प्रकाश डाला जा चुका है—(देखिए गी० वि० भा० मू० प्रथमखण्ड १६ से ५७ पर्य्यन्त)। यहां केवल उस युग के उस तत्त्ववाद की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जिसका कि हमारी सभ्यता के मूलस्रोत रूप-ऋग्वेदसंहिता में उल्लेख हुआ है।

मणिजायुगकालीन परम वैज्ञानिक 'पूर्वे देवा' नाम से प्रसिद्ध साध्य जाति के विद्वानों ने सृष्टिमूल के सम्बन्ध में जो विभिन्न विचार किए हैं, उनका सम्यक् परिज्ञान तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थाध्ययन से ही सम्बन्ध रखता है। यहां केवल उनके नाम, एवं संक्षिप्त परिचय पर ही विश्राम करना पड़ेगा। यद्यपि आज हमें एक भी ऐसा स्वतन्त्र ग्रन्थ उन लोगों का उपलब्ध नहीं होता, जिसमें कि उनकी ओर से उनके मतवादों का स्पष्टीकरण हुआ हो। तथापि उत्तरकालीन (देवयुगकालीन) वैदिक साहित्य में प्रचुरमात्रा से उपलब्ध होने वाले मतवादों के आधार पर ही हम इस सम्बन्ध में आज भी कुछ कहने का साहस कर सकते हैं। एकमात्र इसी आधार पर उन मतों का संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जाता है। आशा है सर्वथा नवीन, न न अति प्राचीनतम इस दृष्टिकोण से विद्वानों का विशेष अनुरञ्जन होगा।

जिस प्रकार गीर्वाणभाषा ('भारती' नाम से प्रसिद्ध संस्कृत भाषा) में प्रचलित 'स्थान' शब्द के लिए 'छन्दोऽभ्यस्ता' नाम से प्रसिद्ध, २८८ वर्णात्मिका वेदभाषा में 'धाम' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवमेव संस्कृत के 'मत' शब्द के लिए वेद में 'वाद' शब्द प्रयुक्त हुआ है। आगे जाकर संस्कृतभाषा ने भी वैदिक वाद शब्द का संग्रह कर लिया है। चूंकि साध्य विद्वानों के मतों का उल्लेख केवल वैदिक साहित्य में हुआ है, अतएव हम इनके मतों को 'मत' न कह कर 'वाद' ही कहेंगे। तत्कालीन साध्य विद्वानों में सृष्टिमूल के सम्बन्ध में विभिन्न १० वाद प्रचलित थे। सृष्टि का मूल क्या है ? सृष्टि किससे बनी ? कैसे बनी ? सृष्टि का क्या स्वरूप है ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए उनकी ओर से परस्पर में सर्वथा विरुद्ध विभिन्न दस वाद उपस्थित होते हैं, जो कि वाद क्रमशः निम्न लिखित नामों से प्रसिद्ध हैं—

१. विज्ञानेतिवृत्तवादः
२. सदसद्वादः
३. रजोवादः
४. व्योमवादः
५. अपरवादः
६. आवरणवादः
७. अम्भोवादः
८. अमृतमृत्युवादः
९. अहोरात्रवादः
१०. दैववादः

१—विज्ञानेतिवृत्तवादः

साध्यवादों के निदर्शन के आरम्भ मे ही यह जान लेना आवश्यक होगा कि, साध्य-विद्वान् एकेश्वरवाद पर अणुमात्र भी विश्वास न करते थे। ईश्वर सत्ता के सम्बन्ध में उनका यह कहना था कि, "प्राकृतिक तत्त्वों के (आकाश-वायु-जल-तेज-पृथिवी आदि तत्त्वों के) अतिरिक्त सर्वव्यापक, सर्वाधार, सर्वमूलभूत 'ब्रह्म' नामक कोई नित्य पदार्थ नहीं है। सम्पूर्ण विश्व, एवं विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित यच्चयावत् पदार्थ केवल प्राकृतिक तत्त्वों के विशेष समन्वयों का ही परिणाम है। यदि हम इन तत्त्वों का सम्यक् परिज्ञान करते हुए इनकी समन्वय प्रक्रिया पर अधिकार कर लेते हैं तो, हम भी सृष्टिनिर्म्माण में समर्थ हो सकते हैं।"

कहना न होगा कि, साध्यों की इसी अनीश्वर भावना ने आगे जाकर (देवयुग में) इनके अनीश्वरमूलक दसों वादों को जर्ज्जरित किया। दसों वादों के कारण ही आगे जाकर ग्यारहवें 'संशयवाद' का जन्म हुआ। अन्ततोगत्वा वेदमहर्षियों द्वारा संशयवाद के निराकरण पूर्वक एकेश्वरमूलक 'ब्रह्मवाद' की स्थापना हुई। जो कि आस्तिकवाद विद्वत् समाज में बारहवां 'सिद्धान्तवाद' कहलाया। उक्त वादचर्चा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, विगत शताब्दियों से भारतवर्ष के अर्वाचीन दार्शनिक विद्वानों में जो संघर्ष देखा जाता है, ईश्वर-अनीश्वरवाद को लेकर जिस आस्तिक दर्शनषट्क, नास्तिकदर्शनषट्क में अहमहमिका सुनी जाती है, यह कोई नूतन घटना नहीं है। शाश्वत देवासुरसंग्राम की तरह यह संघर्ष भी शाश्वत ही है। और पूर्वकथनानुसार जब तक मानवीय मन दर्शन पथ का अनुगामी बना रहेगा, तबतक इसी प्रकार संघर्ष चलता रहेगा। इस संघर्ष से विश्व को बचाने की एकमात्र क्षमता यदि किसी मे है तो 'नित्यज्ञानगर्भित नित्यविज्ञान' में, जिसकी कि गुरुपरम्परा आज सर्वथा उच्छिन्न हो चुकी है। हाँ, तो साध्यविद्वानों की तात्त्विक बुद्धि से सम्बन्ध रखनेवाले 'विज्ञानेतिवृत्त' नामक पहिले वाद पर दृष्टि डालिए।

यह सूर्य्य है, यह चन्द्रमा है, यह पृथिवी है, यह ग्रह है, यह नक्षत्र है, यह आकाश है, यह मनुष्य है, इत्यादि रूप से प्रतीयमान सत्ताभावों की समष्टि को ही "विश्व" कहा जाता है। 'इदमस्ति' (यह है) इस परिज्ञान के अतिरिक्त विश्व का विश्वत्त्व और क्या बच जाता है। "अमुक अमुक पदार्थ हैं, और उन्हें हम जानते हैं" इस सत्तामयी उपलब्धि (ज्ञान) के अतिरिक्त विश्व का अन्य कोई स्वरूप शेष नहीं रह जाता। 'अस्ति-जानामि' इन दो भावों में ही विश्व का पर्य्यवसान है।

सचमुच यह भी एक बडी ही जटिल समस्या है कि, पदार्थ हैं—इसलिए हम उन्हें जानते है, अथवा पदार्थों को हम जानते हैं—इसलिए वे हैं ? वस्तु की सत्ता ज्ञान का कारण है, अथवा हमारा ज्ञान उस वस्तुसत्ता का कारण है ? ज्ञान सत्तापूर्वक है, अथवा सत्ता ज्ञानपूर्विका है ? मान लीजिए दीवाल के उस पार एक वस्तु रक्खी हुई है। परन्तु दीवाल के आवरण के कारण आपको उसका परिज्ञान नहीं होता। यदि केवल वस्तुसत्ता ही ज्ञान का कारण होती तो, इस स्थिति मे दीवाल के रहने पर भी पारस्थित वस्तु का ज्ञान हो जाना चाहिए था। परन्तु नहीं होता, ऐसी दशा मे थोडी देर के लिए हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचना पडता है कि, वस्तु की सत्ता उस वस्तु के ज्ञान का कारण नहीं है, अपितु हमारा ज्ञान ही वस्तुसत्ता का कारण है। वस्तुसत्ता जब हमारे ज्ञान को आश्रय बना लेती है, तभी "इदमस्ति" इत्याकारक सत्ताभाव का अभिनय होता है।'

उक्त सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर यह तथ्य निकलता है कि, "विश्व मे हम जो कुछ 'अस्ति' रूप से देख रहे हैं, दूसरे शब्दों में विश्व के जिन पदार्थों की सत्ता का हम अनुभव कर रहे हैं, वे सब सत्तासिद्ध पदार्थ हमारे ज्ञान के आश्रित हैं। हम उन्हें जानते हैं, इसलिए वे हैं। जो पदार्थ हमारी ज्ञानसीमा से बाहर हैं, उनकी सत्ता मानना सर्वथा असगत है। यहाँ तक कि, आस्तिको की ईश्वरसत्ता भी हमारे ज्ञान की ही एक कल्पना विशेष है। हमारे ज्ञान ने "ईश्वर" भाव की कल्पना करके ही ईश्वर को सत्तासिद्ध पदार्थ बना डाला है। हमीं ईश्वरसत्ता के प्रचार-प्रसार के कारण हैं। हमारे ज्ञान के अतिरिक्त 'सत्ता' कह कर पुकारा जानेवाला कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। हमारे ज्ञान की ही एक काल्पनिक अवस्था को हमने 'सत्ता' नाम से विभूषित कर डाला है। वस्तुतः हमारी कल्पना के अतिरिक्त सत्ता नामक कोई नित्य तत्त्व नहीं है।"

अब दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। सत्ता को प्रधानता देने वाले दार्शनिक कहते हैं कि, बिना सत्तासिद्ध पदार्थ को आश्रय बनाए ज्ञानोदय सर्वथा असम्भव है। हम अपने ज्ञान को सत्ता रंग मे रंग कर ही, सत्ताकाराकारित बना कर ही उसका अभिनय करने में समर्थ होते हैं। 'घटमहं जानामि' (मैं घडा जानता हूँ) इस घटज्ञान का स्वरूप सत्तात्मक घट के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'घटोऽस्ति' (घडा है) यही तो हमारा ज्ञान है। 'अस्ति' (सत्ता) ही तो 'उपलब्धि' (ज्ञान) है। यदि घट नामक कोई सत्ता सिद्ध पदार्थ न होगा तो, हमें कभी घटज्ञान नहीं होगा। घटसत्ता ही घटज्ञान का कारण है। जिस पदार्थ की सत्ता है, उसी का हमे ज्ञान होता है। दीवाल बीच में आ जाने मात्र से दीवाल के उस पार

रक्खे हुए घट की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। यदि हमारा ज्ञान ही सत्ताभावों की कल्पना करता है तो, फिर यत्र-तत्र-सर्वत्र हम सब पदार्थों की अनुभूति क्यों नहीं कर लेते। हम देखते हैं कि, जिस देश-काल में जो सत्ताभाव प्रतिष्ठित रहते हैं, हमें उन्हीं की शरण में जाना पड़ता है। सर्दी की रात में जाड़ा लगता है। हम जानते हैं कि, सूर्य्यताप से जाड़ा मिटता है। यदि सूर्य्य केवल हमारी ही कल्पना है तो, क्यों नहीं रात्रि में ही हम आतप सेवन कर लेते ? क्यों सूर्योदय की प्रतीक्षा की जाती है ? फलतः सिद्ध हो जाता है कि, ज्ञानोदय का मूल कारण सत्ता ही है। सत्तापूर्वक ही ज्ञान का उदय होता है, किंवा सत्तोपलब्धि ही ज्ञान है। सत्ता की ही एक विशेष अवस्था का नाम ज्ञान है। स्वयं श्रुति भी इसी पक्ष का समर्थन कर रही है। देखिये !

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १ ॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ २ ॥

—कठोपनिषत् ६ वल्ली, १२-१३ मन्त्र।

उक्त दोनों मतों में कौनसा सिद्धान्त मान्य है ? इस प्रश्न का समाधान आस्तिक वैदिकदर्शन से सम्बन्ध रखता है। इधर प्रकृत में हमें अनीश्वरवादमूलक विज्ञानेतिवृत्तवाद का दिग्दर्शन कराना है। अतः अपने घर की चर्चा छोड़ कर अभी परचर्चा की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। विज्ञानेतिवृत्तवादियों का झुकाव "ज्ञान-पूर्विका सत्ता" सिद्धान्त की ओर ही है। इनकी दृष्टि में प्रथम पक्ष ही उचित एवं आदरणीय है।

"सत्तापूर्वक ज्ञान" सिद्धान्त के पक्षपाती, सत्ताब्रह्मवादी विद्वान् सत्ताप्राधान्यवाद के समर्थन में जो जो तर्कवाद उपस्थित करते हैं, उन सब का इनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। केवल ज्ञान का ही विजृम्भण घोषित करने वाले इन साध्यों का कहना है कि, थोड़ी-देर के लिए यदि ज्ञान से अतिरिक्त सत्तासिद्ध पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार कर भी लिया जाय, तब भी यह तो निर्विवाद है कि, हमें जिन पदार्थों का, जिन विषयों का ज्ञान होता है, हो रहा है, एवं होगा, वह सब केवल हमारे ही ज्ञान की कल्पना है। सत्तासिद्ध पदार्थों का ज्ञान हमें कभी नहीं हो सकता। सत्तासिद्ध सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यादि का ज्ञान कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। वैज्ञानिक कहते हैं, सूर्य्यपिण्ड भूपिण्ड की अपेक्षा कई सहस्रगुणित बड़ा है। कहते

रहें। क्या किसी ने उतने बड़े सूर्य्य का प्रत्यक्ष किया है ? असम्भव। ६, अथवा ७ अङ्गुल के व्यास वाले जिस सूर्य्य को हम देख एवं जान रहे हैं, वह सूर्य्य हमारे ही ज्ञान की कल्पना है।

यदि सम्पूर्ण विश्व ईश्वर नाम के किसी कल्पित तत्त्व का महाशरीर मान लिया जाता है, (जैसा कि आस्तिक लोग मान रहे हैं) तब भी ज्ञानप्राधान्यवाद का ही समर्थन होता है। सत्तासिद्ध सूर्य्य-चन्द्रादि ईश्वरीय अन्तर्जगत् के पदार्थ हैं। हम देखते हैं कि, एक व्यक्ति के अन्तर्जगत् में जो पदार्थ है, जो विचारधारा प्रवाहित है, हम उसे न देख सकते, न जान सकते। जब एक मनुष्य के अन्तर्जगत् में रहने वाले भावों का हमें परिज्ञान नहीं हो सकता, तो ईश्वर के अन्तर्जगत् रूप विश्व का परिज्ञान कैसे सम्भव माना जा सकता है। निदर्शन मात्र है, ऐसे और भी अनेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि, जो कुछ हम देख-सुन-जान रहे हैं, वह सब हमारे ज्ञान का ही विजृम्भण है।

वस्तुतस्तु सत्तासिद्ध पदार्थ की भावना भी एक प्रकार की ज्ञानीय कल्पना ही मानी जायगी। ईश्वर और उसका अन्तर्जगत् भी तो हमारे खयाल की ही बात है। फिर उन्हें भी ज्ञान से पृथक् कैसे माना जा सकता है। "अभी तक वृक्ष न था, लीजिए अङ्कुर निकला, पुष्प आए, फल आए, कालान्तर में पतझड़ होने लगा, शाखा-प्रशाखाएँ सूखने लगीं, मूल सूखा, किसी समय पुनः वृक्ष स्मृतिगर्भ में विलीन हो गया" ये सब केवल हमारे ज्ञान की ही नवीन-नवीन कल्पनाएं हैं। "हम अन्य वस्तु का स्पर्श कर रहे हैं, एक पदार्थ भारी है, एक हल्का है, एक लम्बा है, एक नाटा है, एक पतला है, एक मोटा है" सब ये हमारी ही कल्पना है, हमारे ही खयाल हैं। 'आज हम हैं, कल न रहेंगे। हम न रहेंगे, किन्तु संसार यों ही चलता रहेगा' यह भी हमारा खयाल है। हमें काले की प्रतीति हो रही है, सुफेद की प्रतीति हो रही है, दोनों के भेद की प्रतीति हो रही है। किसी आवरण के आने से उस ओर रक्खे हुए सत्ता सिद्ध पदार्थ की प्रतीति नहीं होती, यह भी प्रतीति ही है। आवरण हटने से प्रतीति होने लगी, यह भी प्रतीति ही है। यह कटु है, यह अम्ल है, यह मधुर है, यह तिक्त है, यह भी प्रतीति ही है। अच्छा, बुरा, आत्मा, परमात्मा, दिग्, देश, काल, बाल, युवा, वृद्ध, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, पितर, गन्धर्व, असुर, पाषाण, वृक्ष, नद, नदी, समुद्र, ये सब प्रतीतिविशेष ही तो हैं। हमारा खयाल ही खयाल तो है।

प्रतीति ही "भाति" है। भाति ही ज्ञान है। हमारे ज्ञान ने ही अनेक रूप धारण कर अनेक प्रतीतिएँ करवा रक्खीं है। उदाहरण के लिए स्वप्नावस्था को लक्ष्य बनाइए, समाधान हो जायगा। हम यह खूब अच्छी तरह जानते हैं कि, स्वप्नावस्था में न रथ है, न रथ चलने

का मार्ग है, न घोड़े हैं, न सारथि हैं। परन्तु फिर भी ऐसी प्रतीति होती है कि, जैसे हम रथ पर सवार होकर मैदान में सरपट जा रहे हों। हमारा ही ज्ञान सारथी, घोड़ा, रथी, मार्ग, चलना, आदि सब कुछ बना हुआ है। आप कहेंगे, जाग्रदवस्था के संस्कारों से स्वप्न में उक्त दृश्य दिखाई देते हैं। हम कहते हैं, जाग्रदवस्था भी तो आपकी एक प्रतीतिविशेष ही है। जागना, सोना, उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना, फिरना, हंसना, रोना, ये सब केवल खयाल ही तो हैं। हम आपसे पूँछते हैं कि, यदि ज्ञान को पृथक् कर दिया जाय तो, क्या आपको उक्त विविध भावों की प्रतीति होगी? आपको विवश होकर इसका उत्तर नहीं में हीं देना पड़ेगा। ज्ञान नहीं तो कुछ नहीं, ज्ञान है तो सब कुछ है। फलतः ज्ञान ही सब कुछ है।

कैसा ज्ञान? आस्तिकों द्वारा कल्पित नित्यज्ञान नहीं, अपितु क्षण क्षण में नवीन नवीन रूप धारण करनेवाला, अतएव अनेक रूपों में परिणत क्षणिक ज्ञान। चूंकि, प्रतिक्षण-विलक्षण, एवं नवीन इस क्षणिक ज्ञान की अनन्त धाराएँ हैं, अतएव इसे हम ज्ञान न कह कर 'विज्ञान' (विविध ज्ञान) ही कहेंगे। यदि आपसे कोई यह प्रश्न करे कि, इस महाविश्व का मूल क्या है? विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध इन असंख्यपदार्थों का मूल प्रभव कौन है? दूसरे शब्दों में इस सारे प्रपञ्च का क्या 'इतिवृत्त' (इतिहास) है? तो आपको बिना किसी संकोच के यह उत्तर दे देना चाहिए कि,—'**विज्ञान ही इस प्रपञ्च का इतिवृत्त है।**' केवल ज्ञान का ही विजृम्भणमात्र है। विज्ञान की विचित्रता से, विज्ञान के विविध भेदों से ही इन वैचित्र्यों का उदय हुआ है। विज्ञान ही सृष्टि-प्रपञ्च का प्रभव (उपादान कारण, उत्पत्ति स्थान) है। विज्ञान ही प्रतिष्ठाभूमि (आधार) है, एवं विज्ञान ही परायण (लयस्थान) है। विज्ञान ही अथ से इति तक अपने विविध रूपों से व्याप्त हो रहा है। '**विज्ञानेतिवृत्तवाद**' पर ही सब कुछ विश्रान्त है।

इस प्रकार कुछ एक साख्यविद्वान् प्रत्यय-(ज्ञान)-भाव को मुख्य मानते हुए विज्ञान को ही सृष्टि का मूल तथा तूल मान रहे हैं। यही वाद "विज्ञानेतिवृत्तवाद" कहलाया है। इस वाद के समर्थक कुछ एक वचन उद्धृत किए जाते हैं—

१—"विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते[1]
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति
विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"

—तै० उपनिषत् भृगुवल्ली, ५ अनुवाक

२—विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति, यजुर्वेदं, सामवेदं, आथर्व्वणं चतुर्थं, इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकोवाक्यं, एकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पदेवयजनविद्यां, दिवं च, पृथिवीं च, वायुं च, आकाशं च, आपश्च, तेजश्च, देवांश्च, मनुष्यांश्च, पशूंश्च, वयांसि च, तृण-वनस्पतीन्-श्वापदानि-आकीट-पतङ्ग-पिपीलकं-धर्म्मं--चाधर्म्मं च, सत्यं च, अनृतं च, साधु च, असाधु च, हृदयज्ञं च, अहृदयज्ञं च, अन्नं च, रसं च, इमं च लोकं, अमुं च विज्ञानेनैव विजानाति। विज्ञानमुपास्व-इति। स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते, विज्ञानवतो वै स लोकान् ज्ञानवतोऽभिसिद्ध्यति। यावद्विज्ञानस्य गतं, तत्रास्य यथाकामचारो भवति"

—छान्दोग्योपनिषत् ७।७।१-२-

---

१ विज्ञानेतिवृत्तवाद से सम्बन्ध रखनेवाले इन वचनों को यद्यपि आस्तिक व्याख्याताओं ने नित्यविज्ञान परक ही लगाया है। परन्तु तर्कवाद से सिद्ध विचारशैली को दृष्टि में रखते हुए इन्हें विज्ञानेतिवृत्तवाद के भी समर्थक माना जा सकता है। और इसी दृष्टि से ये यहां उद्धृत हुए हैं। साथ ही में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, विज्ञानेतिवृत्तवाद कोई सिद्धान्त पक्ष नहीं है। इस वाद ने स्वपक्ष समर्थन के लिए जो तर्कजाल उपस्थित किया है, एवं इस तर्कजाल को दृढ़ बनाने के लिए हमने जो श्रौत प्रमाण उद्धृत किए हैं, उन सबका अन्ततोगत्वा नित्यविज्ञानसिद्धान्त पर ही पर्य्यवसान है। जैसा कि पाठक सर्वान्त के सिद्धान्तवाद में देखेंगे।

३—अहं ता विश्वा चकरं नकिर्मा दैव्यं सहो वरते अप्रतीतम् ।
यन्मा सोमासो ममदन्यदुक्थोभे भयेते रजसी अपारे ॥

—ऋक् सं० ४।४२।६

४—अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम् ।
अहं भुवं यजमानस्य चोदिता यज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे ॥

—ऋक् सं १०।४९।१

५—अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि ।
अहमर्णांसि वि तिरामि सुक्रतुर्युधा विदं मनवे गातुमिष्टये ॥

—ऋक् सं० १०।४९।९

६—अहमेतं गव्ययमश्व्यं पशुं पुरीषिणं सायकेना हिरण्ययम् ।
पुरू सहस्रा नि शिशामि दाशुषे यन्मा सोमास उक्थिनो अमन्दिषुः ।

—ऋक् सं० १०।४८।४

७—अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी ।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥

—ऋक् सं० १०।१५९।२

८—अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः ।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् ॥

—ऋक् सं० १०।१८४।२

९—अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥

—ऋक् सं० १०।४८।१

एक बात प्रमाणों के सम्बन्ध में और। वादों के सम्बन्ध में यहाँ जो प्रमाण उपस्थित किए गए हैं, उनका अर्थ विस्तारभय से छोड़ दिया गया है। पाठकों को स्वयं ही अर्थांश का समन्वय कर लेना चाहिए।

१०—अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥

— ऋक् सं० ४।२६।१

२—सदसद्वाद

कितने एक साध्य विद्वान् सृष्टिमूलवाद के सम्बन्ध में 'सदसद्वाद' का ही समर्थन कर रहे हैं। आगे जाकर इसी वाद के आधार पर 'त्रिसत्यवाद, द्विसत्यवाद, असद्वाद, सद्वाद' इन चार अवान्तर वादों का आविर्भाव और होता है, जिनका कि संक्षिप्त विवरण पाठक अगले प्रकरणों में पढ़ेंगे। प्रकृत में सदसद्वाद से सम्बन्ध रखने वाली साध्यदृष्टि का ही विश्लेषण किया जाता है। स्वयं सदसद्वाद के आधार पर भी 'सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद' इन तीन मतों की कल्पना हुई है। इन्हीं तीनों का सप्रमाण दिग्दर्शन कराना प्रकृत प्रकरणार्थ है।

साध्यों का सद्वाद :—

विविध भावों से युक्त स्थावर-जङ्गमप्राणि-अप्राणियों से संकुलित विश्व की हमें प्रतीति (ज्ञान) होती है। जो वस्तु 'सत्' होती है, उसी की प्रतीति हुआ करती है। जिस वस्तु का अभाव होता है, उसकी प्रतीति भी नहीं होती। शशशृङ्ग (सुस्से का सींग), वन्ध्यापुत्र (बाँझ का लड़का), खपुष्प (आकाश का पुष्प), मृगमरीचिका आदि पदार्थ सर्वथा असत् हैं, अभाव रूप हैं। अतएव इनकी हमें प्रतीति नहीं होती। "नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः" इत्यादि आस्तिक सिद्धान्त भी इसी पक्ष का समर्थन कर रहा है। जिस वस्तु की हमें प्रतीति (ज्ञान-उपलब्धि-प्राप्ति-भान) हो रही है, अवश्य ही उसे हम "सत्" कहेंगे। 'कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते' इस सिद्धान्त के अनुसार कारण के (उपादान कारण के) गुण ही कार्य्य के आरम्भक (स्वरूप-सम्पादक) बनते हैं। कार्य्य तभी सत् रहता है, जब कि उसका कारण सत् रहता है। चूंकि विश्व प्रतीयमान एक सत् पदार्थ है, अतएव विश्व के मूल कारण को भी हम सत् (भावात्मक-तत्त्व) ही कहेंगे। यदि कारण असत् (अभावरूप) होता तो, इससे कभी सद्रूप (भावरूप) विश्व की उत्पत्ति न होती।

इस प्रकारण सृष्टि का क्या मूल है ? इस सम्बन्ध में साध्यों की ओर से सत्कारणतावाद ही हमारे सामने आता है। यही वाद आगे जाकर ब्रह्मसत्तात्मक (नित्यसत्तात्मक) ब्राह्मणवाद, किंवा ब्रह्मवाद रूप में परिणत हो गया है, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायगा। साध्यों के इस सद्वाद के समर्थक निम्न लिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—यो नः पिता जनिता यो विधाता यो नः सतो अभ्या सज्जजान ।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥
—तै० सं० ४।६।२।३

२—नू च पुरा च सदनं रयीणां जातस्य च जायमानस्य च क्षाम् ।
सतश्च गोपां भवतश्च भूरेर्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥
—ऋक् सं० १।९६।७

३—बण्महाँ असि सूर्य बळादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥
—ऋक् सं० ८।१०१।११

४—स्वायुधस्य ते सतो भुवनस्य पते वयम् ।
इन्द्रो सखित्वमुश्मसि ॥
—ऋक् सं० ९।३१।६

५—विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते सतः परियन्ति केतवः ।
व्यानशिः पवसे सोमधर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥
—ऋक् सं० ९।८६।५

६—सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्त्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः ॥
—ऋक् सं० १०।५३।११

७—असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥
—तै० उप० २।६

८—"तत् सदासीत्, तत् समभवत्"—"सदेवेदमग्र आसीत्, कथं त्वसतः-सज्जायेत"—"सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति"—"ततो वै सदजायत"—"सन्मूलमन्विच्छ"—"सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्" "सद्धीदं सर्वम्"

—उपनिषदः

साध्यों का असद्वाद :—

कितने एक साध्य विद्वानों की दृष्टि में सम्पूर्ण संसार विशुद्ध क्षणिक क्रियामय बनता हुआ— 'नास्तिसार' अतएव आत्यन्तिक रूप से 'असत्' है। इन क्षणिकवादियों का कहना है कि, संसार के जितने भी पदार्थ हैं, वे प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। परिवर्त्तन क्रिया का ही स्वधर्म्म है। क्रिया क्षणिक है, शून्य लक्षणा है, अभावात्मिका है। 'अहं पश्यामि-अहं जानामि' इत्याकारक जो भावात्मिका दृष्टि, तथा भावात्मिका प्रतीति है, वह भी एक प्रकार की क्रियाविशेष ही है। पश्यामि-जानामि रूप से क्रिया का ही अभिनय हो रहा है। क्रिया चूंकि धारात्मिका सन्तान क्रिया से युक्त रहती है, अतएव क्षणिक और असत् क्रिया में भी स्थायी सद्भाव की भ्रान्ति हो जाया करती है। वस्तुतः परमार्थकोटि में क्रिया, और क्रियामय संसार दोनों हीं शशशृङ्गादि असदात्मक पदार्थों की तरह असत् ही हैं। जब कार्य्यरूप संसार क्रियामय बनता हुआ, विज्ञानभाषानुसार बलप्रधान बनता हुआ सर्वथा असत् है, तो कहना पड़ेगा कि, इस असत् संसार का मूल भी असत् ही है। क्योंकि मूलकारण यदि असत् न होता तो, तूल कार्य्यरूप संसार कभी असत् न होता।

साध्ययुगकालीन, अस्तिसार सद्वाद के आधार पर जैसे आगे जाकर ब्राह्मणवाद का आविर्भाव हुआ है, एवमेव साध्ययुगकालीन, नास्तिसार इसी असद्वाद के आधार पर आगे जाकर सुप्रसिद्ध 'श्रमणकवाद' का आविर्भाव हुआ है। साध्यों का सद्वाद जहां आस्तिकदर्शनषट्क का आधार है, वहां साध्यों का असद्वाद नास्तिकदर्शनवाद की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है, जैसा कि आगे जाकर विस्तार से बतलाया जाने वाला है। असद्वाद के समर्थक निम्न लिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—सं चोदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम्।
असदित्ते विभु प्रभु ॥

—ऋक् सं० १।९।५

२—विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य।
असत्त उत्सो गृणते नियुत्वान्मध्वो अंशुः पवत इन्द्रियाय ॥

—ऋक् सं० ९।८९।६

३—देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥

—ऋक् सं० १०।७२।३

४—इदं वा अग्रे नैव किश्चनासीत्। न द्यौरासीन्न पृथ्वी नान्तरिक्षम्।
तदसदेव सन्मनोऽकुरुत-"स्याम्" इति॥

—तै० ब्रा० २।२।९

५—असद्वा इदमग्र आसीत्।

—शत० ब्रा० ६।१।१

६—असतोऽधि मनोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिमसृजत।

—तै० ब्रा० २।२।९

७—असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् सुकृतमुच्यते॥

—तै० उप० २।७

साध्यों का सदसद्वाद :—

कुछ एक विचारशील साध्यों ने सृष्टिमूल का अन्वेषण करते हुए यह सिद्धान्त स्थिर किया कि, सृष्टि संसृष्टिभाव से सम्बन्ध रखती है। संसृष्टि दो विजातीय तत्त्वों के मिथुनभाव से सम्बन्ध रखती है। अवश्य ही संसृष्टिमूला सृष्टि द्विमूला होनी चाहिए। जहां हम विश्वपदार्थों में प्रतिक्षण परिवर्त्तन देखते हैं, साथ ही अपरिवर्त्तनीय भाव का भी अनुभव करते हैं। सत्-असत् दोनों की उपलब्धि हो रही है। "जो पदार्थ पहिले क्षण में था, अवश्य ही दूसरे क्षण में उसका अभाव (असद्भाव) है" यह मानते हुए भी कहना पड़ेगा कि, पदार्थ का अस्तित्त्व कल भी था, आज भी है। इसी अस्तित्त्व के आधार पर "स एवायमस्ति" (यह वही है) यह प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि केवल सत् ही हो तो, परिवर्त्तन न होना चाहिए, यदि केवल असत् ही हो तो उक्त प्रत्यभिज्ञा न होनी चाहिए। इधर सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में हम नास्तिलक्षण परिवर्त्तन, एवं अस्तिलक्षण अपरिवर्त्तन दोनों भावों का साक्षात्कार कर रहे हैं। ऐसी दशा में न विश्व को केवल सत् ही कहा जा सकता है, न केवल असत् ही—अपितु सत्-असत् दोनों के सम्मि-

लित रूप को ही विश्व कहा जायगा। जब कार्य्यरूप विश्व सदसदात्मक है, तो मानना पड़ेगा कि, इसका मूलप्रभव भी अवश्य ही सदसद्रूप है।

साध्ययुगकालीन इसी सदसद्वाद ने आगे जाकर (देवयुग में) 'सिद्धान्तवाद' का रूप धारण किया है, जैसा कि पाठक उसी प्रकरण में देखेंगे। तीनों वादों में इस तीसरे सदसद्वाद का ही विशेष महत्त्व माना जायगा। कारण केवल सद्वाद स्वीकार कर लेने से असद्वाद-समर्थक वचन निरर्थक बन जाते हैं, एवं केवल असद्वाद स्वीकार कर लेने पर सद्वादसमर्थक वचनों का कोई महत्त्व नहीं रहता। सदसद्वाद पक्ष में तीनों ही प्रकार के वचनों का यथावत् समन्वय हो जाता है। और इसी वैशिष्ट्य के कारण इस वाद ने आगे जाकर सिद्धान्तवाद का रूप धारण किया है। इस वाद के समर्थक निम्न लिखित वचन हैं—

१—ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् विसीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः॥

—यजुः सं० १३।३ —सामसं० पू० ४।१।३।९ —अथर्व सं० ४।१।१

२—नैव वा इदमग्रेऽसदासीत्-नेव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्। तस्मादेतद्-ऋषिणाऽभ्यनूक्तं "नासदासीन्नोसदासीत् तदानीम्" इति।

—शत० ब्रा० १०।४।१

३—असदेवेदमग्र आसीत्, तत् सदासीत्, तत् समभवत्। तदाण्डं निरवर्त्तत॥

—छां० उप० १९ खं०

इस प्रकार दूसरे 'सदसद्वाद' नामक वाद के सत्-असत्-सदसत् भेद से अवान्तर तीन विभाग हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में इतना स्मरण रखना चाहिए कि साध्य विद्वानों की दृष्टि में 'सत्' शब्द से ब्रह्म, किंवा ईश्वर नाम का कोई नित्यसत्ताभाव अभिप्रेत नहीं है। प्रकरण के आरम्भ में ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, साध्यों के दसों वाद अनीश्वरमूलक ही हैं। इनकी दृष्टि में सत् शब्द केवल भाव का वाचक है। ऐसी दशा में साध्यपरिभाषानुसार सदसद्वाद के इन

सत्-असत्-सदसत् को अवान्तर सात संख्या—

तीन विभागों को हम क्रमशः भाववाद-अभाववाद-भावाभाववाद इन नामों से ही व्यवहृत करेंगे। भाववाद एवं भावाभाववाद इन दो वादों के आधार पर आगे जाकर जिन ब्राह्मणवाद तथा सिद्धान्तवादों का आविर्भाव हुआ है, उनका सत पदार्थ सत्तालक्षण ब्रह्म, किंवा ईश्वरपरक माना गया है। आस्तिकों के सत्तारूप सत्-भाव को लक्ष्य बना कर ही त्रिसत्य-द्विसत्य-सद्वाद इन तीन मतों की प्रवृत्ति हुई है, जिनका कि उपबृंहण (आस्तिक दृष्टि से) आगे होनेवाला है। इस अप्रासंगिक चर्चा की आवश्यकता यह हुई कि, यहाँ जिन सत्-असत्-सदसद्वादों का दिग्दर्शन कराया गया है, इनका स्वरूप भिन्न है, एवं आगे जिन त्रिसत्य-द्विसत्य-सद्वादादि का स्वरूप बतलाया जायगा, उनका सतपदार्थ भिन्न है। दोनों का पार्थक्य परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

साध्यानां-नास्तिकानाम्	ब्राह्मणानां-आस्तिकानाम्
१—सद्वादः-भाववादः	१—सद्वादः—ब्रह्मवादः
२—असद्वादः-अभाववादः	२—त्रिसत्यवादः—ब्रह्म-कर्म्म-अभाववादः
३—सदसद्वादः-भावाभाववादः	३—द्विसत्यवादः—ब्रह्मकर्म्मवादः
× × × ×	४—असद्वादः – कर्म्मवादः
सत्—धारावाहिकबलम् (भावः)	सत्— सत्ताब्रह्म
असत्—क्षणबलं शून्यरूपम् (अभावः)	असत्—बलंब्रह्म
विद्युद्बलवादः	रस—बलवाद.

साध्य विद्वानों की दार्शनिक दृष्टि से सम्बन्ध रखनेवाले बलप्रधान उक्त तीनों वाद आगे जाकर ब्राह्मणवाद के संसर्ग से सात संस्थाओं में विभक्त हो जाते हैं। वे सात संस्थाएं क्रमशः प्रत्ययविमर्श, प्रकृतिविमर्श, तादात्म्यविमर्श, अभिकार्यविमर्श, गुणविमर्श, सामञ्जस्यविमर्श, अक्षरविमर्श, इन नामों से व्यवहृत हुई हैं। सात संस्थाओं के भेद से सदसद्वाद सात प्रकार का हो जाता है। चूंकि स्वयं सदसद्वाद के सद्वाद-असद्वाद-सदसद्वाद ये तीन विवर्त्त हैं, फलतः उक्त सातों सदसद्वादसंस्थाओं के प्रत्येक के तीन तीन अवान्तर-भेद और हो जाते हैं। इस दृष्टि से केवल एक ही सदसद्वाद के अवान्तर २१ भेद हो जाते हैं। इन सब का विशद वैज्ञानिक निरूपण तो श्रीगुरुप्रणीत "दशवादरहस्य" में ही देखना चाहिए। दार्शनिक पाठकों के अनुरञ्जन के लिए यहाँ केवल उनकी तालिका उद्धृत कर दी जाती है।

इस विमर्श में सद्वाद-असद्वाद-सदसद्वाद यह क्रम है। पहिला "नित्यविज्ञानाद्वैत" सिद्धान्त है, एवं इसका "ब्राह्मणमत" से सम्बन्ध है। दूसरा 'क्षणिकविज्ञानाद्वैत' सिद्धान्त है, एव इसका 'श्रमणकमत' के साथ सम्बन्ध है। तीसरा 'आनन्दविज्ञानाद्वैत' सिद्धान्त है, एवं इसका 'वैज्ञानिकमत' के साथ सम्बन्ध है। ज्ञान को ही प्रत्यय कहा जाता है। सम्पूर्ण विश्व ज्ञान का ही विवर्त्त है, इसी सिद्धान्त के आधार पर इन तीन वादों का आविष्कार हुआ है।

क—प्रत्ययविमर्शत्रयी—

इस विमर्श में असद्वाद-सद्वाद-सदसद्वाद यह क्रम है। पहिला 'कर्म्माद्वैत' सिद्धान्त है, एवं इसका 'वैनाशिकमत' के साथ सम्बन्ध है। दूसरा 'ब्रह्माद्वैत' सिद्धान्त है, एवं इसका 'अविनाशीमत' के साथ सम्बन्ध है। तीसरा 'द्वैताद्वैत' सिद्धान्त है, एवं इसका 'वैनाशिकवत्-अविनाशीमत' के साथ सम्बन्ध है। सम्पूर्ण विश्व प्रकृति का ही विजृम्भण है, इसी आधार पर यह विमर्शत्रयी प्रतिष्ठित है।

ख—प्रकृतिविमर्शत्रयी—

इस विमर्श में सदसद्वाद-असद्वाद-सद्वाद यह क्रम है। पहिला 'भिन्नाभिन्नत्व' सिद्धान्त है, एवं इस का 'बल-रसाभेदवाद' के साथ सम्बन्ध है। दूसरा 'बलसारत्व' सिद्धान्त है, एवं इसका 'बलप्राधान्यवाद' के साथ सम्बन्ध है। तीसरा 'रससारत्व' सिद्धान्त है, एवं इसका 'रसप्राधान्यवाद' के साथ सम्बन्ध है।

ग—तादात्म्यविमर्शत्रयी—

इस विमर्श में असद्वाद-सद्वाद-सदसद्वाद यह क्रम है। पहिला 'असत्कार्यवाद' सिद्धान्त है, एवं इसका 'वैशेषिकतन्त्र' के साथ सम्बन्ध है। दूसरा 'सत्कार्यवाद' सिद्धान्त है, एवं इसका 'प्राधानिकतन्त्र' के साथ सम्बन्ध है। तीसरा 'मिथ्याकार्यवाद' सिद्धान्त है, एवं इसका (व्याख्यातालोग) 'शारीरकतन्त्र' के साथ सम्बन्ध मानते हैं।

घ—अभिकार्यविमर्शत्रयी—

इस विमर्श में असद्वाद-सद्वाद-सदसद्वाद यह क्रम है। पहिला 'असन्मूलासृष्टि' सिद्धान्त है, एवं इसका 'प्राणात्मकसृष्टिवाद' के साथ सम्बन्ध है। दूसरा 'सन्मूलासृष्टि' सिद्धान्त है, एवं इसका 'वाङ्मयसृष्टिवाद' के साथ सम्बन्ध है। तीसरा 'सदसदैकात्म्यमूलासृष्टि' सिद्धान्त है, एवं इसका 'मनोमयसृष्टिवाद' के साथ सम्बन्ध है।

ङ—गुणविमर्शत्रयी—

इस विमर्श में असद्वाद-सद्वाद-सदसद्वाद यह क्रम है। पहिला 'प्रागभावसमुचितकारणता' सिद्धान्त है, एवं इसका 'अभावपूर्वकभावोत्पत्तिवाद' के साथ सम्बन्ध है। दूसरा 'सम्भूति-विनाशकारणता' सिद्धान्त है, एवं इसका 'उत्पत्ति-विनाशप्रवाहवाद' के साथ सम्बन्ध है। तीसरा 'विद्या-अविद्याकारणता' सिद्धान्त है, एवं इसका सर्वजगद्भावात्मकभावमूलक-सृष्टिवाद' के साथ सम्बन्ध है।

च—सामञ्जस्यविमर्शत्रयी—

छ—अक्षरविमर्शत्रयी— इस विमर्श में असद्वाद-सद्वाद-सदसद्वाद ये तीन विकल्प माने गए हैं। पहिला 'सौगत' सिद्धान्त है, एवं इसका 'सृष्टिबीजरूपअक्षरात्मकबलमयभाव' के साथ सम्बन्ध है। दूसरा 'कापिल' सिद्धान्त है, एवं इसका 'सृष्टिबीजरूपअक्षरात्मक-जड़भाव' के साथ सम्बन्ध है। तीसरा 'बादरायण' सिद्धान्त है, एवं इसका 'सृष्टिबीजरूपअक्षरात्मक-चेतनभाव' के साथ सम्बन्ध माना गया है।

१—सप्तविमर्शपरिलेखः

क—प्रत्ययविमर्शः	१—सद्वादः,	२—असद्वादः,	३—सदसद्वादः,
ख—प्रकृतिविमर्शः	१—असद्वादः,	२—सद्वादः,	३—सदसद्वादः,
ग—तादात्म्यविमर्शः	१—सदसद्वादः,	२—असद्वादः,	३—सद्वादः,
घ—अभिकार्यविमर्शः	१—असद्वादः,	२—सद्वादः,	३—सदसद्वादः,
ङ—गुणविमर्शः	१—असद्वादः,	२—सद्वादः,	३—सदसद्वादः,
च—सामजस्यविमर्शः	१—असद्वादः,	२—सद्वादः,	३—सदसद्वादः,
छ—अक्षरविमर्शः	१—असद्वादः,	२—सद्वादः,	३—सदसद्वादः,

२—सप्तविमर्शसिद्धान्तपरिलेखः

१	प्रत्ययविमर्शः	नित्यविज्ञानाद्वैतसिद्धान्तः (सद्वादः) क्षणिकविज्ञानाद्वैतसिद्धान्तः (असद्वादः) आनन्दविज्ञानाद्वैतसिद्धान्तः (सदसद्वादः)	ब्राह्मणमतम् श्रमणकमतम् वैज्ञानिकमतम्
२	प्रकृतिविमर्शः	कर्म्माद्वैतसिद्धान्तः (असद्वादः) ब्रह्माद्वैतसिद्धान्तः (सद्वादः) द्वैताद्वैतसिद्धान्तः (सदसद्वादः)	वैनाशिकमतम् अविनाशिमतम् वैनाशिकवादविनाशिमतम्

३	तादात्म्यविमर्शः	भिन्नाभिन्नत्वसिद्धान्तः (सदसद्वादः) बलसारत्वसिद्धान्तः (असद्वादः) रससारत्वसिद्धान्तः (सद्वादः)	धर्म्मधर्म्मिणोरसबलयोरभेदवादः बलप्राधान्यवादः रसप्राधान्यवादः
४	अभिकार्यविमर्शः	असत्कार्यवादसिद्धान्तः (असद्वादः) सत्कार्यवादसिद्धान्तः (सद्वादः) मिथ्याकार्यवादसिद्धान्तः (सदसद्वादः)	वैशेषिकमतम् प्राधानिकमतम् शारीरकमतम्
५	गुणविमर्शः	असन्मूलसृष्टिसिद्धान्तः (असद्वादः) सन्मूलसृष्टिसिद्धान्तः (सद्वादः) सदसदैकात्म्यमूलसृष्टिसिद्धान्तः (स०)	प्राणमूलकसृष्टिवादः वाङ्मूलकसृष्टिवादः मनोमूलकसृष्टिवादः
६	सामञ्जस्यविमर्शः	प्रागभावसमुचितकारणवाद सिद्धान्तः (असद्वादः) सम्भूतिविनाशवादसिद्धान्तः (सद्वादः) विद्या-अविद्यावादसिद्धान्तः (सदसद्वादः)	अभावपूर्वकभावोत्पत्तिवादः उत्पत्तिविनाशप्रवाहवादः सर्वजगदभावात्मकगावमूलसृष्टिवादः
७	अक्षरविमर्शः	सौगतसिद्धान्तः (असद्वादः) कापिलसिद्धान्तः (सद्वादः) बादरायणसिद्धान्तः (सदसद्वादः)	सृष्टिबीजस्याक्षरस्याव्यक्तनलरूपत्ववादः सृष्टिबीजस्याक्षरस्यजड़प्रधानरूपत्ववादः सृष्टिबीजस्याक्षरस्यचेतनपुरुषरूपत्ववादः

३—रजोवादः

कितने एक साध्य विद्वान् रजोगुण को ही सृष्टि का मूल कारण मानते हैं। इस दल-विशेष का कहना है कि, सम्पूर्ण विश्व का मूल प्रकृति का रजोभाव ही है। विश्वसृष्टि एक प्रकार का व्यापार है, व्यापार क्रिया है। क्रियासापेक्ष विश्व का मूलप्रकृति का वही गुण हो सकता है, जो स्वयं क्रियाशील हो। प्रकृति का सत्त्वगुण भी ज्ञानमय बनता हुआ क्रिया-सापेक्ष सृष्टि-मर्य्यादा से बहिर्भूत है, एवं तमोगुण भी अर्थप्रधान बनता हुआ अपने स्थिर जड़भाव के कारण सृष्टिनिर्म्माण में असमर्थ है। सृष्टि संसृष्टि है। दो, अथवा अनेक तत्वों

का रासायनिक सम्मिश्रण ही सृष्टि है। मिश्रणभाव भी स्वयं एक क्रियाविशेष है। उधर त्रिगुणात्मिका प्रकृति का रजोगुण ही एकमात्र क्रियामय है। ऐसी दशा में हम रजोगुण को (प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले क्रियाभाव को) ही सृष्टि का मूल कारण कहेंगे।

प्रकृति के रजोभाव को प्रधान लक्ष्य बनानेवाला यही साध्यवाद 'रजोवाद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी रजोभाव के सम्बन्ध से सम्पूर्ण लोक 'रजः-रजांसि' इत्यादि रूप से रज नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी मूलकारणता से सम्बन्ध रखने के कारण दाम्पत्यबीज 'रज' कहलाया। स्वयं आस्तिक (गीता) सिद्धान्त ने भी परम्परया रज को ही सृष्टि का मूल माना। प्रत्येक सृष्टि का मूलोत्थान काम (इच्छा-कामना) से होता है, जैसा कि—"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" (ऋक् सं० १०।१२९।४) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। उधर 'काम एषः क्रोध एष-रजोगुणसमुद्भवः' (गी० ३।३७) कहते हुए गीताशास्त्र ने सृष्टिमूलक काम की रजोगुण से उत्पत्ति बतलाते हुए परम्परया रजोवाद का ही समर्थन किया। इस वाद के समर्थक निम्न लिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना॥
—ऋक् सं० ५।८१।३।

२—अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांसि-अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥
—ऋक् सं० १।१६४।६

३—आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥
—ऋक् सं० १।३५।२

४—हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्य्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति॥
—ऋक् सं० १।३५।९

५—सनेमि चन्द्रमजरवं वि वावृत उत्तायानां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्य्यस्य चक्षू रजसा-एत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥
—ऋक् सं० १।१६४।१४

६—वीन्द्र यासि दिव्यानि रोचना वि पार्थिवानि रजसा पुरुष्टुत।
ये त्वा वहन्ति मुहुरध्वराँ उप ते सु वन्वन्तु वग्वनाँ अराधसः ॥
—ऋक् सं० १०।३२।२

७—इमे वै लोका रजांसि।
—शत० ब्रा० ६।३।१।१८।

८—द्यौर्वै तृतीयं रजः।
—शत ० ब्रा० ६।७।४।५।

९—"एष रजः-उपर्य्युपरि तपति"—"मधुमत् पार्थिवं रजः"
"रजो भूमिस्त्वमाँरोदयस्व"--"प्रथमा रेखा रजः"
—संग्रहः

४—*व्योमवादः*

वाङ्मय रहस्य के परपारगामी कुछ एक साध्य विद्वानों का कहना है कि, दृश्यमान यह भूत भौतिक प्रपञ्च आकाशगुणक शब्दतन्मात्रा की ही राशि है। सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम पदार्थों से आरम्भ कर स्थूल-स्थूलतर-स्थूलतम जितने भी नाम-रूप-कर्म्मात्मक पदार्थ हैं, सब का मूल उपादान आकाशात्मक शब्दतत्त्व ही है। भौतिक सृष्टि का मूलोत्थान शब्द-तन्मात्रा से ही सम्बन्ध रखता है। हम यदि नियत समय पर, नियत समय तक, चिरकाल-पर्य्यन्त किसी भी शब्द का भावनामय उच्चारण करते रहेंगे, तो, कालान्तर में इस शब्दधारा-

नाम-रूप ही भौतिक पदार्थों का मुख्य रूप है। एवं दोनों ही आकाशात्मक माने गए हैं। आकाश ही सम्पूर्ण भूतों का आवपन है। आकाश ही सर्वप्रथम (अपनी शब्द-तन्मात्रा के द्वारा) वायुरूप में, वायु अग्निरूप में, अग्नि जलरूप में, जल पृथिवीरूप में, पार्थिव मृद्भाग औषधि (अन्न) वनस्पति (फल) रूप में, औषधि वनस्पति शुक्ररूप में परिणत होती हैं। यही शुक्राहुति प्रजासृष्टि का उपादान बनती है। इस प्रकार परम्परया प्राणीसृष्टि का मूल भी आकाशतत्त्व पर ही विश्राम कर रहा है।

शब्दतन्मात्रामय आकाशतत्त्व को सृष्टि का मूल कारण मानने वाले विद्वान् साध्यों का यही वाद 'व्योमवाद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिसके कि समर्थन में कुछ एक श्रौत प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं—

१—द्विता वि वव्रे सनजा सनीळे अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः।
भगो न मेने 'परमे व्योमन्' अधारयद्रोदसी सुदंसाः॥

—ऋक् सं० १।६२।७।

२—स जायमानः 'परमे व्योमनि' आविरग्निरभवत् मातरिश्वने।
अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत्॥

—ऋक् सं० १।१४३।२।

३—ऋचो अक्षरे 'परमे व्योमन्' यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

—ऋक् सं० १।१६४।३९।

४—गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा 'परमे व्योमन्'॥

—ऋक् सं० १।१६४।४१।

५—स जायमानः 'परमे व्योमनि' व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत।
व्यन्तरिक्षममिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो महिना नाकमस्पृशत्॥

—ऋक् सं० ६।८।२।

५—सनेमि चन्द्रमजरवं वि वाव्रुत उत्तायानां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्य्यस्य चक्षू रजसा-एत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा॥
—ऋक् स० १।१६४।१४

६—वीन्द्र यासि दिव्यानि रोचना वि पार्थिवानि रजसा पुरुष्टुत।
ये त्वा वहन्ति मुहुरध्वराँ उप ते सु वन्वन्तु वग्वनाँ अराधसः॥
—ऋक् स० १०।३२।३

७—इमे वै लोका रजांसि।
—शत० ब्रा० ६।३।१।१८।

८—द्यौर्वै तृतीयं रजः।
—शत० ब्रा० ६।७।४।५।

६—"एप रजः-उपर्य्युपरि तपति"—"मधुमत् पार्थिवं रजः"
"रजो भूमिस्त्वमाँरोदयस्व"--"प्रथमा रेखा रजः"
—संग्रहः

४—व्योमवादः

वाङ्मय रहस्य के परपारगामी कुछ एक साध्य विद्वानों का कहना है कि, दृश्यमान यह भूत भौतिक प्रपञ्च आकाशगुणक शब्दतन्मात्रा की ही राशि है। सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम पदार्थों से आरम्भ कर स्थूल-स्थूलतर-स्थूलतम जितने भी नाम-रूप-कर्म्मात्मक पदार्थ हैं, सब का मूल उपादान आकाशात्मक शब्दतत्त्व ही है। भौतिक सृष्टि का मूलोत्थान शब्द-तन्मात्रा से ही सम्बन्ध रखता है। हम यदि नियत समय पर, नियत समय तक, चिरकाल-पर्य्यन्त किसी भी शब्द का भावनामय उच्चारण करते रहेंगे, तो, कालान्तर में इस शब्दधारा-सम्पुट से वही शब्दधारापरम्परा एकत्र राशिभूत बन कर भूतपिण्डरूप में परिणत हो जायगी। चूंकि सभी भूतों का मूल उपादान आकाशात्मक शब्द है, अतएव सभी भूतों में हमें शब्द की उपलब्धि हो रही है। जहा किसी भी प्राणी का शब्द सुनाई नहीं पड़ता, वहां भी प्राकृतिक नाद (सनसनाहट) कर्णगोचर होता रहता है। इसी आधार पर "नह्यशब्द-मिवास्ति" (उपनिषत्)—"सर्वं शब्देन भासते" (वाक्यपदी) "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्चनिर्म्ममे" (मनुस्मृति) इत्यादि आस्तिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं।

नाम-रूप ही भौतिक पदार्थों का मुख्य रूप है। एवं दोनों ही आकाशात्मक माने गए हैं। आकाश ही सम्पूर्ण भूतों का आवपन है। आकाश ही सर्वप्रथम (अपनी शब्द-तन्मात्रा के द्वारा) वायुरूप में, वायु अग्निरूप में, अग्नि जलरूप में, जल पृथिवीरूप में, पार्थिव सूक्ष्मभाग औषधि (अन्न) वनस्पति (फल) रूप में, औषधि वनस्पति शुक्ररूप में परिणत होती हैं। यही शुक्राहुति प्रजासृष्टि का उपादान बनती है। इस प्रकार परम्परया प्राणीसृष्टि का मूल भी आकाशतत्त्व पर ही विश्राम कर रहा है।

शब्दतन्मात्रामय आकाशतत्त्व को सृष्टि का मूल कारण मानने वाले विद्वान् साध्यों का यही वाद 'व्योमवाद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिसके कि समर्थन में कुछ एक श्रौत प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं—

१—द्विता वि वव्रे सनजा सनीळे अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः।
भगो न मेने 'परमे व्योमन्' अधारयद्रोदसी सुदंसाः॥

—ऋक् सं० १।६२।७।

२—स जायमानः 'परमे व्योमनि' आविरग्निरभवत् मातरिश्वने।
अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत्॥

—ऋक् सं० १।१४३।२।

३—ऋचो अक्षरे 'परमे व्योमन्' यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

—ऋक् सं० १।१६४।३९।

४—गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा 'परमे व्योमन्'॥

—ऋक् सं० १।१६४।४१।

५—स जायमानः 'परमे व्योमनि' व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत।
व्यन्तरिक्षममिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो महिना नाकमस्पृशत्॥

—ऋक् सं० ६।८।२।

६—इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः 'परमे व्योमन्' त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥
—ऋक् सं० १०।१२९।७

७—'आकाशादेव जायन्ते, आकाशादेव जातानि जीवन्ति, आकाशं प्रय-न्त्यभिसंविशन्ति'–'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता'–'आकाशाद्योतिः सम्भूतः'–'इमानि भूतानि-आकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति'–'आकाशः-परायणम्'–'सर्वमित्याकाशे'–'आकाशाद्वायुः, वायो-रग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी'–'मनोमयं पुरुषो भाः सत्यमा-काशात्मा'। —संग्रह

५—*अपरवादः*

ब्राह्मणमतानुयायी आस्तिकवर्ग जहां परवाद (अव्ययवाद-पुरुषवाद-आत्मवाद) का समर्थक है, वहां कितने एक साध्य विद्वान् अपरवाद (क्षरवाद-प्रकृतिवाद-अनात्मवाद) का ही समर्थन कर रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व, तथा विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित पाञ्चभौतिक पदार्थ अपना क्या स्वरूप रखते हैं ? इस प्रश्न का समाधान ही अपरवाद का समर्थन कर रहा है। साध्यों का कहना है कि, भौतिक पदार्थों में परमर्य्यादा का सर्वथा अभाव है। जिन दो भावों के लिए 'यह' 'वह' शब्द प्रयुक्त होते हैं, प्रकृतस्थल में उन्हीं को 'अपर' 'पर' कहा जायगा। विश्व में 'वह' किंवा 'पर' कहकर व्यवहृत किया जाने वाला कोई नित्य परोक्ष तत्त्व नहीं है। यहां तो सारा रहस्य, सम्पूर्ण तत्त्ववाद 'यह', किंवा 'अपर' में ही छिपा हुआ है। पुरोऽवस्थित भूतप्रपञ्च ही तत्त्ववाद की विश्रामभूमि है।

इस का मूल 'यही' है। सृष्टि का मूल क्या है ? इस विडम्बना में पड़ कर सृष्टि से बाहर किसी अन्य मूल की खोज करते रहना निरर्थक है, जब कि समाधान यहीं हो रहा है। स्वयं सृष्टि ही सृष्टि का मूल है। विभिन्न गुण-कर्म्मात्मक पदार्थों का पारस्परिक संयोगविशेष ही सृष्टि का कारण बना हुआ है। पाँचों भूत अपने विविध संयोगों से ही अपनी स्वरूप-सत्ता प्रतिष्ठित रखने में समर्थ हो रहे हैं। किसी समय पानी का संयोग पाकर मिट्टी ओषधि बन जाती है, वही ओषधि कालान्तर में शुष्क नीरस वायु का संयोग पाकर पुनः मिट्टी हो

जाती है। इसी प्रकार यच्चयावत् पदार्थों का पारस्परिक संयोग-वियोग मूलक कार्य्य-कारण-भाव ही विश्वसृष्टि का कारण है। इस प्रत्यक्षदृष्ट कारणवाद को देखते हुए भी किसी पर कारण की कल्पना कर बैठना, अपने कल्पनासिद्ध परतत्त्व की रक्षा के लिए-अनेक कल्पित सिद्धान्त बना डालना सचमुच (आस्तिकवर्ग की) एक विडम्बनामात्र है।

'पर' कुछ नहीं है, 'अपर' ही सब कुछ है। यही कारण है, यही कार्य्य है। स्वयं भौतिक जगत् ही भौतिक जगत् का कारण है। पिता यदि अपने पुत्र का कारण है, तो वही पिता अपने पिता का कार्य्य भी है।

"उभयं हैतद्भवति-पिता च पुत्रश्च। प्रजापतिश्चाग्निश्च, अग्निश्च प्रजापतिश्च, प्रजापतिश्च देवाश्च, देवाश्च प्रजापतिश्च"

—शत० ब्रा० ६ कां० । १ अ० । २ ब्रा० । २७ कण्डिका

इत्यादि रूप से आस्तिकों का श्रौत सिद्धान्त भी रूपान्तर से कार्य्य-कारणविपर्य्ययात्मक अपरवाद का ही समर्थन कर रहा है।

साध्यों के उक्त मत का क्षरदृष्टि से भी समर्थन किया जा सकता है। **'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** (गी० १५।१६) के अनुसार सम्पूर्ण भूत क्षररूप हैं, अथवा क्षर ही सम्पूर्ण भूत हैं। अव्ययात्मा जहाँ 'पर' कहलाता है, वहाँ भूतरूप क्षर 'अपर' कहलाया है। इसी अपर क्षर को— **'भूमिरापोऽनलो०'** (गी० ७।४।) इत्यादि रूप से भौतिक पर्वों में विभक्त करते हुए इसे **'अपराप्रकृति'** कहा है— **'अपरेयम्'** (गी० ७।५।)। यही अपर क्षरतत्त्व विश्व का मूल है। पर अव्यय के लिए तो स्पष्ट शब्दों में सृष्टिकारणता के असम्बन्ध की ही घोषणा की गई है। जब **'न करोति, न लिप्यते'** (गी० १३।३१) के अनुसार पर (अव्यय) का सृष्टिकर्तृत्व से कोई सम्बन्ध ही नहीं तो, फिर सृष्टिकारणान्वेषण में उस ओर दृष्टि डालने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। सुतरां इस गीतादृष्टि से भी अपरवाद, दूसरे शब्दों में क्षरवाद की ही पुष्टि सिद्ध हो जाती है।

पाञ्चभौतिक विश्व किसी पर-भाव से सम्बन्ध न रखता हुआ अपर है। इसका मूल स्वयं यही है। अन्य मूल का अन्वेषण करना व्यर्थ है। अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि, कार्यरूप विश्व कारणरूप अपरभाव का दूसरा रूप है, वह पहिला रूप है। कुछ भी कह लीजिए, तात्पर्य्य दोनों सिद्धान्तों का एक ही है। "अपने सजातीय (भौतिक) तत्त्वों की अपेक्षा रखता हुआ भी, अन्य किसी विजातीय कारण की कोई अपेक्षा न रखनेवाला,

६—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः 'परमे व्योमन्' त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

—ऋक् स० १०।१२९।७

७—'आकाशादेव जायन्ते, आकाशादेव जातानि जीवन्ति, आकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता'—'आकाशाद्योनेः सम्भूतः'—'इमानि भूतानि-आकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति'—'आकाशः-परायणम्'—'सर्वमित्याकाशे'—'आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी'—'मनोमयं पुरुषो भाः सत्यमाकाशात्मा'।

—संग्रह

५—*अपरवाद*

ब्राह्मणमतानुयायी आस्तिकवर्ग जहाँ परवाद (अव्ययवाद पुरुषवाद-आत्मवाद) का समर्थक है, वहा कितने एक साध्य विद्वान् अपरवाद (क्षरवाद-प्रकृतिवाद अनात्मवाद) का ही समर्थन कर रहे है। सम्पूर्ण विश्व तथा विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित पाञ्चभौतिक पदार्थ अपना क्या स्वरूप रखते हैं? इस प्रश्न का समाधान ही अपरवाद का समर्थन कर रहा है। साध्यों का कहना है कि, भौतिक पदार्थों मे परमर्य्यादा का सर्वथा अभाव है। जिन दो भावों के लिए 'यह' 'वह' शब्द प्रयुक्त होते हैं, प्रकृतस्थल मे उन्हीं को 'अपर' 'पर' कहा जायगा। विश्व में 'वह' किंवा 'पर' कहकर व्यवहृत किया जाने वाला कोई नित्य परोक्ष तत्त्व नहीं है। यहा तो सारा रहस्य, सम्पूर्ण तत्त्ववाद 'यह', किंवा 'अपर' मे ही छिपा हुआ है। पुरोऽवस्थित भूतप्रपञ्च ही तत्त्ववाद की विश्रामभूमि है।

इस का मूल 'यही' है। सृष्टि का मूल क्या है? इस विडम्बना में पड कर सृष्टि से बाहर किसी अन्य मूल की खोज करते रहना निरर्थक है, जब कि समाधान यहीं हो रहा है। स्वय सृष्टि ही सृष्टि का मूल है। विभिन्न गुण-कर्म्मात्मक पदार्थों का पारस्परिक सयोगविशेष ही सृष्टि का कारण बना हुआ है। पाँचों भूत अपने विविध संयोगों से ही अपनी स्वरूप-सत्ता प्रतिष्ठित रखने मे समर्थ हो रहे हैं। किसी समय पानी का संयोग पाकर मिट्टी ओषधि बन जाती है, वही ओषधि कालान्तर मे शुष्क नीरस वायु का सयोग पाकर पुन मिट्टी हो

जाती है। इसी प्रकार यच्चयावत् पदार्थों का पारस्परिक संयोग-वियोग मूलक कार्य्य-कारण-भाव ही विश्वसृष्टि का कारण है। इस प्रत्यक्षदृष्ट कारणवाद को देखते हुए भी किसी पर कारण की कल्पना कर बैठना, अपने कल्पनासिद्ध परतत्व की रक्षा के लिए अनेक कल्पित सिद्धान्त बना डालना सचमुच (आस्तिकवर्ग की) एक विडम्बनामात्र है।

'पर' कुछ नहीं है, 'अपर' ही सब कुछ है। यही कारण है, यही कार्य्य है। स्वयं भौतिक जगत् ही भौतिक जगत् का कारण है। पिता यदि अपने पुत्र का कारण है, तो वही पिता अपने पिता का कार्य्य भी है।

"उभयं हैतद्भवति-पिता च पुत्रश्च। प्रजापतिश्चाग्निश्च,
अग्निश्च प्रजापतिश्च, प्रजापतिश्च देवाश्च, देवाश्च प्रजापतिश्च"

—शत० ब्रा० ६ कां० । १ अ० । २ ब्रा० । २७ कण्डिका

इत्यादि रूप से आस्तिकों का श्रौत सिद्धान्त भी रूपान्तर से कार्य्य-कारणविपर्य्ययात्मक अपरवाद का ही समर्थन कर रहा है।

साध्यों के उक्त मत का क्षरदृष्टि से भी समर्थन किया जा सकता है। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' (गी० १५।१६) के अनुसार सम्पूर्ण भूत क्षररूप हैं, अथवा क्षर ही सम्पूर्ण भूत हैं। अव्ययात्मा जहाँ 'पर' कहलाता है, वहाँ भूतरूप क्षर 'अपर' कहलाया है। इसी अपर क्षर को— 'भूमिरापोऽनलो०' (गी० ७।४।) इत्यादि रूप से भौतिक पर्वों में विभक्त करते हुए इसे 'अपराप्रकृति' कहा है— 'अपरेयम्' (गी० ७।५।)। यही अपर क्षरतत्त्व विश्व का मूल है। पर अव्यय के लिए तो स्पष्ट शब्दों में सृष्टिकारणता के असम्बन्ध की ही घोषणा की गई है। जब 'न करोति, न लिप्यते' (गी० १३।३१) के अनुसार पर (अव्यय) का सृष्टिकर्तृत्व से कोई सम्बन्ध ही नहीं तो, फिर सृष्टिकारणान्वेषण में उस ओर दृष्टि डालने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। सुतरां इस गीतादृष्टि से भी अपरवाद, दूसरे शब्दों में क्षरवाद की ही पुष्टि सिद्ध हो जाती है।

पाञ्चभौतिक विश्व किसी पर-भाव से सम्बन्ध न रखता हुआ अपर है। इसका मूल स्वयं यही है। अन्य मूल का अन्वेषण करना व्यर्थ है। अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि, कार्यरूप विश्व कारणरूप अपरभाव का दूसरा रूप है, वह पहिला रूप है। कुछ भी कह लीजिए, तात्पर्य्य दोनों सिद्धान्तों का एक ही है। "अपने सजातीय (भौतिक) तत्त्वों की अपेक्षा रखता हुआ भी, अन्य किसी विजातीय कारण की कोई अपेक्षा न रखनेवाला,

६—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः 'परमे व्योमन्' त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

—ऋक् स० १०।१२९।७।

७—'आकाशादेव जायन्ते, आकाशादेव जातानि जीवन्ति, आकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'–'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता'–'आकाशाद्योनेः सम्भूतः'–'इमानि भूतानि-आकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति'–'आकाशः-परायणम्'–'सर्वमित्याकाशे'–'आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी'–'मनोमयं पुरुषो भाः सत्यमाकाशात्मा'।

—संग्रह

५—*अपरवादः*

ब्राह्मणमतानुयायी आस्तिकवर्ग जहाँ परवाद (अव्ययवाद-पुरुषवाद-आत्मवाद) का समर्थक है, वहा कितने एक साध्य विद्वान् अपरवाद (क्षरवाद-प्रकृतिवाद अनात्मवाद) का ही समर्थन कर रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व, तथा विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित पाञ्चभौतिक पदार्थ अपना क्या स्वरूप रखते हैं? इस प्रश्न का समाधान ही अपरवाद का समर्थन कर रहा है। साध्यों का कहना है कि, भौतिक पदार्थों मे परमर्य्यादा का सर्वथा अभाव है। जिन दो भावों के लिए 'यह' 'वह' शब्द प्रयुक्त होते हैं, प्रकृतस्थल मे उन्हीं को 'अपर' 'पर' कहा जायगा। विश्व में 'वह' किंवा 'पर' कहकर व्यवहृत किया जाने वाला कोई नित्य परोक्ष तत्त्व नहीं है। यहा तो सारा रहस्य, सम्पूर्ण तत्त्ववाद 'यह', किंवा 'अपर' मे ही छिपा हुआ है। पुरोऽवस्थित भूतप्रपञ्च ही तत्त्ववाद की विश्रामभूमि है।

इस का मूल 'यही' है। सृष्टि का मूल क्या है? इस विडम्बना में पड कर सृष्टि से बाहर किसी अन्य मूल की खोज करते रहना निरर्थक है, जब कि समाधान यहीं हो रहा है। स्वयं सृष्टि ही सृष्टि का मूल है। विभिन्न गुण-कर्म्मात्मक पदार्थों का पारस्परिक संयोगविशेष ही सृष्टि का कारण बना हुआ है। पांचों भूत अपने विविध संयोगों से ही अपनी स्वरूप-सत्ता प्रतिष्ठित रखने मे समर्थ हो रहे हैं। किसी समय पानी का संयोग पाकर मिट्टी ओषधि बन जाती है, वही ओषधि कालान्तर मे शुष्क नीरस वायु का संयोग पाकर पुनः मिट्टी हो

जाती है। इसी प्रकार यच्चयावत् पदार्थों का पारस्परिक संयोग-वियोग मूलक कार्य्य-कारण-भाव ही विश्वसृष्टि का कारण है। इस प्रत्यक्षदृष्ट कारणवाद को देखते हुए भी किसी पर कारण की कल्पना कर बैठना, अपने कल्पनासिद्ध परतत्त्व की रक्षा के लिए अनेक कल्पित सिद्धान्त बना डालना सचमुच (आस्तिकवर्ग की) एक विडम्बनामात्र है।

'पर' शुद्ध नहीं है, 'अपर' ही सब शुद्ध है। यही कारण है, यही कार्य्य है। स्वयं भौतिक जगत् ही भौतिक जगत् का कारण है। पिता यदि अपने पुत्र का कारण है, तो वही पिता अपने पिता का कार्य्य भी है।

> "उभयं हैतद्भवति-पिता च पुत्रश्च। प्रजापतिश्चाग्निश्च,
> अग्निश्च प्रजापतिश्च, प्रजापतिश्च देवाश्च, देवाश्च प्रजापतिश्च"
>
> —शत० ब्रा० ६ कां० । १ अ० । २ ब्रा० । २७ कण्डिका

इत्यादि रूप से आस्तिकों का श्रौत सिद्धान्त भी रूपान्तर से कार्य्य-कारणविपर्य्ययात्मक अपरवाद का ही समर्थन कर रहा है।

साध्यों के उक्त मत का क्षरदृष्टि से भी समर्थन किया जा सकता है। **'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** (गी० १५।१६) के अनुसार सम्पूर्ण भूत क्षररूप हैं, अथवा क्षर ही सम्पूर्ण भूत हैं। अध्यात्मा जहाँ 'पर' कहलाता है, वहाँ भूतरूप क्षर 'अपर' कहलाया है। इसी अपर क्षर को— **'भूमिरापोऽनलो०'** (गी० ७।४।) इत्यादि रूप से भौतिक पर्वों में विभक्त करते हुए इसे **'अपराप्रकृति'** कहा है— **'अपरेयम्'** (गी० ७।५।)। यही अपर क्षरतत्त्व विश्व का मूल है। पर अव्यय के लिए तो स्पष्ट शब्दों में सृष्टिकारणता के असम्बन्ध की ही घोषणा की गई है। जब **'न करोति, न लिप्यते'** (गी० १३।३१) के अनुसार पर (अव्यय) का सृष्टिकर्तृत्व से कोई सम्बन्ध ही नहीं तो, फिर सृष्टिकारणान्वेषण में उस ओर दृष्टि डालने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। सुतरां इस गीतादृष्टि से भी अपरवाद, दूसरे शब्दों में क्षरवाद की ही पुष्टि सिद्ध हो जाती है।

पाञ्चभौतिक विश्व किसी पर-भाव से सम्बन्ध न रखता हुआ अपर है। इसका मूल स्वयं यही है। अन्य मूल का अन्वेषण करना व्यर्थ है। अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि, कार्यरूप विश्व कारणरूप अपरभाव का दूसरा रूप है, वह पहिला रूप है। कुछ भी कह लीजिए, तात्पर्य्य दोनों सिद्धान्तों का एक ही है। "अपने सजातीय (भौतिक) तत्त्वों की अपेक्षा रखता हुआ भी, अन्य किसी विजातीय कारण की कोई अपेक्षा न रखनेवाला,

मर्त्यक्षरप्रधान कारणवाद ही 'अपरवाद' है" यही निष्कर्ष है। इसके समर्थक वचन भी हमें यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं—

१—क ईं स्तवत्कः पृणात् को यजाते यदुग्रमिन्मघवा विश्वहावेत्।
पादाविव प्रहरन्नन्यमन्यं कृणोति पूर्व- 'मपरं' शचीभिः॥

—ऋक् सं० ६।४७।१५

२—यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथा ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्व-'मपरो' जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥

—ऋक् सं० १०।१८।५।

३—देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकं सरातयः।
ते नो अद्यते 'अपरं' तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः॥

—ऋक् सं० ८।२७।१४

४—स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतु 'रपरो'ऽपि दृष्टः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् १०५।१२

६—*आवरणवादः*—

अर्थदृष्टि को प्रधान माननेवाले साध्यों ने 'आवरण' को ही सृष्टि का मूल माना है। कार्य्य का बाह्यरूप ही उसके कारण का परिचायक माना गया है। **'वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः'** (शत० ब्रा० ३।४।२।७) इत्यादि आस्तिक (श्रौत) सिद्धान्त के अनुसार हमारा बाह्य वातावरण हमारे अन्तर्भावों का परिचय दे दिया करता है। जब कि बाह्य परिस्थिति, बाह्यधर्म्म, बाह्यस्वरूप आभ्यन्तर कारणों का परिचायक बन जाता है तो, सृष्टिमूल के सम्बन्ध में भी हमे अधिक दूर न जाकर बाह्यदृष्टि से ही कारण का अन्वेषण करना चाहिए। वस्तु का बाह्यरूप ही हमे उसके मूल कारण का परिचय दे देगा। समष्टि-व्यष्ट्यात्मक विश्व के जितने भी कार्य्यरूप भूत-भौतिक पदार्थ हैं, उन सब का बाह्यरूप तमोगुणप्रधान है। इसी तमोगुण की प्रधानता से सृष्टि की वस्तुओं को 'पदार्थ' कहा जाता है। 'पदार्थ' शब्द में 'पद-अर्थ' ये दो विभाग हैं। 'पद' शब्द तो वस्तु के नाम का अभिनय कर रहा है, एवं 'अर्थ' शब्द

स्वयं वस्तु का अभिनय कर रहा है। वस्तु का बाह्यरूप अर्थरूप ही है। यह अर्थभाव एक प्रकार का आवरण है। महामहिमामय आकाश एक महा आवरण है। इस आकाश आयतन में प्रतिष्ठित यच्चयावत् पदार्थ छोटे-छोटे आवरण हैं। इन असंख्य आवरणों की समष्टि ही विश्व का वास्तविक स्वरूप है।

इसी आवरण को आस्तिक दर्शन ने 'तमोगुण' कहा है। यही तमोगुण भौतिक सृष्टि का मूल है। अर्थप्रधाना सृष्टि का मूल केवल तमोगुण ही बन सकता है। क्योंकि अर्थ जब स्वयं आवरणरूप है तो, सजातीय सम्बन्ध सिद्धान्त के अनुसार इसका मूल कारण भी अवश्य ही कोई आवरण ही होना चाहिए।

इसी आवरण को वैदिक परिभाषा में 'वयुन' कहा गया है। यद्यपि व्याख्याताओं ने वयुन शब्द को कर्म्म का वाचक माना है (देखिए ई० उप० १८, शां० भा०), परन्तु वस्तुतः वयुन शब्द कर्म्ममय-कर्म्माधार अर्थ का ही वाचक है। हम जिन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, दूसरे शब्दों में जो पदार्थ हमारे प्रज्ञान के विषय बनते हैं, उन प्रज्ञातभावों का ही नाम वयुन है। इसी आधार पर 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियः' (यजुः सं० ११।४) इत्यादिमन्त्रगत 'वयुनावित्' शब्द की व्याख्या करते हुए सर्वश्री उव्वट ने कहा है—

'वयुनानि प्रज्ञानानि वेत्तीति वयुनावित्'।

सविता प्रजापति ही विश्व के यच्चयावत् वयुनों को जानने में समर्थ है। अतः इन्हें ही वयुनावित् कहा गया है। एक स्थान पर अग्नि को भी 'वयुनानि विद्वान्' कहा गया है—(देखिए ई० उप० १८ मन्त्र)। दृष्टिविषयक सम्पूर्ण पदार्थ अर्थप्रधान बनते हुए वयुन हैं। एवं पदार्थनिष्पत्ति अग्नि से ही होती है। इस दृष्टि से अग्नि को भी वयुनों का परिज्ञाता बतला दिया गया है। सविषयक[1] ज्ञान ही को 'वयुन' कहा जाता है। यद्यपि पदार्थ का ही नाम 'वयुन' है। परन्तु "अयं पदार्थः" यह प्रतीत तभी होती है, जब कि पदार्थ हमारे ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट होता है। इसीलिए प्रज्ञान को, ज्ञानाश्रित पदार्थ को, किंवा ज्ञानाभिनीयमान पदार्थ को वयुन कह दिया जाता है।

---

१ "वीयते गम्यते प्राप्यते विषया अनेन-तद् 'वयुनम्'। अज गतौ। "अजियमिशीङ्भ्यश्च" (उणा० ३।६१) इति 'उनण्'। स च कित्। अजेर्व्वीभावः।"

सम्पूर्ण विश्व एक महावयुन है, एवं इसके गर्भ में अणु महान् रूप से अनन्त वयुन प्रतिष्ठित हैं। 'सर्वमिदं वयुनम्' इस सिद्धान्त के अनुसार सब-कुछ वयुन ही वयुन है। इस वयुन में वय-वयोनाध ये दो पर्व नित्य प्रतिष्ठित हैं। दोनों के समन्वय से ही वयुन का स्वरूप सुरक्षित है। आवरणात्मक (वयुनात्मक) प्रत्येक पदार्थ में आप इन दोनों पर्वों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। वस्तु का आकार, और आकार से आकारित वस्तु ही क्रमशः वयोनाध-वय हैं। वस्तुतत्त्व को सुरक्षित रखने वाला उसका बाह्य आकार ही है। जब तक आकार (सीमा-आयतन) सुरक्षित रहता है, तब तक उस आकार के गर्भ में सुरक्षित रहने वाली वस्तु का कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। बाह्य आक्रमण से पहिले आकार पर आघात होता है। जब वह प्रबलाक्रमण से बिगड़ जाता है, तब आक्रमणकर्त्ता आकारित वस्तु का घात करने में समर्थ होता है।

यह स्मरण रखने की बात है कि, आयु को सर्वसाधारण लोग 'वय' कहा करते हैं। इसी लिए समान आयु वालों को 'समवयस्क' कहते हैं। यहां भी वय का उक्त तात्पर्य्य ही है। प्राणयुक्त अर्थ का ही नाम वय है। अर्थ (शरीर) में जब तक प्राण रहता है, तभी तक उसकी सत्ता है। अतएव श्रुति ने— 'प्राणो वै वयः' (ऐ० ब्रा० १।२८) इत्यादि रूप से प्राण को ही वय कहा है। प्राण क्रियाशक्तिप्रधान बनता हुआ गतिशील है। अतएव गत्यर्थक 'वय-वी-अज' तीनों धातुओं से ही वय शब्द बनता है। इसी गतिभाव को लक्ष्य में रखकर पक्षी को भी वय कह दिया जाता है। वेदव्याख्याताओं ने वय का अर्थ अन्न किया है। इस अर्थ का भी दो तरह से समन्वय किया जा सकता है। गतिशील प्राण वय है। परन्तु इसका यह गतिभाव अन्नाहुति पर ही निर्भर है। जब तक प्राणाग्नि में अन्नाहुति होती रहती है, तभी तक प्राण स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

'अन्नं ब्रह्म त्येक आहुः, तन्न तथा। पूयति वा अन्नमृते प्राणात्।
प्राणो ब्रह्म त्येक आहुः, तन्न तथा। शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्।
एते ह त्वेव देवते एकधा भूयं भूत्वा परमतां गच्छतः'॥

तात्पर्य्य यही है कि, जबतक प्राणाग्नि में बल रहता है, तभीतक इसमें हुत अन्न रसादिरूप में परिणत होता रहता है। यदि प्राणाग्नि शिथिल हो जाता है तो हुत अन्न नीरस बनता हुआ दोषयुक्त बन जाता है। इसी प्रकार जब तक अन्नाहुति होती रहती है, तभी तक प्राणाग्नि प्रबल बना रहता है। जिस दिन अन्नाहुति बंद हो जाती है, प्राण मूर्च्छित हो जाता है। ऐसी

दशा में मानना पड़ता है कि, दोनों में अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनों एकरूप बन कर, मिलजुल कर ही अपनी स्वरूपरक्षा करने में समर्थ होते हैं। यही कारण है कि, हमने प्राण-विशिष्ट अर्थ (अन्न) को ही "वय" कहा है। चूंकि अन्नद्वारा प्राण रक्षा होती है, इस हेतु से व्याख्याताओं ने वय को अन्नार्थक मान लिया है।

अपिच—जिस प्रकार उदर में भुक्त भोज्य पदार्थों को अन्न कहा जाता है, एवमेव वस्तु-तत्त्व अपने वयोनाधरूप सीमाभाव के उदर में भुक्त रहता है। इस दृष्टि से भी, भुक्तिभाव से भी वय को अन्न कहना अन्वर्थ बन जाता है। एक तीसरा कारण यह भी है कि, 'अहमन्न-मन्नमदन्तमद्मि' (सामसं० ५-६।३।१०।९) 'अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नञ्च' (शत० ११।१।६।१९) इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण सिद्धान्तों के अनुसार विश्व के यच्चयावत् पदार्थ परस्पर में एक दूसरे के अन्न-अन्नाद हैं। पारस्परिक आदान विसर्ग से ही सब का पालन पोषण हो रहा है। आदानदशा मे सभी पदार्थ अन्नाद (भोक्ता) हैं, विसर्गदशा में सभी पदार्थ अन्न (भोग्य) हैं। इस दृष्टि से भी वयरूप वस्तुतत्त्व को अन्न कहा जा सकता है।

वस्तुतत्त्व के इस वाह्य आकार को ही पूर्व में हमने 'वयोनाध' बतलाया है। चूंकि वाह्य-सीमा ने ही वय का चारों ओर से बंधन कर रक्खा है, अतएव इस सीमा को 'वयोनाध' कहना अन्वर्थ बन जाता है। छन्दोविज्ञानपरिभाषा में वयोनाध को ही "छन्द" कहा गया है। प्रत्येक वस्तु अवश्य ही किसी न किसी छन्द से (सीमा से) छन्दित (सीमित) रहती है। चूंकि छन्द ने वस्तुतत्त्व को चारों ओर से बांध रक्खा है, अतः हम अवश्य ही छन्द को 'वयोनाध' कह सकते हैं।

जिस प्रकार छन्द से छन्दित वस्तुतत्त्व प्राणयुक्त अर्थ है, वैसे इस छन्दरूप सीमाभाव का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न का उत्तर भी प्राणतत्त्व ही है। प्राणतत्त्व असंख्य हैं। भिन्न-भिन्न प्राणों से भिन्न भिन्न कार्य्यों का सञ्चालन हो रहा है। जो प्राणविशेष अन्तर्य्याम सम्बन्ध से वस्तुतत्त्व की प्रतिष्ठा बनता है, उसे वय कहा जाता है। एवं जो प्राणविशेष वहिर्य्याम सम्बन्ध से वस्तु की वाह्यसीमा बनता है, उसे छन्द कहा जाता है। इसी प्राणभेद को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने प्राण को वय भी कहा है, वयोनाध भी कहा है। परन्तु अर्थ करते समय यह ध्यान रखना पड़ेगा कि, वयप्राण आभ्यन्तर प्राण है, एवं वयोनाध प्राण वाह्य प्राण है। वेदपदार्थों की ग्रन्थिएँ इसी गुप्तपरिभाषाज्ञान से शिथिल होतीं हैं। अन्यथा केवल नामसाम्य से अर्थ का अनर्थ हो पड़ता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, वाह्यप्राणरूप छन्द का ही नाम वयोनाध है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

१—प्राणा वै वयोनाधाः। प्राणैर्हीदं सर्वं वयुनं बद्धम्।

—शत० ब्रा० ८।२।२।८

२—अथो छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः। छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं बद्धम्।

—८।२।२।८

उक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि, प्रत्येक पदार्थ वयुन है, एवं वयुनरूप प्रत्येक पदार्थ में वय-(वस्तु) और वयोनाध (सीमा) दो पर्व हैं। वय-वयोनाधात्मक वयुन ही पदार्थ है। इसका मूल कारण अर्थ प्रधान तमोगुण है। तमोमयी सृष्टि का मूल तमोगुण ही बन सकता है। तम एक प्रकार का आवरण है। इसीलिए यह तमोवाद, किंवा वयुनवाद साध्य परिभाषा मे— 'आवरणवाद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस वाद के समर्थक निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त वचन हमारे सामने आते हैं—

१—'तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥

—ऋक् सं० १०।१२९।३

२—कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद्वसुष्कुविद्वसुभिः काममावरत्।
चोदः कुवित्तु तुज्यात् सातये धियः शुचिप्रतीकं तमया धिया गृणे॥

—ऋक् सं० १।१४३।६।

३—अप्रक्षितं वसु बिभर्षि हस्तयोरषाळ्हं सहस्तन्वि श्रुतो दधे।
आवृतासोऽवतासो न कर्तृभिस्तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरयः॥

—ऋक् सं० १।५५।८

४—स हि स्वसृत् पृषदश्वो युवा गणो या ईशानस्तविषीभिरावृतः।
असि सत्य ऋणयावाऽनेद्योऽस्या धियः प्राविताथा वृषा गणः॥

—ऋक् सं० १।८७।४

५—दिवो यः स्कम्भो धरुणः स्वातत आपूर्णो अंशुः पर्येति विश्वतः।
समे मही रोदसी यक्षदावृता समीचीने दाधार समिषः कविः॥

—ऋक् सं० ९।७४।२

६—आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
—मनुः १ अ० ५।१।

७—*अम्भोवादः*

सृष्टि के मूल कारण का विचार करने से पहिले यह आवश्यक होगा कि, पहिले सृष्टि के ही स्वरूप का विचार कर लिया जाय। सृष्टि का स्वरूप ही उसके मूलकारण का भी पता बतला देगा। वैज्ञानिकविशेषों ने (साध्यों ने) सृष्टि के **'लोक-लोकी'** दो पर्व माने हैं। 'लोक' आयतन है, 'लोकी' उस आयतन में रहनेवाला वस्तुतत्त्व है। चाहे जड़-सृष्टि हो, अथवा चेतनसृष्टि, प्रत्येक में दोनों पर्व उपलब्ध होंगे। यह एक आश्चर्य का विषय है कि, जो लोकभाव लोकी का आयतन बना हुआ है, प्रतिष्ठा बना हुआ है, वह स्वयं अपनी प्रतिष्ठा के लिए सदा लोकी की सत्ता की अपेक्षा रखता है। उदाहरण के लिए मानवी सृष्टि का ही विचार कीजिए। मनुष्य एक चेतन सृष्टि है। इसमें पाञ्चभौतिक शरीर और शुक्र-शोणित से सम्पन्न भूतात्मा, ये दो पर्व हैं। शरीर लोक है, भूतात्मा लोकी है। शरीरायतन-रूप इसी लोक में लोकी रूप भूतात्मा प्रतिष्ठित रहता है। दूसरे शब्दों में शरीर ही आत्मा का रक्षादुर्ग है। परन्तु जब तक भूतात्मा स्वस्वरूप से इस लोक (शरीर) में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक लोक सुरक्षित रहता है। जिस क्षण लोकी इस लोक को छोड़ता हुआ पर-लोक का (अन्य शरीर का) आश्रय ले लेता है, इस लोक का स्वरूप शिथिल बनता हुआ कालान्तर में नष्ट हो जाता है। इसी आधार पर तत्त्ववेत्ताओं ने लोकी को प्रतिष्ठारूप लोक की भी प्रतिष्ठा माना है। एक जड़ पाषाण को लीजिए। पाषाण पिण्ड स्वयं एक लोक है। पाषाण में रहने वाला वह विधर्त्ता प्राण, जिसका सत्ता से पाषाणपरमाणु एक सूत्र में बद्ध होकर निबिडावयव बने हुए हैं, जिसकी सत्ता से पाषाण की स्वरूपरक्षा हो रही है, पाषाणत्व अविच्छिन्न बना हुआ है, लोकी है। जिस दिन पाषाण से यह लोकी प्राण निकल जाता है, पाषाणपरमाणु अपना निबिड़भाव छोड़ देते हैं। प्राणसत्ता की कृपा से पाषाण बना हुआ वही पाषाण प्राण के निकल जाने से भुर-भुरी (बालू) मिट्टी बन जाता है।

उक्त उदाहरणों से यह भी सिद्ध हो रहा है कि, वास्तव में सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में लोक-लोकी ये दो पर्व हैं। और इन दोनों की समन्वित अवस्था का ही नाम सृष्टि है। जब सृष्टि के (कार्य के) स्वरूप का हमें पता लग गया तो, अब इसके कारण की ओर हमारा ध्यान

आकर्षित होता है। पहिले लोक का ही विचार कीजिए। लोकसृष्टि का निर्म्माण अप्तत्त्व से ही होता है। पानी ही लोकसृष्टि का मूल उपादान है। जिसे पृथिवी कहा जाता है वह भी पानी का ही रूपान्तर है। पानी ही वायु प्रवेश से क्रमश घनीभूत होता हुआ कालान्तर मे पृथिवी (मिट्टी) रूप मे परिणत हो गया है। अन्तरिक्ष में भी प्राणात्मक पानी का ही साम्राज्य है। स्वयं चन्द्रमा भी पानी की ही विशेप अवस्थारूप (विरलावस्थारूप) सोम का रूपान्तर, अतएव पानीय पिण्ड है। जितने भी नक्षत्रलोक (नक्षत्रपिण्ड) हैं, वे भी आपोमय पिण्ड होने के कारण ही 'उडु नाम से व्यवहृत हुए हैं। स्वयं सूर्य्यलोक भी तेजोमय मरीचि पानी का ही सघात है। परमेष्ठी की अब्रूपता मे तो कोई सन्देह ही नहीं है। प्राणमय स्वयम्भू भी ऋत को मूल बनाने के कारण अप्कारणता से पृथक नहीं किया जा सकता।

उक्त प्राकृतिक महालोकों के अतिरिक्त इन के उदर मे रहने वाले और और जितने भी क्षुद्र-महान् लोक है, वे भी अप् को आगे कर के ही प्रवृत्त हुए हैं। ओपधि वनस्पतिएं पानी के सेक (सिञ्चन) से ही स्वरूप धारण करने मे समर्थ हुई हैं। हमारा शरीर स्वयं आपोमय है। शुक्र-शोणित दोनों धातु अप्-प्रधान हैं। इन से उत्पन्न होने वाले शरीर को भी अवश्य ही आपोमय माना जायगा। ये कुछ एक उदाहरण ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण हैं कि, सम्पूर्ण लोकों का मूल उपादान अप्तत्त्व ही है। 'अम्भ —मरीचि मर आप श्रद्धा' आदि भेद से अप्तत्त्व के अनेक भेद है। इस अब्जातिभेद से ही इस से उत्पन्न लोको के स्वरूप मे भेद उत्पन्न होता है।

अब लोको को सामने रखिए। भूतात्मा को चेतनापुरुष कहा गया है। 'खादयश्चेतनापष्ठा धातवः पुरुपः स्मृतः' (चरक० शा० ५।१४) इस चरकसिद्धान्त के अनुसार चेतनालक्षण भूतात्मा भी धातु माना गया है। उपनिषदों की 'पञ्चाग्निविद्या के अनुसार इस धातुपुरुष का मूल उपादान भी अप्तत्त्व ही हे, जैसा कि—

'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुपवचसो भवन्ति'

— छा० उप० ५।८।१।

इत्यादि वचन से स्पष्ट है। भूतात्मा [1] 'अन्नरसमय' माना गया है। अन्न पानी का ही रूपान्तर है। इस तरह परम्परया चेतनसृष्टि की प्रतिष्ठा का मूल कारण लोकी (भूतात्मा) भी अप्कारण से ही सम्बन्ध रख रहा है। इसी प्रकार जड़सृष्टि की प्रतिष्ठा का मूलकारण लोकी (प्राण) भी 'आपोमयः प्राणः' (छान्दो० उप० ६।५।४) इस सिद्धान्त के अनुसार आपोमय ही माना गया है। जब लोक और लोकी दोनों की समष्टि ही सृष्टि है, एवं जब दोनों का मूल कारण अप्तत्त्व ही है, तो हम (साध्य) अवश्य ही सृष्टिकारणता के सम्बन्ध में 'अम्भोवाद' को उपस्थित कर सकते हैं। इस वाद के समर्थक कुछ एक श्रौत-स्मार्त्त वचन नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

१—ओमानमापो मानुषीरमृक्तं धात तोकाय तनयाय शं योः।
यूयं हि ष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः॥

—ऋक् सं० ६।५०।७

२—प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः।
प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा॥

—ऋक् सं० १०।७५।१

३—ततं मे अपस्तदु तायते पुनः स्वादिष्ठा धीति रुचथाय शस्यते।
अयं समुद्र इह विश्वदेव्यः स्वाहाकृतस्य समुतृप्णुत ऋभवः॥

—ऋक् सं० १।११०।१

४—आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त, कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यँस्ता तपोऽतप्यन्त। तासु तप्यमानासु हिरण्मयाण्डं सम्बभूव।

—शत० ब्रा० ११।१।६।१

---

[1] "अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" (तै० उप० २।१)
"यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवाय पुरुष इति, स एष कर्म्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः"

—सुश्रुत० शा० १ अ०

"षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते" —चरक० शा० ५।५

५—अद्भिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि, जनयिष्यामि, आप्स्यामि-यदिदं किञ्च। तद्यदब्रवीत्-आभिर्वा० तस्माद् धारा, जाया, आपः अभवन्।

—गोपथब्रा० १।१।२।

६—अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्।

—शत० ब्रा० १।१।१।१४

७—सेदं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्-तस्मादापः। यदवृणोत्-तस्माद्वाः (वारिः)

—शत० ब्रा० ६।१।१।८

८—आपो वै सर्वकामाः।

—शत० १०।५।४।१५

९—आपो वै सर्वा देवताः।

—शत० १०।५।४।१४

१०—आपो वा अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा।

—शत० ४।५।२।१४

११—अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोकास्त्वप्सु प्रतिष्ठिताः।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत्॥

—महाभारत

८—*अमृतमृत्युवादः*

सदसद्वाद के ही समधरातल पर प्रतिष्ठित रहनेवाला, नित्य-अनित्यभावद्वयी से सम्बन्ध रखनेवाला वाद ही 'अमृत-मृत्युवाद' है। सदसद्वाद में सत्-असत् दोनों में कभी कभी संकरता आ जाती है। सदसद्वाद का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, सत् का अर्थ भाव है, असत् का अर्थ अभाव है। परन्तु अमृत-मृत्युवाद के अमृत-मृत्यु दोनों ही पर्व भावात्मक माने जायंगे। इसी भेद को लक्ष्य में रख कर प्रकृतवाद का विचार करना चाहिए।

सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में हम परस्पर में सर्वथा विरुद्ध दो भावों के दर्शन कर रहे हैं। किसी भी एक वस्तु को सामने रखकर उसके तात्विक स्वरूप पर दृष्टि डालिए। दोनों

भावों का साक्षात्कार हो जायगा। उदाहरण के लिए एक मनुष्य को ही लीजिए। मनुष्य नाम का प्राणी जिस समय माता के गर्भ में उत्पन्न होता है, उस क्षण से आरम्भ कर उसके अवसानकाल पर्य्यन्त की अवस्था का विचार कीजिए। स्थूलदृष्टि से विचार करने पर आप उसमें गर्भ-शिशु-पौगण्ड बाल-तरुण युवा-प्रौढ़-स्थविर-वृद्ध-दशमी आदि दस अवस्थाएँ. देखेंगे। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेंगे तो, आपको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, प्राणी की अवस्था में क्षण-क्षण परिवर्त्तन हो रहा है। विना क्षण-परिवर्त्तन स्वीकार किए आप स्थूल परिवर्त्तन को कभी प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। जो प्राणी पूर्वक्षण में था उत्तरक्षण में उसका (पूर्वक्षणावच्छिन्न प्राणी का) सर्वथा अभाव है। यही अवस्था वस्तुमात्र में समझिए।

उक्त क्षणभाव के साथ साथ ही एक अक्षणभाव भी (पदार्थों में) हमें उपलब्ध हो रहा है। यह ठीक है कि परिवर्त्तन हो रहा है, परन्तु परिवर्त्तन स्वयं एक सापेक्षभाव है। वह अपनी धृति की रक्षा के लिए अवश्य ही किसी अपरिवर्त्तनीय धरातल की अपेक्षा रखता है। साथ ही में सिद्धान्ततः पूर्वक्षणस्थ वस्तु का उत्तरक्षण में अभाव समझते हुए भी हमें निरन्तर वस्तु की उपलब्धि हुआ करती है। यदि वस्तुओं में केवल क्षणभाव का ही साम्राज्य होता तो, हमें कभी उनकी उपलब्धि न होती। थोड़ी देर के लिए क्षणोपलब्धि के द्वारा उपलब्धि मान भी ली जाय, तव भी "यह वही वस्तु है, जिसे हमने कल वहाँ से खरीदा था, आज यह हमारे घर रक्खी है" यह प्रतीति तो तब तक सर्वथा असम्भव ही बनी रहती है, जब तक कि हम क्षणभाव के साथ साथ अक्षणभाव का समावेश नहीं मान लेते। "प्रत्येक पदार्थ यद्-लता भी है, प्रत्येक पदार्थ 'वही' मर्य्यादा से भी युक्त है दोनों भाव अत्यन्त विरुद्ध होते हुए भी तमःप्रकाशवत् एक ही वस्तु में अविरोधी की तरह समन्वित हैं" यह कौन स्वीकार न करेगा।

जब कार्य्य रूप विश्व में दो भाव हैं, तो कारण में भी अवश्य ही दो भावों का भान स्वीकार करना पड़ेगा। कार्य्य में रहनेवाले क्षणभाव का वही मूल कारण 'मृत्यु' कहलाता है, एवं कार्य्यगत अक्षणभाव का वही मूल 'अमृत' नाम से प्रसिद्ध है। नित्य तो (साध्यों के अनुसार) दोनों ही नहीं है। एक में (अमृत में) धारावाहिक नित्यता है, दूसरे में (मृत्यु में) क्षणिक अनित्यता है, और इसी अपेक्षाकृत नित्यता को लेकर अमृत को नित्य कहा जा सकता है। दोनों का परस्पर में 'अन्तरान्तरीभाव' सम्बन्ध है, जैसा कि पाठक आगे आनेवाले 'द्विसत्यवाद' प्रकरण में देखेंगे।

तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, कतिपय साध्यविद्वान् प्रत्यक्षदृष्ट, एवं अनुभूत पदार्थगत क्षण-अक्षण भावों के आधार पर [1]धारावाहिक नित्यतालक्षण अक्षण अमृत, एवं प्रतिक्षणविलक्षण क्षण मृत्यु को ही सृष्टि का मूल कारण मानते हुए 'अमृत-मृत्युवाद' का समर्थन कर रहे हैं। निम्न लिखित वचन इस वाद के समर्थन में उद्धृत किए जा सकते हैं—

१—आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्॥

—यजुःसं० ३४।३१

२—यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आगा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥

—ऋक् सं० १।८३।५

३—बृहन्त इद्भानवो भा ऋजीकमग्नि सचन्त विद्युतो न शुक्राः।
गृहेव वृद्धं सदसि स्वे अन्तरपार ऊर्वे अमृतं दुहानाः॥

—ऋक् सं० ३।१।१४

४—अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥

—शत० ब्रा० १०।५।१।४

५—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे-मर्त्यञ्चामृतं च'–'शान्तिसमृद्धममृतम्' 'अशनाया हि मृत्युः'–'क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या'–'अचल-ममृतमच्युतम्'–'मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया'–'अकलोऽमृतो भवति' 'मर्त्यताममृतं व्रजेत्'–'अमृतं चैव मृत्युश्च'।

—संग्रह

---

[1] "एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्त्वं, यत् सर्वमायुरेति" (शत० ब्रा० ९।५।१।१०) यह वचन आयु को अमृत बतलाता हुआ अमृततत्त्व की धारावाहिक नित्यता का ही समर्थन कर रहा है।

६—अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम् ।

शत० ब्रा०

७—उभयं हैतदग्रे प्रजापतिरास—मर्त्यं चैवामृतं च । तस्य प्राणा एवामृता आसुः, शरीरं मर्त्यम् । स एतेन कर्म्मणा, एतया आवृता, एकधाजरममृतमात्मानमकुरुत ।

—शत० ब्रा० १०।१।४।१

६—*अहोरात्रवादः*

तेजः-स्नेहवादी कितने एक साध्य विद्वानों का कहना है कि, सृष्टिमूल के अन्वेषण के लिए इतनी दूर अनुधावन की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वयं सृष्टिमर्य्यादा में ही सृष्टिकारण का पता लग सकता है, अथवा लगा हुआ है। प्रत्यक्ष दृष्ट अहः और रात्रि (दिन और रात) ही इस सृष्टि के मूल कारण हैं। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप तेज और स्नेह नामक दो तत्त्वों का सम्मिश्रणमात्र है। शुष्कतत्त्व तेज है, आर्द्रतत्त्व स्नेह है। तेज अन्नाद है, स्नेह अन्न है। अन्नाद अग्नि है, अन्न सोम है। अग्नि योनि है, सोम रेत है। दोनों की समष्टि ही यज्ञ है, एवं यह यज्ञ ही विश्व का मूल कारण है, जैसा कि 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' (गी० ३।१०।) इत्यादि स्मार्त्त सिद्धान्तों से भी स्पष्ट है।

कितने एक पदार्थ घनावयव (निविडावयव) बनते हुए ''ध्रुव' हैं, कितने एक पदार्थ तरलावयव बनते हुए 'धर्त्र'[1] हैं, एवं कितने एक पदार्थ विरलावयव (बाष्पावयव) बनते हुए 'धरुण' हैं। पार्थिव लोष्ट-पाषाणादि पदार्थ ध्रुव (घन) हैं, आन्तरिक्ष्य अप्-वाय्वादि पदार्थ धर्त्र (तरल) हैं, एवं दिव्य प्राणादि पदार्थ धरुण (विरल) हैं। इस प्रकार 'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु' इन तीन लोकों में तीन ही जातियों के पदार्थ उपलब्ध होते हैं। इस जातित्रयी का कारण यही है कि, इनके स्वरूप सम्पादक तेज और स्नेहतत्त्व तीन तीन भागों में ही विभक्त है। तेज अग्नि है, एवं इसकी ध्रुव-धर्त्र-धरुण तीन अवस्थाएँ हैं। ध्रुव

---

१ पदार्थतत्त्व घन-तरल-विरल भेद से तीन जातियों में विभक्त माना गया है। इन्हीं तीनों के लिए मूलसंहिता में क्रमशः ध्रुव-धर्त्र-धरुण शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

अग्नि 'अग्नि' कहलाता है, धर्त्र अग्नि 'यम' कहलाता है, एवं धरुण अग्नि 'आदित्य' कहलाता है। इसी प्रकार स्नेह सोम है, एवं इसकी भी तीन ही अवस्था हैं। ध्रुव सोम 'आपः' कहलाता है, धर्त्रसोम 'वायु' कहलाता है, एवं धरुण सोम 'सोम' कहलाता है। अग्नि-यम-आदित्य की समष्टि तेज है, आपः-वायु-सोम की समष्टि स्नेह है। तेज 'अङ्गिरा' है, स्नेह 'भृगु' है। 'भृगुणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार इन दोनों के तप (कर्म्म-व्यापार) से ही यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है, एवं भृग्वङ्गिरोमय यही यज्ञ आगे जाकर विश्वसृष्टि (संवत्सर रूप त्रैलोक्यसृष्टि), एवं त्रैलोक्य निवासिनी प्रजासृष्टि का कारण बनता है।

प्रजासृष्टि, एवं विश्वसृष्टि के मूलकारणरूप उक्त तेजः-स्नेहतत्त्वों की सूचना हमें अहोरात्र से मिल रही है। अहःकाल तेजःप्रधान है, रात्रिकाल स्नेहप्रधान है। अहःकाल मे सौर अग्नि का साम्राज्य है, रात्रिकाल मे चान्द्रसोम की व्याप्ति है। इसी आधार पर अहः को आग्नेय कहा गया है, रात्रि को सौम्या माना गया है। सूर्य्यचन्द्रात्मक अहोरात्र ही सृष्टि के कारण बने हुए हैं। अहः से उपलक्षित अग्नि, एवं रात्रि से उपलक्षित सोम दोनों के याग-सम्बन्ध का जब अवसान हो जाता है, दूसरे शब्दों मे जब यज्ञ सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, तो वस्तुस्वरूप की उत्क्रान्ति हो जाती है। चूंकि सम्पूर्ण जगत् अहोरात्ररूप अग्नि-सोम का ही विजृम्भण है, अतएव महर्षि जाबाल ने भी 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' (बृहज्जाबालोपनिषत् २।४) कहते हुए इसी वाद को मुख्य स्थान दिया है। इस वाद के समर्थक निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त्त प्रमाण हमारे सामने आते हैं—

१—अपान्यदेत्यभ्यन्यदेति विषुरूपे अहनी सञ्चरेते।
परिक्षितोस्तमो अन्या गुहाकरद्यौदुषाः शोशुचता रथेन॥

—ऋक् सं० १।१२३।७।

२—कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को विवेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्त्तेते अहनी चक्रियेव॥

—ऋक् सं० १।१८५।१।

३—एते ह वै संवत्सरस्य चक्रे, यदहोरात्रे।

—ऐतरेय ब्रा० ५।३०।

४—अहोरात्राणीष्टकाः (सम्वत्सरस्य)

—तै० ब्रा० ३।११।१०।२

५—संवत्सरो वै प्रजापतिः ।

—शत० ब्रा० २।३।३।१८।

६—प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वमसृजत-यदिदं किञ्च ।

—शत० ब्रा० ६।१।२।११।

७—द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, शुष्कं चैवार्द्रञ्च ।
यच्छुष्कं तदाग्नेयं, यदार्द्रं तत्सौम्यम् ॥

—शत० ब्रा० १।६।३।२३।

८—अव्यक्ताद्व्यक्तव्यः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राञ्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

—गी० ८।१८।

१०—दैववादः

पूर्व में जिन नौ वादों का दिग्दर्शन कराया गया है, उनमें मूलकारण दो से अधिक नहीं है। कहीं एक कारण है, कहीं दो है। दो पर कारणतावाद विश्रान्त है। परन्तु प्रस्तुतवाद अनेक कारणतावाद से सम्बन्ध रखता है। देवतत्त्व के पक्षपाती साध्य विद्वानों का कहना है कि, हमें एक दो पदार्थों की कारणता का ही विचार नहीं करना है। विचार का विषय है, सम्पूर्ण विश्व, और विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित असंख्य जाति के असंख्य पदार्थ। विश्व और विश्वप्रजा दोनों को कई एक हेतुओं से केवल एक दो कारणों पर समाप्त नहीं किया जा सकता।

स्वयं विश्व के स्वरूप में भी अनेक विचित्र भाव हैं, एवं विश्वप्रजा भी असंख्य विषम भावों से युक्त देखी जाती है। सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-आकाश-वायु-जल-ग्रह-उपग्रह-नक्षत्रादि के स्वरूपों का जब हम विचार करने लगते हैं तो, इनकी विभिन्नताओं से थोड़ी देर के लिए हमें अवाक् रह जाना पड़ता है। किसी का भी स्वरूप एक दूसरे से नहीं मिलता। इसी प्रकार विश्वप्रजा में भी यह स्वरूपभेद हमें पद-पद पर उपलब्ध हो रहा है। मनुष्य, पशु, पक्षी,

कृमि, कीट, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच आदि सामान्य भेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, म्लेच्छ इत्यादि रूप से मनुष्यवर्ग में विचित्रता है। अश्व-गौ-अवि-अज-रासभ-उष्ट्र-गज-सिंह-शूकर-अष्टापद-आदि भेद से पशु असंख्य जातियों में विभक्त हैं। काक, गृध्र, चटक, कपोत, वाज, हंस, कोकिल, नीलकण्ठ, चिल्ह आदि भेद से पक्षियों की गणना करना भी कठिन है। इसी तरह कृमि-कीटादि आगे की प्रजासृष्टियों के भी हमें असंख्यभेद उपलब्ध हो रहे हैं।

परस्पर में सर्वथा विरुद्ध स्वरूप रखनेवाले उक्त लोकों, और लोकियों का मूलकारण यदि कोई एक तत्त्व, अथवा अधिक से अधिक दो ही तत्त्व होते तो, यह असंख्यभाव सर्वथा अप्रमाणिक बन जाता। यदि एक अथवा दो ही कारण होते तो, सृष्टि के स्वरूप में हमें एक, अथवा दो ही तरह के भेद उपलब्ध होते। चूंकि कार्य्यरूपा सृष्टि असंख्य विचित्र भावों से युक्त है, अतएव कार्य्यगुण को दृष्टि में रखते हुए हमें मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही इन असंख्य कार्य्यों के मूल भी असख्य ही हैं, एक दो नहीं। उन्हीं असंख्यकारणों की समष्टि को 'देवता' कहा जाता है। और ये देवता ही सृष्टि के मूलकारण हैं।

भूत-भौतिक पदार्थों में रहने वाली उस शक्ति को, जिसके रहने से पदार्थों का स्वरूप सुरक्षित रहता है, 'प्राण' कहा जाता है। इसी प्राणतत्त्व को, जो कि रूप रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द इन तन्मात्राओं की मर्य्यादा से बाहर रहता हुआ धामच्छद (जगह रोकनेवाला) नहीं बनता, देवता [1]कहा गया है। इन देवताओं की सामान्य जातिएं 'ऋषि, पितर, देव,

---

[1] वैदिक परिभाषाओं के विलुप्त हो जाने से वैदिकतत्त्ववाद के सम्बन्ध में आज अनेक भ्रान्तिएं फैली हुई हैं। आज सर्वसाधारण में 'देव'-और 'देवता' शब्दों को परस्पर पर्य्याय माना जा रहा है। वस्तुतः देव भिन्न तत्त्व है, देवता पृथक्तत्त्व है। देवता शब्द जहां यच्चयावत् प्राणों का वाचक है, वहां देव शब्द केवल ३३ आग्नेय देवताओं का (८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, प्रजापति, वषट्कार का) वाचक है। देवता शब्द सम्पूर्ण प्राणों का सग्राहक है, चाहे वह प्राण देवजाति का हो, असुरजाति का हो, पशुजाति का हो, अथवा पक्षी जाति का हो। देव-पितर-गन्धर्व-असुर आदि सब प्राणों के लिए देवता शब्द नियत है। अतः सबको देवता अवश्य कहा जा सकता है। परन्तु देव-पितर आदि शब्द केवल स्व-स्वभाव से ही सम्बन्ध रखते हैं। इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन "शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत" "अष्टविधदेवतावाद" नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

असुर, गन्धर्व, पशु,' इन भागों में विभक्त हैं। इनके अवान्तर विभाग क्रमशः ७,८,३३, ६६,२७,५ इन संख्याओं में विभक्त हैं। यदि प्रत्यवान्तर भेदों का विचार किया जाता है तो, इनकी संख्या अनन्त पर जाके ठहरती है। उदाहरण के लिए 'देव' नामक आग्नेय प्राण को ही लीजिए। ३३ देवों में एक देव "रुद्र" नाम से प्रसिद्ध है। इसके सामान्यरूप ११ माने गए हैं। आगे जाकर पृथवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक भेद से ग्यारह के हजारों अवान्तर भेद हो जाते हैं, जैसा कि—'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्' (यजुः सं० १६।५४) इत्यादि-मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी प्रकार अग्नि-वायु-इन्द्र आदि इतर देव भी अपने महिमाभाव से असंख्य बने हुए हैं।

प्राणों के इसी आनन्त्य को लक्ष्य मे रखते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने केवल आध्यात्मिक प्राणों की भी गणना में असमर्थता प्रकट करते हुए एक स्थान पर कहा है—'को हि तद्वेद, यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः' (शत० ब्रा० ७।२।२।२०।) 'विरूपास इदृपयस्त इद्-गम्भीरवेपसः' (ऋक् सं० १०।६२।५) कहते हुए मन्त्रश्रुति ने ऋषिजाति के प्राण की भी गम्भीरता का बखान किया है। प्रकृतस्थल मे वक्तव्यांश केवल यही है कि, असंख्यभावापन्न पदार्थों के कारण असख्य प्राणतत्त्व ही हैं। प्राणतत्त्व के आनन्त्य से ही विश्वपदार्थों में आनन्त्य है। विश्वसृष्टि जव अनन्त कार्य्यरूपा है, तो अवश्य ही इसके कारण भी अनन्त ही माने जायंगे। विभिन्न प्राणात्मक उन्हीं अनन्त कारणों के समुच्चय को "देवता" कहा गया है।

लोकदृष्टि से दैववाद का विचार कीजिए। जिन पदार्थों के कार्य्य-कारण स्वरूप का हमें यदि ज्ञान हो जाता है, तो उनके लिए हमारा अभिमान ही (अहत्त्व ही) प्रतिष्ठाभूमि बन जाता है। उनके लिए तो हम कहने लगते हैं कि, "अमुक कारण से अमुक कार्य्य उत्पन्न हुआ है"। परन्तु जिन कारणों का हमारी इन्द्रिएं, मन, बुद्धि पता लगाने में असमर्थ रहती हैं, उन अज्ञात कार्य्य-कारणभावों के सम्बन्ध में हमारे मुख से ये अक्षर निकला करते हैं—"हमें विदित नहीं, दैवात् ऐसा हो गया है, दैववश ऐसा हो पड़ा है"। यद्यपि सर्वसाधारण दैवात् का अर्थ 'आकस्मिक' किया करते हैं। और साथ ही में उनकी दृष्टि में आकस्मिक का अर्थ है—"विना कारण, यों हीं"। परन्तु वस्तुतः कोई भी कार्य्य विना किसी प्रेरक कारण के सम्भव नहीं है। कोई भी कार्य्य यों हीं नहीं हो जाया करता। चूंकि हमारी इन्द्रिएं उस कारण तक नहीं पहुंच सकतीं, अतएव हम अपने आप को अज्ञ मानते हुए दैवात् कह दिया करते हैं। 'इस

दैवात् का तात्पर्य्य यही है कि, प्रकृति में रहने वाले प्राणात्मक देवताविशेष से ही यह कार्य्य हुआ है।

इस प्रकार एक साध्यवर्ग कार्य्य का आनन्त्य, और उसका पारस्परिक भेदविशिष्ट वैचित्र्य उपस्थित करता हुआ कारणता के सम्बन्ध में उक्त दैववाद, किंवा देवतावाद को ही मुख्य मान रहा है। इस वाद का भी निम्न लिखित वचनों के द्वारा समर्थन किया जा सकता है।

१—देवानामिदवो महत्तदा वृणीमहे वयम्।
घृष्णामस्मभ्यमूतये।

—ऋक् सं० ८।८३।१।

२—आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे॥

—ऋक् सं० १।८९।१।

३—जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः।

४—देवेभ्यश्च जगत्सर्वम्।

११—दशवादमूलक-संशयवादः

उक्त दसों वादों का परिणाम यह हुआ कि, आगे चल कर कुछ एक तटस्थ साध्य विद्वानों के द्वारा 'संशयवाद' का जन्म हो पड़ा। जिन दस वादों का पूर्व-प्रकरण में दिग्दर्शन कराया गया है, उन मे एक भी वाद ऐसा नहीं है, जिस का सहसा खण्डन किया जा सके। सभी में युक्ति है, तर्क है, प्रमाण है। किसे सत्य माना जाय, और किसे कल्पित कहा जाय। सत्य वस्तु सदा एक होती है, सत्यसिद्धान्त एक ही हो सकता है। सृष्टि का क्या मूल है? इस प्रश्न का अवश्य ही कोई एक ही निश्चित समाधान होना चाहिए। इधर जब सृष्टिमूल के सम्बन्ध में हमारे सामने परस्पर में सर्वथा विरुद्ध १० सिद्धान्त उपस्थित होते हैं तो, कहना पडता है कि, अभी विद्वानों ने कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं किया। वास्तव में उन्हें भी निश्चितरूप से यह विदित नहीं है कि, सृष्टि का मूल क्या है?

संशय और संशयवाद

जब एक ही वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में अनेक विरुद्ध भावों की उपस्थिति होती है तो, अवश्य ही ऐसे स्थल में संशय का प्रवेश हो जाता है। पुरोऽवस्थित स्थाणु यद्यपि वास्तव में स्थाणु है। परन्तु इन्द्रियदोष से युक्त, अथवा स्थाणु के दूर रहने पर एक द्रष्टा को स्थाणु के सम्बन्ध में **'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'** सन्देह होने लगता है। उसका आकार मनुष्य जितना है, इस लिए तो मनुष्य का भ्रम होने लगता है। साथ ही में उसमें मनुष्यवत् गति का अभाव देखा जाता है, इस लिये स्थाणु का आभास होने लगता है। एक ही धर्म्मी पदार्थ में जब इस प्रकार विरुद्ध स्थाणुधर्म्म एवं पुरुषधर्म्म का आभास होने लगता है तो—**'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानं संशयः'** के अनुसार **'इदं वा-इदं वा-स्थाणुर्वा, पुरुषो वा'** यह सन्देह हो पड़ता है।

सृष्टि लक्ष्य है। एक कहता है—सृष्टि विज्ञानमयी है, अन्य कहता है—सदसन्मयी है, तीसरा कहता है—रजोमयी है, अपर कहता है—व्योममयी है, अन्य के मत में—अपरमयी है, कश्चित् कहता है—आवरणमयी है, कई कहते हैं—आयोमयी है, कोई कहता है—अमृतमृत्युमयी है, किसी के मत में—अहोरात्रमयी है, एवं एक के मतानुसार—देवतामयी है। सृष्टि का मूलकारण सृष्टि के पूर्वभाव से सम्बन्ध रखता है। इस लिए सृष्टिदशा में तो हम अपने चर्म्मचक्षुओं से उसका निःसन्दिग्ध निर्णय कर नहीं सकते। अब जो विद्वान् अपने ज्ञानद्वारा इस कारण का जो स्वरूप हमारे सामने रख देते है, उसी के आधार पर सृष्टिकारण का निर्णय कर लेने के अतिरिक्त हमारे पास कोई अन्य उपाय नहीं रह जाता। इस परिस्थिति में जब हमारे सामने विद्वानों की ओर से धर्म्मीरूप एक ही सृष्टिविषय के सम्बन्ध में परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध दस कोटिएं उपस्थित होती हैं, तो पूर्वोक्त दृष्टान्त के अनुसार हमारा बौद्धजगत् अस्थिर हो जाता है, और परिणामतः उससे यही उद्गार निकल पड़ते है कि, यह सच है, अथवा वह सच है? इसे सत्य माने, या उसे? इसी अनिश्चयभाव को "संशय" कहा जाता है, जो कि दशवाद-सिद्धान्त के सम्बन्ध में अक्षरशः चरितार्थ हो रहा है।

इस प्रकार कितने एक साध्य विद्वानों की ओर से उक्त विप्रतिपत्ति को लेते हुए ग्यारहवें संशयवाद का जन्म हुआ। संशयवादी साध्यों ने निश्चय किया कि, परमात्मा, जीवात्मा, स्वर्ग, नर्क, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत, शुभ, अशुभ, पाप, पुण्य, मुक्ति, बंधन आदि आदि सृष्टिविद्या के जितने भी पर्व हैं, वे सब आजतक संशयास्पद बने हुए हैं। न आजतक इनके सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय हो सका, न भविष्य में निर्णय होने की सम्भावना ही है।

जो विद्वान् बुद्धिवाद के गर्व में पड कर विश्व कारण के सम्बन्ध मे 'इदमित्थम्' कहते हैं, वह उनकी अनधिकार चेष्टा ही मानी जायगी।

यह बहुत सम्भव है कि, साध्ययुगकालीन इसी संशयवाद के आधार पर आगे जाकर उस सुप्रसिद्ध 'स्याद्वाद' का जन्म हुआ हो, जो कि वाद दर्शन सम्प्रदाय मे 'सप्तभङ्गीनय' नाम से प्रसिद्ध है। अपने स्याद्वाद का निरूपण करते हुए सप्तभङ्गीनय के अनुयायी अर्वाचीन दार्शनिक संशय का सात तरह से स्पष्टीकरण करते देखे जाते हैं। सात स्पष्टीकरणों में ३ वादों का निर्वचनभाव से सम्बन्ध है, एवं ४ वादों का अनिर्वचनीयभाव से सम्बन्ध है। सुविधा के लिए इन सातों वादों को हम निम्न लिखित नामों से व्यवहृत कर सकते हैं—

१—स्यादस्ति-इति वक्तव्यः
२—स्यान्नास्ति-इति वक्तव्य.
३– स्यादस्ति, नास्ति इति वक्तव्य.
४— स्यादवक्तव्यः
५—स्यादस्ति चावक्तव्यः
६—स्यान्नास्ति चावक्तव्यः
७—स्यादस्ति, नास्ति चावक्तव्यः

"यह जो कुछ दीखलाई पड रहा है—सम्भव है, उसका कोई मूल हो, एवं वह सद्रूप हो, सत्य हो" यही पहिला पर्व है। "जो कुछ हम देख-जान-सुन रहे हैं—सम्भव है, उसका कोई मूल न हो, सब असद्रूप हो, मिथ्या हो, कल्पित हो" यही दूसरा पर्व है। "जो कुछ देखा-जाना-सुना जा रहा है—सम्भव है वह हो भी, न भी हो, सब सद्रूप भी हो, असद्रूप भी हो, दोनों का सम्मिलित रूप हो" यही तीसरा पर्व है। इन तीनों पर्वों मे संशयपूर्वक कारणों का निर्वचन हुआ है। परन्तु आगे के चार वाद अनिर्वचनीय भाव से ही सम्बन्ध रखते हैं।

"जो कुछ हम देख-जान-सुन रहे हैं—न वह सत् है, न असत् है, न सदसत् है। इसका निर्वचन ही नहीं हो सकता। यह सब अनिर्वचनीय है, अवक्तव्य है, शायद यही कहना ठीक हो" यही चौथा पर्व है। "जो कुछ हम देख-जान-सुन रहे हैं—वह है तो अवश्य, सद्रूप तो है, परन्तु है वह सद्भाव अनिर्वचनीय, सम्भव है, यही कहना-मानना ठीक हो" यही पाचवा पर्व है। "जो कुछ हम देख-जान-सुन रहे हैं—वह असत् तो है, परन्तु है वह असद्भाव अनिर्वचनीय, सम्भव है, यही कहना ठीक हो" यही छठा पर्व है। "जो कुछ हम देख-जान-सुन रहे हैं—वह सदसद्रूप है, परन्तु वह सदसद्भाव है अनिर्वचनीय, सम्भव है, यही कहना ठीक हो" यही सातवा पर्व है। सातों मे चूकि "स्यात्" का सम्बन्ध है, अतएव इस सप्तक को हम 'स्याद्वाद' ही कहेंगे।

सप्तभङ्गीनयपरिलेखः—

१—शायद सृष्टि का मूल सत् हो,—"स्यादस्ति, इति वक्तव्यः" ।

२—शायद सृष्टि का मूल असत् हो,—"स्यान्नास्ति, इति वक्तव्यः" ।

३—शायद सृष्टि का मूल सदसत् हो,—"स्यादस्ति नास्ति, इति वक्तव्यः" ।

४—शायद न सत् हो, न असत् हो, न सदसत् हो, किन्तु सब कुछ अनिर्वचनीय हो— } "स्यादवक्तव्यः" ।

५—शायद सृष्टि का मूल तो सत् हो परन्तु वह अनिर्वचनीय हो,—"स्यादस्ति चावक्तव्यः" ।

६—शायद सृष्टि का मूल असत् हो, परन्तु वह अनिर्वचनीय हो,—"स्यान्नास्ति चावक्तव्यः" ।

७—शायद सदसत् दोनों मूल हों, परन्तु वह अनिर्वचीय हो,—"स्यादस्ति-नास्ति, चावक्तव्यः" ।

उक्त संशय के दो रूप माने जा सकते हैं। एक निश्चयात्मक संशयवाद, दूसरा अनिश्चयात्मक संशयवाद। पूर्व में सप्तभङ्गीनयलक्षण जिस संशयवाद का दिग्दर्शन कराया गया है, वह निश्चयात्मक है। और इसीलिए यह संशयवाद संशयमर्य्यादा से बाहर निकला हुआ है। "ऐसा भी सम्भव हो सकता है, वैसा भी सम्भव हो सकता है, शायद ऐसा हो, शायद वैसा हो, शायद विश्व अस्तिमूल हो, शायद नास्तिमूल हो" यह कहना तो एक प्रकार से सम्भावनात्मक निश्चयज्ञान है। इन वाक्यों का तो यह तात्पर्य्य निकलता है कि, "विश्व का कोई न कोई मूल तो अवश्य है, परन्तु हम अपनी अल्पज्ञता से उसे जान नहीं रहे। जब कि विश्वकारण पर सम्भावनारूप से विश्वास कर लिया गया, सम्भावनात्मक कारण का निश्चय कर लिया गया तो, संशय कहां रहा। "कारण अवश्य कोई न कोई निश्चित है, परन्तु हम उसे नहीं जानते, अथवा नहीं जान सकते" यह वाक्य ही संशयमर्य्यादा पर आघात कर रहा है। निर्बाध, निर्भ्रान्त संशयवाद तो वही माना जायगा, जिसमें सम्भावनात्मक निश्चय भी न रहे। और वही अनिश्चयात्मक संशयवाद वास्तविक संशयवाद कहलाएगा। विश्व की मूलकारणता के सम्बन्ध में सम्भावनात्मक निश्चय भी न रहे, वही वास्तविक संशयवाद माना जायगा।

कुछ एक विद्वानों ने इसी को संशयवाद कहा भी है। उनका कहना है कि, विश्वमूल के सम्बन्ध में किसी तरह का विचार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में सम्भावना भी नहीं की जा सकती। सृष्टिकारणतावाद के सम्बन्ध में मनुष्य की बुद्धि का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। विश्व के बीज परमाणु हैं, प्रत्यय है, परमेश्वर है, अथवा स्वयं परमाणु-प्रत्यय, अथवा

परमेश्वर ही विश्वरूप है, यह सब संदिग्ध विषय हैं। निम्न लिखित कुछ एक वचन इसी अनिश्चयरूप संशयवाद का समर्थन कर रहे हैं—

१—न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥
—ऋक् सं० १०।८२।७

२—किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥
—ऋक् सं० १०।८१।२

३—किंस्विद्वनं क उस वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥
—ऋक् सं० १०।८१।४।

४—को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा विसर्जनेनाथाः को वेद यत आबभूव॥
—ऋक् सं० १०।१२९।६।

५—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग! वेद यदि वा न वेद॥
—ऋक् सं० ०।१२९।७।

६—को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा कस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्॥
—ऋक् सं० १।१६४।४।

७—न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा माऽगन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥
—ऋक् सं० १।१६४।३७।

यह तो हुई विश्वमूल की घटना। यही दशा विश्वतूल की समझिए। जिस प्रकार विश्व का मूल आज तक संशय का अधिकारी बना हुआ है, एवमेव तूलरूप स्वयं विश्व का

भी "इदमित्थमेव" निर्णय कर डालना असम्भव है। प्रज्ञेतर, प्रत्यक्ष, मानस, आत्म, सत्यज्ञान, जीव, ईश्वर, उपास्यदेवता, आदि के समर्थन में जितने भी प्रमाण साधन (दार्शनिक) बतलाया करते हैं, वे सब भी इसी संशय-मर्यादा से युक्त है। किसी में भी कुछ तथ्य नहीं है। इस प्रकार विश्व का मूल, तूलरूप विश्व, विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित पदार्थ, दार्शनिकों के परस्पर विरोधी एतद्विषयक सिद्धान्त सब कुछ संशयास्पद बने हुए हैं। जब स्वयं विद्वान् दार्शनिक भी 'इदमित्थमेव' रूप से निर्णय न कर सके, जब उनके कथन में ही आज तक परस्पर विरोध बना हुआ है तो, साधारण मनुष्य का कहना ही क्या। ऐसी दशा में कारणतावाद के सम्बन्ध मे हमारे लिए सब से श्रेयःपन्था यही बच जाता है कि, हम "संशयवाद' पर ही विश्राम कर लें। यदि संशयवाद प्रिय न लगे तो, इस सम्बन्ध में विचार करना ही छोड़ दें। कहना न होगा कि, वर्त्तमान युग मे इसी हेतुवाद को आगे करते हुए शास्त्रसिद्धान्तों की अवहेलना हो रही है। नास्तिमूल संशयवाद को आगे करते हुए अधिक महानुभाव आज यही कहते सुनाई पड रहे हैं कि, "शास्त्र-परलोक-आत्मा-परमात्मा आदि सब एक जंजाल है। इन सब में कुछ नहीं रक्खा है। यह सब केवल विद्वानों की बुद्धि का दुरुपयोग है।" इस प्रकार जो संशयवाद साध्ययुग मे उत्पन्न हुआ, देवयुग में जिसका मुखमर्दन हुआ, आज वही अपने रक्षक कलिदेव का सहयोग प्राप्त कर पुनः जीवित होने का प्रयास करता दिखाई दे रहा है। अब देखना यह है कि, संशयवाद और सिद्धान्तवाद की प्रतिद्वन्द्विता मे कौन मैदान में डटा रहता है, विजयश्री किस का वरण करती है ?

* *

*

---

१ ज्ञान की अल्पता से ही संशय का जन्म होता है। और "संशयात्मा विनश्यति" इस गीता सिद्धान्त के अनुसार यही संशय मृत्यु का सर्वश्रेष्ठ निमन्त्रण है। देखा जाता है कि, वैदिक साहित्य के विरल-प्रचार बनने से आज भारतीय आस्तिक समाज भी अपने स्वाभाविक "क्यों" का समुचित समाधान न ढूंढने के कारण पद पद पर संशय का अनुगमन करता हुआ मृत्युनिमन्त्रण का पात्र बन रहा है। इसे इसी असत्-पात्रता से बचाने के लिए, "हमारे संशय और उनका निराकरण" नामक सहस्रपृष्ठात्मक ग्रन्थ सम्पन्न हुआ है। जो कि यथासमय प्रकाशित होकर एक विशेष अनुरञ्जन की सामग्री बननेवाला है।

सिद्धान्तों की वादचतुष्टयी

सृष्टिमूल के सम्बन्ध में साध्ययुग से सम्बन्ध रखनेवाले ११ वादों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराया गया। उचित था कि, संशयवाद के अनन्तर बारहवें **'सिद्धान्तवाद'** का स्पष्टीकरण करते हुए गीता सम्बन्धी 'ब्रह्म-कर्म्म' का मौलिक विश्लेपण किया जाता। परन्तु एक विशेप हेतु से ऐसा न कर सिद्धान्तवाद से पहिले **'वादचतुष्टयी'** का ही दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझा गया। पाठकों को स्मरण होगा कि, साध्ययुगकालीन **'सदसद्वाद'** नामक दूसरे वाद का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया था कि, साध्यसम्बन्धी सत्-असत् शब्द भाव-अभाव के वाचक हैं, एवं देवयुगकालीन आस्तिकवर्ग सत्-असत् को सत्ता-कर्म्मपरक मानता है। आस्तिकों कि इसी दृष्टि के आधार पर आस्तिक सम्मत सदसद्वाद के आधार पर क्रमशः **त्रिसत्यवाद, द्विसत्यवाद, असद्वाद, सद्वाद** इन चार वादों का आविर्भाव हो जाता है। इन चारों वादों का क्रमशः **'ब्रह्म-कर्म्म-अभ्ववाद'–'ब्रह्म-कर्म्मवाद'–'कर्म्मवाद'–'ब्रह्मवाद'** इन चार वादों से सम्बन्ध है।

परस्परात्यन्तविरुद्ध, किन्तु श्रौत प्रमाणों से संसिद्ध ये चारों वाद भी अन्ततोगत्वा संशय-वाद के ही जनक बन जाते हैं। सन्देह होता है कि, चारों मे सिद्धान्तपक्ष कौनसा? चूकि सिद्धान्तपक्ष की जिज्ञासा के मूलस्तम्भ ये ही चार वाद हैं, अतएव क्रम का विपर्य्यय कर साध्यसम्मत संशयवाद के अनन्तर इनका भी स्पष्टीकरण आवश्यक हो गया। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए क्रमशः चारों वादों का संक्षिप्त विवरण वादप्रेमियों के सम्मुख रक्खा जाता है। एक ही विपय का जब विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है तो, हमारी बुद्धि योग्यतानुसार तथ्य पर पहुँचने में समर्थ हो जाती है। और इसी हेतु से प्रकृत 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' प्रकरण में एक ही वस्तुतत्त्व का अनेक दृष्टियों से विचार हुआ है, जो कि अप्रासंगिक विस्तारदोप का पात्र बनता हुआ भी दार्शनिक विचारशैली द्वारा प्रमाणित, एवं मान्य बनता हुआ सर्वथा उपादेय है।

१—त्रितत्ववादः

सृष्टितत्त्ववाद के सम्बन्ध मे कितने ही दार्शनिकों के मतानुसार ब्रह्म-कर्म्म-अभ्व नाम के तीन तत्व हैं। इन तीनो में ब्रह्म 'ज्ञानतत्त्व' है, कर्म्म 'क्रिया-तत्व' है, अभ्व 'भातिभाव' है। ज्ञान-कर्म्म दोनों सत्तासिद्ध पदार्थ हैं, परन्तु अभ्व केवल भातिसिद्ध पदार्थ बनता हुआ अपदार्थरूप पदार्थ है। सब से बडा आश्चर्य तो यह है कि, जो ज्ञान क्रिया सत्तासिद्ध हैं, वस्तुतत्त्व हैं, उनका तो हमे प्रत्यक्ष भी नहीं होता। न तो हम अपने चर्म्मचक्षुओं से ज्ञान के ही दर्शन कर सकते, एव न क्रियाभाव ही चक्षुरिन्द्रिय का विषय बनता। परन्तु जो अभ्व स्वयं अपदार्थरूप है, कुछ नहीं (नास्ति) ही जिस का स्वरूप है, वही हमारी दृष्टि का विषय बन रहा है। जो तत्व प्रत्यक्ष का तो विषय बना रहे, परन्तु वास्तव मे कुछ न हो, वही तत्व 'अभ्व' कहलाता है। 'अभूत्वा भाति' 'न भवन् भाति' ही अभ्व शब्द का निर्वचन है।

ब्रह्म कर्म्म-अभ्ववाद

जन साधारण मे (मारवाड प्रान्त मे) एक तत्त्व 'हाभू' नामसे प्रसिद्ध है। माताएँ अपने बच्चों को डराने के लिए— 'अरे देख कठे जाय है, हाभू पकड लेगो' 'अरे कोड़ जाय छै, हाभू पकड लेलो' इत्यादि वाक्यो का प्रयोग किया करतीं है। बच्चे सचमुच हाभू क नाम से डर जाते हैं। यह हाभू कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है केवल कल्पित पदार्थ है। हाभू कुछ नहीं है, परन्तु बच्चे इसक नाम से डर जाते हैं। यही हाभूतत्व दार्शनिको का भाति सिद्ध अभ्व पदार्थ है। हाभू शब्द अभ्व का ही विकृतरूप है। हिन्द प्रान्त मे इसी अभ्व का 'हौआ' कहा जाता है। हौआ शब्द की अपक्षा मारवाड प्रान्त का हाभू शब्द अभ्व के अधिक समीप प्रतीत होता है।

जिस प्रकार कल्पित हाभू से बालक डर जाते हैं, एवमेव प्रत्यक्षदृष्ट, किन्तु नास्तिरूप नाम रूपात्मक विश्वरूप अभ्व से बालबुद्धि ससारी मनुष्य डरे हुए हैं। सारा विश्व ब्रह्म के इस नाम-रूपात्मक अभ्वपदार्थ क भय से संत्रस्त है। नाम रूप दोनों ब्रह्म के महायक्ष हैं, महा-अभ्व हैं, जैसा कि—'ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे महती यक्षे' (केनोपनिषत्) इत्यादि उपनिषद्वाक्य से स्पष्ट है। अभ्वशब्द के लिए प्रान्तीय भाषा मे जैसे हाभू शब्द प्रचलित है एवमेव यक्ष के लिए 'बलाय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'बला' एक आकस्मिक, एवं अचिन्त्यभाव का सूचक है। जिसका हमे स्वरूप ज्ञान नहीं होता, जिसके आगमन से, किंवा

हुआ स्वयं असङ्ग है, निष्क्रिय है। कर्म्म, क्रियामूर्ति बनता हुआ जड़ है। जडपदार्थ स्वयं अपने आप किसी अन्य के साथ मिल नहीं सकता। विशुद्ध चेतनपदार्थ निष्क्रिय होने से, साथ ही में असङ्ग होने से किसी से नहीं मिल सकता। जब दोनों का समन्वय नहीं हो सकता, तो समन्वयमूला सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ? बस केवल ब्रह्म-कर्म्म इन दो तत्त्वों पर विश्राम मानने से यही विप्रतिपत्ति हमारे सामने उपस्थित होती है।

ब्रह्म को कर्म्म में, किंवा कर्म्म को ब्रह्म में किसने समन्वित किया ? इस प्रश्न का निराकरण तभी सम्भव है, जब कि दोनों से अतिरिक्त (समन्वय करानेवाले) एक तीसरा तत्त्व और मान लिया जाय। दो पत्रों (कागजों) के समन्वय से एक पुस्तिका (कॉपी) का स्वरूप निष्पन्न होता है। दोनों पत्र अपने अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हैं। दोनों के समन्वय के लिए गोंद आदि स्निग्ध पदार्थ अपेक्षित हैं। यद्यपि पुस्तिका का स्वरूप दोनों पत्रों के समन्वय पर ही अवलम्बित है, परन्तु समन्वय तीसरे विजातीय गोंद पर निर्भर है। ठीक यही दशा यहाँ समझिए। एक ओर ब्रह्म है, दूसरी ओर कर्म्म है। दोनों का समन्वित रूप ही यद्यपि विश्व है, परन्तु दोनों का समन्वय करानेवाला एक तीसरा तत्त्व अवश्य ही मानना पड़ता है। वह तीसरा तत्व न ब्रह्म (ज्ञान) हो सकता है और न कर्म्म (क्रिया)। क्योंकि दोनों तो समन्वित होनेवालों के ही स्वरूपधर्म्म हैं। साथ ही में ब्रह्म-कर्म्म के अतिरिक्त तीसरा सत्तासिद्ध कोई पदार्थ है नहीं। अतएव इस विलक्षण, अचिन्त्य तत्त्व को 'अभ्व' नाम से अलंकृत करना पड़ता है। यही अभ्व ब्रह्म में कर्म्म का, किंवा कर्म्म में ब्रह्म का समन्वय कराता हुआ समन्वयमूला सृष्टि का मूलप्रवर्त्तक बनता है। इस प्रकार सृष्टितत्त्ववाद, 'ब्रह्म-कर्म्म-अभ्व' इन तीन भागों में विभक्त हो जाता है।

ब्रह्म-कर्म्म दोनों को हमने सत्तासिद्ध पदार्थ माना है। विश्व के यच्चयावत् पदार्थ ज्ञानगर्भित क्रियारूप हैं। क्रियासमष्टि गुण है, गुणों का समूह ही 'गुणकूटो द्रव्यम्' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य (पदार्थ-अर्थ) है। पृथिवी-जल-वायु-सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-ओषधि-वनस्पति-मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट-आदि सारे पदार्थ ज्ञानगर्भित कर्म्ममय हैं। हजारों, लाखों, नहीं नहीं असंख्य गुण ही उक्त पदार्थों के आरम्भक बने हुए हैं। आप, अपने हाथ में एक मिट्टी का ढेला उठाइए। यह असंख्य गुणों की ढेरी होगी। प्रत्येक गुण में असंख्य क्रियाएं होंगी। इस सर्वानुभूत क्रियातत्त्व का ही नाम कर्म्म है। आबालवृद्ध सभी पदार्थरूप से, एवं—"हम यह करते हैं, वहां जाते हैं, यह खाते हैं" इत्यादिरूप से कर्म्मतत्त्व का अनुभव कर रहे हैं। यही दशा ब्रह्मरूप ज्ञान की है। एक अबोध बालक भी "मुझे यह अच्छा नहीं लगता, मैं

तो अमुक वस्तु लूगा, यह काका है, यह मामा है, यह हाथी है, यह घोडा है" इस प्रकार ज्ञान का अभिनय किया करता है। इस प्रकार ज्ञान-क्रियारूप ब्रह्म-कर्म्म दोनों का स्वरूप (अनुभवदृष्टि से) सर्वथा स्फुट है।

रहा तीसरा अभ्वतत्त्व। यह वास्तव मे दोनों से सर्वथा विलक्षण है। दीखनेवाला, परन्तु उपपन्न न होनेवाला तत्त्व ही अभ्व नाम से सम्बोधित हुआ है। जिसका (सत्ताभाव के अभाव के कारण) कोई कार्य्य-कारणभाव नहीं, अतएव जो सर्वथा अपदार्थ है, फिर भी जो पदार्थरूप से भासित है, वही अभ्व है। जिस विलक्षणतत्त्व के सम्बन्ध मे—"यद्यपि ऐसा हो नहीं सकता, परन्तु प्रतीत होता है, वस्तु कुछ नहीं है, परन्तु प्रतीत हो रही है" इत्यादि वाक्यों का प्रयोग होता है, वही अभ्व है।

एक बाजीगर हमारी दृष्टि के सामने अपने पिटारे मे एक पत्थर रखता है। थोड़े समय पीछे ही पिटारा खोल कर हमारे सामने रखता है तो पत्थर की जगह हमे कपोत (कबूतर) के दर्शन होते है। पत्थर, और वह कबूतर बन जाय, यह सर्वथा अनुपपन्न है, नितान्त असम्भव है। परन्तु आश्चर्य है, कबूतर दृष्टि के सामने है। "पत्थर कभी कबूतर नहीं बन सकता" यद्यपि यह बात सच है, परन्तु "कबूतर दीख रहा है" यह बात भी तो मिथ्या नहीं है। बस जिस विलक्षणतत्त्व ने पत्थर के साथ कबूतर का समन्वय करा दिया, पत्थर को कबूतर बना के दिखला दिया, वही अभ्व है।

अहोरात्र (दिन-रात) पर दृष्टि डालिए। दिन एक सत्तासिद्ध पदार्थ है। एव दिन का जो अभाव है, उसी का नाम रात्रि है। सूर्य्य का किंवा सौर प्रकाश का न रहना ही रात्रि है। रात्रि कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, रात्रि का कोई कार्य-कारणभाव नहीं है। जिसप्रकार प्रकाशरूप कार्य (उजेले) के लिए दीपशलाका (दिआसलाई-माचिस-काडी), किंवा सूर्यरूप कारण की अपेक्षा रहती है, इस तरह रात्रि के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती। कदाचित् आप यह कहे कि, सूर्य्य के न रहने से रात्रि होती है, अत. सूर्य्याभाव को ही हम रात्रि का कारण मान सकते हैं, तो उत्तर मे हमे कहना पडेगा कि सूर्य्याभाव अभाव है, नास्ति है। जो स्वयं नास्ति रूप है, नहीं है, वह अन्य का कारण कैसे बन सकता है। नास्तिरूप अभाव कभी कारण नहीं बन सकता। इस प्रकार यह सर्वात्मना सिद्ध हो जाता है कि, अहः की तुलना में रात्रि कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है। रात्रि एक प्रकार से अपदार्थ है। परन्तु फिर भी उसकी प्रतीति हो रही है। यही नहीं, उसे दिन के समकक्ष मानते हुए दोनों का एक वाक्य से प्रयोग हो रहा है। रात कोई वस्तु नहीं, तथापि सर्व-

साधारण में 'दिन-रात-रात-दिन' यह व्यवहार प्रचलित है। "रात के अनन्तर दिन, दिन के बाद रात" यह व्यवहार सार्वजनीन बन रहा है। जिस तत्त्व ने सर्वथा नास्तिरूप रात्रि का अस्तिलक्षण अह. के साथ समन्वय कराते हुए उसे प्रतीति का विषय बना रक्खा है, वही सुप्रसिद्ध, किन्तु विलक्षण, अतएव अचिन्त्य अभ्वतत्त्व है।

और आगे बढिए। दूर, नज़दीक, नीचे, ऊपर, कम, ज्यादह, ये सब व्यवहार उसी अभ्वतत्त्व की कृपा के अव्यर्थ फल हैं। इसी प्रकार एक-दो तीन-चार-पाँच आदि—परार्धपरार्ध्य पर्य्यन्त सख्याएँ, छटाक, पाव, आधसेर, सेर, मन आदि परिमाण, पूर्व-पश्चिम उत्तर, दक्षिण, आदि दसो दिशाएँ सब विशुद्ध अपदार्थ हैं। इन्हे कभी सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं कहा जा सकता। परन्तु कुछ न होते हुए भी ये अपदार्थ पदार्थ बनते हुए हमारी प्रतीति के विषय बन रहे हैं। यही नहीं, सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार, एवं कितने एक (याज्ञिक) वैदिक व्यवहार भी इन्हीं के आधार पर अवलम्बित हैं।

दूर-नज़दीक को ही लीजिए। एक व्यक्ति हम से १० हाथ दूर खडा हुआ है, एक २० हाथ दूर खडा है। दोनों मे से एक हमारे नजदीक है, दूसरा दूर है। परन्तु २० हाथ पर खडा हुआ जो व्यक्ति हम से दूर है, वही १० हाथ पर खडे हुए व्यक्ति से नजदीक है। एवमेव हम से १० हाथ पीछे खडे हुए एक अन्य व्यक्ति की अपेक्षा से हम से १० हाथ सामने खडा हुआ व्यक्ति (हमारी अपेक्षा से) दूर है। इस अपेक्षा के तारतम्य से सभी नजदीक बने हुए हैं, सभी समीप के अनुगामी बन रहे हैं। दूर नज़दीक हो रहा है, नजदीक दूर बन रहा है। इसी व्यतिक्रम के कारण इन दोनों भावो को हम अपदार्थ मानने के लिए तय्यार हैं। यदि सूर्य्य-चन्द्रमा की तरह दूरी नज़दीकी कोई सत्तासिद्ध वस्तु होती तो, जैसे सूर्य्य सदा सूर्य्य ही रहता है, वह कभी चन्द्रमा नहीं बनता, चन्द्रमा सदा चन्द्रमा ही रहता है, वह कभी सूर्य्य नहीं बन जाता, एवमेव दूरभाव कभी नज़दीक नहीं बनता, एवं नज़दीक कभी दूरभाव से आक्रान्त न होता। परन्तु दोनों का साङ्कर्य्य देखा जाता है, अतः हम इन्हें अवश्य ही अपदार्थ (केवल भातिसिद्ध) कहने के लिए तय्यार हैं।

यही दशा नीचे ऊपर की है। दूसरी मञ्जिल मे रहनेवाला व्यक्ति पहिली मञ्जिलवाले से ऊपर है, एवं यही तीसरी मञ्जिल वाले से नीचे भी है। जो नीचे है, वही ऊपर भी है। अपेक्षया सभी नीचे हैं, सभी ऊचे हैं। वस्तुत खगोलीय सिद्धान्त के अनुसार न कोई किसी से ऊचे है, न नीचे है। यदि हैं तो सब सब है। अतएव हम इन दोनों भावों को भी अपदार्थ ही कहने के लिए तय्यार हैं।

यही अवस्था कम-ज्यादह की है। सहस्राधिपति की अपेक्षा लक्षाधिपति अधिक है, तो कोट्याधिपति की अपेक्षा यही कम भी है। एक सेर वस्तु जहां दो सेर की अपेक्षा कम है, वहा यही आधसेर की अपेक्षा अधिक भी है। इसी प्रकार ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता की अपेक्षा छोटा है तो कनिष्ठ भ्राता की अपेक्षा बडा भी है। इसी तरह मामा, भानजा, काका, भतीजा, बाबा, पोता, नाना, दोहिता यह सब गुरु लघुभाव भी अपदार्थ ही हैं। सब सब हो सकते हैं, होते हैं। एक व्यक्ति अपने बाबा का पोता है, अपने पोते का बाबा है, पिता का पुत्र है, पुत्र का पिता है, मामा का भानजा है, भानजे का मामा है, काका का भतीजा है, नाना का दोहिता है, दोहिते का नाना है; श्वसुर का जामाता है, जामाता का श्वसुर है, साले का जीजा है, जीजे का साला है। इस दृष्टि से एक ही व्यक्ति बाबा, पोता, पिता, पुत्र, मामा, भानजा, काका, भतीजा, नाना, दोहिता, श्वसुर, जामाता, साला, जीजा सब कुछ बन रहा है। सब भिन्न हैं, परन्तु एकत्र सबका समन्वय प्रतीत हो रहा है। यह उसी अभ्व की महिमा है।

यही स्थिति संख्या की है। निरपेक्ष एकत्व को छोड कर सापेक्ष एक-दो-तीन आदि सभी संख्याएं भातिसिद्ध बनतीं हुई अपदार्थ हैं। सभी संख्याएं व्यवहारार्थ कल्पित हैं। जिसे आप पाच कहते हैं; वह भी "अयमेकः—अयमेकः—अयमेक —अयमेक —अयमेक"—इस क्रम से निरपेक्ष सत्तासिद्ध एक ही संख्या है। यदि पाचों एक एक न होता तो १-२-३-४-५-के संकलन से–५ की १५ संख्या हो जाती।

यही परिस्थिति परिमाणविशेषों की है। किसी प्रान्त में ८० तोले का सेर है, तो कहीं ४० का। ८० तोले वाले सेर की अपेक्षा ४० तोले वाला सेर आध सेर ही है। इस प्रकार आध सेर सेर बन रहा है, सेर आध सेर बन रहा है। कहीं ८० सेर का मन है, तो कहीं ४० का ही। ऐसी दशा मे इन परिमाणों को भी सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार पूर्व-पश्चिमादि दिशाएं भी विशुद्ध पदार्थ ही हैं। १० मनुष्य आगे-पीछे के क्रम से सूर्य्य के सम्मुख बैठे हैं। सब अपेक्षया परस्पर में पूर्व-पश्चिम हैं। निष्कर्ष यही है कि दिक्, देश, काल, परिमाण, पृथक्त्व, अपरत्व, गुरुत्व, उत्क्षेपणत्व, अपक्षेपणत्व इत्यादि सब पदार्थ अपदार्थ हैं, भातिसिद्ध है।

बात असल में यह है कि, ब्रह्म-कर्म्म-अभ्व इन तीन तत्त्वों की कृपा से पदार्थवाद '१-सत्तासिद्ध, २-उभयसिद्ध, ३-भातिसिद्ध,' इन तीन भागों मे विभक्त हो रहा है। विशुद्ध ब्रह्म आत्मा है, ब्रह्मगर्भित कर्म्म विश्व है, एव दिग्देशकालादि उपर्युक्त पदार्थ अभ्व है।

जीवात्मा-परमात्मा-आत्मसम्बन्धी स्वर्गादि लोक ये सब केवल सत्ता सिद्ध हैं। ये हैं अवश्य, परन्तु इनका हमें भान (चर्म्मचक्षु से प्रत्यक्ष) नहीं होता। सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यादि की समष्टिरूप विश्व उभयसिद्ध है। इसकी सत्ता भी है, एवं इसका भान (प्रतीति-प्रत्यक्ष) भी हो रहा है। दिग्देशकालादि केवल भातिसिद्ध पदार्थ हैं। इनकी सत्ता नहीं है, केवल प्रतीति हो रही है। यही तीसरा अभ्वतत्त्व है।

अभ्व का स्वरूप नाम-रूप पर ही अवलम्बित है। दूसरे शब्दों में नाम-रूप की समष्टि ही अभ्व है, जैसा कि प्रकरणारम्भ में कहा जा चुका है। नाम-रूपात्मक अभ्व के द्वारा ही ब्रह्म कर्म्म में, किंवा कर्म्म ब्रह्म में समन्वित है। नाम-रूप ने ही ज्ञानमूर्त्ति ब्रह्म को कर्म्ममय विश्व में बद्ध कर रक्खा है। देवदत्त, यज्ञदत्त, इत्यादि नाम ही नामात्मक अभ्व है, आकारविशेष ही रूपात्मक अभ्व है। दोनों के अतिरिक्त विश्व में और दीखता ही क्या है? ब्रह्म-कर्म्मरूप आभू ब्रह्म इस तुच्छ अभ्व से आवृत होकर अपने आभू (आसमन्तात्-भवति, भाति वा—सर्वव्यापक) भाव से वञ्चित हो रहा है—'तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्' (ऋक् सं०)। सर्वथा नास्तिरूप रहना ही, अभावात्मक रहना ही नामरूपात्मक इस अभ्व का तुच्छत्व है। इसी लिए उक्त मन्त्र भाग ने अभ्व को तुच्छ कहा है। पदार्थतत्त्व वास्तव में ब्रह्म-कर्म्मरूप आभू है। परन्तु साम्राज्य कुछ न होने वाले, अतएव तुच्छ शब्द से सम्बोधित नाम-रूपात्मक अभ्व का ही है। इसी अभ्वतत्त्व का दिग्दर्शन कराती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

> 'अथ ब्रह्मैव परार्ध्यमगच्छत्। तत् परार्ध्यं गत्वा-ऐक्षत-कथं नु इमाँल्लोकान् प्रत्यवेयं—इति। तद्द्वाभ्यामेव प्रत्यवैत्-रूपेण चैव, नाम्ना च। स यस्य कस्य च नामास्ति, तन्नाम। यस्य-उ-अपि नाम नास्ति, यद्वेद रूपेण-इदं रूपमिति, तद्रूपम्। एतावद्वा इदं यावद् रूपश्च, नाम च। ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे (ह्याभू), महती यक्षे (बलाय)' इति।
>
> —शत० ब्रा० ११।२।३।१।

इस प्रकार विश्वतत्त्व के अन्वेषक कितने ही दार्शनिक श्रौत वचनों के आधार पर ब्रह्म-कर्म्म-अभ्व इन तीन तत्त्वों को त्रिभावात्मक विश्व के मूल मानते हुए 'त्रिसत्यवाद' का ही समर्थन कर रहे हैं।

२—*द्विसत्यवादः*

कितने एक विद्वानों के मतानुसार 'ब्रह्म-कर्म्म' इन दो तत्त्वों पर ही तत्त्वमर्य्यादा समाप्त है। उनका कहना है कि, दो से अतिरिक्त तीसरे नामरूपात्मक अभ्व को स्वतन्त्र तत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अभ्व तत्त्व मानने वाले पूर्व दार्शनिकों का कहना था कि, ज्ञानमूर्त्ति ब्रह्म एक ओर है, एवं क्रियामूर्त्ति कर्म्म दूसरी ओर है। इन दोनों के समन्वय से विश्वोत्पत्ति हुई है। यह समन्वय व्यापार अवश्य ही दोनों से अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा रखता है। यही तीसरा स्वतन्त्र तत्त्व अभ्व है। इस अभ्वतत्त्व के स्वातन्त्र्य का खण्डन करते हुए ये दार्शनिक कहते हैं कि, केवल समन्वय के लिए ही तीसरे स्वतन्त्र तत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ब्रह्म-कर्म्मवाद—

अभ्व एक प्रकार का मायाबल है। उधर कर्म्म का स्वरूप बल ही माना गया है। बल-तत्त्व की अनेक [1](१६) जातिएँ हैं। एक बल जहाँ कर्म्मरूप है, तो दूसरा बल अभ्वरूप है। नाम-रूप भी तो एक प्रकार का कर्म्म ही है। अभ्व का काम है समन्वय कराना। यह समन्वय एक प्रकार का व्यापार है, व्यापार क्रिया है, क्रिया ही कर्म्म है। ऐसी दशा मे कर्म्म-विशेषात्मक नामरूपमय मायारूप इस अभ्व को स्वतन्त्र तत्त्व न मानते हुए हम कर्म्मतत्त्व में ही अन्तर्भूत मानने के लिए तय्यार हैं।

कर्म्म को हमने क्रिया कहा है। इस क्रियातत्त्व की १–प्रवृत्ति, २-निवृत्ति, ३-स्तम्भन ये तीन अवस्था होतीं हैं। क्रिया का अग्र-व्यापार ही प्रवृत्ति है, इसी का नाम गति, किंवा गमन है। पृष्ठ-व्यापार निवृत्ति है, यही आगति, किंवा आगमन है। दोनों का समन्वित रूप ही स्तम्भन है। आगे बढ़ना प्रवृत्ति है, पीछे हटना निवृत्ति है, दोनों का एक विन्दु में (हृदयविन्दु मे) समन्वित हो जाना स्तम्भन है। गति प्रवृत्ति है, आगति निवृत्ति है, गति-आगति दोनो का मिल जाना स्तम्भन है, यही स्थिति है। इस प्रकार गतिलक्षणा एक ही क्रिया के, किंवा कर्म्म के गति (पराग्गति), आगति (अर्वाग् गति), स्थिति (गति आगति समुच्चय) भेद से तीन रूप हो जाते हैं। इस प्रकार उक्त क्रमानुसार क्रिया के ये तीन ही आरम्भ माने गए हैं। प्रवृत्तिरूपा गति–क्रिया का उपक्रम है, निवृत्तिरूपा आगति क्रिया का उपसंहार है, दोनों की मध्यावस्था ही क्रिया का स्तम्भन है। किसी वस्तु मे प्रविष्ट हो जाना, उससे

---

१ देखिए 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथमखण्ड 'पुरुषनिरुक्ति' पृ० सं० २५८।

निकल आना, वहां स्तब्ध हो जाना, तीनों क्रियारूप कर्म के ही स्वाभाविक धर्म्म हैं। अपने इसी स्वाभाविक धर्म्म से कर्मतत्त्व विश्वोत्पत्तिकाल में ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है, विश्व-स्थितिकाल में स्तब्ध हो जाता है, प्रलयदशा में निकल जाता है। ब्रह्म का कर्म्म के साथ, किंवा कर्म्म का ब्रह्म के साथ समन्वय करना, अथवा पृथक् होना, अथवा स्तब्ध बनना तीनों व्यापार स्वयं कर्म्म ही अपने उदर में रखता है। ऐसी दशा में—"ब्रह्म कर्म्म के समन्वय के लिए एक तीसरा अम्वतत्त्व और मानना चाहिए" इस सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं रह जाता। आप कहते हैं—"कर्म्म का ब्रह्म में समन्वय करानेवाला, कर्म्म को ब्रह्म में प्रविष्ट करानेवाला कोई तीसरा तत्त्व होना चाहिए"। हम कहते हैं, "कर्म्म स्वयं ही प्रवृत्त होनेवाला है। प्रवृत्त होना, निवृत्त होना, स्तब्ध होना तो कर्म्म का प्रातिस्विक धर्म्म है"। आपने ब्रह्मवत् कर्म्म को भी असंग मान रक्खा है। आपकी दृष्टि में ब्रह्म-कर्म्म दोनों कोरे पत्र (कागज) हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में आप भूल कर रहे हैं। एक कागज अवश्य ही कोरा है, परन्तु एक कागज चिकना है। वह स्वयं गोंद है। असंग में संश्लिष्ट हो जाना इसका स्वाभाविक धर्म्म है। ब्रह्म जहां असङ्ग है, कर्म्म वहां सर्वथा ससङ्ग है। सिसृक्षा से ही कर्म्म प्रवृत्तिरूप धारण करके सृष्टिप्रवृत्ति का कारण बन जाता है। मुमुक्षा से वही कर्म्म निवृत्तिरूप धारण करता हुआ सृष्टिनिवृत्ति का कारण बनता है, एवं स्तम्भवृत्ति का आश्रय लेता हुआ वही सृष्टिस्थिति का कारण बना हुआ है। इस प्रकार केवल कर्म्म ही उत्पत्ति-स्थिति-नाश तीनों भावों का अधिष्ठाता बना हुआ है। ऐसी दशा में ब्रह्म कर्म्म से अतिरिक्त किसी तीसरे स्वतन्त्र तत्त्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

द्विसत्यवादी दार्शनिक कहते हैं कि, "यदि त्रिसत्यवादी दार्शनिक ब्रह्मकर्म्म का यथार्थ स्वरूप जान लेते, तो उन्हें एक स्वतन्त्र अम्वतत्त्व मानने की आवश्यकता न रहती"। ब्रह्मतत्त्व रस-प्रधान बनता हुआ (संख्या से एक रहता हुआ भी) दिक्-देश-काल-संख्यादि से अनवच्छिन्न है, असीम है, अखण्ड है, निरवयव है। उधर बलप्रधान कर्म्मतत्त्व ठीक इसके विपरीत (संख्या से अनन्त होता हुआ भी) दिक्-देश-काल से परिच्छिन्न है, खण्ड खण्ड है, सावयव है। परिच्छिन्न होने के कारण ही यह कर्म्मतत्त्व नित्य क्षुब्ध रहता है। क्षोभ ही हलचल है। यह हलचल ही कर्म्म का ब्रह्म के साथ समन्वय करवाती है। एक ही आत्मा के रस-बल दो पर्व हैं। रस ही ब्रह्म है, बल ही कर्म्म है। बलगर्भित रस ही ज्ञान है, यही ब्रह्म है। रसगर्भित बल ही क्रिया है, यही कर्म्म है।

विश्व के यच्चयावत् पदार्थों में रस-बल दोनों आत्मरूप प्रतिष्ठित हैं। पदार्थ चाहे जड़ हो, अथवा चेतन हो, सब में आत्मा के ये दोनों पर्व, किंवा द्विपर्वा आत्मा अविनाभाव से प्रतिष्ठित है। हां यह भेद अवश्य है कि, जिसमें आत्मा का रसपर्व प्रधान रहता है, उसे चेतन कहा जाता है, एवं जिसमें बलपर्व की प्रधानता रहती है, वह जड़ कहलाता है। उदाहरणार्थ मनुष्य और पाषाण को ही लीजिए। मनुष्य में रस का उदय है, अतएव इसे सुख-दुःखादि का अनुभव होता है। परन्तु पाषाण में बल का साम्राज्य इतना बढ़ गया है कि, उसमें रहता हुआ भी ज्ञानमूर्त्ति रस अपने स्वाभाविक विकास से वञ्चित हो गया है। अतएव इसे सुख-दुःखादि का अनुभव नहीं होता। यही इसका जड़भाव है। जिसमें रस जाग्रत हो, बल सुप्त हो, वह चेतन है। एवं जिसमें बलजाग्रत हो, रस सुप्त हो, वह जड़ है।

जड़पदार्थ कितने ही कारणों से रसप्रबोधन द्वारा चेतन बन जाता है। इसी प्रकार चेतन भी कारणविशेषों से बलवृद्धि द्वारा जड़भाव में परिणत होता देखा गया है। एक लकड़ी सर्वथा जड है। लकड़ी को पानी में डाल दीजिए, कालान्तर मे सम्पूर्ण लकड़ी चैतन्य-रूप कीटाणुओं में परिणत हो जायगी। जिसके विकास से जड़ लकड़ी चेतन बन गई, वही साक्षात् ब्रह्म है। इसी प्रकार एक मनुष्य भी उन्मादादि कारणों से जड़वत् बन जाता है। जिस तत्त्व के उद्रेक से इसमें इस जड़ता का उदय हो गया, वही तत्त्व साक्षात् कर्म्म है।

इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है। मनुष्य की जाग्रदवस्था ब्रह्मभाव है, एवं सुषुप्त्यावस्था कर्म्मभाव (जड़भाव) है। सोने में बल का राज्य रहता है, चेतना अभिभूत रहती है, एवं जागृति में चेतना का साम्राज्य रहता है। रस-बल का यह वैषम्य क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर वही अवस्थात्रययुक्त कर्म्मभाव है।

सम्पूर्ण विश्व में समष्टि, एवं व्यष्टि रूप से उभयथा ब्रह्म-कर्म्म ये दो तत्त्व ही व्याप्त हो रहे हैं। जिस समय ब्रह्मतत्त्व का आत्मसंस्था में प्रवेश होता है, उस समय आत्मा का रस-भाग विकसित हो जाता है। एवं कर्म्म प्रवेश से आत्मा का बल-भाग प्रधान बन जाता है। प्रातःकाल प्रकृतिमण्डल में इसी ब्रह्मतत्त्व का साम्राज्य रहता है, अतएव इस काल को 'ब्राह्ममुहूर्त्त' कहा जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि ब्रह्म-कर्म्म ये दो तत्त्व ही प्रधान हैं। मायाबलात्मक, अतएव परिच्छेदलक्षण मृत्यु भावात्मक अभ्वबल का कर्म्म में ही अन्तर्भाव है। यही इन दार्शनिकों का दूसरा 'द्विसत्यवाद' है।

३—असद्वादः

विशुद्ध तर्कवादी दार्शनिकों का एक वर्ग केवल 'एकत्ववाद' का ही पक्षपाती है। उस का कहना है कि, सम्पूर्ण विश्व में केवल कर्म्मरूप असत्तत्त्व का ही साम्राज्य है। सत् नाम का ब्रह्मतत्त्व असत् नाम के कर्म्मतत्त्व में ही अन्तर्भूत है। जिस प्रकार द्विसत्यवादी दार्शनिक अभ्वतत्त्व का कर्म्म में अन्तर्भाव मान रहे हैं, वैसे ही इन बलानुयायी दार्शनिकों की दृष्टि में सत् ब्रह्म का अन्तर्भाव भी इसी कर्म्म में है। इनका कहना है कि, विश्व में जो कुछ 'है' कह कर व्यवहृत करने योग्य है, वह चाहे ज्ञान (ब्रह्म) हो, क्रिया (कर्म्म) हो, अथवा नाम-रूप (अभ्व) हो; सब कर्म्म ही कर्म्म है। कर्म्म की जिन प्रवृत्ति-निवृत्ति-स्तम्भन इन तीन अवस्थाओं का द्विसत्यवादियों ने पूर्व में दिग्दर्शन कराया है, इन तीन अवस्थाओं के कारण एक ही कर्म्म 'ब्रह्म-कर्म्म-अभ्व' इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। प्रवृत्तिदशा में समन्वय का कारण बनता हुआ वही कर्म्म 'अभ्व' है। निवृत्तिदशा में समन्वय विच्युति का कारण बनता हुआ वही कर्म्म 'कर्म्म' है। एवं स्तम्भन दशा में स्थितिभाव में परिणत होता हुआ वही कर्म्म 'ब्रह्म' है। कर्म्म से अतिरिक्त न अभ्व है, न ब्रह्म है।

कर्म्मवाद

कर्म्म ही बल नाम से प्रसिद्ध है। यह बलतत्त्व ही श्रम (परिश्रम) का अधिष्ठाता है। इस एक ही बल के 'बल-प्राण-क्रिया' ये तीन स्वरूप हो जाते हैं। सुप्तावस्था में वही तत्त्व 'बल' है, कुर्वद्रूपावस्था में वही बल 'प्राण' है, एवं निर्गच्छत् अवस्था में वही प्राण 'क्रिया' है। हाथ अभी कोई काम नहीं कर रहा। परन्तु इस में काम करने की शक्ति है। यह शक्ति अभी काम नहीं कर रही। इसी दशा में इसे बल कहा जायगा। हाथ हिलने लगा, विश्रान्त बल जाग्रत होकर कर्म्म में प्रवृत्त हो गया। यही इसकी दूसरी प्राणावस्था है। थोड़े समय पीछे हाथ थक जाता है। मालूम पड़ता है, हाथ निर्बलसा हो गया। यही इस विषय में प्रमाण है कि, प्राणात्मक बल हाथ से निकल रहा है, खर्च हो रहा है। इसी अवस्था में यह क्रिया कहलायेगा। सुप्तावस्थारूप कर्म्म (बल) ही ब्रह्म है, जाग्रदवस्थारूप कर्म्म (प्राण) ही अभ्व है, एवं निर्गच्छदवस्थारूप कर्म्म (क्रिया) ही कर्म्म है। असद्वादी इसी के पक्ष-पाती हैं।

बल का हमने श्रम के साथ सम्बन्ध बतलाया है। चूंकि यह दार्शनिक बलात्मक श्रम के अनुयायी हैं, अतएव इन्हें 'श्रमणक' कहा जा सकता है। यह दल ब्राह्मणों का सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी

है, जैसा कि आगे के ब्राह्मणवाद मूलक सद्वाद में स्पष्ट हो जायगा। अभी श्रमणक मत का ही विचार प्रस्तुत है। श्रमणक कहते हैं कि, ब्रह्म (ज्ञान) नाम का कोई नित्य पदार्थ इस अनित्य असत् कर्म्म से पृथक् नहीं है। इस असल्लक्षण कर्म्मतत्त्व से ही चूकि यह जगत् उत्पन्न हुआ है, साथ ही मे—'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है, अतः असत् कर्म्म से उत्पन्न इस कार्यरूप जगत् को भी हम असत् ही कहेंगे।

सम्पूर्ण जगत् कर्म्ममय ही मानना चाहिए। मानना क्या चाहिए, विवश होकर मानना पडता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, हम सर्वत्र कर्म्म का ही प्रसार देख रहे हैं। जहां तहा क्रिया का ही साक्षात्कार हो रहा है। मनुष्य पढ़ रहा है, चल रहा है, खा रहा है, हस रहा है, बोल रहा है, सो रहा है, जग रहा है, नाटक देख रहा है, व्याख्यान दे रहा है। वृक्ष हिल रहे हैं, पशु घास चर रहे हैं, पक्षी आकाश मे उड़ रहे हैं, मयूर बोल रहे हैं, कोयल कूक रही है, सूर्य्य तप रहा है, चन्द्रमा सोमवृष्टि कर रहा है, नक्षत्र प्रकाशित हो रहे हैं, ग्रह चल रहे हैं, समुद्र कल-कलनाद कर रहा है, पानी बह रहा है, राजा शासन कर रहा है, न्यायाधीश निर्णय कर रहे हैं, बड़े बड़े कारखाने चल रहे हैं, उनमे विविध प्रकार के पदार्थ बन रहे हैं, अध्यापक पढा रहे हैं—कहां तक गिनावें जिधर देखते हैं, उधर कर्म्म ही कर्म्म का साम्राज्य उपलब्ध हो रहा है। क्या कर्म्म की तरह किसी ने ज्ञान का भी प्रत्यक्ष किया है? कदापि नहीं। जिसे सामान्य मनुष्य ज्ञान कहते हैं, वह भी कर्म्मविशेष ही है। जिस प्रकार गच्छति, पश्यति, आदि कर्म्म हैं, एवमेव 'जानाति' भी एक प्रकार का कर्म्म ही है। जब कर्म्म के अतिरिक्त ज्ञान है ही नहीं, तो उसकी स्वतन्त्र कल्पना करना कौनसी बुद्धिमानी है।

साध्यवादसम्मत पूर्वोक्त असद्वाद के अनुसार प्रत्यक्षदृष्ट परिवर्त्तन भी हमारे इस असद्वाद का ही समर्थक बन रहा है। प्रत्येक वस्तु मे क्षण क्षण में अपूर्व परिवर्त्तन देख रहे हैं। जब संसार, एव संसार का प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है संसरणशील है, तो ऐसी दशा मे इसे सत् क्यों कर माना जा सकता है। जब कि क्षणिक परिवर्त्तन के कारण जगत् सर्वथा असत् है, तो मानना पड़ेगा कि इस कार्यरूप असत् जगत् का मूलतत्त्व भी असत् ही है। घट चूकि नष्ट होने वाली मिट्टी से बना है, अतएव वह विनाशी है। चूकि जगत् विनाशी है, अत. मानना पड़ेगा कि जगत् का मूलतत्त्व भी विनाशी ही है, असत् ही है।

अनुभव भी हमे यही मनवाने के लिए विवश कर रहा है कि, जगत् प्रतिक्षण में होनेवाले परिवर्त्तन के कारण परिवर्त्तनशील है। आज आपने एक वस्त्र को लाल रंग से रंग दिया।

रंगने के थोड़े समय पीछे वस्त्र का आर्द्रभाव (गीलापना) शुष्कावस्था में परिणत हो जाता है, श्वेतवस्त्र एकदम लाल हो जाता है। इसी रक्त वस्त्र को यदि आप १० दिन पीछे ध्यान पूर्वक देखेंगे तो उसकी वह रौनक फीकी मालूम होगी। इतना ही नहीं, अपितु ६ मास बाद उसका और ही रूप बन जायगा। इस स्थूल परिवर्त्तन के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि, रक्तवर्ण का यह परिवर्त्तन किसी नियत समय में, एक ही बार में हो गया, अथवा क्षणिक परिवर्त्तन से यह स्थूल परिवर्त्तन हुआ? इसका उत्तर प्रश्न के उत्तर वाक्य से ही सम्बन्ध रखता है। विचार करने पर यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि, अवश्य ही रक्तवर्ण में प्रतिक्षण परिवर्त्तन हो रहा है। एवमेव बाल-युवा-तरुण-प्रौढ़ वृद्धादि स्थूल अवस्थाओं से शरीर में जो परिवर्त्तन होता है, साथ ही में इस परिवर्त्तन के साथ साथ अस्थि-मांस-रुधिर-मज्जा आदि शारीरिक-धातुओं का जो परिवर्त्तन होता है, इसे भी आपको क्षणिकावस्थायुक्त ही मानना पड़ेगा। गर्भाशय में प्रादेशमात्र (१०॥ अंगुल) आकार में रहनेवाला गर्भी आगे जाकर साढ़े तीन हाथ लम्बा हो जाता है। क्या किसी एक ही नियत क्षण में झटिति उसका यह बृहदाकार हो गया? असम्भव। आपको मानना पड़ेगा कि, यह सब प्रतिक्षण में परिवर्त्तित होनेवाली क्षणिक, एवं असत् क्रिया का ही फल है। तोरणद्वार में शीशम की लकड़ी के कपाट चढ़ाए जाते हैं। इस नूतन दशा में कपाटों के परमाणु ऐसे संश्लिष्ट रहते हैं कि, आप पूर्ण बलप्रयोग करने पर भी उन्हें टस से मस नहीं कर सकते। परन्तु दो सौ वर्ष के पीछे उन्हीं कपाटों की ऐसी जर्ज्जरावस्था हो जाती है कि, आप सड़े-गले खाद की तरह स्पर्शमात्र से उनके अवयवों को पृथक् कर डालते हैं। अवश्य ही यह क्षणिक परिवर्त्तन का अनुग्रह है।

हाँ यह अवश्य है कि, इस क्षणिक परिवर्त्तन को सर्वसाधारण नहीं देख सकते। जब वह स्थूलरूप में आता है, तभी उसका सम्यक् बोध होता है। आपको विश्वास करना चाहिए कि, भ्रान्तिवश जिन पदार्थों को आपने अपरिवर्त्तनीय मान रक्खा है, वे सब आमूलचूड़ परिवर्त्तनशील हैं। पुरोऽवस्थित, निविडावयव, अश्मासोममय पर्वत प्रतिक्षण बदल रहा है। परन्तु आपकी आयु उस पर्वतायु की अपेक्षा सीमित है, अतः आप उसके स्थूल परिवर्त्तन को भी नहीं देख सकते। इसीलिए आपको यह स्थिर प्रतीत होता है। सम्पूर्ण पदार्थों का यह सर्वसम्मत क्षणिक भाव ही, प्रत्यक्षानुभूत, एवं आंशिकरूप से प्रत्यक्षदृष्ट परिवर्त्तन ही असत्-कारणतावाद में दृढ़तम प्रमाण है।

यदि कोई बालधी इस सम्बन्ध में यह पूर्वपक्ष उठावे कि, यदि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, असत हैं, परिवर्त्तनशील हैं, विनाशी हैं तो हमें विश्व की, एवं विश्वान्तर्गत किसी पदार्थ की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। जो तत्त्व पूर्व क्षण है, (क्षणिकवादी के मतानुसार) उत्तर क्षण मे उसका अभाव है। ऐसी दशा मे "यह वही संसार है, यह वही देवदत्त है, जो बचपन मे मथुरा मे मिला था" यह अस्तिमूलक अपरिवर्त्तनीय व्यवहार नहीं होना चाहिए था। परन्तु होता है। ऐसी दशा मे कहना पड़ेगा कि प्रतिक्षण में बदलनेवाली इस क्रिया का कोई न कोई आधार अवश्य है। एवं वह आधार सर्वथा सत् है, नित्य है, अविनाशी है, अपरिवर्त्तनीय है। वही ब्राह्मणों का ब्रह्मतत्त्व है। सद्ब्रह्म ही असत् कर्म्म की प्रतिष्ठा है। प्रत्यक्षानुभूत, एवं प्रत्यक्षदृष्ट—"मनुष्य—है, वस्त्र—है, पशु - है, पक्षी—है," इस अस्तितत्त्व का कभी अपलाप नहीं किया जा सकता। इधर क्षणिक क्रिया नास्तिसारा बनती हुई अस्ति (है) मर्यादा से सर्वथा बहिष्कृत है। साथ ही मे 'है' यह प्रतीति आपामार-विद्वज्जन, आबालवृद्ध सब के लिए समान है। अतः बाध्य होकर श्रमणकों को असत्कर्म्म से अतिरिक्त कोई सत्ब्रह्म नाम का तत्त्व अवश्य ही मानना चाहिए, जो कि सत्तत्त्व असत् कर्म्म के परिवर्त्तित होने पर भी पदार्थों का अस्तिरूप से प्रत्यय (ज्ञान) करवा देता है।

उक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए, कर्म्मवाद मे पूर्ण अभिनिविष्ट श्रमणकाचार्य कहते हैं कि, केवल इसी विप्रतिपत्ति से डर कर कर्म्म से अतिरिक्त किसी अन्य स्वतन्त्र सल्लक्षण ब्रह्मतत्त्व के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। स्मरण रहे—कर्म्म को हमने 'बल' कहा है। साथ ही में इसे दिग्देशकाल से सादिसान्त मानते हुए भी संख्या में अनन्त बतलाया है। पदार्थ वैचित्र्य ही बल की अनन्तता के अनुमापक हैं। यदि बल एक ही प्रकार का होता तो, बल से उत्पन्न विश्वपदार्थों के स्वरूप मे परस्पर वैचित्र्य न होता। परन्तु हम देखते हैं कि, पदार्थों की अनेक जातिएँ हैं, प्रत्येक जाति में अनेक व्यक्तिएँ हैं, प्रत्येक व्यक्ति मे अनेक अवयव हैं, प्रत्येक अवयव में अनेक परमाणु हैं। सब का संगठन परस्पर मे सर्वथा पृथक् है। इसी कार्यात्मक भेदवाद के आधार पर हमे मानना पडता है कि, इनके कारणभूत बल भी अनेक ही हैं। साथ ही मे सत्कार्यवादी (ब्रह्मवादी) को भी बल का यह संख्यानन्त्य स्वीकृत है।

इन कारणरूप असंख्य बलों की जातिएं १६ मानी गई हैं। इन्हें ही वैज्ञानिक सम्प्रदाय में 'बलकोश' कहा जाता है। इन १६ बलकोशों में ही एक बलकोशविशेष 'धाराबल' नाम से प्रसिद्ध है। प्रतिक्षण मे परिवर्त्तित क्षणबल की समष्टिरूप से प्रतीति करवा देना ही इस धाराबल का मुख्य काम है। क्षणबल नाम का बलविशेष यद्यपि प्रतिक्षण ही बदलता रहता है, एवं

प्रतिक्षण में ही विलीन भी होता रहता है, परन्तु इन क्षणवलों का आधार धारावल नाम का अन्य बल बना रहता है। यही 'सन्तानवल' है। इस सन्तान बल से ही (जो कि बलरूप होने से स्वयं भी क्षणिक ही है) अस्ति-प्रतीति होती रहती है। इस सम्बन्ध में यदि आप यह प्रश्न करें कि, जो स्वयं असत् है, नास्तिरूप है, वह एक अपने ही सजातीय नास्तिरूप क्षणवल की अस्तिरूप से कैसे प्रतीति करा सकता है? तो उत्तर में 'कतकरज' को आपके सामने रखना पड़ेगा।

'निर्मली' नाम से लोकभाषा में प्रसिद्ध एक काष्ठविशेष ही कतकरज है। यह स्वयं मैल है। परन्तु मैले पानी में निर्मली डाल दी जाती है तो, यह सारे मैल को हटा कर स्वयं भी पात्र के बुध्न (पेंदें) में जा बैठती है। लोटे पर चढ़ी हुई मिट्टी (मैल) को मिट्टी दूर कर देती है। विष की चिकित्सा विष है। संखिया स्वयं महाविष होता हुआ भी मुमूर्षु प्राणी की प्राण-रक्षा करता हुआ अमृत बना हुआ है। ठीक इसी प्रकार धारावल यद्यपि स्वयं क्षणिक है, परन्तु क्षणवल को अस्तिरूप से दिखलाने में यह समर्थ है। इस प्रकार जब केवल असत्तत्त्व के मान लेने से ही काम चल जाता है, इसी के विशेषरूप से जब अस्तिप्रत्यय की उपपत्ति बन जाती है, तो फिर असत्कर्म्म से पृथक् ब्रह्मतत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

वादी फिर पूर्वपक्ष उठाता है कि, "मैं खाता हूं, मैं सोता हूं, मुझे अमुक काम करना है, मैं कभी असत्य भाषण न करूंगा, मैं कभी प्रवाह-का अनुगमन न करूंगा" इत्यादि वाक्य व्यवहारों में खाता हूं—सोता हूं इत्यादि क्रियापदों के अतिरिक्त एक 'मैं' (अहं) भाव और उपलब्ध हो रहा है। इस अहंभाव का क्रियाभावों से, दूसरे शब्दों में असत्-कर्म्म से सर्वथा पार्थक्य सिद्ध हो रहा है। कर्म्म से पृथक् प्रतीत अहंभाव अवश्य ही सत् है। अहं के कर्म्म बदलते रहते हैं, परन्तु अहं स्थिर दर्पणवत् अवश्य ही अपरिवर्तनीय है, यही सत् है। इस प्रकार लोकप्रसिद्ध उक्त व्यवहारों के आधार पर सत् की भी सत्ता सिद्ध हो जाती है।

पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए श्रमणक कहते हैं, बिल्कुल ठीक है। यह कौन कहता है कि 'अहं और कर्म्म' एक वस्तु है। 'मैं खाता हूं' वाक्य में 'मैं' वास्तव में भिन्न वस्तु है, 'खाता हूं' यह किसी भिन्नभाव का ही सूचक है। घट और शराव को कौन बुद्धिमान अभिन्न मानेगा। घट भिन्न वस्तु है, शराव भिन्न पदार्थ है। परन्तु यह भिन्नता विजातीय नहीं, किन्तु सजातीय है। घट-शराव दोनों में (परस्पर में) सजातीय भेद है। दोनों मृण्मय हैं, परन्तु घट का स्वरूप भिन्न है, शराव का स्वरूप भिन्न है। यही परिस्थिति कर्म्म और अहंभाव में समझिए। अहं-और अहं सम्बन्धी कर्म्म दोनों कर्म्म ही हैं। परन्तु अहं कर्म्म

का स्वरूप भिन्न है, एवं कर्म्मरूप कर्म्म का स्वरूप भिन्न है। बलों का आनन्त्य सभी पूर्वपक्षों को निरर्थक बना सकता है।

जिस प्रकार एक बल कर्म्म कहलाता है, एवमेव एक विशेष प्रकार की बलसमष्टि ही "ज्ञान" किंवा 'अहं' नाम से व्यवहृत हुई है। अहंभाव भी एक प्रकार का कर्म्म ही है। कर्म्म ही उक्त धाराबल के कारण स्थिर प्रतीत होता हुआ अहं बना हुआ है। सम्पूर्ण प्रपञ्च 'जल-घरपटलवत्' दृष्ट-नष्ट ही है। अपिच, जिस ज्ञान को आप कर्म्म से पृथक् मानते हुए उसे नित्य मान रहे हैं, वह भी परमार्थतः कर्म्म ही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, खाना-पीना चलना इत्यादि क्रियाओं का अभिनय जैसे गच्छामि, पठामि, भुंक्ते, गच्छति इत्यादि क्रिया-पदों से किया जाता है, एवमेव ज्ञान का अभिनय भी 'जानामि' इस क्रियापद से ही हो रहा है। इस प्रकार हम ज्ञान के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ही कर्म्म का अभिनय देख रहे हैं। अतएव ज्ञान को भी हम क्रियाविशेष ही कहने के लिए तय्यार हैं।

इस क्रियातत्त्व की 'कृति-व्यापार-भाव-कर्म्म' ये चार अवस्थाएं होतीं हैं। शरीर के भीतर होने वाला जो प्राणव्यापार है, जिसे कि यत्न, चेष्टा (कोशिश) आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है, 'कृति' है। इस अन्तर्व्यापारलक्षणा कृति का हम अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। कृति के अव्यवहितोत्तरकाल में बहिर्व्यापार हो पड़ता है। चलने से पहिले पैरों में प्राणव्यापाररूपा कृति का उत्थान हुआ। इस कृति (कोशिश) से पैर आगे बढ़ने लगे। इस प्रकार वही कृति आगे जाकर बहिर्व्यापाररूप में परिणत हो जाती है। यही बस क्रिया की व्यापारलक्षणा दूसरी अवस्था है। यह व्यापारभूता क्रिया क्षणबल से आक्रान्त रहती हुई क्षणिक है, गुणमयी है। गुणभूता यह (व्यापाररूपा) क्रिया ही धाराबल के कारण समुच्चय रूप में परिणत होती हुई आगे जाकर भाव रूप में परिणत हो जाती है। व्यापार क्षणिक क्रिया है, भाव क्षणिक क्रिया का कूट (समूह) है। गमनम्-पठनम्-शयनम्-इत्यादि क्रियाएं भावात्मिका हैं। इसी भावात्मिका क्रिया का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

> गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
> बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥
>
> —वाक्यपदी

भावात्मिका क्रिया के अनन्तर कर्म्मविशेषात्मक, आत्मशब्दवाच्य अहंधरातल पर एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक भावात्मिका क्रिया आत्मा में अवश्य ही एक

संस्कार उत्पन्न कर देती है। इसी संस्कार का नाम कर्म्म है। इसी कर्म्म के बल से कृति का उदय होता है, कृति से व्यापार, व्यापार से भाव, भाव से पुनः कर्म्म, इस प्रकार कृति-व्यापार भाव-कर्म्म चारों का चक्रवत् चंक्रमण होता रहता है। साथ ही में इतना और स्मरण रखिए कि, धारावलात्मक ज्ञानरूप कर्म्म से भावनात्मक ज्ञान-संस्कार का उदय होता है, एवं क्षणवलात्मक कर्मरूप कर्म्म से वासनात्मक कर्म्म-संस्कार का उदय होता है। वासनासंस्कार 'चरणाहित' संस्कार है, एवं भावना संस्कार 'अनुभवाहित' संस्कार है। दोनों हीं संस्कार कर्म्मजन्य हैं, अतः हम अवश्य ही इन सञ्चित उभयविध संस्कारों को भी कर्म्म ही कहेंगे। इस प्रकार एक ही क्रियातत्त्व बलतत्त्व के तारतम्य से कृति-व्यापार-भाव-कर्म्म ये चार स्वरूप धारण कर लेता है।

इन चारों अवस्थाओं में से तीसरी 'भाव' अवस्था ही ज्ञानरूप कर्म्मविशेष की स्थिरता की प्रयोजिका है। क्रियासमष्टि ही 'अहं'-इस प्रतिष्ठित भाव को, किंवा स्थिरभाव को उत्पन्न करती है। क्रिया के इस क्रमजन्म-सम्बन्धी धारावाहिक प्रवाह से ही स्थिरता प्रतीत होने लगती है, एवं इस कल्पित स्थिरता को ही (क्षणवल से पृथक्) बतलाने के लिए हम 'अहं' यह नाम दे देते हैं। "आया-गया, गया-आया" इस प्रावाहिक गति में रहता हुआ भी विच्छेद प्रतीत नहीं होता, यही स्थिरताप्रतीति का मूल कारण है। चिराग की लौ पर दृष्टि डालिए। तैल प्रतिक्षण प्रकाशरूप में परिणत होता हुआ बत्ती से निकल रहा है। नीचे से प्रतिक्षण तैल आ रहा है। इस तैलागमन-निर्गमन की जो एक सन्तान है, धारा है, प्रवाह है, वही 'लौ' बन रही है। परन्तु आश्चर्य है कि, क्षणभाव से सम्बन्ध रखती हुई भी यह लौ हमें एकरूपा दिखलाई दे रही है। इस स्थिरताप्रतीति का एकमात्र कारण क्रिया-सन्तान ही है।

जिस प्रकार तैल की गमनागमनरूपा क्रियासन्तान के उच्छिन्न होते ही दीपनिर्वाण हो जाता है, एवमेव इन श्रमणकों के मतानुसार कर्म्मसन्तान के आत्यन्तिक उच्छेद से उस कर्म्मरूप ज्ञानात्मा की मुक्ति हो जाती है। कर्म्मपुद्गल का उच्छेद ही मुक्ति है। केले के स्तम्भ को ऊपर से छीलते जाइए, वल्कल उखाड़ते जाइए। उखाड़ते उखाड़ते अन्ततोगत्वा सारे केले का स्वरूप उच्छिन्न हो जायगा। सिवाय पत्रसन्तान के केलवृक्ष में आपको और कुछ न मिलेगा। इसी प्रकार दीप-लौ को आप चारों ओर से किसी वैज्ञानिक प्रणाली से तराशते जाइए। अन्ततोगत्वा 'लौ' गायब हो जायगी। 'लौ' के अतिरिक्त आपको कोई स्थिर पदार्थ

का स्वरूप भिन्न है, एवं कर्म्मरूप कर्म्म का स्वरूप भिन्न है। वलों का आनन्त्य सभी पूर्वपक्षों को निरर्थक वना सकता है ।

जिस प्रकार एक वल कर्म्म कहलाता है, एवमेव एक विशेप प्रकार की वलसमष्टि ही "ज्ञान" किंवा 'अहं' नाम से व्यवहृत हुई है। अहंभाव भी एक प्रकार का कर्म्म ही है। कर्म्म ही उक्त धारावल के कारण स्थिर प्रतीत होता हुआ अहं वना हुआ है। सम्पूर्ण प्रपञ्च 'जल-घरपटलवत्' दृष्ट नष्ट ही है। अपिच, जिस ज्ञान को आप कर्म्म से पृथक् मानते हुए उसे नित्य मान रहे हैं, वह भी परमार्थतः कर्म्म ही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, खाना-पीना चलना इत्यादि क्रियाओं का अभिनय जैसे गच्छामि, पठामि, भुंक्ते, गच्छति इत्यादि क्रिया-पदों से किया जाता है, एवमेव ज्ञान का अभिनय भी 'जानामि' इस क्रियापद से ही हो रहा है। इस प्रकार हम ज्ञान के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ही कर्म्म का अभिनय देख रहे हैं। अतएव ज्ञान को भी हम क्रियाविशेप ही कहने के लिए तय्यार हैं।

इस क्रियातत्त्व की 'कृति-व्यापार-भाव-कर्म्म' ये चार अवस्थाएं होतीं हैं। शरीर के भीतर होने वाला जो प्राणव्यापार है, जिसे कि यत्न, चेष्टा (कोशिश) आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है, 'कृति' है। इस अन्तर्व्यापारलक्षणा कृति का हम अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। कृति के अव्यवहितोत्तरकाल में वहिर्व्यापार हो पड़ता है। चलने से पहिले पैरों में प्राणव्यापाररूपा कृति का उत्थान हुआ। इस कृति (कोशिश) से पैर आगे वढ़ने लगे। इस प्रकार वही कृति आगे जाकर वहिर्व्यापाररूप में परिणत हो जाती है। यही उस क्रिया की व्यापारलक्षणा दूसरी अवस्था है। यह व्यापारभूता क्रिया क्षणवल से आक्रान्त रहती हुई क्षणिक है, गुणमयी है। गुणभूता यह (व्यापाररूपा) क्रिया ही धारावल के कारण समुच्चय रूप में परिणत होती हुई आगे जाकर भाव रूप में परिणत हो जाती है। व्यापार क्षणिक क्रिया है, भाव क्षणिक क्रिया का कूट (समूह) है। गमनम्-पठनम्-शयनम्-इत्यादि क्रियाएं भावात्मिका हैं। इसी भावात्मिका क्रिया का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

> गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
> बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥
>
> —वाक्यपदी

भावात्मिका क्रिया के अनन्तर कर्म्मविशेपात्मक, आत्मशब्दवाच्य अहंधरातल पर एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक भावात्मिका क्रिया आत्मा में अवश्य ही एक

संस्कार उत्पन्न कर देती है। इसी संस्कार का नाम कर्म्म है। इसी कर्म्म के बल से कृति का उदय होता है, कृति से व्यापार, व्यापार से भाव, भाव से पुनः कर्म्म, इस प्रकार कृति-व्यापार भाव-कर्म्म चारों का चक्रवत् संक्रमण होता रहता है। साथ ही में इतना और स्मरण रखिए कि, धाराबलात्मक ज्ञानरूप कर्म्म से भावनात्मक ज्ञान-संस्कार का उदय होता है, एवं क्षणबलात्मक कर्म्मरूप कर्म्म से वासनात्मक कर्म्म-संस्कार का उदय होता है। वासनासंस्कार 'चरणाहित' संस्कार है, एवं भावना संस्कार 'अनुभवाहित' संस्कार है। दोनों ही संस्कार कर्म्मजन्य हैं, अतः हम अवश्य ही इन सञ्चित उभयविध संस्कारों को भी कर्म्म ही कहेंगे। इस प्रकार एक ही क्रियातत्त्व बलतत्त्व के तारतम्य से कृति-व्यापार-भाव-कर्म्म ये चार स्वरूप धारण कर लेता है।

इन चारों अवस्थाओं में से तीसरी 'भाव' अवस्था ही ज्ञानरूप कर्म्मविशेष की स्थिरता की प्रयोजिका है। क्रियासमष्टि ही 'अहं' इस प्रतिष्ठित भाव को, किंवा स्थिरभाव को उत्पन्न करती है। क्रिया के इस क्रमजन्म-सम्बन्धी धारावाहिक प्रवाह से ही स्थिरता प्रतीत होने लगती है, एवं इस कल्पित स्थिरता को ही (क्षणबल से पृथक्) बतलाने के लिए हम 'अहं' यह नाम दे देते हैं। "आया-गया, गया-आया" इस प्रावाहिक गति में रहता हुआ भी विच्छेद प्रतीत नहीं होता, यही स्थिरताप्रतीति का मूल कारण है। चिराग की लौ पर दृष्टि डालिए। तैल प्रतिक्षण प्रकाशरूप में परिणत होता हुआ बत्ती से निकल रहा है। नीचे से प्रतिक्षण तैल आ रहा है। इस तैलागमन-निर्गमन की जो एक सन्तान है, धारा है, प्रवाह है, वही 'लौ' बन रही है। परन्तु आश्चर्य है कि, क्षणभाव से सम्बन्ध रखती हुई भी यह लौ हमें एकरूपा दिखलाई दे रही है। इस स्थिरताप्रतीति का एकमात्र कारण क्रिया-सन्तान ही है।

जिस प्रकार तैल की गमनागमनरूपा क्रियासन्तान के उच्छिन्न होते ही दीपनिर्वाण हो जाता है, एवमेव इन श्रमणकों के मतानुसार कर्म्मसन्तान के आत्यन्तिक उच्छेद से उस कर्म्मरूप ज्ञानात्मा की मुक्ति हो जाती है। कर्म्मपुद्गल का उच्छेद ही मुक्ति है। केले के स्तम्भ को ऊपर से छीलते जाइए, वल्कल उखाडते जाइए। उखाड़ते उखाड़ते अन्ततोगत्वा सारे केले का स्वरूप उच्छिन्न हो जायगा। सिवाय पत्रसन्तान के केलवृक्ष में आपको और कुछ न मिलेगा। इसी प्रकार दीप-लौ को आप चारों ओर से किसी वैज्ञानिक प्रणाली से तराशते जाइए। अन्ततोगत्वा 'लौ' गायब हो जायगी। 'लौ' के अतिरिक्त आपको कोई स्थिर पदार्थ

न मिलेगा। बस जिस प्रकार दीपक ने प्रकाशधारामात्र से जैसे 'दीपक' नाम धारण कर रक्खा है, एवं केले का वृक्ष जैसे केवल त्वक्समूह को लेकर "वृक्ष" कहलाने लगा है, ठीक इसी तरह कर्म्मसमष्टि ही 'अहं' किंवा 'आत्मा' नाम से प्रसिद्ध हो गई है।

पाञ्चभौतिक शरीर में जिस प्रकार अस्थि-मांसादि के भिन्न भिन्न कर्म्मपुद्गल हैं, वैसे ही अहं भी कर्म्मविशेष का एक पुद्गलमात्र ही है। केले के वृक्ष की तरह, दीपशिखा की तरह, अस्थि-मांसादि शारीर-धातुओं की तरह अहं भी एक प्रकार की कर्म्मसमष्टि बनती हुई शरीर के ही अन्तर्भूत है। शरीर से भिन्न नित्य-अविनाशी 'जीवात्मा' नाम का कोई सत् पदार्थ नहीं है।

यह असत्कर्म्म अपने आप ही जगत् बन जाता है, अपने आप ही अपने आपमें ही ठहर जाता है, एवं अन्ततोगत्वा अपने आपमें ही लीन हो जाता है। जैसे हमारी अङ्गुली अपने आप हिल पड़ती है, पलक उघड़ते ही आँखें अपने आप बिना किसी की प्रेरणा के ही देखने लगतीं हैं, कान अपने आप ही सुनने लगते हैं, एवमेव यह असत् कर्म्म भी अपने आप ही अकस्मात् सृष्टिस्वरूप में परिणत हो जाता है। सृष्टिस्वरूप में परिणत होकर अपने आप पर ही प्रतिष्ठित रहता है। एवं अकस्मात् अपने आप में ही विलीन होता हुआ प्रलय का अधिष्ठाता बन जाता है। सचमुच प्रतिक्षण विलक्षण यह कर्म्म, क्षणिक है, अतएव शून्य है, अतएव स्वलक्षण है, अतएव दुःखरूप है। वास्तव में संसार दुःखसागर ही माना जायगा।

"दुःख" शब्द का अर्थ है—दुष्ट आकाश। विश्वप्रपञ्च में 'ख' आकाश का वाचक है, एवं अध्यात्मसंस्था में 'ख' इन्द्रियों का वाचक है—('पराञ्चि खानि'०)। इन्हें जो विषय चाहिए, वे मिल जाते हैं तो सुख है। विषयाभाव में रिक्त रहने वाला यह अपूर्ण 'ख' दुष्टभाव से युक्त रहता हुआ दुःख है। अपूर्णता ही दुःख है। क्षणिकभाव कभी पूर्ण बन नहीं सकते, अतः अन्ततोगत्वा दुःख पर ही विश्राम मानना पड़ता है। क्षोभ का नाम ही हलचल है, यही हल-चल एक प्रकार का कम्पन है, कम्पन ही भय है, भय ही दुःख का मूल है। शरीर के यच्चयावत् परमाणु परिवर्त्तनशील हैं। पर्व पर्व क्षण क्षण में बदल रहा है।

"इसी क्रिया की प्रकारान्तर से 'उत्पत्ति-स्थिति-लय' ये तीन अवस्थाएं बनतीं हैं। प्रथम क्षण में क्रिया उत्पन्न होती है, दूसरे क्षण में स्थित रहती है एवं तीसरे क्षण में विलीन हो जाती है। तीनों में से मध्यक्षण अस्तित्व के कारण सद्रूप है। ऐसी दशा में जगत् को एकान्ततः असत् ही कैसे माना जा सकता है" इस पूर्वपक्ष में भी कुछ बल नहीं है। जिसे पूर्वपक्षी

स्थितिक्षण समक्ष रहा है, वह भी नष्ट होता हुआ ही अपने उस एक क्षण को पूरा कर रहा है। यह स्थिति भी बदलती हुई ही है। उसका अस्तित्व तो सर्वथा कल्पित ही है।

अक्षोभ शान्ति है। चूंकि क्रियामय विश्व नास्तिलक्षण बनता हुआ स्वलक्षण है, अतएव यह सर्वथा अप्रतिष्ठित है, अतएव सर्वथा क्षुब्ध है, अतएव सर्वथा अशान्त है, अतएव 'दुःखं-दुखम्' है-(अशान्तस्य कुतः सुखम्')। कर्म्ममय उस अहं को अपने क्षणिक भाव के कारण क्षण भर भी चैन नहीं है। मुंह पर अनवरत पानी की धारा पड़ने से जैसे मनुष्य दमघुट बना रहता है, त्राहि त्राहि क्रिया करता है, एवमेव इस कर्म्म-चक्र के धारावाहिक आक्रमण से कर्म्मपुद्गलरूप प्राणी अनवरत सदा दुःख से संत्रस्त रहता है। सचमुच कर्म्मचक्र के अन्वर्थ आक्रमण से कर्म्ममय आत्मा कभी सुखी नहीं बन सकता। आत्मा ही क्या, सम्पूर्ण कर्म्मप्रपञ्च, एवं तद्रूप सम्पूर्ण विश्व ही 'दुःखं-दुःखं' है।

चूंकि कर्म्म असत् है, अतएव वह कुछ नहीं है। कर्म्म (क्रिया) का आदि असत् है, अन्त असत् है, अतः 'तन्मध्यन्याय' से सद्रूप से प्रतीयमान मध्य भी असत् ही है। उपक्रम में अव्यक्त है, उपसंहार में अव्यक्त है, मध्य का व्यक्त भी दोनों ओर की अव्यक्तता को अपना आधार बनाता हुआ अव्यक्त ही है। जब यह दुःखरूप सर्वप्रपञ्च असद्रूप बनाता हुआ कुछ है ही नहीं, तो फिर इसे शून्य के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है। इसी आधार पर नास्तिकों का 'शून्यं-शून्यं' यह वाक्य हमारे सामने आता है।

सम्पूर्ण विश्व 'स्वलक्षण' है। यह अपने जैसा आप ही है। "यह विश्व ऐसा है, वैसा है, उसके जैसा है, इसके जैसा है" इत्यादि व्यवहार सर्वथा अनुपपन्न हैं। इस अनुपपत्ति का कारण यही है कि, जब क्रिया क्षणिक है तो, उसकी अन्य क्रिया के साथ तुलना करने का अवसर ही कब मिल सकता है। सम्पूर्ण क्रियाएं इसी क्षणभाव के कारण परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। एक क्रिया की दूसरी क्रिया से तुलना हो ही नहीं सकती। यदि क्रियाओं में परस्पर साजात्य होता तो, क्रिया परलक्षणा बन सकती थी। परन्तु क्रिया तो क्षणिक बनती हुई विभिन्न है। अतएव उत्तरक्रिया के साथ पूर्वक्रिया की जब तक हम तुलना करने लगते हैं, इससे पहिले ही पूर्वक्रिया विलीन हो जाती है। बतलाइए! किस की किस के साथ तुलना की जाय। अतएव अन्त में बाध्य होकर इस क्रियामय विश्व के लिए हमें—'स्वलक्षणं-स्वलक्षणम्' यही कहना पड़ता है। क्रिया का लक्षण क्रिया स्वयं ही है। प्रत्येक क्रिया का लक्षण वही क्रिया है, एवं यही क्रिया की स्वलक्षणता है।

इस प्रकार 'क्षणिकं क्षणिकं-दुःखं दुःखं-शून्यं शून्यं-स्वलक्षणं स्वलक्षणम्' का निनाद करने वाले विशुद्ध कर्म्मवादी इन नास्तिकों के मतानुसार कर्म्म से अतिरिक्त न ईश्वर है, न जीव है, न ज्ञान है। है तो सर्वत्र केवल असद्वाद का साम्राज्य। निम्न लिखित वचन भी इसी का समर्थन करते हुए से ही प्रतीत हो रहे हैं—

क—असदेवेदमग्र आसीत्।

ख—तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे।

ग—नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्।

वैदिक समय से भी पूर्वयुग (साध्ययुग) में प्रचलित उक्त असद्वाद के आधार पर ही आगे जाकर (महाभारतोत्तरकालीन ह्रासयुग—किंवा सम्प्रदाययुग में) नास्तिक-मत का विकास हुआ है। साध्ययुग के अनन्तर इस असद्वाद के प्रचार का श्रेय विशेषरूप से 'शाक्यसिंह' को ही मिला है। शाक्यसिंह कपिलवस्तु में निवास करते थे। पिता का नाम 'शुद्धोदन,' माता का नाम 'माया' था। पुत्र 'राहुल' थे। शाक्यसिंह स्वभाव से ही बड़े दयालु थे। अपने जीवन की पूर्वावस्था में इन्हें कितनी एक ऐसी करुणापूर्ण घटनाओं का सामना करना पड़ा, जिन के प्रभाव से इनका चित्त विचलित हो गया। राज्यवैभव, कुटुम्ब आदि का मोह जाता रहा। परिणामतः समय पाकर पत्नी-पुत्रादि को शयनागार में ही छोड़कर राजमहल से निकल पड़े। केवल वैराग्यवृत्ति का आश्रय लिए हुए शाक्यसिंह ने शास्त्रों का अध्ययन किया। परन्तु यह अध्ययन इनके क्लान्त आत्मा को शान्त न कर सका। शान्ति के पिपासु शाक्यसिंह शास्त्रप्रपञ्च से विरक्त होकर तपश्चर्य्या के लिए सुप्रसिद्ध 'गिरनार' पर्वत पर पहुंचे। उस समय यह राजधानी 'गिरिव्रज' नाम से प्रसिद्ध थी। शाक्यसिंह ने वहां जाकर मुनियों द्वारा-संचालित तप का अनुष्ठान आरम्भ किया। बस तभी से यह शाक्यसिंह के स्थान में 'शाक्यमुनि' नाम से प्रसिद्ध हुए।

ज्ञान को मूल में न रखने के कारण, केवल वैराग्य के अनुयायी शाक्यमुनि को इस अनुष्ठान से भी शान्ति न मिली। फलतः इस कर्म्म को भी छोड़ा। सीधे गया में पहुँचे। वहाँ एक वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न होकर बैठ गए। कालान्तर में इनके चित्त में सहसा ये भाव प्रकट हो गए कि—"सम्पूर्ण संसार मिथ्या है। यहां सत् कहने योग्य कुछ है ही नहीं। वेद-पुराण-धर्म्मशास्त्र, एवं तत्प्रतिपादित आत्मा-परमात्मा स्वर्ग-नर्क आदि सब केवल कल्पना का

साम्राज्य है।" इसी असत् कल्पना से इन्हें संतोष मिला। सहसा इनके मुख से निकल पड़ा— 'अरे! बुद्धं-बुद्धम्' (समझ लिया, समझ लिया)। बस तभी से शाक्यमुनि 'बुद्ध' नाम से प्रसिद्ध हो गए। जिस वृक्ष के नीचे बैठकर शाक्यमुनि ने असद्वाद के उद्गार निकाले थे, वही वृक्ष 'बोधिवृक्ष' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी बुद्धमत की आगे जाकर 'माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक' ये चार शाखा हो गईं।

अस्तु, हमें यहां बुद्धमत की मीमांसा नहीं करनी है। कहना केवल यही है कि, साध्यकालीन असद्वाद के आधार पर ही आगे जाकर नास्तिसार इस असद्वाद का प्रादुर्भाव हुआ। असद्वादियों ने कर्म्मवाद को प्रधान मानते हुए ब्रह्मसत्ता का तिरस्कार किया, अपनाया, एकमात्र कर्म्ममय असद्वाद को, जो कि आज भी आर्यप्रजा को उत्पथ गमन करा रहा है।

४—सद्वादः

पूर्वोक्त असद्वादी श्रमणकों के प्रति घृणा के भाव प्रकट करनेवाले ब्रह्माभिनिविष्ट कुछ एक ब्राह्मणों के मतानुसार "कर्म्म" नाम का कोई असत्तत्त्व है ही नहीं। सर्वत्र ज्ञानमूर्ति एकमात्र ब्रह्म का ही साम्राज्य है। वह ब्रह्मतत्त्व सत् है, अपरिणामी, किंवा अविकृतपरिणामी है, अविनाशी है, अनुच्छित्तिधर्म्मा है। यह सत्-ब्रह्म ही इस विश्व का मूल है। ब्रह्म और विश्व दो मानने की भी आवश्यकता नहीं है। सद्ब्रह्म के विवर्त्तभाव का ही नाम विश्व है। दूसरे शब्दों में विश्व ब्रह्म का ही नामान्तर है। सद्वादी ब्राह्मणवर्ग का कहना है कि, यदि जगत् को असत् माना जायगा तो जगत् का प्रत्यक्ष ही न होगा। जब कि हम प्रत्यक्ष में "आकाश है, जल है, वायु है, सूर्य्य है, चन्द्रमा है, अश्व है, गज है, मनुष्य है" इत्यादि रूप से अस्तितत्त्व का साक्षात् दर्शन कर रहे हैं, तो फिर इस प्रत्यक्षानुभूत अस्तितत्त्व का कैसे अपलाप किया जा सकता है।

ब्रह्मवाद—

आपने (नास्तिकों ने) इस विप्रतिपत्ति के लिए धारावल का आश्रय लिया था, साथ ही में कतकरज को दृष्टान्त रूप से सामने रक्खा था। यह धाराबल, एवं कतकरज का दृष्टान्त—दोनों ही इस सम्बन्ध में व्यर्थ हैं। प्रश्न है—सत्ता प्रतीति का। मैल हटाने का प्रश्न नहीं है। कतकरज स्वयं मैल होता हुआ भी मैल को हटा सकता है। यदि धारावल के सम्बन्ध में मैल हटाने की विप्रतिपत्ति होती, तो उक्त दृष्टान्त का अवश्य ही उपयोग हो सकता था। धारावल स्वयं क्षणिक है, वह अस्ति-प्रत्यय का साधक बन ही नहीं सकता। यदि एक अन्धा मनुष्य दूसरे अन्धे मनुष्य का पथप्रदर्शक बन सकता है, तो धारावल भी अन्य बल

को सत्तारूप में परिणत कर सकता है। फिर सब से बड़ी विप्रतिपत्ति तो यह है कि, क्षणिक बल के साथ 'धारा' शब्द लग ही कैसे सकता है। जो बल पूर्वक्षण में है, उसका (श्रमणक मतानुसार ही) उत्तरक्षण में अभाव है। फिर यह 'धारा' क्या वस्तु है। यदि वही बल सिलसिलेवार चिरकाल तक एकरूप से रहता, तो अवश्य ही इसके साथ धारा-सम्बन्ध उपपन्न हो सकता था। केवल 'धाराबल' कह देने से ही तो काम नहीं चल जाता। ऐसी दशा मे आपको प्रत्यक्ष सिद्ध सत्ता-प्रतीति के अनुरोध से विवश होकर असत् से अतिरिक्त एक सत् तत्त्व मानना ही पड़ेगा। जब आप सत् की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं तो, फिर असत् मानने की कोई आवश्यकता भी नहीं रह जाती। कारण, केवल सद्वाद से ही सब विप्रतिपत्तियों का निराकरण हो जाता है।

जिसे आप कर्म्म कहते हैं, उस कर्म्म का भी हमारे ज्ञानलक्षण सद्ब्रह्म में ही अन्तर्भाव है। हंसने, बोलने, चलने, खाने, पीने, सब का ज्ञान है। ज्ञान के अतिरिक्त और है क्या। आप कहते हैं—सर्वत्र असल्लक्षण कर्म्म ही दिखलाई पड़ रहा है। ठीक इसके विपरीत हम कहते हैं—सर्वत्र सल्लक्षण ज्ञानमूर्त्ति ब्रह्म का ही साम्राज्य है। 'अयं घटः' 'अयं पटः' यह ज्ञान ही तो है। ''अहं करोमि' 'अहं गच्छामि' यह भी ज्ञान से बाहर नहीं है। जो कुछ है, वह भी मेरा ज्ञान ही है। जो कुछ नहीं है, वह भी मेरा ज्ञान ही है। सूर्य्य-चन्द्रमा-ग्रह-नक्षत्र-वन-उपवन-मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट इत्यादि जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं, (जिन्हे कि असद्वादी कर्म्म कहते हैं) सब ज्ञानमूर्त्ति ही हैं। यह दृश्यमान सारा प्रपञ्च मेरे ही ज्ञान की तस्वीर है। दूसरे शब्दों मे मैं हीं (ब्रह्म-आत्मा-अहं) सब कुछ बना हुआ हूँ। अहंभावात्मक ज्ञान ही ज्ञेयरूप से प्रतीत हो रहा है।

विश्वप्रपञ्च को थोड़ी देर के लिये हम 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' इन तीन भागों में विभक्त मान सकते हैं। उदाहरण के लिये घटप्रत्यय (घटज्ञान) को ही लीजिये। 'घटमहं जानामि' (मैं घड़ा जानता हूं) यही घटप्रत्यय का स्वरूप है। इस प्रत्यय में 'अहं'-ज्ञाता है, 'घटं'-ज्ञेय है, एवं 'जानामि'–यह ज्ञान है। तीनों की समष्टि ही घटज्ञान है। प्रत्येक वस्तु के ज्ञान में ये तीनों भाव नित्य अपेक्षित हैं। जाननेवाला, जानने की वस्तु, दोनों का सम्बन्ध, इन तीन वाक्यों के समन्वय से ही प्रत्यय का स्वरूप निष्पन्न होता है। दर्शन-भाषा में ये ही तीनों क्रमशः प्रमाता (ज्ञाता), प्रमेय (ज्ञेय), प्रमिति (ज्ञान) इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन तीनों में मूलतत्त्व प्रमाता (ज्ञाता) है। अहंभाव ही सल्लक्षण ब्रह्म, किंवा आत्मा

है, यही प्रमाता, किंवा ज्ञाता है। विश्व प्रमेय है, विश्वज्ञान प्रमिति है। यदि आप सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करेंगे, तो आपको इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, प्रमाता ही प्रमिति बनता है, एवं प्रमिति (ज्ञान) ही प्रमेय (ज्ञेयजगत्) बनता है। ज्ञाता का ज्ञातृत्त्व तो सिद्ध है ही। अब ज्ञान एवं ज्ञेय ये दो भाव शेष रहते हैं। ये दोनों भी परमार्थतः ज्ञाता ही हैं। इन तीनों के अभेद को सिद्ध कर देना ही हमारे ब्रह्ममूलक सद्वाद की मूल प्रतिष्ठा सुरक्षित रखना है।

सबसे पहिले प्रमाता और प्रमिति को ही अपना लक्ष्य बनाइए। प्रमिति को हमने ज्ञान कहा है। यह ज्ञान विकासस्वरूप है। आँख खोलते ही जिस आत्मज्योति में सम्पूर्ण जगत् भासित होने लगता है, वह आत्मज्योति ही ज्ञान है। हृदय में प्रतिष्ठित जो 'ज्ञानकन्दल' है, वही ज्ञाता है। इस बिम्बरूप ज्ञाता से चारों ओर जो रश्मिएँ निकल रहीं हैं, वही ज्ञान है। ज्ञाता बिम्ब है, ज्ञान रश्मिएँ हैं। कलिका से ही पुष्प निकलता है। निकलता क्या है, कलिका ही अपने विकास में आकर पुष्प कहलाने लगती है। ज्ञान एक प्रकाशमण्डल है, जिसमें कि ज्ञेयप्रपञ्च प्रतिष्ठित रहता है। विज्ञानसिद्धान्त के अनुसार इस तेजोमण्डल, किंवा रश्मिमण्डल का कोई केन्द्र अवश्य माना जायगा, जहां से कि निकल निकल कर रश्मिएँ मण्डल रूप में परिणत हो रहीं हैं। 'अर्क' बिना 'उक्थ' के कभी नहीं रहता। उक्थ की विकासावस्था ही अर्क है। ज्ञान अर्कस्वरूप है। अवश्य ही ज्ञानमण्डल के हृदय में इसका उक्थ मानना पड़ेगा। वही उक्थ सुप्रसिद्ध ज्ञातृतत्त्व है। केन्द्रस्थ उसी ज्ञानकन्दल से निकल कर ज्योतिर्भाव बाहर की ओर वितत हो रहा है। नाभिगत ज्योतिःपुञ्ज आत्मा है, यही ज्ञाता है। परिधिगत ज्योतिःपुञ्ज ज्ञान है।

ज्योति आग्नेय पदार्थ है। अग्नि स्वभाव से ही अपने अन्तःपृष्ठ, बहिःपृष्ठ भेद से दो पृष्ठों में परिणत रहता है। हृदयस्थ उक्थ अन्तःपृष्ठ है, संस्थामण्डल बहिःपृष्ठ है। अग्नि शब्द को प्रकृत में ज्योतिमात्र का उपलक्षण मानिए। प्रत्यक्षदृष्ट हृदयावच्छिन्न सूर्य्यपिण्ड को अन्तःपृष्ठ समझिए, इससे निकल कर चारों ओर वितत होनेवालीं रश्मियों के मण्डल को बहिःपृष्ठ मानिए। इस सौर-प्रकाशमण्डल के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है, यही नभ्य आत्मा है, यही प्रजापति है। ठीक यही परिस्थिति यहां समझिए। केन्द्रस्थित ज्ञानज्योतिःपुञ्ज नभ्य-आत्मा आत्मा है, यही प्रजापति (अनिरुक्त) है, यही ज्ञाता है, प्रमाता है। एवं इसी की एतद्रूपा ही रश्मिएं ज्ञान है, यही प्रमिति है। जिस प्रकार सूर्य्य, एवं उसका प्रकाश कहने भर के लिए दो हैं, वास्तव में वस्तुतत्त्व एक है, एवमेव ज्ञाता, एवं तद्रूप ज्ञान कहने मात्र के लिए दो हैं। वस्तुतः एकतत्त्व है। इस प्रकार ज्ञाता एवं ज्ञान का अभिन्नपदार्थतत्त्व भलीभांति सिद्ध हो जाता है।

अब शेष रहता है–ज्ञेय जगत्। इसी पर नास्तिकों का पूर्ण विवाद है। ज्ञानधरातल में भासित होनेवाले घटपटादि पदार्थ ज्ञान से ही बने हुए हैं, अथवा विजातीय हैं ? इस प्रश्न को सामने रखते हुए ज्ञेय जगत् का विचार कीजिए।

ज्ञान आधार है, ज्ञेय आधेय है। लोक मे यह आधाराधेयभाव अनेक भावों मे उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए टेबिल और पुस्तक को लीजिए। टेबिल पर पुस्तक रक्खी हुई है। टेबिल आधार है, पुस्तक आधेय है। यहाँ आधारभूत टेबिल एक स्वतन्त्र वस्तुतत्त्व है, एवं आधेयभूता पुस्तक एक स्वतन्त्र पदार्थ है। दोनों की सत्ता पृथक् पृथक् है। पुस्तक के नष्ट हो जाने पर टेबिल का कुछ नहीं बिगड़ता, एव टेबिल के नष्ट हो जाने पर पुस्तक की स्वरूपहानि नहीं होती। यही एक प्रकार का **'भिन्नसत्तात्मक-कार्यकारणभाव'** है। जिस प्रकार आधाराधेय के होने पर भी पुस्तक टेबिल से अपनी पृथक सत्ता रखती है, एवमेव ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला ज्ञेयप्रपञ्च पृथक् सत्ता को ही अपना आधार बनाए हुए है, क्या ज्ञान-ज्ञेय के आधाराधेय-सम्बन्ध में यह कहा जायगा ?

हमारे विचार से पुस्तक टेबिल का उदाहरण प्रकृत मे ठीक न होगा। क्योंकि ज्ञान-ज्ञेय में **'उपादानलक्षण-कार्य्यकारणभाव'** है, एव पुस्तक-टेबिल मे **'निमित्तलक्षण कार्य्यकारणभाव'** है। पितापुत्र के दृष्टान्त का विचार कीजिए। पिता का अंशभूत शुक्र ही पुत्र का उपादान कारण है। परन्तु पिता से उत्पन्न होते ही पुत्र अपनी स्वतन्त्र सत्ता कर लेता है। पिता की मृत्यु से पुत्र स्वरूप की, एवं पुत्र मृत्यु से पिता के स्वरूप की कोई हानि नहीं होती। क्या ज्ञान ज्ञेय के सम्बन्ध मे भी यही परिस्थिति है ?। नहीं। यह ठीक है कि पितावत् ज्ञान उपादान है, एव पुत्रवत् ज्ञेय कार्य्य है। फिर भी दोनों का भिन्नसत्तात्मक-कार्य्यकारणभाव नहीं माना जा सकता। उपादान कार्य्यकारणभाव से ही सम्बन्ध रखने वाले किसी ऐसे दृष्टान्त का अन्वेषण करना पड़ेगा कि, जहां सत्ता दोनों की एक हो एव एक के अभाव में दूसरे का अभाव हो जाता हो।

दूध-दही का, तन्तु-वस्त्र का, मिट्टीघट का, एवं सुवर्ण-कटकुण्डलादि का उपादान है। यह कार्य्य-कारणभाव अवश्य ही अभिन्नसत्तात्मक माना जा सकता है। दही की सत्ता दूध से, वस्त्र की सत्ता तन्तु से, घट की सत्ता मिट्टी से, एवं कटक-कुण्डलादि की सत्ता सुवर्ण से भिन्न नहीं है। कारण ही कार्यरूप मे परिणत हो रहा है। दधि वस्त्र-घट-कटककुण्डलादि को यदि दुग्ध-तन्तु मिट्टी सुवर्ण से पृथक् कर दिया जाय, तो इनका कोई स्वरूप ही शेष न रहे। ज्ञान-ज्ञेय के सम्बन्ध मे ऐसा ही कार्य्यकारणभाव माना जायगा।

जगत् तत्त्व को 'अन्तर्जगत्-बहिर्जगत्' भेद से दो भागों में विभक्त माना जा सकता है, जैसा कि साध्यवादों में यत्र तत्र दिग्दर्शन कराया गया है। ईश्वरीय आधिदैविक जगत् बहिर्जगत् है, हमसे सम्बन्ध रखनेवाला आध्यात्मिक जगत् अन्तर्जगत् है। ईश्वर का ज्ञेय बहिर्जगत् है, एवं हमारा ज्ञेय अन्तर्जगत् है। वह व्यापक ज्ञानमूर्त्ति है, हम उसी के अंश हैं। वह अपने ज्ञानीय जगत् का उपादान है, तो हम अपने ज्ञानीय जगत् के उपादान हैं। हम जो कुछ देख रहे हैं, वह सब हमारे ज्ञान से बना हुआ है। हमारे ज्ञानीयधरातल में सदाकाराकारित प्रतीत होने वाला ज्ञेय हमारे ही ज्ञान से उत्पन्न हुआ है। अपने दृश्य प्रपञ्च के (ज्ञेय के) कर्त्ता हम (हमारा ज्ञान) हैं। हम ईश्वरीय जगत् का कभी साक्षात्कार नहीं कर सकते। आपको विश्वास करना चाहिए कि, प्रकृतिसिद्ध सूर्य्य-चन्द्रमादि को न हम देखते, न देख सकते। हम अपने ज्ञानीय सूर्य्य-चन्द्रमादि का ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इसी लिए साध्यवाद-प्रकरण मे हमने कहा है कि—एक व्यक्ति जब अन्य व्यक्ति के अन्तर्जगत् का (मानस-भावों का) साक्षात् नहीं कर सकता, तो वह ईश्वरीय अन्तर्जगत् को क्यों कर देख सकता है।

जिसे हम ज्ञेय कहते हैं, वह हमारे ज्ञान का ही आकारविशेषमात्र है। प्रतीत विषय ज्ञानाकार ही है, ज्ञानरूप ही है, ज्ञान ही है। जब ज्ञेयप्रपञ्च ज्ञानरूप ही है, तो ज्ञेय को ज्ञान से कैसे पृथक् माना जा सकता है। जिस प्रकार मिट्टी से बना हुआ घट मिट्टी से पृथक् प्रतीत होने लगता है, तथैव ज्ञाननिर्म्मित ज्ञेय जगत् भी ज्ञान से पृथक्सा प्रतीत होने लगता है। पृथक्सा इस लिए कहना पड़ता है कि,—जिस प्रकार मृत्-घट यह भेद रहने पर भी घट मृत् ही है। वास्तव मे पार्थक्य नहीं है, एवमेव ज्ञान-ज्ञेय पृथक् प्रतीत होते हुए भी परमार्थतः अभिन्न हीं हैं। ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेयघट का और आकार है ही क्या। प्रत्यय (ज्ञान) 'अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य, विषयावच्छिन्न-चैतन्य' इस त्रिपुटी से सम्बन्ध रखता है। इसी व्यावहारिक त्रिपुटीभाव के कारण ज्ञान-ज्ञेय का पार्थक्यसा प्रतीत होने लगता है। यदि विज्ञानदृष्टि से विचार किया जाता है, तो सम्पूर्ण ज्ञेय-प्रपञ्च का ज्ञान ही में अन्तर्भाव हो जाता है। आप कहते हैं-ज्ञान ज्ञेय से पृथक् प्रतीत होता है, हम कहते हैं, यह प्रतीति भी तो ज्ञान ही है। "यह कर्म्म है, यह असत् है," यह भी प्रतीति ही है, एवं प्रतीति ही ज्ञान है। ऐसी दशा में ज्ञानलक्षण ब्रह्म की अद्वितीयता का कैसे अपलाप किया जा सकता है। सत्तालक्षण यह ब्रह्म पूर्ण है। आप (नास्तिक) कहते हैं—शून्यं-शून्यम्। हम कहते हैं—पूर्णं-पूर्णम् सर्वत्र सद्वाद, किंवा ज्ञानमूर्त्ति ब्रह्मवाद का ही साम्राज्य है।

"प्रत्यक्षदृष्ट परिवर्त्तन का अपलाप कैसे किया जायगा" इस हेतु को आगे करते हुए वादी पूर्वपक्ष कहता है कि, जब आपके (ब्राह्मण के) मतानुसार सम्पूर्ण प्रपञ्च ज्ञानमय है, एवं ज्ञान अपरिवर्त्तनीय है, शाश्वत है, एकरस है, तो प्रत्यक्षानुभूत परिवर्त्तन का क्या उत्तर होगा। हम देखते है कि, प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण बदलता रहता है। जो आज है, वह कल नहीं। हमारी दृष्टि के सामने देखते ही देखते लाखों मर जाते हैं, लाखों उत्पन्न हो जाते हैं। कल जिसे हम सम्पन्न देखते थे, आज वह भिखारी बना हुआ है। एक राजा है-शासक है, दूसरा प्रजा है-शासित है। इस प्रकार पद पद पर हमें परिवर्त्तन एवं भेदवाद उपलब्ध हो रहा है। यदि सब ज्ञानमय ही हैं, तो यह वैषम्य कैसा ? स्वागतम्! भेदवाद की उपलब्धि होती है, परिवर्त्तन उपलब्ध होता है, यह कौन नहीं मानता। परन्तु आप सम्भवतः यह भूल गए हैं कि, यह उपलब्धि ज्ञान ही है। अमुक मर गया, अमुक जीवित है, अमुक उत्पन्न हुआ है, अमुक बदल रहा है, यह सब आपके ज्ञान की ही कल्पना (खयाल) है। आप ऐसा समझने ही तो हैं। यह समझ ज्ञान नहीं तो, और क्या है। आप जितना बल लगाकर "हम ऐसा देख तो रहे हैं" यह कहेंगे, उत्तर में हम ज्ञान ही को आपके सामने रख देंगे। ज्ञान से अतिरिक्त (खयाल से अतिरिक्त) और कुछ भी नहीं है। उदाहरण के लिए स्वप्नजगत् ही पर्य्याप्त है। स्वप्न में आप का ज्ञान 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, कर्त्ता-करण-कर्म्म' सब कुछ बना हुआ है। क्या यह भेदवाद सत्य है ? सर्वथा मिथ्या, ऐकान्तिक काल्पनिक। यही दशा जाग्रत् जगत् की समझिए। सारा विवर्त्त ज्ञानीय-कल्पनामात्र है। ज्ञानघन ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है।

अब थोड़ी देर के लिए उन विशुद्ध तार्किकों के अनुरञ्जन के लिए संक्षेप से तर्क द्वारा भी उनके असद्वाद की परीक्षा कीजिए। नास्तिक मत का यदि हम आदर कर भी लेते हैं, तब भी केवल यहीं विश्राम नहीं माना जा सकता। क्रिया प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है। यह परिवर्त्तन बिना किसी अपरिवर्त्तनीय आधार को माने सर्वथा अनुपपन्न है। रंग प्रतिक्षण बदल रहा है। हम यह भी थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि, शरीर के सब पर्व बदल रहे हैं। परन्तु वस्त्र है, तभी रक्तवर्ण का परिवर्त्तन हो रहा है। शरीर है, तभी अवस्थापरिवर्त्तन होता है। पृथिवी है, तब गति होती है। मुख है, तब गलाधःकरणानुकूलव्यापार (भोजन) होता है। इस प्रकार नास्तिरूपा प्रत्येक क्षणिकक्रिया के साथ अक्षणरूप अस्तिभाव (प्रतिष्ठाभाव) प्रतिष्ठित है।

आप जब कर्म्म को सर्वथा असत् एवं जड मानते हैं, तो इसके संम्बन्ध मे आपके "कर्म अपने आप अकस्मात् उठ गया, अकस्मात् विलीन हो गया" इस सिद्धान्त का भी कोई महत्व नहीं रहता। हम रात्रि मे गहरी नींद मे सो रहे है। प्रातःकाल नियत समय पर उठ जाते है हम पूछते हैं—जागृतिरूपा जो क्रिया सुप्तावस्था में विलीन हो गेई थी, उसे प्रातः नियत समय पर किसने प्रबुद्ध किया ? "अपने आप हो गई" इस तर्क का विचारदृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। संसार मे ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जो विना कारण उत्पन्न हुआ हो, अथवा होता हो, यदि एक बार कर्म्म का उत्थान हो भी गया, तो (बिना किसी नियन्ता की सत्ता माने) इसे सदा उत्थित ही रहना चाहिए। यदि विलीन है, तो उसे सदा विलुप्त ही रहना चाहिए।

क्या आप एक भी दृष्टान्त ऐसा बतला सकते हैं, जहाँ कर्म्म निराधार उपपन्न होता हो ? नहीं। प्रत्येक कर्म्म किसी अकर्म्म को आधार बना कर ही उपपन्न होता है। जिस धारा-बल का आप गुणगान कर रहे हैं, उसकी निःसारता तो प्रकरणारम्भ में ही बतलाई जा चुकी है। इस प्रकार युक्तिविरोध, तर्कविरोध, अनुभवविरोध, विज्ञानविरोध, एवं शास्त्रविरोध के कारण आपका विशुद्ध-असद्वाद प्रतिष्ठित नहीं रह सकता।

हमे तो ऐसा प्रतीत होता है कि, विशुद्ध असद्वाद मानते हुए ही आप सद्वाद का आश्रय लिए हुए है। असत् से अतिरिक्त आप और किसी की सत्ता नहीं मानते। असत् की सत्ता तो आप भी मान रहे है। इस प्रकार सत्ताक्रमण से आप अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो रहे है। 'यह सब प्रपञ्च सर्वथा असत् है' यहां 'है' रूप से आप सत्ता का प्रयोग कर रहे हैं। 'कुछ नहीं है' यह एक वाक्य तो आप भी मान रहे हैं। इस पर कदाचित् आप यह कहें कि—'कुछ नहीं है' यह सिद्धान्त तो हमारे लिए इष्ट है। तो उत्तर मे कहना पडेगा कि, जब 'कुछ नहीं है' यह सिद्धान्त है, तो आपके मुख से निकला हुआ 'कुछ नहीं है' यह सिद्धान्त भी कुछ नहीं है। सचमुच वे असद्वादी अवश्य ही दया के पात्र हैं, जो "कुछ नहीं है" यह सिद्धान्त तो मानते हैं, फिर उसके प्रतिपादन के लिए ग्रन्थ लिखते हैं। हम कहते हैं—जब सब असत् ही है, तो उनका 'सब कुछ असत् है' यह कथन भी असत् ही है। एवं असत् का असत् (अभाव का अभाव) सद्रूप है। उनका कथन असत्, ग्रन्थ असत्, युक्ति-तर्क सब कुछ असत्। फिर उनका मत कैसा ? बिना सद्ब्रह्म की शरण आए किसी भी तरह छुटकारा नहीं है।

इधर हम तो विशुद्ध सद्ब्रह्म का अनुगमन करते हुए सारी विप्रतिपत्तियों से बचे हुए हैं। उनके अभिमत असद्वाद का भी पूर्वकथनानुसार हमारे सद्वाद में ही अन्तर्भाव है। यही अस्तिब्रह्म हम ब्राह्मणों का उपास्य है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यही हमारा निनाद है, जो कि युक्ति-तर्क-विज्ञान-प्रमाण आदि सभी दृष्टियों से सुसङ्गत, अतएव सर्वमान्य है।

* *

*

सिद्धान्तियों का 'सिद्धान्तवाद'

पूर्व की 'वादचतुष्टयी' में जिन चार वादों का क्रमशः दिग्दर्शन कराया गया है, वे चारों ही वाद वस्तुतः एकदृष्टि से देवयुग से पीछे से विशेष सम्बन्ध रखते हुए अर्वाचीनवाद ही कहे जायंगे। देवयुगकालीन वैदिक सिद्धान्तवाद का वास्तविक तात्पर्य्य न समझने के कारण ही अर्वाचीन व्याख्याताओं ने वेदवचनों का अस्तव्यस्त अर्थ लगाते हुए द्विसत्यादि चार विभिन्न वादों की सृष्टि कर डाली। इसी अरुचि से अर्वाचीन वादचतुष्टयी को हम विशेष महत्त्व नहीं देना चाहते। अनुपद में ही व्यक्त होनेवाला स्वयं सिद्धान्तवाद ही चारों की निःसारता व्यक्त कर देगा। हां चारों में से 'द्विसत्यवाद' नामक दूसरे वाद के सम्बन्ध में अवश्य ही कुछ कहना शेष रह जाता है। द्विसत्यवाद को हमने 'ब्रह्म-कर्म्मवाद' कहा है। इधर हमारा सिद्धान्तवाद भी ब्रह्म-कर्म्मरूप ही है। ऐसी दशा में नामसाम्य से दोनों वादों की सिद्धान्तता में सन्देह होना स्वाभाविक है। ब्रह्म-कर्म्ममय सिद्धान्तवाद के समन्वय से पहिले, ब्रह्म-कर्म्ममय द्विसत्यवाद से उत्पन्न होने वाले इस सन्देह को दूर कर लेना उचित है।

सिद्धान्तवाद का आविर्भाव

'द्विसत्यवाद' और 'सिद्धान्तवाद' दोनों ही ब्रह्म-कर्म्ममय बनते हुए नामसाम्य से अभिन्न प्रतीत होते हुए भी परमार्थतः वस्तुगत्या दोनों सर्वथा पृथक् पृथक् स्वरूप रखते हैं। 'द्विसत्य-वाद' नाम ही इस पार्थक्य का स्पष्टीकरण कर रहा है। जिस वाद में—ब्रह्म-कर्म्म दो सत्य माने जायँ, वही द्विसत्यवाद है। उधर हमारा सिद्धान्तवाद ब्रह्म-कर्म्म दो भातिएं मानता हुआ भी सत्तैक्य से एकसत्य का अनुगामी बनता हुआ सर्वश्रेष्ठवाद बन रहा है। दोनों वादों के इसी पार्थक्य को लक्ष्य में रख कर प्रस्तुत सिद्धान्तवाद का विचार करना चाहिए।

वादचतुष्टयी के सत्-असल्लक्षण ब्रह्म-कर्म्म पदार्थ यद्यपि साध्यसम्मत सत्-असत् तत्त्व से पृथक् स्वरूप रखते हैं। परन्तु संशयवाद के कारण बनने से इन्हें भी उन्हीं खण्डनीय वादों की कोटि में रक्खा जायगा, और उस दशा में इन चारों का साध्यसम्मत 'सदसद्वाद' में ही

अन्तर्भाव कर लिया जायगा। फलतः "१० साध्यवाद, १ संशयवाद, १ सिद्धान्तवाद, कुल १२ वाद रह जायंगे। जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

द्वादशवादाः

१—विज्ञानेतिवृत्तवादः	५—अपरवादः	९—अहोरात्रवादः
२—सदसद्वादः[1]	६—आवरणवादः	१०—दैववाद.
३—रजोवाद.	७—अम्भोवादः	११—संशयवादः
४—व्योमवादः	८—अमृतमृत्युवादः	१२—सिद्धान्तवाद.

साध्य विद्वानों की तर्कयुक्त प्रतिभाशालिनी जिस प्रखर बुद्धि ने जिन विभिन्न दस वादों की स्थापना की, तत्कालीन समाज उनका समुचित उत्तर देने मे असमर्थ रहता हुआ उसी प्रकार प्रवाह में बहने लगा, जैसे कि वर्तमान युग मे शास्त्रीय सिद्धान्तों की अवहेलना करने वाले बुद्धिवादियों के आपातरमणीय तर्कजाल का समुचित उत्तर न दे सकने के कारण आस्तिक प्रजा दिन दिन असल्लक्षण मृत्युभाव की ओर अग्रसर हो रही है। शास्त्रीय सत्य सिद्धान्तों के खण्डन मे मनचले बालबन्धुओं की ओर से जो तर्क उठाए जाते हैं, साध्ययुग-कालीन तर्कों के सामने उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। आस्तिक प्रजा का यह सौभाग्य है कि, बन्धु लोग अधिकाश में संस्कृतभाषा से अपरिचित रहने के कारण, एवं वैदिकवाङ्मय से सर्वथा बचे रहने के कारण उस तर्कजाल की शिक्षा से बचे हुए हैं। साध्यों का तर्कजाल युक्तिसङ्गत है, भौतिक सृष्टि में प्रत्यक्षानुभूत है। इधर बन्धुओ का तर्काभास न युक्तिसङ्गत, न लोकदृष्टि से भी स्वीकार करने योग्य। इनके सम्बन्ध में तो—'सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः' उपाधि ही पर्य्याप्त है।

इधर साध्यों के वाद ऐसे वैसे वाद न थे। वे जो कहते थे, करके दिखाने की शक्ति रखते थे, समय समय पर अपने विज्ञान-सिद्धान्तों से तत्कालीन मानव समाज को चमत्कृत करते रहते थे। अनीश्वरवादियों के इन प्रत्यक्षदृष्ट चमत्कारों का परिणाम यह हुआ कि, तत्कालीन आस्तिक विद्वत् समाज किसी भी उपाय से इनके वादों का खण्डन न कर सका। जब मानवीय बुद्धिबल निर्बल बन गया, धर्म्मवृषभ संत्रस्त हो गया, एकेश्वरवाद तम से घिर

---

[1] निसत्, द्विसत—असत्-सद्वादभेदभिन्न.।

गया, विशुद्ध भौतिक विज्ञान का साम्राज्य हो गया, तो इन क्षोभों से प्रकृति अतिशयरूप से क्षुब्ध हो पडी। क्षुब्ध प्रकृति ने अपने नित्य सहयोगी पुरुष को क्षुब्ध किया। क्षुब्ध पुरुष को धर्म्म-ग्लानि के उपशम के लिए, अपने निःश्वासभूत नित्यवेद-मूलक सिद्धान्तवाद की स्थापना के लिए मानवशरीर से धरातल पर अवतीर्ण होना पडा, और वही दिव्यावतार 'स्वयम्भू ब्रह्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसने कि सर्वविद्याप्रतिष्ठारूपा सिद्धान्तलक्षणा 'ब्रह्मविद्या' अपने ज्येष्ठपुत्र 'अथर्वा' में प्रतिष्ठित की। इसी ऐतिह्य घटना का आज भी धार्म्मिक प्रजा निम्न-लिखित रूप से कभी कभी स्मरण कर लिया करती है—

> ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
> स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्व्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् १।१।१।

यदि साध्य विद्वान् भी उस एक की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं, तो उनके दसों वाद, दसों ही क्यों यथेच्छवाद मान्य हो सकते हैं। "सृष्टिगर्भ मे अनेक कार्य्य-कारणभाव रहते हैं"—इस विज्ञानानुमोदित सिद्धान्त का कौन विरोध कर सकता है। सचमुच साध्यों ने—'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' किंवदन्ती को चरितार्थ कर डाला। चले थे-"सृष्टि का मूल कारण कौन है?" इस प्रश्न का समाधान करने, रह गए सृष्टिसीमा के भीतर ही। यदि वे सृष्टिसीमा से बाहर की ओर लक्ष्य देते हुए कारण का अन्वेषण करते, तो अवश्य ही उनसे ऐसी भूल न होती। सुतरां साध्यों के (सृष्टिमूलकारणता से सम्बन्ध रखनेवाले) दश-वादों का कोई महत्व नहीं रहता।

जब दशवाद ही महत्वशून्य हैं, तो इन्हीं की जटिलता सुलझाने मे व्यस्त भ्रान्त मनुष्यों के संशयवाद का ही क्या महत्व रह जाता है। "दस सिद्धान्त सत्य नहीं हो सकते, परन्तु दसो युक्ति-तर्क द्वारा सत्य प्रतीत हो रहे हैं, ऐसी दशा मे हम कोई निर्णय नहीं कर सकते" यही तो संशयवाद का रूप है। जबतक इन दस वादों को मूल कारण माना जायगा, तबतक अवश्य ही यह संशय रहेगा भी। क्योंकि वास्तव मे मूल कारण एक ही हो सकता है। जब एक सत्ता को आधार बना लिया जाता है, तो विश्वगर्भ मे प्रतिष्ठित दसो (कार्य्यरूप) कारणवादो का सृष्टिभेदमूलक दृष्टिकोणभेद से यथावत् समन्वय हो जाता है।

स्वयम्भू ने उक्त एकत्व सिद्धान्त को ही सिद्धान्त पक्ष बताते हुए, साध्यसम्मत दसों वादों की मूल कारणता का आमूलचूड खण्डन करते हुए १२ वें सिद्धान्तवाद की स्थापना की, और

यह स्पष्ट किया कि, जिन सत्, असत्, अहोरात्र, अपर, आवरण, व्योम, अम्भः आदि की मूल कारणता बतलाई जाती है, सृष्टि से पहिले इनमें एक भी न था। पर, शाश्वत, रस-बल-मूर्त्ति (अतएव विश्व में आकर ब्रह्म-कर्म्ममूर्त्ति) उस एक तत्त्व के अतिरिक्त उस समय कुछ न था। वही मायावल को आगे कर षोडशकल बनता हुआ, क्रमशः 'मायी, षोडशी, सगुण, यज्ञ, अन्नन' रूप पांच प्राजापत्य-संस्थाओं में परिणत होता हुआ अपने छठे 'आवरण' परिग्रह से विश्वरूप में परिणत हुआ। एवं इसी विश्वमूर्त्ति में साध्यों के उन दस कार्य्यरूप कारणों का विकास हुआ, जिसे न जानकर साध्यलोग अपने कार्यरूप कारणों को ही विश्व के मूल कारण मानने की भूल कर रहे हैं।

स्वयम्भू प्रजापति ने एकेश्वरवादशून्य दसों वादों का खण्डन किया। यह ठीक है कि, साध्यों ने सृष्टिमूल के सम्बन्ध में जिन जिन तत्त्ववादों का उल्लेख किया, वे सभी यथासम्भव, यथावसर तत्तत्-सृष्टि-विशेषों के कारण बनते है। कार्य्य-कारणभाव एक ही तरह का नहीं, यह भी ध्रुव सत्य है। परन्तु केवल इस विशृङ्खल कारणवाद पर ही कारणता का विश्राम नहीं किया जा सकता। स्वयं १० संख्या ही अपने से भिन्न किसी एक ऐसे कारण की सूचना दे रही है, जो दसों कारणों का महाआलम्बनरूप महा कारण हो। सब से बड़ी त्रुटि तो साध्य-वादो में यह है कि, उन्होंने सृष्टिमूल के सम्बन्ध में जिन विभिन्न दस कारणों को सम्मुख रक्खा, वे दसों ही कारण सृष्टिमर्य्यादा में रहते हुए, सृष्टिगर्भ में प्रतिष्ठित रहते हुए कार्य्यरूप (सृष्टिरूप) ही बन रहे हैं। साध्यलोग अनुमानमर्य्यादा का बहाना करते हुए जिन कारणों का कार्य्यद्वारा अनुमान लगा कर उन अनुमेय भावों को 'कारण' मानते है, वस्तुतः उनके वे सब अनुमेय कारण कार्य्यरूपा सृष्टि के ही पर्यायविशेष हैं। किस के दस भेद ? यह एक जटिल प्रश्न है। दश संख्या सापेक्ष संख्या है, भातिसिद्ध पदार्थ है। वस्तुतः संख्या एक ही है। और उसी के विस्तार-प्रस्तार अर्बुद-खर्बुद पर जा के ठहरते हैं। एक संख्या ही अपने इस प्रस्तार से सर्वान्त में सब से अन्त की 'परमपरार्ध्य' संख्या पर विश्राम करती है। विना एक के दो-तीन-४-६-१० संख्याओं की उपपत्ति ही नहीं बन सकती। पहिले एक, तब उसके आधार पर दस, दस ही क्यों हजारों, लाखों, असंख्य। एक नहीं तो, सब कुछ विडम्बना।

साध्यों ने तो सृष्टि सम्बन्ध में केवल १० ही कारण माने हैं। इधर हमारा वेदशास्त्र असंख्य कारण मानता हुआ—

'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च'

—श्वेता० उप० ६।८

यह उद्घोष कर रहा है। सृष्टिकर्त्ता को 'प्रजापति' कहा जाता है। सृष्टिगर्भ में ऐसे अनन्त प्रजापति हैं। वायु, इन्द्र, अग्नि, वरुण, रुद्र, सभी प्रजापतिरूप से उपवर्णित हैं। परन्तु वेदशास्त्र का यह अनेक-कारणतावाद, किंवा अनन्त-कारणतावाद सर्वकारणमूर्द्धन्य, पर-पराणां-परम-लक्षण किसी एक कारण को आधार बना कर ही प्रतिष्ठित है।

एक कैसे नाना बन गया ? इस प्रश्न का उत्तर विस्तारसापेक्ष सृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखता है। आगे आनेवाले 'भक्तिपरीक्षा' प्रकरण में, इन सृष्टिधाराओं का संक्षिप्त निरूपण होनेवाला है। इसके अतिरिक्त 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथम खण्ड में भी इन विषयों पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। इसीलिए यहां उसका स्पष्टीकरण अप्राकृत समझ कर छोड़ दिया जाता है। विशेष जिज्ञासा रखनेवालों को उक्त ग्रन्थ ही देखने चाहिए। अब इस सम्बन्ध में एकत्त्वमूलक सिद्धान्तवाद के समर्थक कुछ एक वचन उद्धृत कर तर्कदृष्टि से सिद्धान्तवाद के सिद्धान्तपक्ष की समालोचना की जाती है।

१—नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥

—ऋक् सं० १०।१२९।१।

२—न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंच नास ॥

—ऋक् सं० १०।१२९।२।

३—तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥

—ऋक् सं० १०।१२९।३।

४—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यषीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥

—यजुः सं० १७।१७।

५—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

—यजुः सं० १७।१९।

६—ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
—तै० ब्रा० २।८।९।७।

७—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
—ऋक् सं० १।१६४।४६।

८—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'॥
—ऋक् सं० ६।४।२९।

गीता-सम्मत बारह वाद—

सिद्धान्तवाद और गीता—

साध्य विद्वानों की ओर से उपस्थित होने वाले १० वादों के, एवं जिज्ञासुवर्ग की ओर से पुष्पित-पल्लवित होने वाले संशयवाद के निराकरण के लिए देवयुग के आरम्भ में परम वैज्ञानिक, ज्ञान-विज्ञानाचार्य, आधिकारिक अवतार भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा के द्वारा ब्रह्म-कर्म्मात्मक जिस 'सिद्धान्तवाद' का देवयुग के आरम्भ में आविर्भाव हुआ, उसी देवयुग में कुछ ही आगे चल कर दिव्यावतार भगवान् कृष्ण के द्वारा **'विवस्वान्'** नामक राजर्षि के प्रति जो सिद्धान्तवाद गीतारूप से पुष्पित-पल्लवित हुआ, वही सिद्धान्तवाद कालातिक्रम से महाभारत काल में पुनः विलुप्त हो गया। मानव समाज फिर से उन्हीं द्विसत्यवाद-सद्वादादि की स्मृति का अनुगामी बन गया। [1]विलुप्त प्राय उसी सिद्धान्तवाद का पुनरुद्धार करने के लिए उसी दिव्यतत्त्व का पुनः महाभारत काल में मानुषावतार हुआ। महाभारतसमरकाल में उसी दिव्य मानुषावतार (भगवान् श्रीकृष्ण) के मानुष शरीर से निमित्तभूत अर्जुन के बहाने वह लुप्त सिद्धान्त पुनः एक वार संसार के सामने आया। कुछ शताब्दियों तक तो यह सिद्धान्त स्वस्वरूप से सुरक्षित बना रहा, परन्तु आगे चल कर कलहमूलक कलियुग से सम्बन्ध रखने वाले सम्प्रदाययुग ने पुनः इसका स्वरूप

---

[1] "स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप!" गी० ४।२

विकृत कर डाला। उसी मधुसूदन की नित्य प्रेरणा से दिव्यमूर्ति श्रीगुरुवर (श्री श्री मधुसूदनजी ओझा) के मानुष शरीर से निमित्तभूत लेखक के द्वारा आज वही लुप्त सिद्धान्त पुनः जिज्ञासुवर्ग के सम्मुख उपस्थित होने जा रहा है, जो कि सिद्धान्त वर्त्तमानयुग की सन्तति के लिए एक सर्वथा नवीन सन्देश होगा।

स्वयम्भू प्रजापति ने जिस सिद्धान्तवाद की स्थापना की, मूलसंहिता ने जिस सिद्धान्तवाद का समर्थन किया, उपनिषदों ने जिसका अपनी संक्षिप्त ज्ञानप्रधान वाणी से विश्लेषण किया, गीता ने उसी संक्षिप्त, किंवा संकुचित सिद्धान्त का विशदीकरण किया, और इसी विशदीकरण से गीताशास्त्र **'गीता'** नाम का पात्र बना, जैसा कि, भाष्यभूमिका के 'बहिरङ्ग परीक्षात्मक' प्रथमखण्ड के **'नाममीमांसा'** प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

वैदिक साहित्य आज विलुप्तप्राय है। सौभाग्य से जो कुछ बच गया है, उसकी रक्षा का भी कोई प्रयास नहीं हो रहा है। सचमुच हमारे लिए यह अत्यन्त लज्जा का विषय है कि, जिस वैदिक साहित्य की आधारशिला पर आर्यप्रजा की प्रतिष्ठा-प्रतिष्ठित है, उसी की आज हमने सर्वथा उपेक्षा कर रक्खी है। इस उपेक्षा के क्या क्या भीषण परिणाम हुए? इस पाप के बदले आर्यप्रजा को कैसे कैसे प्रायश्चित्त करने पड़े? इन सब अप्राकृत चर्चाओं में हम अपने गीताप्रेमी पाठकों का अधिक समय नहीं लेना चाहते। यहां हमें केवल गीता के उस सिद्धान्तवाद की मीमांसा करनी है, जो कि वैदिकसाहित्य की विलुप्ति से, एवं सम्प्रदायाभिनिविष्ट व्याख्याताओं की कृपा से और का और बन गया है।

गीता आज सर्वमान्यग्रन्थ बन रहा है। और बनना भी चाहिए, जब कि गीता का अक्षर अक्षर सर्वमूर्द्धन्य वेदशास्त्र के सिद्धान्तों का ही स्पष्टीकरण कर रहा है। यह खेद का विषय है कि, आज प्रत्येक व्यक्ति केवल गीता के अक्षरों के आधार पर ही गीतातत्त्वों के समन्वय की अनधिकार चेष्टा में प्रवृत्त हो रहा है। उसे यह नहीं भुलाना चाहिए कि, गीताशास्त्र वेदशास्त्र का ही भाषान्तर है। वेदशास्त्र की गुप्त, एवं परम्परासिद्ध परिभाषाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किए विना गीता-सिद्धान्त का अनुगमन कर लेना कठिन ही नहीं, अपितु सर्वथा असम्भव है। उन गीता सिद्धान्तों में से प्रकृत में **'ब्रह्म-कर्म्म'** सिद्धान्त की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। गीता का ब्रह्म-कर्म्मसिद्धान्त वैदिक सिद्धान्तवाद का ही दूसरा रूप है। परन्तु जब तक वैदिक इतरवादों का आलोडन-विलोडन नहीं कर लिया जाता, तब तक गीता के ब्रह्मकर्म्मवाद, किंवा सिद्धान्तवाद का कभी समन्वय नहीं

किया जा सकता। यही कारण था कि, गीता से सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्म-कर्म्म-परीक्षा के आरम्भ में ही हमें वैदिक द्वादशवादों का दिग्दर्शन कराना पड़ा।

हमें यह देख कर कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए कि, जिन ११ वादों का वैदिक साहित्य में उल्लेख हुआ है, किसी न किसी रूप से गीताशास्त्र ने भी उन सब का यत्रतत्र संग्रह करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि, मेरा सिद्धान्त वेदशास्त्र का ही अनुगामी है। क्रमवद्ध निरूपण तो नहीं है, और न इसकी आवश्यकता ही थी। परन्तु उल्लेख अवश्य हुआ है। पूर्व के सिद्धान्तवाद में यह बतलाया जा चुका है कि, सिद्धान्तवाद को स्वीकार कर लेने पर इतर सभी वादों की रक्षा हो जाती है। गीता ने इतरवादों का इसी दृष्टि से समन्वय किया है। 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इस सिद्धान्तवाद को मूलस्तम्भ मानते हुए ही, दूसरे शब्दों में सिद्धान्तवाद के अनुगामी, अतएव प्रामाणिक, अतएवच उपादेय इतरवादों का भी गीता ने उल्लेख किया है। निम्न लिखित कुछ एक वचन ही 'स्थालीपुलाकन्याय' द्वारा यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण होंगे कि, गीताशास्त्र सचमुच में इतरवादों का भी दिग्दर्शन कराता हुआ अपनी वेदमूलता को दृढ़मूल बना रहा है।

१—गीतासम्मत-'विज्ञानेतिवृत्तवादः'

क—ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। (गी० ७।२)
ख—ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्। (गी० ९।१)
ग—ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म-कर्म्मस्वभावजम्। (गी० १८।४२)
घ—पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञाननाशनम्। (गी० ३।४१)
ङ—ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। (गी० ६।८)

२—गीतासम्मत-'सदसद्वादः'

क—नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गी० २।१६)
ख—सदसच्चाहर्जुन! (गी० ९।१९)
ग—ओं-तत्-सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। (गी० १७।२३)
घ—अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। (गी० १३।१२)
ङ—कर्म्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते। (गी० १७।२७)
असदित्युच्यते पार्थ! न च तत् प्रेत्य नो इह। (गी० १७।२८)

३—*गीतासम्मत-'रजोवादः'*

क—रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । (गी० १४।६)
ख—सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्म्मणि भारत ! (गी० १४।९)
ग—रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! (गी० १४।१२)
घ—काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । (गी० ३।३७)

४—*गीतासम्मत-'व्योमवादः'*

क—यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । (गी० १३।३१)
ख—यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । (गी० ९।६)
ग—प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु । (गी० ७।८)
घ—अनन्त देवेश जगन्निवास ! (गी० ११।३७)
ङ—तेजोमयं विश्वमनाद्यनन्तम् (गी० ११।४७)

५—*गीतासम्मत-'अपरवादः'*

क—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।
"अपरेयम्" (गी० ७।४-५) ।
ख—क्षरः सर्वाणि भूतानि । (गी० १५।१६)
ग—नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि । (गी० २।२२)

६—*गीतासम्मत-'आवरणवादः'*

क—यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् । (गी० ३।३८)
ख—आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । (गी० ३।३९)
ग—अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः । (गी० ५।१५)
घ—ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत । (गी० १४।९)
ङ—तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! (गी० १४।१३)
च—सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः । (गी० १८।४८)

७—*गीतासम्मत-'अम्भोवादः'*

क—रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! (गी० ७।८)
ख—पर्जन्यादन्नसम्भवः । (गी० ३।१४)
ग—अहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च । (गी० ९।१९)
घ—तासां ब्रह्म महद्योनिः । (गी० १४।४)

८—*गीतासम्मत-'अमृत-मृत्युवादः'*

क—अमृतं चैव मृत्युश्च (अहम्) । (गी० ९।१९) ,
ख—मृत्युः सर्वहरश्चाहम् । (गी० १०।३४)
ग—यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते । (गी० १३।१२)
घ—विमुक्तोऽमृतमश्नुते । (गी० १४।२०)

९—*गीतासम्मत-'अहोरात्रवादः'*

क—अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके (गी० ८।१८)

ख—भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ॥ (गी० ८।१९)

ग—सहस्रयुगपर्य्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदोजनाः ॥ (गी० ८।१७)

१०—*गीतासम्मत-'दैववादः'*

क—दैवमेवापरे यज्ञम् । (गी० ४।२५)
ख—दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । (गी० ७।१४)
ग—दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । (गी० ९।१३)
घ—यजन्त इह देवताः । (गी० ४।१२)
ङ—देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (गी० ३।११)

११—गीतोक्त-'संशयवादः'

क—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ (गी० १६।७)

ख—असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥ (गी० १६।८)

ग—अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ (गी० १६।१६)

घ—अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ (गी० ४।४०)

ङ—सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः। (गी० ३।३२)

१२—गीतासम्मत-'सिद्धान्तवादः' (स एव गीताराद्धान्तः)

क—ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म-कर्म्मसमाधिना॥ (गी० ४।२४)

ख—कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत्॥ (गी० ४।१८)

ग—ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ (गी० १३।४)

घ—मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ (गी० ९।४)

ङ—प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ (गी० ९।८)

च—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय! जगद्विपरिवर्त्तते॥ (गी० ९।१०)

छ—यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन!
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ (गी० १०।३९)

गीतासम्मत ब्रह्म-कर्म्म परीक्षा—

उपरि निर्दिष्ट गीता के कुछ एक वचनों को देखते हुए पाठकों को यह विश्वास कर लेना पड़ेगा कि, गीता में जिन सिद्धान्तों, एवं उपसिद्धान्तों का यत्र तत्र निरूपण हुआ है, उन सब का मूल आधार 'वेदशास्त्र' ही है। आध्यात्मिक संस्था से सम्बन्ध रखनेवाले उन सभी तत्त्ववादों का गीता ने संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया है, जिनका कि वेदशास्त्र में प्रदर्शन हुआ है। इसी लिए गीता 'सर्वशास्त्रमयी' (वेदशास्त्रमयी) कहलाई है। और इस परिस्थिति को देखते हुए अब पाठक यह भी स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति न करेंगे कि, गीता से सम्बन्ध रखने वाले "ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा" प्रकरण में अवश्य ही गीतानुबन्धी द्वादशवादों का दिग्दर्शन प्रासङ्गिक, एवं सर्वथा उपादेय है।

गीताशास्त्र ने सृष्टिमूल के सम्बन्ध में, दूसरे शब्दों में सृष्टिकारणता के सम्बन्ध में अपना जो सिद्धान्त स्थिर किया है, वही वेदशास्त्र का "सिद्धान्तवाद" है। अथवा यों कह लीजिए कि, वेदशास्त्र ने संक्षेप से जिस 'सिद्धान्तवाद' का उल्लेख किया है, वही गीताशास्त्र का 'सिद्धान्तवाद' है। प्रसङ्गोपात्त इतना और ध्यान रखिए कि, साध्यसम्मत दशवादों में से अमृत-मृत्युवाद, तथा सदसद्वाद ये दो वाद अवश्य ही गीतासिद्धान्त की प्रतिच्छाया से सम्बन्ध रखते हैं, जैसा कि—'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !' इत्यादि वचन से व्यक्त हो रहा है। साध्यसम्मत इन दोनों सिद्धान्तों का संशोधन करते हुए, दोनों का ब्रह्म-कर्म्मद्वयी में अन्तर्भाव करते हुए, साथ ही में ब्रह्म-कर्म्मोभयमूर्त्ति अव्ययतत्त्व पर सब का पर्य्यवसान करते हुए भगवान् ने जो 'ब्रह्मवाद' स्थापित किया है, वही गीतासिद्धान्त है। एवं इस सिद्धान्त का संक्षिप्त स्पष्टीकरण ही 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' है।

सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्ममय है, ब्रह्मरूप है, इसमें तो अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। परन्तु वह ब्रह्म कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? उसके क्या धर्म्म हैं ? इत्यादि प्रश्न अवश्य ही परीक्ष्यकोटि में समाविष्ट हैं। इन्हीं सब प्रश्नों का समाधान करता हुआ निम्न लिखित गीता-सिद्धान्त पाठकों के सम्मुख आता है—

आधिदैविक-"ब्रह्म"

१—गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

—गी० ९।१८

आध्यात्मिकं ब्रह्म—

२—उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥
(गी० १३।२२)

अपने [१] आधिदैविक रूप में १२ लक्षणों से, एवं आध्यात्मिकरूप में ६ लक्षणों से युक्त, **'योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्'** इत्यादि सिद्धान्तों के अनुसार दोनों संस्थाओं में अभिन्नरूप से व्याप्त, 'अज'—'पर' 'उत्तमपुरुष' इत्यादि अनेक नामों से उपवर्णित 'अव्यय' तत्त्व ही विश्व का मूल कारण है। इसी मूल कारण के आधार पर इतर कारणवाद प्रतिष्ठित हैं। विश्वमूलभूत उक्त द्वादश लक्षण, महामायी, अश्वत्थेश्वर इस ईश्वराव्ययब्रह्म की 'आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्' ये पांच कलाएं मानीं गई हैं, जिनका कि भूमिका द्वितीयखण्ड के 'क' विभाग में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है—(देखिए गी० वि० भा० भूमिका २ खण्ड, आत्मपरीक्षा, सगुणात्मनिरुक्तिप्रकरण पृष्ठ सं० २२६)।

अव्ययब्रह्म की इन पांच कलाओं का 'विद्या-वीर्य्य' इन दो भागों में समन्वय किया जा सकता है। इतना और जान लेना चाहिए कि, कहीं कहीं 'विद्या' के स्थान में 'ज्योति' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। मनोमय विज्ञानगर्भित आनन्द को 'विद्या' कहा जाता है, एवं यही विद्याभाग 'ब्रह्म' है। विश्व में इसी का 'ज्ञान' रूप से विकास होता है। मनोमय प्राणगर्भितावाक् को 'वीर्य्य' माना गया है, एवं यही वीर्य्यभाग 'कर्म्म' है। विश्व में इसी का 'क्रिया' रूप से विकास होता है।

ज्ञानलक्षण, आनन्द-विज्ञान-मनोमय 'ब्रह्म' भाग उस अव्ययब्रह्म का 'विद्याधातु' है, एवं क्रियालक्षण, मनः-प्राण-वाङ्मय 'कर्म्म' भाग उसी अव्ययब्रह्म का 'वीर्य्यधातु' है। दोनों के समन्वितरूप का ही नाम "अव्ययब्रह्म" है। और इसी समन्वितरूप से अव्ययब्रह्म ज्ञान-क्रियामय विश्व का मूलकारण बनता है। अव्ययब्रह्म के इन दोनों रूपों में से विद्याधातु सृष्टि-ग्रन्थियों का विमोक करता हुआ (खोलता हुआ) 'मुमुक्षा' (मुक्तिकामना) से सम्बन्ध रखता

---

१ ईश्वर 'पूर्णेन्द्र' कहलाता है, एवं जीव को 'अर्द्धेन्द्र' कहा जाता है। पूर्ण आकाश मण्डल ईश्वरीय विवर्त्त है, अर्द्ध इस आकाशकटाह जीवविवर्त्त है। इसी पूर्ण-अर्द्धभावभेद से ईश्वराव्यय के १२ लक्षण हैं, एवं जीवाव्यय के ६ लक्षण हैं।

है, एवं वीर्य्यधातु अपने सहज सिद्ध बलात्मक संसर्ग धर्म्म की प्रेरणा से उत्तरोत्तर ग्रन्थियों का प्रेरक बनता हुआ (गांठ लगाता हुआ) 'सिसृक्षा' (बन्धन कामना) से सम्बन्ध रखता है। सर्वथा विरुद्ध कामनाओं से सम्बन्ध रखनेवाले, ज्ञान-क्रिया के क्रमिक उत्तेजक, सर्वमूलभूत, परस्पर में अविनाभूत इन दोनों धातुओं के समुचितरूप को ही 'अव्ययात्मा', किंवा 'अव्यय-ब्रह्म' कहा जाता है।

> 'ब्रह्म वेदं सर्वम्'—'सर्व-खल्विदं ब्रह्म'—'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म'—'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' – 'अव्ययस्य रूपे किमपि स्विदे-कम्'—ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्'—'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः'—'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः'—'तदेवामृतमुच्यते'

इत्यादि श्रुति स्मृतिएं सर्वालम्बन, द्विधातुमूर्त्ति इसी अव्ययब्रह्म का यशोगान कर रहीं हैं।

महामाया, और महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित रहनेवाली असंख्य योगमायाओं के सम्बन्ध से (सृष्टिदशा में) इसी अव्ययब्रह्म के 'ईश्वर-जीव' भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं, जैसा कि पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। 'ब्रह्म' शब्द निरुपाधिक बनता हुआ जहां सर्वथा निरपेक्ष है, वहाँ 'आत्मा' शब्द सोपाधिक बनता हुआ नित्य सापेक्ष माना गया है। निरपेक्ष 'ब्रह्म' शब्द सुनने से 'किसका ब्रह्म' यह अपेक्षा नहीं होती। परन्तु 'आत्मा' शब्द सुनते ही 'किसका आत्मा' यह अपेक्षा हो पड़ती है। सृष्टि से पहिले वही तत्त्व सर्वथा निरुपाधिक रहता हुआ, अतएव निरपेक्ष बनता हुआ निरपेक्ष 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत होता है। परन्तु सृष्टिदशा में आते ही सोपाधिक बन कर वही 'ब्रह्म' अपनी ब्रह्मोपाधि को छोड़ता हुआ 'आत्मा'—'परमात्मा'—'जगदीश्वर'—'विश्वेश्वर'—'महेश्वर'—'जीव' इत्यादि सोपाधिक सापेक्ष नामों से व्यवहृत होने लगता है।

आत्मलक्षण सोपाधिक अव्यय कभी बिना शरीर के नहीं रहता। यह ठीक है कि, शरीर में रहता हुआ भी यह अपनी स्वाभाविक असंगवृत्ति के कारण शारीर पाप्माओं से लिप्त नहीं होता[1]। तथापि रहना पड़ता है, इसे किसी न किसी शरीर-सीमा के भीतर ही। फिर वह

१—अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥ (गी० १३।३१)

शरीर चाहे 'महतो-महीयान्' (बड़े से बड़ा) हो, अथवा 'अणो-रणीयान्' (छोटे से छोटा) हो। निरपेक्ष ब्रह्म को सापेक्ष आत्मस्वरूप में परिणत करनेवाली वही उपाधि 'माया' नाम से प्रसिद्ध है। इसी माया के आगे जाकर 'महामाया'-'योगमाया' ये दो स्वरूप हो जाते हैं। महामाया पाञ्चभौतिक विश्व की सीमा है, योगमाया इस महामायात्मक विश्व के गर्भ में रहनेवाले छोटे बड़े पाञ्चभौतिक पिण्डों की सीमा है। महामाया एक है, योगमाया असंख्य हैं। अपेक्षाभावसम्पादक इन दो उपाधियों से ही वह सोपाधिक आत्मा ईश्वर-जीव इन दो भागों में विभक्त होता है। महामायावच्छिन्न, महामायी आत्मा 'ईश्वर' है, एवं एक महाविश्व में यह एक ही अधिष्ठित है। योगमायावच्छिन्न, योगमायी आत्मा 'जीव' है, एवं महाविश्व के गर्भ में योगमायाओं के आनन्त्य के कारण ये अनन्त हैं, असंख्य हैं।

महामाया-योगमायारूप उपाधिभावों के गर्भ मे चूंकि सोपाधिक आत्मा प्रविष्ट रहता है, अतएव 'विशत्यस्मिन्-आत्मा, विशति यत्रात्मा तद्विश्वम्' इस निर्वचन से इन उपाधि भावों को 'विश्व' कहा जाता है। आत्मा चूंकि दो हैं, अतएव तत्प्रतिष्ठारूप विश्व के भी दो ही भेद हो जाते हैं। यही विश्व इन आत्माओं का शरीर है। "किसका आत्मा" इस अपेक्षा की पूर्त्ति इसी शरीर से होती है। आकाश-अनल-अनिल-चन्द्र-पृथिव्यादिरूप महाविश्व ईश्वराव्यय, किंवा ईश्वरात्मा का 'शरीर' है, एवं यही शरीर इस ईश्वरात्मा का 'अन्तर्जगत्' है, जो कि जीवात्मा के लिए बहिर्जगत् बनता है। सप्तधातुमय, पाञ्चभौतिक क्षुद्र शरीर जीवाव्यय, किंवा जीवात्मा का 'विश्व' है, एवं यही विश्व जीवात्मा का 'अन्तर्जगत्' माना गया है, जिसकी कि प्रतिष्ठा ईश्वरीय अन्तर्जगत् बना हुआ है। इसी सम्बन्ध मे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, ईश्वर के अन्तर्जगत्रूप शरीर (महाविश्व) के गर्भ में तो सम्पूर्ण जीववर्ग अवश्य प्रतिष्ठित हैं, परन्तु जीवों के अन्तर्जगत्रूप विश्वों (शरीरों) मे वह ईश्वरतत्त्व प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

पारस्परिक विरोध—

बात कुछ अटपटी सी, साथ ही में अप्रामाणिक-सी प्रतीत होती है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति' (गी० १८।६१) इस गीता सिद्धान्त के अनुसार ईश्वरात्मा सभी प्राणियों के हृदय में प्रतिष्ठित रहता हुआ सब का सञ्चालन कर रहा है। जब वह सब में प्रतिष्ठित है, तो ऐसी दशा में उक्त सिद्धान्त कैसे प्रामाणिक एवं सुव्यवस्थित कहा जा सकता है। जीव का विश्व शरीर है। हम कहते हैं— इस में ईश्वर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, उधर गीता कहती है, ईश्वर इनमें प्रतिष्ठित रहता है। बतलाइए, क्या स्थिर किया जाय ?

गीता से ही पूँछ देखिए, देखें वह इस सम्बन्ध में क्या स्थिर करती है ? व्याप्य-व्यापक-भावों में कैसा सम्बन्ध रहता है; पहिले यही विचार कीजिए। उदाहरण के लिए आकाश और घट-पट-मठादि भौतिक पदार्थों को ही लीजिए। आकाश व्यापक है, घटादि पदार्थ आकाश के गर्भ में रहते हुए व्याप्य हैं। वह भाव, वह तत्त्व, वह पदार्थ, उन भावों, तत्त्वों एवं पदार्थों की अपेक्षा व्यापक' कहा जायगा, जिनमें कि जो भावादि प्रतिष्ठित रहेंगे। एवं इन भावादि के गर्भ में प्रतिष्ठित रहनेवाले, अतएव उन भावादि की अपेक्षा अल्प सीमा रखनेवाले भावादि उन व्यापक भावादि की अपेक्षा 'व्याप्य' कहलाएँगे। चूकि आकाशरूप महातत्त्व के गर्भ में शेष चारों भूत, एवं भूत-भौतिक जड़-चेतन पदार्थमात्र प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इन्हें आकाश की अपेक्षा 'व्याप्य' कहा जायगा, तथा आकाश को इनकी अपेक्षा 'व्यापक' माना जायगा।

सर्वव्यापक आकाश अपने गर्भीभूत पदार्थों में प्रतिष्ठित न हो, यह बात तो नहीं है। सभी पदार्थों में आकाश विद्यमान है। बाहर-भीतर सब ओर व्यापक आकाश व्याप्त हो रहा है। इसी आधार पर 'घटाकाश-मठाकाश-शरीराकाश' इत्यादि व्यवहार प्रतिष्ठित माने गए हैं। और इस प्रत्यक्षानुभूत परिस्थिति के आधार पर तो हमें यही कहना पड़ता है कि, व्यापक आकाश सब व्याप्य पदार्थों में प्रतिष्ठित है, एवं सब व्याप्य पदार्थ व्यापक आकाश के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं।

वास्तव में घट-पटादि उपाधियों की अपेक्षा से उक्त कथन थोड़ी देर के लिए प्रामाणिक बन जाता है। थोड़ी देर के लिए ही क्यों, उपाधि-दृष्टि से तो सदा ही "आकाश घट पटादि में प्रतिष्ठित है" यह कथन प्रामाणिक माना जायगा। परन्तु उपाधि छोड़ कर विचार करने से पाठकों को विदित होगा कि, घट-पटादि व्याप्यों में व्यापक निरुपाधिक कथमपि नहीं समा सकता। यही क्यों, केवल उपाधि-दृष्टि से भी यही कहना पड़ेगा। "जो महा आकाश सातों भुवनों तक अपनी व्याप्ति रखता है, वह परमाकाश एक छोटे से मृण्मय घट मे समा गया" यह बात कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा। दस गज लम्बा लौहदण्ड यदि एक गज लम्बी लौहनलिका में समा सकता है, तो आकाश भी घटगर्भ में समा सकता है। छोटी वस्तु बड़े दायरे वाली वस्तु में अवश्य ही समा सकती है, परन्तु बड़ी वस्तु अपने से छोटे दायरे की वस्तु में कैसे समा सकती है। छिपकली अवश्य ही मक्खी निगल सकती है, परन्तु मक्खी छिपकली को अपने उदराकाश में रख ले, यह सर्वथा असम्भव है। व्याप्यवस्तु अपने से व्यापक के गर्भ में अवश्य ही समा सकती है, परन्तु व्यापकवस्तु अपने से व्याप्यवस्तु के

उदर में कैसे समा सकती है। इसी सर्वानुभूत प्रत्यभिज्ञा के आधार पर हमें कहना पड़ता है कि,—'व्यापक आकाश में तो घट-पटादि सब व्याप्य पदार्थ प्रतिष्ठित हैं, परन्तु व्याप्य घट-पटादि के गर्भ में व्यापक आकाश कथमपि प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

उक्त दृष्टान्त के आधार पर ही ईश्वर-जीवसर्गों का विचार कीजिए। ईश्वर सर्वव्यापक है, 'आब्रह्मभुवनाल्लोकप्रतिष्ठ' है। इधर जीवसंस्था की व्याप्ति अधिक से अधिक अपने पाञ्चभौतिक शरीर तक है। सभी जीवशरीर व्यापक ईश्वर के गर्भ में अवश्य ही प्रतिष्ठित हैं। परन्तु वह सर्वव्यापक, महतोमहीयान् ईश्वर इन व्याप्य जीवशरीरों में समा जाय, यह सर्वथा असम्भव है। फलतः इस सम्बन्ध में हमारा पूर्वोक्त वही सिद्धान्त-सुरक्षित रह जाता है। अवश्य ही "ये सब उसमें अवश्य हैं, परन्तु वह इनमें नहीं है" यही सिद्धान्त स्थिर रह जाता है। देखिए, गीता इस सम्बन्ध में क्या स्थिर कर रही है—

१—मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

—गी० ९।४

२—न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्नच भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

—गी० ९।५

३—ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि 'नत्वहं तेषु ते मयि'॥

—गी० ७।१२

४—यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

—गी० ९।६

"मैंने अपने अव्यक्त रूप से इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का विस्तार (निर्म्माण) किया है। सम्पूर्ण भूत मुझ में प्रतिष्ठित हैं, परन्तु मैं उनमें प्रतिष्ठित नहीं हूं (१)। (वास्तव में देखा जाय तो) भूत मुझ में (भी प्रतिष्ठित) नहीं है। हे अर्जुन! मेरे योग का (सम्बन्ध का) चमत्कार

देख। मैं (अपने अश से) भूतों का भरण-पोषण करनेवाला हू, परन्तु भूतों में प्रतिष्ठित नहीं हू। मेरा आत्मा (अक्षर) भूतभावन (भौतिक सृष्टि का निमित्त कारण) है (२)। विश्व मे जो भी सात्त्विक, राजस, तथा तामस पदार्थ हैं, उन सब को मुझसे ही उत्पन्न हुआ जान। (परन्तु यह स्मरण रख) 'मै उनमे नही हूं, वे मुझ मे है' (३)। आकाश मे सदा बहने वाला (अतएव 'सदागति' नाम से प्रसिद्ध) (महाव्याप्ति रखने से) 'महान्' लक्षण वायु जैसे आकाश मे प्रतिष्ठित रहता है, बस ठीक इसी भाति सम्पूर्ण भूतो को मुझ मे प्रतिष्ठित समझ (४)।"

इस प्रकार उक्त गीतावचन स्पष्ट शब्दो मे—'वह इनमे अवश्य है, ये उस मे नही हैं' इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहे है। ठीक है, मान लिया। परन्तु गीता के उन स्थलों का क्या समाधान होगा, जो स्पष्ट शब्दो मे यह भी घोषणा कर रहे है कि, "वह इन मे हैं, ये उस में हैं"। सिद्धान्त दोनों हीं गीता के, दोनों में परस्पर विरोध की प्रतीति, ऐसी दशा मे ऐसे कौन से उपाय का आश्रय लिया जाय, जिस से इस "उभयत पाशारज्जू" से पीछा छूटे। पीछा पीछे छुडाइए, पहिले गीता के उन विरोधी वचनों पर दृष्टि डालिए—

१—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

—गी० १८।६१

२—यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

—गी० ६।३०

३—सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते॥

—गी० ६।३१

४—समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

—गी० १३।२७

५—समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

—गी० १३।२८

"हे अर्जुन ! (अपने अपने नियत कर्म्मरूप) यन्त्रों में नियन्त्रित सम्पूर्ण भूतों को अपनी माया (योगमाया) से (यन्त्रों में नियुक्त रखता हुआ) ईश्वर (इन) सब भूतों के हृदय में प्रतिष्ठित है (१) । जो (बुद्धियोगी) मुझको सब में, एवं सबको मुझमें (प्रतिष्ठित) देखता है, उस (अन्योऽन्यद्रष्टा) से मैं (कभी) परोक्ष नहीं रहता, एवं वह मुझसे (कभी) परोक्ष नहीं रहता (२) । (ईश्वर और जीव में अभेदलक्षण) एकत्व समझता हुआ जो सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित (देखता हुआ अभेदभाव से) मुझे भजता है, (अपने शास्त्रसिद्ध पारलौकिक, एवं लोकसंग्राहक उभयविध नियत कर्म्मों में) रहता हुआ भी (सदा कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहता हुआ भी) वह योगी (अद्वैतोपासना के प्रभाव से) मुझ में ही विद्यमान है (३) । जो (तत्त्व-द्रष्टा विद्वान्) सम्पूर्ण भूतों में परमेश्वर को समरूप से प्रतिष्ठित देखता है, विनाशी भूतों में अविनाशी (ईश्वर) को देखता है, वही (वास्तव में) देखता है । (उसी का देखना देखना है) (४) । सर्वत्र समरूप से प्रतिष्ठित ईश्वर को देखता हुआ जो (बुद्धियोगी) अपने आत्मा (जीवात्मा) से आत्मा का (ईश्वर का) नाश नहीं करता (भेदलक्षण मृत्यु के आवरण से ईश्वरतत्त्व को आवृत नहीं करता) । ऐसी ही (सम) दशा में वह परा (अव्यय) गति को प्राप्त होता है (५)" ।

इस प्रकार उक्त गीता वचन स्पष्ट शब्दों में 'वह इन में है, ये उसमें हैं' इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं ।

विरोध-परिहार— इष्टापत्तिः, आपत्ति इष्ट (वाञ्छनीय) है, और इस लिए इष्ट है कि, ये गीतावचन केवल अंशांशीभाव को लेकर ही उपस्थित हुए हैं । यह ठीक है कि, सम्पूर्ण आकाश घट में नहीं समा सकता । परन्तु आकाश के जिस प्रदेश में घट प्रतिष्ठित है, उतना आकाश तो घटगर्भ में आही सकता है । इसी प्रकार यह तो सच है कि, व्यापक ईश्वर व्याप्य जीवसंस्थाओं के गर्भ में नहीं समा सकता । परन्तु व्यापक ईश्वर के जिस (सत्तात्मक) प्रदेश में जीवसंस्था प्रतिष्ठित है, उस ईश्वरांशसत्ता से जीवसंस्था को कैसे वञ्चित किया जा सकता है । अंशरूप से अवश्य ही वह इनमें प्रतिष्ठित माना जा सकता है, एवं इसी अंशदृष्टि से 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' इत्यादि वचन उद्धृत हुए हैं । साथ ही में यह भी निर्विवाद है कि, अंशी की दृष्टि से उसे कभी इनमें प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता । इसी अभिप्राय से— 'नत्वहं तेषु ते मयि' इत्यादि पूर्व वचन उद्धृत हुए हैं ।

अंशी की दृष्टि से विचार करने पर तो हमें अन्त में यह और कहना पड़ेगा कि, "ये भी उसमें नहीं हैं"। वह व्यापक जैसे इनके गर्भ मे नहीं समा सकता, एवमेव ये छोटे छोटे व्याप्य पदार्थ भला उसे कैसे आवृत कर सकते हैं। पूरे आकाशगर्भ को घट रोक ले, यह जैसे असम्भव है, एवमेव व्यापक ईश्वर-धरातल को व्याप्य जीवसंस्थाएं रोक ले, यह भी असम्भव ही है। इन सब जटिलताओं को दूर करने का एकमात्र उपाय है—उसे बाहर, भीतर, दूर, नजदीक सब कुछ समझना, और सब कुछ समझते हुए भी कुछ न समझना (अनिर्वचनीय मानना)। इसी वास्तविक 'समझ' का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

१—बहिरन्तश्च[1] भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
—गी० १३।१५।

२—अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
—गी० १३।१६।

उक्त विचारधारा से प्रकृत मे हमे यही कहना था कि, 'ईश्वर-जीव' ये दो भाव "भातिभाव" से ही सम्बन्ध रखते है। तत्त्वतः दोनों 'एक' हैं। तभी तो 'एक ही ब्रह्म के ईश्वर-जीव ये दो विवर्त्त हैं' यह उक्त सिद्धान्त समन्वित होता है।

ईश्वरवाचक प्रणव—

एवं इसी समन्वयभाव के स्पष्टीकरण के लिए सर्वथा अप्रासङ्गिक होते हुए भी उक्त विचाराधारा का अनुगमन करना पड़ा है। अब पुनः प्रकृत विषयकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

हम कह रहे थे कि, 'महामाया' तथा 'योगमाया' नाम की दो उपाधियों के सम्बन्ध से एक-सत्तालक्षण अव्ययब्रह्म के ईश्वरात्मा-जीवात्मा ये दो रूप हो जाते है। दोनों अपनी अपेक्षा को दूर करने के लिए सशरीरी बने हुए है। महाविश्व ईश्वरात्मा का विश्व है, एवं क्षुद्रशरीर जीवात्मा का विश्व है। इस कथन से यह निष्कर्ष निकला कि, उस एक के— 'ईश्वर-जीव-जगत् (विश्व)' ये तीन विवर्त्त हैं।

---

[1] तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे, तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥ (ईशोपनिषत् ५)।

संचरदशा (सृष्टिदशा) में वही अव्यय पूर्वप्रतिपादित 'मनः-प्राण-वाङ्मय' सिसृक्षानुगत अपने "वीर्य्य" धातु को आगे कर 'ईश्वर-जीव-जगत्' इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है, एवं प्रतिसंचरदशा (लयदशा) में वही अव्यय पूर्वप्रतिपादित 'आनन्द-विज्ञान-मनोमय' मुमुक्षानुगत अपने "विद्या" किंवा "ज्योति" धातु को आगे कर अपने प्रातिस्विक 'एकरूप' में आ जाता है। 'त्रयं सदेकमयमात्मा, आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्' (शत० ब्रा० १४।४।४।३) यह वाजसनेयश्रुति इसी संचर-प्रतिसंचरद्वयी का दिग्दर्शन करा रही है।

"सृष्टिदशात्मक अव्यय"—यह ब्रह्म का एक रूप हुआ। एवं 'सृष्ट्यभावात्मक अव्यय' यह ब्रह्म का एक रूप हुआ। सृष्टिरूप अव्यय 'विश्वरूप' कहलाएगा, एवं सृष्टिदशा से पहिले का अव्यय 'विश्वातीत' कहलाएगा। इस दृष्टि से एक ही ब्रह्म के 'विश्वातीत–विश्वरूप' ये दो स्थूल विभाग माने जायंगे। विश्वातीत ब्रह्म ही 'परात्पर' कहा जायगा, एवं इसी के लिए 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह सिद्धान्त स्थापित होगा। 'विश्वरूप' आत्मा (उपाधि-भेद से—भिन्न भिन्न संस्थाओं की अपेक्षा से) 'ईश्वर-जीव-जगत्' इन तीन नामों से व्यवहृत होगा, एवं त्रिमूर्त्तिरूप इसी विश्वमूर्त्ति के सम्बन्ध में—'आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्' यह राद्धान्त प्रतिष्ठित होगा। इस प्रकार फलिताश में विश्वातीत-विश्वरूप इन दो विवर्त्तों के आगे जाकर 'परात्पर, ईश्वर, जीव, जगत्' ये चार विवर्त्त बन जायंगे।

शब्दब्रह्मलक्षण प्रणवविज्ञान के अनुसार परात्पर 'अर्द्धमात्रा' कहलायेगा, ईश्वर 'अकार' माना जायगा, जीव 'उकार' कहा जायगा, एवं जगत् को 'मकार' कहना उचित होगा। अर्द्धमात्रा, अकार, उकार, मकार इन चारों की समष्टि ही 'ओम्' इत्याकारक 'प्रणवब्रह्म' कहलायेगी, और यही प्रणवलक्षण शब्दब्रह्म हमारे चरितनायक परब्रह्म का वाचक माना जायगा, जैसा कि—'तस्य वाचकः प्रणवः' (पातञ्जलयोगसू० १।२७) इत्यादि योग-सिद्धान्त से स्पष्ट है।

विश्वातीतः	परात्परः—	अर्द्धमात्रा—	अनुचार्य्या	"ओम्"—इत्येवं ध्यायथ आत्मानम्"
विश्वरूपः	ईश्वरः—	अकारः—	"अ"	
	जीवः—	उकारः—	"उ"	
	जगत्—	मकारः—	"म्"	

उक्त चार रूपों के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता, अतएव चारों की समष्टिरूप इस 'ब्रह्म' को ब्राह्मणग्रन्थों मे 'सर्वब्रह्म' नाम से, एवं उपनिषद्ग्रन्थों में 'चतुष्पाद्ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है। महर्षि 'शाङ्खायन' ने चतुष्पर्व इसी सर्वब्रह्म के आधार पर अपने 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' (शाङ्खा० ब्रा० २।१।१) इस अनुगम वचन का समर्थन किया है।

'जैसा बाप वैसा बेटा' किंवदन्ती प्रसिद्ध है। जैसा मूल, वैसा तूल। जैसा कारण, वैसा कार्य्य। मूलब्रह्म के विद्या-वीर्य्य नामक दो धातु पूर्व में बतलाए गए है। एवं विश्वातीत-तत्त्व को ही मूलब्रह्म कहा है। जब मूलब्रह्म में दो धातु है, तो ईश्वर जीव-जगत्-लक्षण तूल-ब्रह्म में भी अवश्य ही दोनों धातुओं की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। तूलब्रह्म चूकि तीन हैं, अतः प्रत्येक तूलब्रह्म मे विद्या-वीर्य्य दोनों मूलधातुओं की प्रतिष्ठा माननी पड़ेगी। इसी आधार पर हमें कहना पड़ेगा कि, परात्पर नामक मूलब्रह्म की तरह ईश्वर भी विद्या-वीर्य्यरूप है, जीव भी विद्या-वीर्य्यरूप है, एवं जगत् भी विद्या-वीर्य्यरूप है। विद्या को 'ब्रह्म' कहा गया है, एवं वीर्य्य को 'कर्म्म' कहा गया है। फलतः 'विद्या-वीर्य्यरूप' का अर्थ होगा—'ब्रह्म-कर्म्मरूप' किंवा 'ब्रह्म-कर्म्ममय'। ब्रह्म 'ज्ञान' है, कर्म्म 'क्रिया' है। ऐसी दशा में 'ब्रह्म-कर्म्मरूप' का निष्कर्ष निकलेगा—'ज्ञान-क्रियारूप', किंवा 'ज्ञान-क्रियामय'। और "सृष्टिप्रपञ्च का मूलकारण क्या है ? इस प्रश्न का समाधान ढूढने पर अन्तिम निष्कर्ष निकलेगा—"ब्रह्म-कर्म्म-रूप द्वैतभाव।" सचमुच सृष्टिकारणन्वेषण के फलांश में हमें (भातिसिद्ध) द्वैतभाव पर ही विश्राम करना पड़ता है।

यह तो हुई शास्त्रीय दृष्टि। अब प्रत्यक्ष दृष्टि (अनुभव) से भी सर्वसिद्ध इस 'द्वैतभाव' की (ब्रह्म-कर्म्म की) परीक्षा कर लीजिए। 'अहं' (मैं) नाम से प्रसिद्ध आत्मा की गति (गमन, व्याप्ति, प्रसार, व्यापार) 'किञ्चिदहं जानामि, अथ च किञ्चिदहं करोमि, किञ्चिन्मया ज्ञायते, अथ च किञ्चिन्मया क्रियते' (मैं कुछ जानता हूं, और मैं कुछ करता हूं,—कुछ मुझ से जाना जाता है, एवं मुझ से कुछ किया जाता है) इन दो भावों में ही व्याप्त देखी जाती है। आत्ममण्डल में इन दो अनुभवों के अतिरिक्त तीसरे अनुभव का सर्वथा अभाव है। समस्त लौकिक, एवं पारलौकिक प्रपञ्च 'जानने' तथा 'करने' मे ही समाप्त हैं। साथ साथ हम यह भी अनुभव कर रहे हैं कि, यह 'जानना' और 'करना' (ज्ञान और क्रिया) दोनों भाव सर्वथा विजातीय हैं। दोनों का स्वरूप एक दूसरे से अणुमात्र भी नहीं मिल रहा। इसी विजातीयता से सम्बन्ध रखने

द्वैत-परीक्षा—

वाले कुछ एक वाक्य यहां उद्धृत किए जाते हैं। जिस के द्वारा दोनों की विजातीयता सब तरह सिद्ध, अतएव सर्वात्मना मान्य बन रही है।

यह तो एक मानी हुई बात है कि, जो काम (कर्म्म) जान बूझ कर (ज्ञानपूर्वक) किया जाता है, उसी में सफलता मिलती है। यद्यपि यह ठीक है कि, कोई भी कर्म्म विना ज्ञान के नहीं होता। कर्म्म का मूल कामना है, एवं कामना का मूलप्रभव (उत्पत्तिस्थान) ज्ञान है। यह ज्ञानतत्त्व आत्मा, महत्, बुद्धि, मन, इन्द्रियवर्ग आदि भेद से अनेक भागों में विभक्त हो रहा है। आगे जाकर इन्हीं के अवान्तर असंख्य भेद-उपभेद हो जाते हैं। किसी कर्म्म में आत्मज्ञान का सहयोग रहता है, कोई कर्म्म महत्-ज्ञान से सञ्चालित है, किसी की बौद्धज्ञान से प्रवृत्ति होती है, किसी कर्म्म में मानस ज्ञान की ही प्रधानता है, एवं कई कर्म्म ऐन्द्रियक ज्ञान पर ही विश्राम करते देखे गए हैं।

"अमुक व्यक्ति ने विना समझे (विना ज्ञान के) कर्म्म किया, इसी लिए वह अपने काम में सफल न हो सका" इस व्यवहारवाक्य में यद्यपि विना ज्ञान के सहयोग के भी कर्म्म की प्रवृत्ति सिद्ध हो रही है। तथापि विज्ञानदृष्टि से इस सिद्धि का कोई महत्त्व नहीं रहता। क्योंकि विना ज्ञान के कर्म्मप्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है। उक्त व्यवहारवाक्य का तात्पर्य्य यही है कि, कर्म्मकर्त्ता ने अपने कर्म्म मे केवल मानस-ज्ञान का ही आश्रय ले रक्खा है। मन चूंकि इन्द्रियों का क्रीतदास है, इन्द्रिएं चूंकि स्वभावतः अल्पज्ञानवर्त्ती हैं, अतएव ऐसी इन्द्रियों से युक्त मन में 'इदमित्थमेव' इत्याकारक निश्चय ज्ञान का अभाव रहता है। मन विचार-विमर्श में असमर्थ है। और ऐसा मानसज्ञान कर्म्मजाल के उच्चावच परिवर्त्तनों के गुप्त रहस्यों को, परिणामविशेषों को जानने मे असमर्थ होता हुआ कर्म्म को निष्फल बना देता है। बस ऐसे मानसज्ञानसहकृतकर्म्म के सम्बन्ध में ही उक्त व्यवहारवाक्य का प्रयोग हुआ है। समझ (विचार-विवेक-इत्थंभूतात्मक निश्चयज्ञान) बुद्धि का धर्म्म है। बौद्ध-ज्ञान को अपना आश्रय बना कर ही मानसज्ञान ऐन्द्रियकज्ञान द्वारा कर्म्मविशेषों में प्रवृत्त होता हुआ कालान्तर में कर्म्मसफलता का कारण बनता है।

"अमुक व्यक्ति ने अज्ञान से कर्म्म कर डाला" इस वाक्य में भी तथ्य नहीं है। अज्ञान का अर्थ है 'अज्ञानावृतज्ञान'। जो कि अज्ञानावृतज्ञान गीता की परिभाषा में "मोह"[1]

---

१ अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। (गी० ५।१५।)

नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मानसज्ञानजनित अविवेक से वैषयिक तामस संस्कारों का लेप हो जाता है। जिस प्रकार रहता हुआ भी सौर प्रकाश मेघावरण से हमारी दृष्टि में नहीं आता, एवमेव संस्कारावरणों से रहता हुआ भी बौद्धज्ञान विवेक का उत्तेजक नहीं बनता। ऐसी 'मोहकलिला' बुद्धि कभी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं कर सकती। और इसी मोहयुक्त बौद्धज्ञान को (जो कि मन के शासन मे आकर, मन पर जमा रहनेवाले संस्कारलेपों के अनुग्रह से अपना स्वाभाविक प्रकाश दबवा चुका है) 'अज्ञान' कहा जाता है।

लोकभापा मे अज्ञानी को 'मूर्ख' कहा जाता है। 'मुह्यति-इति मूर्खः' ही मूर्ख शब्द का निर्वचन है। वैचित्यार्थक 'मुह' ('मुह'-वैचित्ये, दिवादि) धातु से, 'ख' प्रत्यय कर, 'मुह' धातु को 'मूर' आदेश कर 'मूर्ख' शब्द सिद्ध किया करते हैं। अविवेक ही वैचित्यभाव है। अविवेकी (जिसका बौद्धज्ञान उक्त आवरण से विवेकशून्य हो गया है) ही मूर्ख' है। और यही व्याकरणशास्त्रसिद्ध शब्दार्थशैली है। व्याकरणशास्त्र की अकृत्स्नता को कृत्स्न बनानेवाली निरुक्तशैली से यदि 'मूर्ख' शब्द का विचार किया जाता है तो, दूसरा ही तात्पर्य्य निकलता है। 'मुह' का अर्थ तो वैचित्य, किंवा अविवेक है ही। 'ख' का अर्थ है—'आकाश'। वैचित्य और आकाश दोनों की समष्टि 'मुह'—'ख' है। मुह को 'मूर' कर देने से 'मूर्ख' बना है। पागलपन और आकाश दोनों वृत्तियों का जिस व्यक्ति में समावेश होगा, वही मुह, किंवा मूर और ख से युक्त रहता हुआ 'मूर्ख' कहलाएगा। आकाश का अर्थ 'शून्य' है। जब किसी कर्म्म मे कोई तत्त्व नहीं रहता, कर्म्म जब निरर्थक, निष्फल हो जाता है, तभी हम उसके लिए—"अरे! कुछ तत्व नहीं, शून्यं शून्यं है, नि.सार है" यह बोला करते हैं। जिस व्यक्ति का बौद्धजगत् आवृत है, वह विचित्तता का अनुगामी बनता हुआ विवेकशून्य है। ऐसे व्यक्ति का कर्म्म अवश्य ही 'ख' रूप (शून्य-निरर्थक) है। "विवेकाभावपूर्वक कृतकर्म्म शून्य है, निष्फल है", एवं "इस वैचित्य का अनुगामी व्यक्ति 'ख' भाव से युक्त है" इन्हीं दोनों परिस्थितियों को व्यक्त करने के लिए अविवेकी को "मूर्ख" कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जिसमें विवेक नहीं रहता, वह बुद्धिशून्य एक पागल जैसा बना रहता है। पागल मनुष्य निरुद्देश्य इधर उधर शून्य आकाश में ताका करता है। इधर पागलसम अविवेकी भी अपने प्रारम्भ किए कर्म्म मे अव्यवस्था करता हुआ अपनी गलतियों पर हक्का-बक्कासा बनता हुआ इधर उधर देखा करता है। इस लिए भी इसे मूर्ख कहना अन्वर्थ बनता है। अपिच-बुद्धिशून्य मनुष्य कोई योग्यता नहीं रखता। यदि किसी संदिग्ध कर्म्म, किंवा संदिग्ध विषय पर इसका कोई

मत (राय) मांगा जाता है तो, यह इसमें अपने आपको असमर्थ पाता हुआ आकाश की ओर देखने लगता है। इसलिए भी इसे मूर्ख कहना "यथा नाम, तथा गुणः" होता है।

प्रकृत में इस प्रपञ्च से कहना केवल यही है कि, ज्ञान-कर्म्म दोनों विरुद्ध होते हुए भी मिले रहते हैं। कहीं शुद्ध ज्ञान से कर्म्म अनुगृहीत है, कहीं अज्ञानावृत ज्ञान ही कर्म्माभास का प्रयोजक बना हुआ है। ज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म्म सफल होता है, अज्ञान-(अज्ञानावृत ज्ञानरूप मोह-) पूर्वक किया हुआ कर्म्म बिगड़ जाता है। दोनों का पृथग्भावत्व और वैजात्य स्पष्ट प्रकट हो रहा है। और आगे बढ़िए। ज्ञान एक ऐसा स्थिर दर्पण है, जिसमें सामने से आने जानेवाले व्यक्तियों के प्रतिबिम्ब प्रतिभासित होते रहते हैं, एवं निकलते रहते हैं। परिवर्त्तनशील, किंवा गतिशील पदार्थ कर्म्मस्थानीय हैं, स्थिर दर्पण ज्ञानस्थानीय है। देखनेवाला 'ज्ञान' है, दीखनेवाला 'कर्म्म' है। द्रष्टा-दृश्य का पार्थक्य सभी को स्वीकृत है। ज्ञान प्रवृत्ति कराता है, कर्म्म प्रवृत्त होता है। ज्ञान कर्म्म से विकसित होता है, कर्म्म ज्ञान से आगे बढ़ता है। ज्ञान आभ्यन्तरतत्त्व है, कर्म्म बाह्यतत्त्व है। हम क्या समझ रहे हैं, हमारे ज्ञानीय जगत् में ज्ञान से क्या क्या कल्पनाएं उठ और बैठ रहीं हैं, हमारे सामने बैठा हुआ व्यक्ति यह नहीं जान सकता, नहीं बतला सकता। परन्तु हम कोई काम करने लगते हैं तो पुरोऽवस्थित व्यक्ति की दृष्टि में वह आ जाता है। 'जानामि' में बाह्यक्रिया का अवसान है, 'करोमि' में आभ्यन्तर विकास का अभिभव है। ज्ञानेन्द्रिएं ज्ञान को प्रधानता देतीं हैं, कर्म्मेन्द्रिएं कर्म्म को मुख्य आलम्बन बनातीं हैं। ज्ञानवृत्ति शारीरक श्रम का विरोध करती है, कर्म्मवृत्ति शारीरक श्रम का अनुगमन करती है। ज्ञानभाव शान्ति का अनुगामी है, कर्म्मजाल क्षोभ का उत्तेजक है। ज्ञानगर्भित कर्म्म हमें अर्थजाल से निकालता है, कर्म्मगर्भित ज्ञान अर्थलोलुपता का प्रवर्त्तक बनता है। ज्ञान ब्रह्मबल की मूल प्रतिष्ठा है, कर्म्म क्षत्रबल का मूलाधार है। क्रतु-दक्षात्मक मैत्रावरुणग्रहरूप ज्ञान-कर्म्म का समन्वित रूप ही 'आत्मा' है यही "अहं" पदार्थ हैं। भला इन विस्पष्ट अनुभूतियों के रहते ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो ज्ञानक्रिया का पार्थक्य, विभिन्नतत्वता, एवं अविनाभाव न मानेगा। 'अहं' लक्षण आत्मा में दोनों हैं, दूसरे शब्दों में दोनों की समष्टि ही 'आत्मा' है। इसी लिए हम (आत्मा) जानते हैं, और हम करते हैं। तत्त्वतः भातिसिद्ध द्वैतभाव ही मुख्य आत्मसिद्धान्त है।

गीता ने ब्रह्म-कर्म्मलक्षण इसी आत्मसिद्धान्त को सिद्धान्तवाद कहा है। गीता की परिभाषा मे आत्मप्रजापति का ज्ञानघन 'ब्रह्म' भाग 'अमृत' कहलाया है, एवं क्रियाघन 'कर्म्म' भाग 'मृत्यु' कहलाया है, जिस मृत्यु का कि पहिला अवतार 'अशनाया' नाम से प्रसिद्ध है—'अशनाया हि मृत्युः' (शत०ब्रा० १०।६।५।१)

निब्रह्म निकर्म्मप्रदर्शन—

'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'
'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्'

इत्यादि श्रुतिएँ जब स्पष्ट शब्दों में आत्मा के 'अर्द्ध'[1] को (एक भाग को) अमृत, एवं अर्द्ध को मृत्यु बतला रही हैं तो प्रमाणसिद्ध, एवं पूर्वोक्त उदाहरणों द्वारा अनुभवसिद्ध अमृत-मृत्युलक्षण इस द्वैतवाद का कैसे अपलाप किया जा सकता है।

मेधावी पाठकों को स्मरण होगा कि, 'भाष्यभूमिका प्रथमखण्ड' के 'नामरहस्य' प्रकरण में (पृ० ७७) हमने आत्मा के ब्रह्म-कर्म्म नामक दोनों पर्वों के ६ विभाग किए हैं। वहाँ तीन विभाग अमृतलक्षण ज्ञानघन ब्रह्म के हुए हैं, एवं तीन ही विभाग मृत्युलक्षण क्रियाघन ब्रह्म के हुए हैं। वहीं यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, ब्रह्म के वे तीन विभाग 'अव्यय-अक्षर-क्षर' नामों से, एवं कर्म्म के तीन विभाग 'ज्ञानयोग-कर्म्मयोग-बुद्धियोग' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मकर्म्मोभयमूर्त्ति आत्मा के इन्हीं ६ पर्वों के आधार पर आगे जाकर ज्ञातव्य-कर्त्तव्य-भावों के भी ६ विभाग बतलाए गए हैं। 'ज्ञायते' का अव्यय-अक्षर-क्षरमूर्त्ति ब्रह्म के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है, एव 'क्रियते' का ज्ञान-कर्म्म-बुद्धिनिष्ठालक्षण कर्म्म के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है—(देखिये पृ० सं० १०१)।

यद्यपि अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों की समष्टि ही एक ब्रह्म है, परन्तु 'पटो दग्धः' न्याय से प्रत्येक भी आगे जाकर 'ब्रह्म' कहलाने लग गया है। 'भाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड' के 'दार्शनिक आत्मपरीक्षा प्रकरण' मे यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि, वैशेपिकतन्त्र 'क्षरब्रह्म' का, प्राधानिकतन्त्र 'अक्षरब्रह्म' का, एव शारीरकतन्त्र (अक्षरधिया) 'अव्यय-

---

[1]—वैदिक परिभाषानुसार "अर्द्ध" शब्द 'भाग' का वाचक माना गया है। संस्कृतभाषा में आकर यही अर्द्ध शब्द 'आधा' का वाचक बन गया है।

ब्रह्म' का निरूपण करता है। इधर हमारा गीताशास्त्र तीनों के विस्पष्ट निरूपण के साथ साथ सर्वमूलभूत विशुद्ध अव्ययब्रह्म का प्रतिपादन करता हुआ 'सर्वशास्त्र' बना हुआ है। अव्ययलक्षण ब्रह्मविद्या ही गीता का मुख्य सिद्धान्तवाद है। 'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' ही गीता का मूलमन्त्र है।

ज्ञातव्य तीन ब्रह्मपर्वों के साथ कर्त्तव्य तीन कर्म्मपर्वों का क्रमिक सम्बन्ध है। 'अव्यय-ब्रह्मविद्या' के साथ उपास्तिलक्षणा 'बुद्धियोगनिष्ठा' का सम्बन्ध है। 'अक्षरब्रह्मविद्या' के साथ ज्ञानलक्षणा 'साङ्ख्यनिष्ठा' का सम्बन्ध है। एवं 'क्षरब्रह्मविद्या' के साथ कर्म्मलक्षणा 'योगनिष्ठा' का सम्बन्ध है। जिस तरह ज्ञातव्य ब्रह्मपर्वों में गीता अव्ययब्रह्म-पर्व को अपना मुख्य लक्ष्य बना रही है, एवमेव कर्त्तव्य कर्म्मपर्वों में से (अव्ययब्रह्मानुयोगिक) बुद्धियोगनिष्ठा को ही मुख्य स्थान दे रही है। कर्त्तव्यकर्म्मत्रयी का दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। ज्ञानयोग, कर्म्मयोग, बुद्धियोग तीनों को 'कर्म्म' के तीन पर्व माना गया है। वास्तव में तीनों 'कर्त्तव्य' कोटि में आते हुए कर्म्म ही माने जायंगे। निवृत्तिलक्षण कर्म्म ही ज्ञानयोग है, प्रवृत्तिलक्षण कर्म्म ही कर्म्मयोग है, एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति की सम्मिलित अवस्थारूप, उभयरूप कर्म्म ही कर्म्मयोग है। निवृत्तिलक्षणकर्म्म कर्म्म—(संस्काररूप सञ्चितकर्म्म)—रूप आवरण को हटाकर (कतक-रजोवत्) ज्ञानोदय का कारण बनता है, अतएव इस निवृत्तिलक्षण कर्म्मयोग को -'ज्ञानयोग' (सांख्यनिष्ठा) कह दिया जाता है। प्रवृत्तिलक्षणकर्म्म कर्म्मावरण का उत्तेजक बनता है, अतः इस आवरक कर्म्मयोग को 'कर्म्मयोग' (योगनिष्ठा) कह दिया जाता है। उभयलक्षण कर्म्मयोग बुद्धि द्वारा समब्रह्म (अव्ययब्रह्म) के समत्व का प्रयोजक बनता है, अतएव इस कर्म्मयोग को 'बुद्धियोग' कहना चरितार्थ हो जाता है। ज्ञानयोग जहां ज्ञान की प्रधानता से विषमयोग है, कर्म्मयोग कर्म्म की प्रधानता से जहां विषमयोग है, वहां ज्ञान-कर्म्म दोनों के समत्व से बुद्धियोग समतालक्षण शान्ति-प्रतिष्ठा का कारण बनता हुआ सर्वश्रेष्ठ योग बन रहा है—'योगः कर्म्मसु कौशलम्' (गी० २।५०।) फलकामना (उत्थाप्याकांक्षा) की निवृत्ति के कारण तो यह बुद्धियोग त्यागलक्षण ज्ञानयोग (सांख्यनिष्ठा) बन रहा है, एवं निष्कामकर्म्म (उत्थिताकांक्षायुक्त) की प्रवृत्ति के कारण यही परिग्रहलक्षण कर्म्मयोग (योगनिष्ठा) बन रहा है। दोनों निष्ठाओं के समन्वय से ही इस तीसरे बुद्धियोग का स्वरूप निर्माण हुआ, है, जो कि स्वरूप—'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' (गी० ५।५।) इत्यादि गीतासिद्धान्त की स्वरूपरक्षा कर रहा है।

सूर्य्यदेवता बुद्धितत्व के आरम्भक (उपादानकारण) माने गए हैं। सूर्य्यपिण्ड रोदसी ब्रह्माण्ड के केन्द्र में (खगोलीय बृहतीछन्द के केन्द्र में) प्रतिष्ठित है—'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति'। मध्यस्थ सूर्य्य के उस ओर ज्ञानलक्षण अमृत का साम्राज्य है, इस ओर कर्म्मलक्षण मृत्यु का सञ्चार है[1]। बीच में प्रतिष्ठित सूर्य्य उस ओर के ब्रह्म का, इस ओर के कर्म्म का, अमृत-मृत्यु दोनों का संग्राहक बन रहा है[2]। इस प्रकार सूर्य्य में ब्रह्म कर्म्म दोनों का समन्वय हो रहा है। उभयधर्म्मावच्छिन्न, अमृत-मृत्युमय, ब्रह्म-कर्म्मलक्षण इस सूर्य्यतत्व से उत्पन्न होने वाली बुद्धि में दोनों तत्त्वों का समन्वित रहना प्रकृतिसिद्ध है। बुद्धि के इस ओर चान्द्र-पार्थिवादि मृत्युप्रधान भावों से उत्पन्न मन-इन्द्रियवर्ग-भौतिकशरीररूप मृत्युभावों का साम्राज्य है। बुद्धि के उस ओर अमृतप्रधान आत्मदेवता प्रतिष्ठित है, जैसा कि—'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गी० ३।४२) इत्यादि गीतासिद्धान्त से भी प्रमाणित है। अमृतमृत्युरूप आध्यात्मिक विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित बुद्धितत्व उस ओर के अमृतलक्षण ज्ञानभाव का, इस ओर के मृत्युलक्षण कर्म्मभाव का, दोनों का संग्रह करता हुआ उभयात्मक बन रहा है। इसी प्राकृतिक स्थिति के आधारपर उभययोग को हम अवश्य ही 'बुद्धियोग' कहने के लिए तय्यार हैं। मृत्युप्रधान कर्म्मयोग में केवल भौतिक सम्पत्ति का साम्राज्य है, अमृतप्रधान ज्ञानयोग में केवल पारलौकिक निःश्रेयसभाव का साम्राज्य है। कर्म्मयोग में केवल 'यह' लोक है, ज्ञानयोग में केवल 'वह' लोक है। परन्तु हमारे इस गीता सम्मत उभयमूर्त्ति बुद्धियोग में 'यह' 'वह' दोनों का समन्वय है। अभ्युदय-निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति है।

उक्त कथन का तात्पर्य्य यही हुआ कि, ज्ञातव्यलक्षण 'त्रिब्रह्म', एवं कर्त्तव्यलक्षण 'त्रिकर्म्म' इन दोनों विभागों में से त्रिब्रह्म के तो अव्ययब्रह्मपर्व का, एवं त्रिकर्म्म के बुद्धियोगपर्व का दोनों का निरूपण करता हुआ गीताशास्त्र 'ब्रह्म-कर्म्मशास्त्र' ही माना जायगा। एवं अव्ययलक्षण ब्रह्म, तथा बुद्धियोगात्मक कर्म्म इन दोनों की परीक्षा ही गीतासम्मत 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' कहलाएगी। गीतासम्मत ब्रह्म पदार्थ क्या है ? कर्म्मपदार्थ क्या है ? संक्षेप से इन दो प्रश्नों का समाधान कर देना ही प्रकरण समाप्ति का सूचक बनेगा।

---

१ "तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्—सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्"। (शत० ब्रा० १०।५।१।४)

२ "आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च" (यजुः सं० ३३।४३।)

तत्त्वदर्शी, ज्ञानसहकृत विज्ञान के पक्षपाती, याथातथ्यविद, आप्त, वेदमहर्षियों की दृष्टि से, एवं इसी आप्त-(वेद)-दृष्टि का स्पष्टीकरण करने वाली गीता की दृष्टि से न केवल ब्रह्म ही विश्व का मूल है, एवं न केवल कर्म्म ही विश्व का उत्पादक है। अपितु ब्रह्म कर्म्म की समष्टि रूप 'आत्मब्रह्म' ही सृष्टि का प्रधान मूल कारण है। ज्ञानानुगत, नित्य विज्ञानोपासक, वैज्ञानिकों का इस सम्बन्ध मे कहना है कि, विश्व प्रपञ्च मे हम दो विरुद्ध भावों का साक्षात्कार कर रहे है। दोनों मे एक भाव आत्यन्तिक रूप से अपरिवर्त्तनीय है, एक भाव सर्वथा परिवर्त्तनशील है।

द्वैतवाद का समर्थन—

विश्वगर्भ मे रहने वाले सभी पदार्थ असद्वादी के मतानुसार अवश्य ही क्षण क्षण में बदल रहे है। और इसी आधार पर हमे यह कहना पडता है कि, प्रतिक्षण नवीन नवीन भावों मे बदलने वाला यह अशाश्वत तत्व नित्य ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्मतत्त्व नित्यशान्त है, एक है, अद्वय है, दिग्-देश-काल-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-गुरुत्व-लघुत्व-उत्क्षेपणत्व-आकुञ्चनत्व-प्रसारणत्व-आदि धर्म्मों से सर्वथा असस्पृष्ट (पृथक्) है। उधर असद्वादी का कर्म्मतत्व ठीक इस के विपरीत नित्य अशान्त है, नानाभावोपेत है, द्वैतभावाक्रान्त है, दिक्-देश-काल-संख्यादि परिच्छेदों से परिच्छिन्न होता हुआ ससीम है, सीमित है। ऐसी दशा मे परिवर्त्तनशील इस कर्म्म को कभी ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। अवश्य ही ब्रह्मपदार्थ प्रत्यक्षदृष्ट परिवर्त्तनीयभाव से पृथक् वस्तुतत्व होना चाहिए। असद्वादी के 'असत्' मात्र से ही कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं हो सकता।

विशुद्ध सद्वादी का यह कहना कि—केवल सल्लक्षण अपरिवर्त्तनशील ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, कोई महत्व नहीं रखता। प्रत्यक्षदृष्ट असत्य परिवर्त्तनो को केवल अपने ज्ञान की कल्पना मानते हुए ब्रह्मवाद मे अपना अभिनिवेश प्रकट करना सचमुच इन सद्वादियों का प्रौढिवादमात्र है। इस सम्बन्ध मे क्या उनसे यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि—कल्पना भी एक प्रकार का व्यापार ही है। व्यापार क्रिया है, क्रिया क्षणिक है। उधर ब्रह्म की परिभाषा मे वे हमारे सामने निर्व्यापार, निष्क्रिय, शान्त आदि शब्द उपस्थित करते है। ऐसी दशा मे उनका ब्रह्मवाद कैसे सुरक्षित रहा ? अगत्या उन्हे परिवर्त्तनशील प्रपञ्चो को अपरिवर्त्तनीय ब्रह्म से पृथक् ही मानना पडेगा। केवल ब्रह्मवाद पर ही विश्राम न हो सकेगा।

असद्वादियों का यह कहना कि—'संसार असत् है, कुछ नहीं है', कोई मूल्य नहीं रखता। असद्वादी की दृष्टि मे असत् का अर्थ 'अभाव' है। इधर विज्ञानदृष्टि 'असत्' शब्द के इस अर्थ का पूर्ण विरोध कर रही है। वास्तव मे असत् शब्द का अर्थ है—'स्वसत्ताशून्य'।

असत्रूप क्रियातत्व अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता, अतएव इसे असत कहा जाता है। सुप्रसिद्ध बलतत्व रससत्ता को ही अपना आश्रय बनाता है। 'बल रस के द्वारा प्रतिष्ठित है, स्वस्वरूप से अप्रतिष्ठित है' केवल यही रहस्य बतलाने के लिए परिवर्त्तनीय बल को 'असत्' कह दिया गया है। वस्तुत असत् बल नामक एक तात्विक पदार्थ है। एव रससत्ता को आश्रय बना कर सद्वत् बनता हुआ वही प्रत्यक्षदृष्टि का आलम्बन (विषय) बना हुआ है। हम अपने चर्म्मचक्षुओं से सत्ताश्रित इस बलसंघात के ही दर्शन कर रहे हैं।

यदि असद्वादी के मतानुसार असत्' का अर्थ कोई वस्तुतत्व न होकर अभाव हो तो, हमें किसी की प्रतीति ही न हो। क्योंकि अभाव कभी प्रतीति का विषय नहीं बना करता। जबतक बल के गर्भ मे रसात्मिका सत्ता (अन्तर्य्याम सम्बन्ध से) प्रतिष्ठित रहती है, दूसरे शब्दों मे जबतक 'रस आलम्बन, बल आलम्बित' यह स्थिति रहती है, तबतक बल की प्रतीति होती रहती है। जिस समय बल रस के गर्भ मे चला जाता है, सुप्त बन जाता है तो वह प्रतीति से तिरोहित हो जाता है। छोड़िए अभी इन सब विवादों को। स्वय मूलभाष्य में 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि श्लोकभाष्य में इन सब विषयों का विस्तार से निरूपण होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध मे केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि सद्वादी के सद्वाद से भी काम नहीं चल सकता, एव असद्वादी के असद्वाद से भी निर्वाह नहीं हो सकता। साथ ही मे असद्वादी ने असत् का जो अर्थ (अभाव) समझ रक्खा है, वह भी प्रामाणिक नहीं बन सकता। असत् का अर्थ 'बल किया जाय, इसके साथ सद्रूप रस की सत्ता स्वीकार की जाय, 'सत्-असत्' दोनो का समन्वय माना जाय, और समन्वित इसी द्वैत को सृष्टि का मूल मान लिया जाय, तभी सारी व्यवस्थाएं व्यवस्थित रह सकती हैं। निम्न लिखित कुछ एक उदाहरण इस व्यवस्था के समर्थक माने जा सकते हैं।

प्रत्यक्षदृष्ट परिवर्त्तन के आधार पर 'असत्' नामक बलतत्व का जैसे उच्छेद नहीं किया जा सकता, एवमेव प्रत्यक्षानुभूत अपरिवर्त्तन के आधार पर 'सत्' नामक रसतत्व का भी निरादर नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए एक पुस्तक पर दृष्टि डालिए। पुस्तक का प्रत्येक परमाणु प्रतिक्षण बदल रहा है, यह मान लेने मे कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। इस क्षणिक परिवर्त्तन से होना तो यह चाहिए था कि, 'पुस्तक' नाम की कोई वस्तु हमें कभी उपलब्ध ही न होती। परन्तु आश्चर्य है—'पुस्तक' नाम की एक वस्तु हमें उपलब्ध हो रही है। न केवल उपलब्ध ही हो रही है, अपितु जो पुस्तक आज देख रहे हैं, कल भी उसे देखा था, आगामी दिवसों मे भी देख सकेंगे। कल थी, आज है, कल रहेगी, परसों रहेगी, परसों

क्या, बरसों रहेगी। बरसों क्या सदा रहेगी। पुस्तक के अस्तित्व को कौन मिटा सकता है। सम्भव है, भविष्य मे पुस्तक अपने वर्त्तमान स्वरूप मे न रहे। परन्तु किसी रूप में न रहे, यह सर्वथा असम्भव है। इस रूप मे न सही, अन्य रूप मे सही, सत्ता का कभी उच्छेद न होगा। पुस्तक के पन्ने गल गए, सड गए अन्ततोगत्वा मिट्टी के रूप मे परिणत हो गए। यह वही पुस्तक है, जो किसी समय पुस्तक कहलाती थी, एवं आज जो मिट्टी कहला रही है। वही वस्तुतत्व है, वही सत्तारस है। सत्ताश्रित नाम-रूपों का परिवर्त्तन है सत्तारस सर्वथा अपरिवर्त्तनशील बना हुआ है।

जिन बलग्रन्थियों से मिट्टी का स्वरूप सुरक्षित रहता है उन ग्रन्थियो के विमोक (खुल-जाने) से वही मिट्टी पानी है। अवनुबन्धिनी ग्रन्थियो के विमोक से वही पानी अग्नि है, वही अग्नि वायु है वही वायु आकाश है, वही आकाश आत्मा है। वही आत्मा, वही सत्तारस बलग्रन्थियों के तारतम्य से आकाश-वायु-अग्नि-पानी-मिट्टी-पुस्तक सब कुछ बन रहा है। जब पुरोऽवस्थित भौतिक पदार्थ क्रमश अणु-रेणु-गुणभूतों मे परिणत होते हुए सत्तारस के गर्भ मे लीन हो जाते हैं, तब हम 'कुछ नहीं है' यह कहा करते हैं। इस दशा मे भी अस्ति-लक्षण सत्ता का साम्राज्य विद्यमान है। 'नहीं है' इस वाक्य के अन्त में भी "है" इत्याकारक अस्तिभाव निर्बाध रूप से प्रतिष्ठित है। अस्तित्व का परिवर्त्तन ही कब होता है। अस्तित्व के आधार पर परिवर्त्तन होता है—बलात्मक नाम-रूप कर्म्म प्रपञ्चों का। सृष्टिदशा मे सत्तारस इन असद्बलों के गर्भ मे है, मुक्तिदशा मे असद्बल सत्ता के गर्भ मे है। इस गर्भीभाव के गुप्त रहस्य को न जान कर ही विशुद्ध सद्वादी मुक्तिदशानुगत सत्ताब्रह्म को आगे करता हुआ असद्बलवाद का खण्डन कर रहा है। एव विशुद्ध असद्वादी सृष्टिदशानुगत असद्बल को आगे रखता हुआ सद्वाद के खण्डन की भूल कर रहा है। वस्तुत दोनों दशाओ मे दोनों हैं। अस्ति-नास्ति रूप से सर्वत्र अव्यभिचारेण रहता हुआ अस्तिरस 'सत्' है। अस्तिरस के निग्रह-अनुग्रह से समय-समय पर आविर्भूत-तिरोहित होनेवाला बल 'असत्' है। सत्-असत् के बन्धन का नाम सृष्टि है, बन्धनमुक्ति का नाम मुक्ति है। **'सतो बन्धुमसति निर विन्दन्'** इस वेदसिद्धान्त को मूल बनानेवाले द्वैतवाद के खण्डन करने का साहस कौन कर सका है।

गङ्गाधार प्रतिक्षण बदल रही है, दूसरे शब्दो में गङ्गा का पानी क्षण क्षण में बदल रहा है। अभी अभी जो पानी हमारी दृष्टि के सामने था, पलक झपकते ही वह कहां निकल गया? यह बतलाना कठिन है। पानी की दृष्टि से 'गङ्गा' क्षण क्षण मे बदल रही है। परन्तु आश्चर्य

है कि, दस वर्ष पहिले जिस व्यक्ति ने गङ्गास्नान किया था, वह भी उसी गङ्गा में स्नान करने का अभिमान प्रकट कर रहा है। दस वर्ष पीछे आज स्नान करनेवाले के मुख से भी "मैं उसी गङ्गा मे स्नान कर रहा हूँ, जिसमें कि दस वर्ष पहिले मेरे पिता ने स्नान किया था" यही वाक्य निकल रहा है। दोनों बातें विरुद्ध, परन्तु दोनों का आश्रय एक ही गङ्गातत्त्व। यह उसी सन्-असत् के समन्वितरूप की कृपा का फल है। प्रत्यक्षदृष्ट अप्-परिवर्त्तन के साथ साथ यदि अभिमानी सत्तासिद्ध गङ्गा देवता की सत्ता स्वीकार न की जायगी तो "मैं गङ्गा स्नान कर रहा हूँ" यह कहना भी असम्भव बन जायगा। कारण स्पष्ट है। जन्हुमहर्षि के आश्रम से निकलनेवाली, हरिद्वार के ब्रह्मकुण्ड मे आकर सब से पहिले भूतल का स्पर्श करनेवाली, अपने पावन संस्पर्श से पातकों का ध्वंस करनेवाली, कलिकल्मपहारिणी, पतितपावनी, भगवती भागीरथी सैंकड़ों हजारों कोसों तक अपने भौतिक शरीर (गङ्गाजल) से फैली हुई है। क्या स्नानकर्त्ता महोदय सम्पूर्ण गङ्गाजल मे एकबारगी ही स्नान करने की शक्ति रखता है? नहीं, तो "मैं गङ्गास्नान कर रहा हूँ" यह कैसे कहा। फिर तो उसे—"गङ्गा के एक थोड़े से प्रदेश मे स्नान कर रहा हूँ" यह कहना चाहिए था। परन्तु देखते हैं—स्नानकर्त्ता 'वही गङ्गा' की रट लगाए हुए है। क्या यह गलत है? नहीं, अभिमानी देवता के अनुग्रह से बिलकुल सही है। देवता सत्तारूप है, देवता का आपोमय शरीर असद्बलरूप है। सत्तापूर्ण है, एकरसा है। सत्ता मे प्रदेशभाव नहीं रहता। प्रदेशशून्य, व्यापक, इसी सत्ता संस्पर्श से स्नानकर्त्ता के गङ्गास्नानाभिमान का उदय हुआ है, जो कि सर्वात्मना मान्य है। कपडे का प्रत्यश जलता है, परन्तु सत्ताव्याप्ति से "पटो दग्धः" (कपड़ा जल गया) यह व्यवहार होता है।

निष्कर्ष यही हुआ कि, कार्य्यरूप विश्व मे जब हम दो विरुद्ध भावों का साक्षात्कार कर रहे हैं तो, कारणतत्त्व को भी दो भावों में ही विभक्त मानना पड़ेगा। परिवर्त्तनशील कार्य्यरूप 'असत्' तत्त्व का मूल कारण आत्मप्रजापति का (मृत्युलक्षण) वही 'कर्म्म' भाग है। एवं अपरिवर्त्तनीय, कार्य्यरूप 'सद्भाव' का मूल कारण आत्मप्रजापति का (अमृतलक्षण) वही "ब्रह्म" भाग है। ब्रह्म-कर्म्मलक्षण एक ही आत्मप्रजापति के दिव्य एवं लौकिक ये दो रूप हैं, जिनका कि प्रकरण के आरम्भ मे ही—'ब्रह्म-कर्म्म, ज्ञान-क्रिया का तात्त्विकरूप' नामक प्रकरण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

'अहं' (आत्मप्रजापति) के लोकातीत दिव्य दोनों पर्व वैदिक परिभाषानुसार तो 'ब्रह्म-कर्म्म' कहलाते हैं, एवं गीता परिभाषानुसार 'अमृत-मृत्यु' कहलाते हैं। कार्य्यरूप मे परिणत उसी

'अहं' के लोकात्मक लौकिक दोनों एवं वैदिक दृष्टि से तो 'ज्ञान-क्रिया' नामों से व्यवहृत हुए हैं, एवं गीतादृष्टि से 'सत्-असत्' कहलाते हैं। सृष्टिसीमा के भीतर रहनेवाला आत्मा लौकिक है, एवं सृष्टिसीमा से बाहर रहनेवाला आत्मा दिव्य है। दिव्यात्मा 'मूलात्मा' है, लौकिकात्मा 'तूलात्मा' है। मूलात्मा 'अमृत-मृत्यु' लक्षण 'अहं' है, तूलात्मा 'सदसत्' लक्षण अहं है। अमृत-मृत्युरूप मूलात्मा 'ब्रह्म-कर्म्म' रूप है, सदसद्रूप तूलात्मा 'ज्ञान-क्रियामय' है। 'अहं' भाव के इन्हीं दोनों दिव्य-लौकिक विवर्त्तों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने कहा है—

'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !'

अहं-विवर्त्तपरिलेखः—

१	१ ब्रह्म	अमृतम्	कारणात्मकमात्मपर्व	मूलं ब्रह्म—दिव्यं विवर्त्तम्	वैदिकं—मूलं
२	२ कर्म्म	मृत्युः	कारणात्मकमात्मपर्व		
३	१ ज्ञानम्	सत्	कार्य्यात्मकमात्मपर्व	तूलं ब्रह्म—लौकिकं विवर्त्तम्	लौकिकं—तूलं
४	२ क्रिया	असत्	कार्य्यात्मकमात्मपर्व		
	वेददृष्टिः	गीतादृष्टिः	तदुनात्येति कश्चन		

"चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुः"

क्रियालक्षण, किंवा गीता के शब्दों में असल्लक्षण विश्व प्रतिक्षण विलक्षण नहीं है, यह कौन नहीं मानता। अवश्य ही सब पदार्थ क्रियादृष्टि से क्षणिक हैं, अनित्य हैं, अशाश्वत हैं। इसी तरह ज्ञानलक्षणा, किंवा सल्लक्षणा विश्वसत्ता सर्वथा अपरिवर्तनशीला है, यह भी किसे स्वीकृत नहीं है। अवश्य ही सब पदार्थ ज्ञानदृष्टिमूलिका सत्ता दृष्टि से अक्षण हैं, नित्य हैं, शाश्वत हैं। विवाद तो केवल इसी पर है कि, क्या केवल सत् को ही विश्व का मूल माना जाय ? किंवा असत् को ही मूल कहा जाय ? अथवा दोनों के समुच्चय को प्रधानता दी जाय ? और यह विवाद उक्त आत्मपर्व विवेचन से सर्वथा निर्णीत है। कार्य्यप्रपञ्च की दो विभिन्न दृष्टिएं हीं यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, दोनों का समुच्चय ही द्विभावाक्रान्त विश्व का मूल है। विश्व की एक 'नियति' (नियमसूत्र) कदापि नहीं मानी जा सकती,

जब कि प्रत्यक्ष में हम इसमे दो नियतियो का समन्वय देखते हैं। ज्ञाननियति, एवं क्रिया-नियति दोनों मिल कर ससार है, और इसीलिए विश्व—'द्विनियति' है। यही 'द्विनियति' शब्द कालिक अपभ्रंश की मर्य्यादा मे आकर आज लोकभाषा मे 'दुनिया' स्वरूप मे परिणत हो गया है। सचमुच दुनिया (ससार) दुरङ्गी (ज्ञानक्रियात्मिका) है। 'दुनिया दुरंगी, मक्कारे शरीफ' इस शक्तिग्राहकशिरोमणि वृद्धव्यवहार (प्रवाहरूप से चले आने वाली लोकोक्ति) का कौन निरादर कर सकता है। इस प्रकार सर्वात्मना 'द्वैतकारणतावाद' सुरक्षित रह जाता है।

अब इस सम्बन्ध मे प्रश्न रह जाता है, केवल 'अद्वैतवाद' का। अद्वैतवाद ही सम्पूर्ण उपनिषदों का, एव तदनुगता गीता का मुख्यवाद है। ऐसी दशा मे श्रुति-स्मृति विरुद्ध इस द्वैतवाद को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? क्या अद्वैतवाद सिद्धान्तपक्ष नहीं है? क्या हम द्वैतवाद के अभिनिविष्ट समर्थक हैं? ये ही कुछ एक विप्रतिपत्तिएं बची रह जातीं हैं, जिनसे कि श्रुति-स्मृति के भक्त, सर्वसिद्ध, अतएव प्रामाणिक अद्वैतवाद के अनुयायी मान्य विद्वानों के अन्त स्तल मे क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। इस क्षोभ की शान्ति के लिए ही आगे जाकर इस सम्बन्ध मे हमे विशेष विचार करना पडा है, जो कि अनुपद मे ही अद्वैतप्रेमी पाठकों के सम्मुख आता हुआ अद्वैत के पूर्णपक्षपाती लेखक के भी मानस जगत् को शान्तिप्रदान करने वाला है। अभी द्वैतवाद के समर्थन मे ही थोडा विचार और हो जाना चाहिए।

वेदशास्त्र के आलोडन विलोडन से हमे कारणवाद के सम्बन्ध मे थोडी देर के लिए सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद तीनो का ही पक्षपाती बनना पडता है। तीनो हीं वादो के समर्थक वचन उपलब्ध हो रहे हैं, जिन्हें कि पूर्व के साध्य सम्मत सदसद्वाद प्रकरण मे उद्धृत किया जा चुका है। वहा केवल वचन उद्धत हुए हैं। चूकि अब हमे उन्हीं वचनो के आधार पर निष्कर्ष निकालना है, अत कुछ एक वचनों का सक्षिप्त अर्थ भी जान लेना आवश्यक हो जाता है।

१—सद्वादसमर्थकवचन— (१)—'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥

१ इस श्रुति से ब्रह्मवाद की शिक्षा के साथ साथ हमें एक अपूर्व लौकिक शिक्षा भी मिल रही है। हम देखते हैं कि, कितने एक निर्धन मनुष्य अहर्निश (दिन-रात) अपने मुख से ये ही उदासी भरे वाक्य निकाल

"यदि कोई व्यक्ति (असद्वादी-नास्तिक) ब्रह्म को असत् समझता है, दूसरे शब्दों में असत् को ही ब्रह्म (विश्व का मूलकारण) जानता है, तो वह स्वयं भी असत् ही है। अर्थात् ऐसा असद्वादी स्वयं भी कुछ नहीं है, एवं इसका असद्वाद भी कुछ नहीं है। परन्तु जो व्यक्ति (सद्वादी आस्तिक) अस्ति (सत्) को ब्रह्म समझता है, दूसरे शब्दों में अस्ति को ही ब्रह्म (मूलकारण) जानता है, विद्वान् लोग ऐसे सद्वादी को सन्त (विद्यमान-प्रतिष्ठित) समझते हैं"। 'अस्ति ही ब्रह्म है, एवं यह ब्रह्म सद्रूप है' यही तात्पर्य है।

श्रुति-विरोध—

(२)—यो नः पिता जनिता यो विधाता यो नः सतो अभ्या सज्जजान।

"जो (सद्ब्रह्म अपने अक्षररूप से) हम सब चर-अचर पदार्थों की स्थिति का कारण बनता हुआ (पालक बनता हुआ) हमारा पिता है, जो अपने क्षररूप से हम सब का उपादान कारण बनता हुआ हमारा जनिता है, जो अपने अव्ययरूप से हमारा आलम्बन (आधार

करते हैं—"क्या करें, हम तो बड़े गरीब हैं, काम ही नहीं चलता, दिन भर परिश्रम करते हैं, पर पेट भर भोजन भी नहीं मिलता"। साथ ही कितने एक सम्पत्तिशाली, किन्तु कृपणाचार्य महानुभावों के श्रीमुख से भी यदा कदा यह सुनने का दुर्भाग्य होता है कि—"अजी! क्या करें, जमाना बड़ा खराब आ रहा है। लोग समझते हैं, हमारे पास बहुत धन है। परन्तु आपसे सच सच कहते हैं, खर्चा भी नहीं चलता। जैसे तैसे इज्जत बना रक्खी है"। इस प्रकार निर्धन और कतिपय धनवानों के मुख से ऐसे ऐसे निराशा के वचन निकलते देखे गए हैं।

मनोविज्ञान का यह एक माना हुआ प्रामाणिक सिद्धान्त है कि, हम अपने मानस विचारों को जैसी भावना की ओर प्रवाहित रखते हैं, कालान्तर में हमारा अन्तरात्मा उन्हीं भावों का अनुगामी बन जाता है। यदि हमारे मुख से रात-दिन "यह नहीं है, यह नहीं है" ऐसे ऐसे असद्वचन ('नास्ति' वचन) निकलते रहेंगे तो, किसी समय अवश्य ही हमारे पास कोई वैभव न बचेगा। निर्धन व्यक्ति ऐसे नास्तिभावों से अधिक दुःखी बन जायगा, धनवान् अपने पास की सम्पत्ति भी खो बैठेगा। यदि पूर्वजन्मों के सञ्चित पुण्यों से सम्पत्ति बची भी रहेगी, तो यह निराशावादी उसका आनन्द तो किसी भी दशा में न भोग सकेगा। सचमुच आधुनिक भारतवर्ष के लिए यह एक दुःख का विषय है कि, आज यह पद पद पर 'नास्ति' का अनुगमन करते हुए अपना वैभव खो बैठा है, एवं जो बच रहा है, उस से लाभ उठाने में असमर्थ बन गया है।

प्रतिष्ठा) बनता हुआ हमारा विधाता है, ऐसे पिता, जनिता, एवं विधाता (सद्ब्रह्म) ने (अपने) सत्-भाव को आगे कर के ही (सद्-भाग से ही) यह सत् विश्व उत्पन्न किया है"। 'सद्ब्रह्म ही सद्विश्व का मूलकारण है' यही तात्पर्य्य है।

(३)—सदेवेदमग्र सोम्य आसीत् । कथं त्वसतः सज्जायेत ।

"इस दृश्य प्रपञ्च से पहिले (विश्व से पहिले) इसका मूलकारण 'सत्' था। यदि विश्व का मूलकारण असत् माना जायगा तो सृष्टि ही सर्वथा अनुपपन्न बन जायगी। क्योंकि 'इदमस्ति-इयमस्ति-अयमस्ति' इत्यादि रूप से विश्व सद्रूप ही उपलब्ध होता है। जब कार्य्य-रूप विश्व प्रत्यक्ष में सद्रूप से प्रतीत हो रहा है, तो इसके मूलकारण को अवश्य ही सद्रूप माना जायगा। कारण के गुण ही तो कार्य्यगुणों के आरम्भ (उत्पादक) बनते हैं। भला असत् मूल से सत्कार्य्य कैसे हो सकता है। 'सत्'-कार्य्य का मूल सत् कारण ही हो सकता है' यही तात्पर्य्य है।

२—असद्वादसमर्थकवचन—(१)—देवानां पूर्व्ये युगे असतः सदजायत ।

ठीक इसके विपरीत जो निर्धन अल्पसम्पत्ति होने पर भी सदा "सब आनन्द है,भगवान् ने सब कुछ दे रक्खा है, क्या कमी है" यह भावना बनाए रखता है, अवश्य ही कालान्तर में वह वैभवशाली बन जाता है। यदि किसी बड़े अदृष्ट से वैभवशाली नहीं भी बनने पाता, तब भी जो कुछ मिलता है, उसी में वह उस तृप्ति का, उस सन्तोष का अनुभव करने लगता है, जो कि एक कृपण, असद्वादी धनिक को स्वप्न में भी दुर्लभ है। वस्तुतस्तु ऐसा सद्वादी कभी गरीब रह ही नहीं सकता। धनसञ्चय न कर सके, परन्तु इसकी आवश्यकताएँ कभी नहीं रुकतीं। उधर एक धनिक इस सद्भावना का अनुगमन करता हुआ अधिकाधिक समृद्धिशाली बनता जाता है। श्रुति आदेश करती है कि, 'तुम्हें सदा 'अस्ति' लक्षण सद्ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए। 'न'— और 'असम्भव' कुछ नहीं है। सब कुछ सम्भव है। सब कुछ हो सकता है, होकर रहेगा, बशर्ते आप 'अस्ति' के अनुयायी बने रहें।'

उक्त श्रौत आदेश के आधार पर ही संस्कृत साहित्य में 'शुभं ब्रूयात्, शुभं श्रूयात्' यह आदेश प्रचलित है। इसी आदेश के आधार पर हम भारतीय लोग पारस्परिक सम्भाषणालापों में आरम्भ में ही बोला करते हैं— 'कहिए आनन्द में! हां आपकी कृपा से बड़े आनन्द में'। कितना सुन्दर आदेश है, कैसी उदात्त भावना है। मुकुलितनयन बन कर श्रुति-शिक्षा के महत्व का विचार कीजिए।

"देवताओं के पूर्वयुग में (सृष्टि से पहिले, किंवा सृष्टि के उपक्रम में) असत् (कारण) से ही यह सत् (रूप से प्रतीयमान, किन्तु वस्तुतः असद्रूप विश्व) उत्पन्न हुआ। जिन घटपटादि पदार्थों का (धारावाहिक असद्‌वल की कृपा से) आज (सृष्टिदशा में) हम 'घटोऽस्ति'— 'पटोऽस्ति' इत्यादि रूप से 'सत्' किंवा 'सत्ता' द्वारा अभिनय कर रहे हैं, यह सब कुछ सत् (प्रतीति का अनुगामी सत्) सृष्टि से पहिले असद्रूप ही था। सृष्टि से पहिले वास्तव में यह सब कुछ न था। सृष्टि की बात छोड़िए। सृष्टिदशा मे भी असत् के अतिरिक्त सत् कहने योग्य कुछ नहीं है। हमारे सामने आज जितने भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं, महाभारतकाल में वे सब सर्वथा असत् थे। महाभारतकालीन विश्व प्रपञ्च, महाभारत समय के पांच सहस्र वर्ष पहिले सर्वथा असत् था। यही क्यों, प्रत्येक पदार्थ के पूर्व एवं उत्तर दोनों क्षण आज भी असत् ही हैं। दोनों के मध्य में रहने वाला, 'व्यक्त' नामक मध्यक्षण भी असत् ही है। विश्व असद्‌रूप, असत् तत्व क्रियारूप, क्रियातत्त्व सर्वथा क्षणिक। फिर कैसा सद्‌भाव ?

जिस प्रकार कुलालादि को घट के प्रति कारण माना जाता है, इसी तरह वस्तु के प्राग-भाव' को भी कारण माना गया है। घटवस्तु का अभाव ही तो घट के प्रति कारण बनता है। दूसरे शब्दों में यों देखिए कि, जिस वस्तु का अभाव होता है, वही यथासमय उत्पन्न होती है। किसी वस्तु के न होने पर ही उसका होना बनता है। बच्चा पहिले न था, असत था, तभी वह उत्पन्न होता है, सद्रूप में परिणत होता है। यदि बच्चा पहिले से ही रहता (सत्-होता) तो, उत्पन्न कौन होता। चूंकि जगत् भी उत्पन्न हुआ है, एवं उत्पन्न होने वाले का प्रागभाव कारण बनता है, ऐसी दशा में जगत् की उत्पत्ति का एकमात्र कारण 'असत्' ही माना जायगा। 'देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत' यह श्रुत्यन्तर भी प्रकृत श्रुति का ही अनुसरण कर रही है। 'असत् कारण से ही सत्कार्य्य उत्पन्न होता है' यही तात्पर्य्य है।

(२)—असदेवेदमग्र आसीत्। असतो वै सदजायत।

"इदं-अयं-इयं" इत्यादि शब्दों से अभिनय में आने वाला यह विश्व अपने वर्त्तमान स्वरूप से पहिले सर्वथा 'असत्' था। अर्थात् कार्य्यरूप, सद्रूप से प्रतीयमान विश्व की कारण अवस्था असद्रूपा थी। उसी असत् कारण से यह (विश्वरूप) सत कार्य्य उत्पन्न हुआ।"

(३)—इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्। न द्यौरासीन्नपृथिवी
नान्तरिक्षम्। तदसदेव सन्मनोऽकुरुत-'स्याम्' इति।

प्रतिष्ठा) बनता हुआ हमारा विधाता है, ऐसे पिता, जनिता, एवं विधाता (सद्ब्रह्म) ने (अपने) सत्-भाव को आगे कर के ही (सद्-भाग से ही) यह सत् विश्व उत्पन्न किया है"। 'सद्ब्रह्म ही सद्विश्व का मूलकारण है' यही तात्पर्य्य है।

(३)—सदेवेदमग्र सोम्य आसीत् । कथं त्वसतः सञ्जायेत ।

"इस दृश्य प्रपञ्च से पहिले (विश्व से पहिले) इसका मूलकारण 'सन्' था। यदि विश्व का मूलकारण असत् माना जायगा तो सृष्टि ही सर्वथा अनुपपन्न बन जायगी। क्योंकि 'इदमस्ति-इयमस्ति-अयमस्ति' इत्यादि रूप से विश्व सद्रूप ही उपलब्ध होता है। जब कार्य्य-रूप विश्व प्रत्यक्ष में सद्रूप से प्रतीत हो रहा है, तो इसके मूलकारण को अवश्य ही सद्रूप माना जायगा। कारण के गुण ही तो कार्य्यगुणों के आरम्भ (उत्पादक) बनते हैं। भला असन् मूल से सत्कार्य्य कैसे हो सकता है। 'सत्'-कार्य्य का मूल सत् कारण ही हो सकता है' यही तात्पर्य्य है।

२—असद्वादसमर्थकवचन—(१)—देवानां पूर्व्ये युगे असतः सदजायत ।

ठीक इसके विपरीत जो निर्धन अल्पसम्पत्ति होने पर भी सदा "सब आनन्द है,भगवान् ने सब कुछ दे रक्खा है, क्या कमी है" यह भावना बनाए रखता है, अवश्य ही कालान्तर में वह वैभवशाली बन जाता है। यदि किसी बड़े अदृष्ट से वैभवशाली नहीं भी बनने पाता, तब भी जो कुछ मिलता है, उसी में वह उस तृप्ति का, उस सन्तोष का अनुभव करने लगता है, जो कि एक कृपण, असद्वादी धनिक को स्वप्न में भी दुर्लभ है। वस्तुतस्तु ऐसा सद्वादी कभी गरीब रह ही नहीं सकता। धनसञ्चय न कर सके, परन्तु इसकी आवश्यकताएँ कभी नहीं रुकतीं।' उधर एक धनिक इस सद्भावना का अनुगमन करता हुआ अधिकाधिक समृद्धिशाली बनता जाता है। श्रुति आदेश करती है कि, 'तुम्हें सदा 'अस्ति' लक्षण सद्ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए। 'न'—और 'असम्भव' कुछ नहीं है। सब कुछ सम्भव है। सब कुछ हो सकता है, होकर रहेगा, बशर्त्ते आप 'अस्ति' के अनुयायी बने रहें।'

उक्त श्रौत आदेश के आधार पर ही संस्कृत साहित्य में 'शुभं ब्रूयात, शुभं ब्रूयात्' यह आदेश प्रचलित है। इसी आदेश के आधार पर हम भारतीय लोग पारस्परिक सम्भाषणालापों में आरम्भ में ही बोला करते हैं—'कहिए आनन्द में ! हां आपकी कृपा से बड़े आनन्द में'। कितना सुन्दर आदेश है, कैसी उदात्त भावना है। मुकुलितनयन बन कर श्रुति-शिक्षा के महत्व का विचार कीजिए।

"देवताओं के पूर्वयुग में (सृष्टि से पहिले, किंवा सृष्टि के उपक्रम में) असत् (कारण) से ही यह सत् (रूप से प्रतीयमान, किन्तु वस्तुतः असद्रूप विश्व) उत्पन्न हुआ। जिन घटपटादि पदार्थों का (धारावाहिक असद्बल की कृपा से) आज (सृष्टिदशा में) हम 'घटोऽस्ति'—'पटोऽस्ति' इत्यादि रूप से 'सत्' किंवा 'सत्ता' द्वारा अभिनय कर रहे हैं, यह सब कुछ सत् (प्रतीति का अनुगामी सत्) सृष्टि से पहिले असद्रूप ही था। सृष्टि से पहिले वास्तव में यह सब कुछ न था। सृष्टि की बात छोड़िए। सृष्टिदशा में भी असत् के अतिरिक्त सत् कहने योग्य कुछ नहीं है। हमारे सामने आज जितने भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं, महाभारतकाल में वे सब सर्वथा असत् थे। महाभारतकालीन विश्व प्रपञ्च, महाभारत समय के पांच सहस्र वर्ष पहिले सर्वथा असत् था। यही क्यों, प्रत्येक पदार्थ के पूर्व एवं उत्तर दोनों क्षण आज भी असत् ही हैं। दोनों के मध्य में रहने वाला, 'व्यक्त' नामक मध्यक्षण भी असत् ही है। विश्व असद्रूप, असत् तत्व क्रियारूप, क्रियातत्त्व सर्वथा क्षणिक। फिर कैसा सद्भाव ?

जिस प्रकार कुलालादि को घट के प्रति कारण माना जाता है, इसी तरह वस्तु के प्राग-भाव' को भी कारण माना गया है। घटवस्तु का अभाव ही तो घट के प्रति कारण बनता है। दूसरे शब्दों में यों देखिए कि, जिस वस्तु का अभाव होता है, वही यथासमय उत्पन्न होती है। किसी वस्तु के न होने पर ही उसका होना बनता है। बच्चा पहिले न था, असत था, तभी वह उत्पन्न होता है, सद्रूप में परिणत होता है। यदि बच्चा पहिले से ही रहता (सत्-होता) तो, उत्पन्न कौन होता। चूंकि जगत् भी उत्पन्न हुआ है, एवं उत्पन्न होने वाले का प्रागभाव कारण बनता है, ऐसी दशा में जगत् की उत्पत्ति का एकमात्र कारण 'असत्' ही माना जायगा। 'देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत' यह श्रुत्यन्तर भी प्रकृत श्रुति का ही अनुसरण कर रही है। 'असत् कारण से ही सत्कार्य्य उत्पन्न होता है' यही तात्पर्य्य है।

(२)—असदेवेदमग्र आसीत्। असतो वै सदजायत।

"इदं-अयं-इयं" इत्यादि शब्दों से अभिनय में आने वाला यह विश्व अपने वर्त्तमान स्वरूप से पहिले सर्वथा 'असत्' था। अर्थात् कार्य्यरूप, सद्रूप से प्रतीयमान विश्व की कारण अवस्था असद्रूपा थी। उसी असत् कारण से यह (विश्वरूप) सत् कार्य्य उत्पन्न हुआ।"

(३)—इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत। न द्यौरासीन्नपृथिवी
नान्तरिक्षम्। तदसदेव सन्मनोऽकुरुत-'स्याम्' इति।

"यह दृश्य जगत् पहिले (कारणावस्था में) कुछ भी न था, अर्थात् असत् था। न उस समय द्युलोक था, न पृथिवी थी, न अन्तरिक्ष था। था केवल असत्-तत्त्व। इस असत् तत्त्व ने ही (जो कि मनोरूप था) यह इच्छा की कि—"मैं यह (विश्व) बन जाऊं"।

३-सदसद्वादसमर्थक वचन—

(१)—नैव वा इदमग्रेऽसदासीत्, नेव सदासीत्।
आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्।

"आज जिस विश्वप्रपञ्च का हम सद्रूप से साक्षात्कार कर रहे हैं, वह पहिले (कारणावस्था में) न असत् था, न सत् ही था। था कुछ अवश्य, परन्तु नहीं जैसा था। अर्थात् विश्व का कारण चूंकि सदसद्रूप था, अतएव न उसे केवल सत् ही कहा जा सकता, एवं न केवल असत् ही माना जा सकता।"

(२)—असदेवेदमग्र आसीत्, तत् सदासीत्।
तत् समभवत्। तदाण्डं निरवर्तत।

"यह सब प्रपञ्च कारणदशा मे असत् ही था। वह (कारण) सत् (भी) था। असत्-सद्रूप वे दोनों तत्त्व (परस्पर) मिल गए। इस समन्वय से (दोनों के मिल जाने से) इस आण्ड (ब्रह्माण्ड—विश्व) का स्वरूप सम्पन्न हुआ।"

(३)—सतो बन्धुमसति निरविन्दन्।

"सत् का असत् मे बन्धुत्त्व (बंधन-लक्षण-मैत्री) देखा गया। अर्थात् सत् असत् में घुल-मिल गया। इसी समन्वय से (सदसद्रूप कारण ब्रह्म) अपने मन की सृष्टि-कामना सफल बनाने मे समर्थ हो सके।" यही सिद्धान्त—'सतश्च योनिमसतश्चविवः' (ऋक् सं०) इत्यादि श्रुत्यन्तर से भी व्यक्त हो रहा है।

श्रुतिसमन्वय—

सद्वाद-असद्वाद-सदसद्वाद तीनों वादों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में ऊपर प्रत्येक के लिए तीन तीन वचन उद्धृत हुए हैं। श्रुति का अक्षर-अक्षर एक आस्तिक के लिए प्रमाण है, स्वतःप्रमाण है। उधर श्रुति मूलकारणता के सम्बन्ध में तीन विरुद्ध सिद्धान्त हमारे सामने रखती हुई हमें उलझन में डाल रही है। इस उलझन से सुलझने का भी उपाय "ब्रह्म-कर्म्मलक्षणद्वैतवाद" ही बनेगा। 'सदसद्वाद' स्वीकार कर लेने पर इतर दोनों वादों के समर्थक वचनों का भी समन्वय हो जाता है।

"सुफेद और काले रंग से पीत, हरित, नील, रक्त, बभ्रु आदि इतर रंगों का विकास हुआ है" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला व्यक्ति, यत्र तत्र "सुफेद से इतर रंगों का विकास हुआ है" यह भी कह सकता है, "काले से इतर रंगों का विकास हुआ है" यह भी कह सकता है। इसके इन दोनों वाक्यों से यदि कोई एक ही को सिद्धान्तपक्ष मानने लेने की भूल करने लगता है, तो उसी के मुख से—"न काले से रंगों का विकास हुआ, न सुफेद से" यह भी कह सकता है। इस प्रकार शुक्ल-कृष्ण दोनों के समन्वय के पक्षपाती के मुख से निम्न-लिखित चार तरह के वाक्य निकल सकते हैं—

१—शुक्ल-कृष्ण के समन्वय से इतर वर्णों का विकास हुआ है।
२—शुक्ल वर्ण से इतर वर्णों का विकास हुआ है।
३—कृष्ण वर्ण से इतर वर्णों का विकास हुआ है।
४—न कृष्ण से ही वर्णों का विकास हुआ, न शुक्ल से ही।

ठीक यही समन्वय उक्त श्रुतियों में समझिए। सदसद्वाद को सिद्धान्त पक्ष मानने वाला वेदशास्त्र जहां सदसद्वाद का समर्थन करेगा, वहां सत् की अपेक्षा से कहीं केवल सद्वाद की भी घोषणा कर सकेगा, असद्वाद की भी घोषणा कर सकेगा। यदि कोई मन्दबुद्धि इन दो घोषणाओं को पृथक् पृथक् सिद्धान्त मानने की भूल करने लगेगा तो, उस समय श्रुति दोनों का विरोध करती हुई परोक्षविधि से पुनः सदसद्वाद का समर्थन कर डालेगी। इस प्रकार सदसद्वाद के समन्वय को सिद्धान्त पक्ष मानने वाली श्रुति निम्न लिखित रूप से चार तरह के वाक्यों का प्रयोग कर सकेगी—

१—सदसत् से विश्व उत्पन्न हुआ है।
२—सत् से विश्व उत्पन्न हुआ है।
३—असत् से विश्व उत्पन्न हुआ है।
४—न सत् से ही विश्व उत्पन्न हुआ, न असत् से ही।

१—सतो बन्धुमसति निरविन्दन्।
२—यो नः सतो अभ्या राज्जजान।
३—देवानां पूर्व्ये युगे असतः सदजायत।
४—नैव वा इदमग्रेऽसदासीत्, नेव सदासीत्।

उधर जो केवल सद्वाद को ही सिद्धान्त पक्ष मान बैठता है, अथवा जो मन्दधी केवल असद्वाद को ही सिद्धान्त मानने की भूल कर रहा है, उन दोनों के लिए सदसद्वादसमर्थक वचनों का समन्वय करना असम्भव हो जाता है। श्रुतिसमन्वय आवश्यक रूप से अपेक्षित है। एवं यह तभी सम्भव है, जब कि 'सदसद्वाद' को ही सिद्धान्त मान लिया जाय।

समन्वय के लिए बतलाया गया उक्त वाक्यजाल केवल 'तुष्यद्दुर्ज्जनन्याय' से ही सम्बन्ध रखता है। जिन वचनों को केवल सद्वाद का समर्थक माना जा रहा है, एवं जिन्हें केवल असद्वाद के प्रतिपादक कहा जा रहा है, वस्तुतः देखा जाय तो वे वचन भी 'सदसद्वाद' का ही समर्थन कर रहे हैं। और इस वस्तुस्थिति की दृष्टि से तो पूर्वोक्त समन्वय के प्रयास की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, पूर्व में जितने भी वचन उद्धृत हुए हैं, वे सभी प्रत्यक्ष रूप से 'सदसद्वाद' का ही समर्थन कर रहे हैं। विरोध का अवसर ही नहीं है। फिर समन्वय के प्रयास की आवश्यकता ही क्या।

उदाहरण के लिए सब से पहिले सद्वादसमर्थक—'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' इसी वचन को लीजिए। 'जो ब्रह्म को असत् समझता है, वह स्वयं असत् है। ब्रह्म सत्-पदार्थ है, अस्ति लक्षण है" इस सद्वाद के द्वारा श्रुति केवल—श्रमणकाभिमत अभावलक्षण असद्वाद का खण्डन कर रही है। असद्वादी श्रमणकों का 'असत्' 'शून्यं-शून्यं' बनता हुआ अभावात्मक ही है, जैसा कि, साध्यवादान्तर्गत 'असद्वादनिरूपणप्रकरण' में कहा जा चुका है। इसी का विरोध करती हुई श्रुति कहती है कि, गलत समझ रहे हो। ब्रह्म अभावरूप नहीं, अपितु भावात्मक है। सत्तासिद्ध पदार्थ है, अतएव 'सत्' है। इस एक ही सद्ब्रह्म के 'रस-बल' नामक दो पर्व हैं। दोनों में यद्यपि रस ही 'अस्ति' है' परन्तु असद्बल (तत्वविशेष) चूंकि इस सद्रस के गर्भ में प्रविष्ट है, अतएव तद्ग्रहणन्याय से अस्तिमर्य्यादा से आक्रान्त रहता हुआ वह भी तद्रूप (सद्रूप) ही बना हुआ है। इसी सत्ताश्रय से नामरूपात्मक असद्विश्व—'नाम-रूपे सत्यम्' इस श्रुत्यन्तर के अनुसार 'सत्य' कहला रहा है। यदि श्रुति स्वसम्मत नाम-रूपप्रवर्तक, नामरूपात्मक तत्वविशेषरूप असत् का खण्डन करती तो, वही श्रुतिशास्त्र अन्यत्र कभी उसी असद्विश्व को 'सत्य' न कहती। फलतः यही मानना पडता है कि, उक्त श्रुति संकेतविधि से सद्वादद्वारा 'सदसद्वाद' का ही समर्थन कर रही है। श्रुति का विरोध तो उस 'असद्वाद' से है, जो असद्वाद (नास्तिकों का) अभावात्मक है। सत्ता को अपना आधार बनाने वाला असद्बल तो श्रुति की दृष्टि में सद्रूप बनता हुआ "अस्तिब्रह्म" में ही अन्तर्भूत है।

यही अवस्था असद्वादसमर्थक वचनों की समझिए। 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत' में पढ़ा हुआ 'असत्' शब्द असत्तत्त्व का वाचक नहीं है, जिससे कि आप इस श्रुति को असद्वाद की अनुगामिनी मानने का साहस कर बैठें। यह 'असत्' शब्द विश्व के अभाव की सूचनामात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। "आज हम जिस विश्वप्रपञ्च को विद्यमान देख रहे हैं, कारण दशा में यह न था" केवल यही कहना है। विश्व का ऐसा (वर्त्तमान) स्वरूप न था, यही तात्पर्य्य है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, विश्व में हमने 'सत्' शब्द से 'भौतिक' पदार्थों का ग्रहण कर रक्खा है. एवं असत् का अर्थ 'अभाव' समझ रक्खा है। विद्यमान वस्तु के लिए लोक मे सत्' का प्रयोग होता है, अभाव के लिए 'असत्' का प्रयोग होता है। यह तो हुई विश्वमर्य्यादा के भीतर साधारण मनुष्यों मे प्रचलित सत्-असत् शब्दो की मीमांसा।

अब विश्वसीमा से बाहर रहनेवाले, अथवा विश्वसीमा मे ही रहनेवाले उस सदसत्-द्वन्द्व के स्वरूप का विचार कीजिए, जिसका सर्वसाधारण को बोध नहीं है। सर्वसाधारण के लिए तो विश्व के पदार्थों का स्वरूप निर्म्माण करनेवाला, निर्म्माण कर तद्रूप से ही प्रतिष्ठित रहनेवाला सोपाधिक सदसद्-द्वन्द्व भी अविज्ञेय ही कहा जायगा। और इस अविज्ञेयता का स्पष्टीकरण करने के लिए ही श्रुति को 'असत्' कहना पड़ेगा। लौकिक मनुष्य की दौड़ सत्-असत् के सम्बन्ध में केवल विद्यमान और अभाव इन वृत्तियों मे समाप्त है। श्रुति कहती है, भूलते हो। न तुम्हारा समझा हुआ यह 'सत्' सत् है, न 'असत्' असत् है। वह तुम्हारे समझे हुए भावाभावरूप सत्-असत् से विलक्षण है। और अभी इस सम्बन्ध मे तुम्हारे—"फिर क्या है ?" इसके समाधान मे "असत्" है, यही उत्तर पर्य्याप्त है। "जो समझ रहे हो, वह नहीं है" बस साधारण मनुष्यानुबन्धी 'असत्' का यही तात्पर्य्य है।

इस प्रकार लौकिक मनुष्यों के समझे समझाए सत्-असत् (विद्यमान एवं अभाव) को 'असत्' कहते हुए श्रुति ने इन का ध्यान तत्त्वरूप, लौकिक-ज्ञान-क्रियात्मक सत्-असत्भावों की ओर ही आकर्षित किया है। इसके अतिरिक्त पढ़े-लिखे योग्य मनुष्य जिस सत्-असत् (ज्ञान-क्रिया) पर ही मूलकारणता का विश्राम कर लेते हैं, उनका ध्यान अचिन्त्य, विश्वातीत, ब्रह्म-कर्म्म, किंवा रस-बलरूप सत्-असत् की ओर आकर्षित करने के लिए भी श्रुति को 'असद्वा इदमग्र आसीत्' यह कहना पड़ा। इस पक्ष मे असत् का यही तात्पर्य्य होगा कि, विश्वपदार्थों को देखते हुए तुमने सत्-असत् का जो स्वरूप समझ रक्खा है, विश्वातीत, कारणरूप उन सत्-असद्भावों का स्वरूप इस से सर्वथा पृथक् है। तुम जिस ज्ञान को सत् कहते हो, जिस क्रिया को असत् कहते हो, वे दोनों तो सोपाधिक बनते हुए नानाभाव से युक्त

हैं, कार्य्यरूप हैं। विश्व से पहिले यह सोपाधिक भाव न था। जो निरुपाधिक तत्त्व था, वह असत् था, अचिन्त्य था, अनिर्वचनीय था। न केवल विश्व से पहिले, किन्तु कारण-दृष्टि से तो आज भी वह तुम्हारे लिए अचिन्त्य ही बना हुआ है। हम उसके लिए यह अनुमानमात्र कर सकते हैं कि, वह इस कार्य्यरूप (ज्ञान-क्रियारूप) सदसत् से कोई विलक्षण सदसत् होगा। परन्तु व्यवहार में हम उसे 'असत्' (अज्ञात, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, अविज्ञेय) ही कहेंगे।

वास्तव में प्रकृत श्रुति का 'असत्' शब्द कारण के अचिन्त्यभाव का ही दिग्दर्शन करा रहा है। इसी लिए आगे जाकर श्रुति को—'नेव वा इदमग्रेऽसदासीत्, नेव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्' (सृष्टि से पहिले न असत् था, न सत् था, जो कुछ था, वह नहीं जैसा (अविज्ञात) था) यह कहना पड़ा है। यह श्रुति स्पष्ट शब्दों में कारण की अविज्ञेयता का ही प्रतिपादन कर रही है। इस श्रुति का समन्वय तभी हो सकता है, जब कि, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' के असत् को 'अचिन्त्य' भाव का सूचक मान लिया जाय।

स्वयं श्रुति को यह आशङ्का थी कि, साधारण मनुष्य अवश्य ही 'असत्' का अर्थ अभाव भी कर सकते हैं, अथवा केवल कर्म्म परक भी लगा सकते हैं। इसी आशङ्का को दूर करने के लिए, 'असत्' का अर्थ अभाव, किंवा केवल क्रिया नहीं है, अपितु असत् शब्द विश्वातीत, अतएव अचिन्त्य ब्रह्म-कर्म्मात्मक किसी 'सत्' तत्त्व का ही (अनुमान द्वारा) स्पष्टीकरण कर रहा है' श्रुति को आगे जाकर यह कहना पड़ा कि—

'असदेवेदमग्र आसीत्, तत् सदासीत्। कथं त्वसतः सज्जायेत'

सृष्टि से पहिले (वह) असत् था। परन्तु वह अभाव लक्षण असत् न था। अपितु सद्रूप था। चूंकि हमें उसका बोध नहीं हो सकता, इसीलिए हम अपनी दृष्टि से उसे 'असत्' (अविज्ञेय) कहने लगते हैं। यदि असत् से अभाव ही अभिप्रेत हो तो, सृष्टि की उत्पत्ति ही असम्भव हो जाय। भला कहीं अभाव से भी भावात्मक विश्व उत्पन्न हुआ है।

उक्त विवेचन से पाठकों को विदित हुआ होगा कि, जो श्रुतिएँ केवल सद्वाद का, एवं केवल असद्वाद का समर्थन करती हुई दिखलाई देतीं हैं, सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन करने पर उनका तात्पर्य्य भी 'सदसद्वाद' पर ही जा के ठहरता है। ऐसी दशा में श्रुतिविरोध का अणुमात्र भी अवसर नहीं रहता, जिसके कि परिहार के लिए हमे कोई प्रयास करने की आवश्यकता हो।

ज्यों ज्यों हम विचारधारा की तह पर पहुँचते जाते हैं, त्यों त्यों हमारा आत्मा सदसद्वाद-लक्षण-ब्रह्म-कर्म्मवाद में ही अधिकाधिक अभिनिविष्ट होता जाता है।

सदसद्वाद का अभिनिवेश—

विश्वातीत (परात्पर), विश्वेश्वर (ईश्वर), शरीरेश्वर (जीव) विश्व (जगत्) ये चारों तो सदसद्रूप हैं हीं। इनके अतिरिक्त यदि व्यष्टिदृष्टि से आप प्रत्येक पदार्थ का अन्वेषण करने चलेंगे तो, उनमें भी आपको सत्-असत् का ही समन्वय मिलेगा। सब व्यष्टियों में द्वित्ववाद का ही साक्षात्कार होगा। जिसमें 'दो' नहीं, जो 'दो' नहीं, वह पदार्थ ही नहीं। सदसत् की समन्वित अवस्था ही पदार्थ का अवच्छेदक है। ज्ञानलक्षण ब्रह्म, क्रियालक्षण कर्म्म की समष्टिरूप 'पद' ही अपना कुछ अर्थ रखता है। और यही पदार्थ (पद-अर्थ) का पदार्थत्त्व है।

ब्रह्म-प्रजापति इन्द्र - देवता - गन्धर्व - यक्ष - राक्षस-पिशाच-ऋषि - मुनि-पितर-ब्राह्मण-राजा-सम्राट्-विराट्-स्वाराट्-मनुष्य-पशु-पक्षी - ओषधि - वनस्पति-पर्वत-नद-नदी-समुद्र-वन-उपवन-धर-वस्त्र-पुस्तक-लेखिनी-मसीपत्र-कुरता-टोपी-छत्ता-पगड़ी-थाली-लोटा,—कहाँ तक गिनावें, आपको जो भी पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं, सर्वत्र सब में ब्रह्म-कर्म्म का ही समन्वय है। वही ब्रह्म-कर्म्म व्यष्टि में है, वही समष्टि में है। (कारणात्मक) इन्हीं दोनों के लिए (गीतापेक्षया) अमृत-मृत्यु शब्द निरूढ हैं, जो कि निरूढभाव श्रुति से भी प्रमाणित है।

अमृत 'अभय' है, वही ब्रह्म है। मृत्यु ही कर्म्म है, अथवा कर्म्म का ही नाम मृत्यु है। कर्म्म प्रतिक्षण में बदलता ही रहता है, सदा कुर्वद्रूप ही बना रहता है। आविर्भाव-तिरोभाव ही इसका स्वरूपलक्षण है। क्षणमात्र के लिए भी इसकी स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है। यह सदा विनश्यदवस्था से ही आक्रान्त रहता है, सदा मरा हुआ ही रहता है। इसी लिए तो इसे मृत्यु कहना अन्वर्थ बनता है। ठीक इसके विरुद्ध ब्रह्मतत्त्व सदा शाश्वत है। वह कभी बदलना जानता ही नहीं। तभी तो इसे अमृत कहना यथार्थ बनता है। गीता में जहाँ जहाँ अमृत-मृत्यु शब्द आए हैं, सर्वत्र उन्हें कारणात्मक ब्रह्म-कर्म्म के ही वाचक मानना चाहिए।

विलक्षण सम्बन्ध—

ब्रह्म-कर्म्म दोनों परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध होते हुए भी एक ही स्थान में, एक ही बिन्दु में समन्वित हैं, क्या यह कम आश्चर्य है—

'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्'

—गी० २।२९

इस आश्चर्यमय तत्त्व का जो स्वरूप बतलाया जाता है, यह भी कम आश्चर्य नहीं है। कभी उसे सत्, कभी असत्, कभी सत्-असत् दोनों, कभी दोनों हीं नहीं, सभी कथन आश्चर्यमय—

'आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः'।

जब कहने वाले विद्वान हीं उसे आश्चर्यमय बना कर कह रहे हैं, तो सुननेवाले उसे कैसे आश्चर्य्यमय न समझेंगे। अवश्य ही श्रोताओं के लिए भी 'ब्रह्म-कर्म्म' चर्चा सुनना एक महा-आश्चर्य उत्पन्न कर रहा है—

'आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति'।

पर्य्याप्त रूप से सुन सुना कर भी उस अचिन्त्य का चिन्तन कौन कर सका है? उस अविज्ञेय को कौन जान सका है? उस अनिर्वचीय का इत्थभूत निर्वचन कौन कर सका है?

'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'।

देखिए तो सही, कैसा आश्चर्य्य है। जितनी दूर में, जिस प्रदेश में, अमृत प्रतिष्ठित है, उतनी ही दूर मे, उतने ही प्रदेश मे मृत्यु विराजमान है। व्यावहारिक अङ्गुली और उसमें रहनेवाली क्रिया को दृष्टान्त बनाइए। व्यवहारतः अङ्गुली शान्त है, अत. इसे 'अमृत' कहा जा सकता है। अङ्गुली मे रहनेवाली "हिलना" रूप जो क्रिया है, उसे 'मृत्यु' माना जा सकता हैं। जब तक मृत्युलक्षण यह 'हिलना' क्रिया अमृतलक्षण अङ्गुली मे सोई रहती है, तब तक के लिए उसे 'बल' कहा जाता है। सुषुप्तावस्था मे (जाग्रदवस्था मे) आकर वही 'बल' 'प्राण' कहलाने लगता है। एवं अङ्गुली के आधार को छोडने की अवस्था में वही प्राण 'क्रिया' नाम से व्यवहृत होने लगती है। इस प्रकार एक ही मृत्यु की सुषुप्ति, जागृति, विनिर्गति भेद से क्रमशः 'बल-प्राण-क्रिया' ये तीन अवस्थाएँ हो जातीं हैं।

मृत्यु की क्रिया अवस्था के सम्बन्ध मे हम आप से प्रश्न करेंगे कि, अङ्गुली के हिलने समय 'हिलना' रूप जो क्रिया हो रही है, अङ्गुली का कौनसा प्रदेश इस क्रिया का आधार है? उत्तर में आपको यही कहना पडेगा कि, जिस प्रदेश मे अङ्गुली है, ठीक उसी प्रदेश मे क्रिया प्रतिष्ठित है। अङ्गुली क्रिया मे है, क्रिया अङ्गुली मे है। दोनों दोनों मे प्रतिष्ठित हैं। दोनों हीं आधार हैं, दोनों हीं आधेय हैं। इसी लिए न कोई आधार है, न कोई आधेय है। क्या यह

कम आश्चर्य है। क्या हम इस परिस्थिति को आश्चर्य्यमयी नहीं देख रहे? कैसा विलक्षण सम्बन्ध है।

ठीक यही बात अमृत-मृत्यु के सम्बन्ध में घटित हो रही है। दोनों में कभी आधाराधेय भाव नहीं बन सकता। जहां अमृत है, वहां मृत्यु है। अमृत मृत्यु में 'ओत' (डूबा हुआ) है, मृत्यु अमृत में 'प्रोत' (पिरोया हुआ) है। और इसी विलक्षण, एवं अनिर्वचनीय सम्बन्ध को 'अन्तरान्तरीभाव' सम्बन्ध कहा जाता है। अमृततत्त्व मृत्यु के भीतर भी है, बाहिर भी है, सब ओर व्याप्त है। साथ ही में अमृतलक्षण आत्मभाग को मृत्यु ने भी बाहिर भीतर सब ओर से ढक रक्खा है। दोनों दोनों में व्याप्त हैं। अमृत-मृत्यु के इसी विलक्षण सम्बन्ध का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

१—अन्तरं मृत्योरमृतं, मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते, मृत्योरात्मा विवस्वति॥

—शत० १०।५।२।४।

२—तदेजति—तन्नैजति, तद्दूरे—तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः॥

—ईशोपनिषत् ५।

बहुत सम्भव है, वर्तमान युग के पदार्थतत्त्ववादी उक्त विलक्षण सम्बन्ध को विज्ञान विरुद्ध बतलाते हुए अप्रामाणिक मानने की भूल कर बैठें। परन्तु अभी भारतीय वैदिक मर्य्यादा से सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थलक्षण की दृष्टि से इस सम्बन्ध में हमें कुछ भी वक्तव्य नहीं है। यह एक स्वतन्त्र विषय है। पदार्थ का लक्षण यदि 'धामच्छद' (जगह रोकने वाला) ही माना जाता है, तब तो उक्त सम्बन्ध वास्तव में केवल कल्पना ठहरता है। क्योंकि अमृत भी एक पदार्थ है, एवं मृत्यु भी एक पदार्थ है। पदार्थ जब जगह रोकता है, तो जिस प्रदेश में एक पदार्थ बैठा है, उसमें दूसरा पदार्थ कभी नहीं बैठ सकता। फलतः 'जिस स्थान में अमृत है, उसी स्थान में मृत्यु है' इस कथन में आधुनिक विज्ञानदृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रह जाता। परन्तु जो भारतीय महर्षि 'धामच्छद' को पदार्थ का लक्षण नहीं मानते, उनकी दृष्टि में अवश्य ही अमृत-मृत्यु में अन्तरान्तरीभाव बन सकता है, बन रहा है। हमारे विज्ञानकाण्ड में पदार्थवर्ग— 'ज्ञानमय, क्रियामय, अर्थमय' भेद से तीन भागों में विभक्त है। इनमें ज्ञान और क्रिया

ये दो पदार्थ कभी धामच्छद नहीं बन सकते। ज्ञान भी जगह नहीं रोकता, क्रिया भी जगह नहीं रोकती। तीसरा है—'अर्थ'—वर्ग। भूत भौतिक प्रपञ्च ही अर्थ है। इसकी आकाश-वायु-तेज-जल-पृथिवी ये पांच अवान्तर जातिएं मानीं गई हैं। इनमें भी आकाश और तेज दोनों अधामच्छद हैं। धामच्छद हैं केवल वायु-जल-पृथिवी, ये तीन विवर्त्त। इधर हमारा अमृततत्त्व ज्ञानमय, एवं मृत्युतत्त्व क्रियामय बनता हुआ सर्वथा ही धामच्छद मर्य्यादा से बाहिर है। ऐसी दशा में अमृत-मृत्यु के विलक्षण सम्बन्ध में तो कोई आपत्ति उठाई ही नहीं जा सकती [1]।

तत्त्वद्वयी के नियतभाव—

अब यह सर्वात्मना सिद्ध हो चुका है कि, विरुद्धभावद्वयमूर्त्ति कार्य्यरूपा सृष्टि के मूलकारण भी दो ही हैं। एवं वे दोनों गीता-परिभाषा के अनुसार 'अमृत-मृत्यु' 'ब्रह्म-कर्म्म' इन उपाधियों से विभूषित हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि, गीता-सिद्धान्त का विवेचन आरम्भ करते हुए हमनें इस कारण ब्रह्म की विश्वातीत—'परात्पर', विश्वनियन्ता—'ईश्वर', शरीरसञ्चालक—'जीव', ईश्वरायतनरूप—'विश्व', ये चार संस्थाएँ बतलाई थीं, और साथ ही में यह भी स्पष्ट किया था कि, एक ही ('ब्रह्म-कर्म्म' मय) ब्रह्म चार संस्थाओं में विभक्त होकर विभिन्न नाम-रूपों में परिणत हो गया है। प्रसङ्गागत उन विभिन्न एवं नियत नामों का भी विचार कर लेना आवश्यक होगा।

इसी सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक होगा कि, जिस प्रकार 'विश्वातीत' ब्रह्म 'परात्पर' कहलाता है, गीतापरिभाषानुसार ईश्वर-जीव-जगत् तीनों क्रमशः 'अव्यय-अक्षर-क्षर' नामों से व्यवहृत हुए हैं। जैसा कि—'बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' (गी० १५।१७) 'प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्' (गी० ७।५) 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' (गी० १५।१६) इत्यादि गीतावचनों से स्पष्ट है। यद्यपि तीनों हीं संस्थाओं मे (प्रत्येक में) अव्यय (ज्ञान), अक्षर (क्रिया), क्षर (अर्थ) मूर्त्ति, त्रिब्रह्म-त्रिकर्म्मलक्षण आत्मप्रजापति की सत्ता है। तथापि प्रधानता-अप्रधानता की अपेक्षा से ही 'अक्षर-क्षरगर्भित अव्ययप्रधान ईश्वर' को 'अव्यय' नाम से, 'अव्यय-क्षरगर्भित अक्षरप्रधान जीव' को 'अक्षर' नाम से, एवं 'अव्यय-अक्षरगर्भित क्षरप्रधान विश्व' को 'क्षर' नाम से व्यवहृत कर दिया गया है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जायगा।

---

[1] इस विषय का विशेष विवेचन 'हमारी पदार्थविद्या' नाम के निबन्ध में देखना चाहिए।

परात्परसंस्था का ब्रह्मपदार्थ 'रस' नाम से, कर्म्मपदार्थ 'बल' नाम से व्यवहृत होगा। 'रस-बल' शब्द केवल परात्परब्रह्म के लिए ही नियत रहेंगे। अव्ययसंस्था का ब्रह्मपदार्थ 'अमृत' नाम से, कर्म्मपदार्थ मृत्यु' नाम से व्यवहृत होगा। 'अमृत-मृत्यु' शब्द अव्ययब्रह्म (ईश्वर) के लिए ही नियत रहेंगे। अक्षरसंस्था का ब्रह्मपदार्थ 'विद्या' नाम से, कर्म्मपदार्थ 'अविद्या' नाम से व्यवहृत होगा। 'विद्या-अविद्या' शब्द अक्षरब्रह्म (जीव) के लिए ही नियत रहेंगे। एवं क्षरसंस्था का ब्रह्मपदार्थ 'सम्भूति' नाम से, कर्म्मपदार्थ 'विनाश' नाम से व्यवहृत होगा। 'सम्भूति-विनाश' शब्द क्षरब्रह्म (जगत्) के लिए ही नियत रहेंगे।

उक्त नियत नामों के अतिरिक्त विशेष दशाओं मे 'आभू-अम्ब'—'ज्योति-तम'—'अनिरुक्त-निरुक्त'—'विद्या-वीर्य्य'—'ब्रह्म-कर्म्म'—'सत्-असत्' इन ६ ओं युग्मनामों का चारों सस्थाओं के साथ सम्बन्ध माना जा सकेगा, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

नियतभावप्रदर्शनपरिलेख :—

१—रसः	(आभू—	ज्योति —	अनिरुक्त —	विद्या —	ब्रह्म —	सत्	१
२—बलम्	(अम्ब —	तमः —	निरुक्त —	वीर्य्य —	कर्म्म —	असत्	परात्परः (विश्वातीतः)
१—अमृतम्	(आभू —	ज्योति —	अनिरुक्त —	विद्या —	ब्रह्म —	सत्	२
२—मृत्युः	(अम्ब —	तम —	निरुक्त —	वीर्य्य —	कर्म्म —	असत्	अव्यय. (ईश्वरः)
१—विद्या	(आभू —	ज्योतिः —	अनिरुक्त —	विद्या —	ब्रह्म —	सत्	३
२—अविद्या	(अम्ब —	तम —	निरुक्त —	वीर्य्य —	कर्म्म —	असत्	अक्षरः (जीव)
१—सम्भूति	(आभू —	ज्योति —	अनिरुक्त —	विद्या —	ब्रह्म —	सत्	४
२—विनाश	(अम्ब —	तमः —	निरुक्त —	वीर्य्य —	कर्म्म —	असत्	क्षरः (जगत्).

वेदप्रतिपादित—निब्रह्म संस्था

उक्त चारों ब्रह्म-कर्म्मसंस्थाओं मे परात्पर नाम की पहली ब्रह्म-कर्म्मसंस्था तो सर्वथा अनिर्वचनीय है। अतएव श्रुति ने इसके सम्बन्ध से जो भी कुछ कहा है, अनिर्वचनीय-सा, अचिन्त्य-सा, अविज्ञेय-सा ही कहा है; जैसा कि पूर्व के श्रुतिसमन्वय प्रकरण मे बतलाया जा चुका है। अब निरूपणीयकोटि में 'ईश्वर-

जीव-जगत्' लक्षण अव्यय-अक्षर-क्षर नाम की तीन सस्थाए शेष रहती हैं। तीनों के निरूपण से ही 'ब्रह्म-कर्म्म' पदार्थ का सर्वात्मना निरूपण चरितार्थ होता है। कहना न होगा कि, वेद और तदनुगामिनी गीता दोनों मे इन तीनो ही सोपाधिक ब्रह्म-कर्म्म सस्थाओं का विस्पष्ट निरूपण हुआ है। दोनो की निरूपण शैली मे केवल भेद यही है कि, वेद (सहिता-भाग, विशेपत उपनिपद् भाग) ने जहा संक्षिप्त भापा मे इन का दिग्दर्शन कराया है, वहां गीता ने विस्तार से तीनों का प्रतिपादन किया है। पहिले वेद प्रतिपादित सस्थाओं की ही मीमांसा कीजिए। अभीतक हमने पूर्व मे—

'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्'

इत्यादि रूप से केवल अव्ययसस्था का ही दिग्दर्शन कराया है। परन्तु अब प्रकरणसङ्गति के लिए यह आवश्यक हो गया है कि, तीनों का क्रमबद्ध दिग्दर्शन कराया जाय। तीनों मे से सर्वप्रथम अव्ययब्रह्म के समर्थक कुछ एक वचनो पर ही दृष्टि डालिए—

१—अमृत-मृत्युलक्षण अव्यय-ब्रह्म के समर्थक वचन—

(१)—यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेवपश्यति॥

"जो यहाँ है, सो वहाँ है। एवं जो वहाँ है, सो यहाँ है। वह मनुष्य मृत्यु के साथ (मृत्यु को आगे कर) मृत्युभाव को ही प्राप्त होता है, जो कि यहाँ (इसमे और उसमें) भेद-दृष्टि रखता है"। हम संसार मे एकत्वनिबन्धन अनेकत्व का साक्षात्कार कर रहे हैं। इसी को दर्शनभापा मे 'सामान्य-विशेपभाव' कहा गया है। सामान्यदृष्टि का एकत्वमूला जाति से सम्बन्ध है, एव विशेपभाव का अनेकत्वनिबन्धना व्यक्ति से सम्बन्ध है। एकत्वलक्षण सामान्यभाव अमृतनिबन्धन है, एव अनेकत्वलक्षण विशेपभाव मृत्युनिबन्धन है। इस प्रकार सामान्य और विशेपभावों के द्वारा हम अव्यय ब्रह्म के अमृत-मृत्युलक्षण ब्रह्म-कर्म्म दोनों पर्वों के दर्शन कर रहे हैं।

पदार्थों मे सामान्यरूप से रहनेवाला 'पदार्थत्व' सब पदार्थों के लिए समान है, अभिन्न है। पदार्थत्वेन सब पदार्थ एक रूप हैं, और इस सामान्यधर्म्म मे नानात्व का प्रवेश नहीं है। यही सामान्यदृष्टि अमृतदृष्टि कहलाएगी। इसी को अव्यय ब्रह्म का 'अमृत' भाग माना जायगा। यदि पदार्थों में जडपदार्थ, चेतनपदार्थ ये दो भेद कर दिए जाते हैं तो, बस सामान्य भेदशून्य पदार्थ के जडत्व-चेतनत्व ये दो भेद हो जाते हैं। जडत्वेन और चेतनत्वेन

सामान्य अमृतलक्षण वही पदार्थ नानाभावलक्षण मृत्युरूप में परिणत हो रहा है। आगे जाकर जड़त्व जहाँ यच्चयावत् जड़पदार्थों का अमृतलक्षण सामान्य धर्म्म है, वहाँ पाषाणत्व, घटत्व, मठत्व, पटत्व आदि मृत्युलक्षण विशेष धर्म्म हैं। इसी तरह चेतनत्व जहाँ यच्चयावत् चेतनपदार्थों का अमृतलक्षण सामान्यधर्म्म है, वहाँ मनुष्यत्व, पशुत्व, कृमित्व, कीटत्वादि मृत्युलक्षण विशेषधर्म्म हैं। पाषाणत्व, घटत्वादि यच्चयावत् पाषाण-घटादि के लिए जहाँ सामान्य है, वहाँ पर्वतत्व, लोष्ट्रत्व, शरावत्व, उखात्व आदि विशेषधर्म्म है। मनुष्यत्व, पशुत्वादि जहाँ मनुष्यमात्र, पशुमात्रादि के लिए सामान्यधर्म्म हैं, वहाँ ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, अश्वत्व, गोत्वादि विशेष धर्म्म हैं।

मनुष्यत्व मनुष्यमात्र के लिए सामान्यधर्म्म हैं, तो रामलालत्व, यज्ञदत्तत्व, देवीदत्तत्व आदि विशेष धर्म्म हैं। देवदत्तत्व सामान्यधर्म्म है, तो कर्णत्व, चक्षुत्व, श्रोत्रत्वादि विशेष धर्म्म हैं। इस प्रकार परस्पर की अपेक्षा से विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य-विशेष दोनों भावों से नित्ययुक्त रहते हैं। दार्शनिक लोग एक ऐसा सामान्य (महासामान्य, अन्तिम-सामान्य) माना करते हैं, जो कि कभी विशेष नहीं बना करता, जो कि 'महतो-महीयान्'—'परमसामान्य'—'सत्तासामान्य' आदि नामों से प्रसिद्ध है। एवं एक ऐसा विशेष मानते हैं, जो कभी सामान्य नहीं बनता, जो कि 'अणोरणीयान्'—'परमविशेष'—'सत्ताविशेष' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इन्हीं दार्शनिकों का यह भी कहना है कि, परमसामान्य केवल परम-सामान्य ही है, परमविशेष केवल परमविशेष ही है। परन्तु दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित यच्च-यावत् पदार्थ अपेक्षया सामान्य भी हैं, विशेष भी हैं।

दार्शनिकों के उक्त सिद्धान्त का समर्थन इस लिए किया जा सकता है कि, इस युक्ति से सामान्य-विशेषभाव का सरलता से बोध हो जाता है। परन्तु पारमार्थिकी वैज्ञानिक दृष्टि से अवलोकन करने पर तो हमे इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि, जिसे केवल परम-सामान्य कहा जाता है, वही परमविशेष भी है, एवं जिसे केवल परमविशेष कहा जाता है, वही परमसामान्य भी है। वही तत्त्व अपने सामान्य अमृतभाव से परमसामान्य बना हुआ है, वही तत्त्व अपने विशेष मृत्युभाव से परमविशेष बना हुआ है, एवं वही अपने आपे-क्षिक सामान्य-विशेषलक्षण अमृत-मृत्युभावों से सामान्य-विशेषोभयमूर्त्ति बना हुआ है। तभी तो उसके सम्बन्ध में—

'अणोरणीयान् महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'

कहना चरितार्थ होता है।

प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, चर-अचरपदार्थों में सापेक्षभाव से प्रतिष्ठित सामान्यभाव एकत्व का प्रयोजक बनता हुआ अमृतलक्षण ब्रह्म है, एवं विशेषभाव अनेकत्व का प्रयोजक बनता हुआ मृत्युलक्षण कर्म्म है। दोनों ही भाव प्रत्यक्षदृष्टि, किंवा प्रत्यक्षानुभूत हैं। इस रूप से हम अमृत-मृत्युलक्षण अव्यय ब्रह्म के, दूसरे शब्दों में ईश्वर के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं।

२ – प्रतिबोध विदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्य्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥

"(पूर्वोक्त सामान्य-विशेषनिबन्ध, अमृत-मृत्युभावों के द्वारा) प्रत्येक बोध में, प्रत्येक ज्ञान में वह (अव्ययब्रह्म) प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से अवलोकन करने पर अमृतत्त्व प्राप्त हो जाता है। अमृतात्मा के द्वारा, दूसरे शब्दों में अमृत-मृत्यु रूप आत्मा के अमृतभाग द्वारा वीर्य्यरूप मृत्युभाव मिल जाता है (मृत्युतत्त्व का सम्यक् बोध हो जाता है), एवं विश्व के द्वारा अमृत-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

२–विद्या-अविद्यालक्षणअक्षर-ब्रह्म के समर्थक वचन—

(१)—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

(२)—अन्यदेवाहुर्विद्यया, अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे॥

(३)—विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

"जो मनुष्य केवल अविद्या की उपासना करते हैं, वे तो घोर अन्धकार में प्रवेश करते ही हैं। परन्तु इनसे भी अधिक घोर अन्धकार मे वे मनुष्य हैं, जो कि केवल विद्या में ही रत (आसक्त) हैं" (१)। उसे (अक्षरब्रह्म को) विद्या से भी पृथक् ही कहते हैं, एवं अविद्या से भी पृथक् ही कहते है। जिन विद्वानों ने हमे उस तत्त्व का स्वरूप बतलाया है, उन धीरों से परम्परया हम यही सुनते आ रहे हैं—(कि वह विद्या, अविद्या दोनों से अन्य है, अर्थात दोनों है)—(२)। जो विद्वान् विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ समन्वित देखता

है, वही अविद्या से मृत्यु का तरण कर विद्या से अमृतत्व प्राप्त कर लेता है—(अक्षर के अविद्याभाग से तो तत्-सजातीय अव्यय के मृत्युभाग पर उसका अधिकार हो जाता है, एवं अक्षर के विद्याभाग से तत्सजातीय अव्यय के अमृतभाग पर उसका अधिकार हो जाता है, यही तात्पर्य्य है) (३)।"

विद्या एवं अविद्या के समन्वय से ही पूर्ण आत्मा के पूर्णभाव का विकास होता है। अक्षर ब्रह्म ही अव्यय ब्रह्म प्राप्ति का प्रधान द्वार है। ऐसी दशा में यदि अक्षर ब्रह्म की पूर्णरूप से उपासना न की जायगी, दूसरे शब्दों में अक्षरब्रह्म के विद्या-अविद्या दोनों रूपों का जब तक आश्रय न लिया जायगा, तबतक न तो इसी का पूर्ण विकास होगा, एवं न पूर्णेश्वर अव्यय की पूर्णता ही विकसित होगी। ऐसी दशा में दोनों का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। जो व्यक्ति केवल अविद्या के (विशुद्ध कर्म्म के) उपासक हैं, वे तो अन्धकार में हैं हीं, परन्तु जो व्यक्ति केवल विद्या (ज्ञान) में रत हैं, उनका और भी अधिक पतन होता है। हम देखते हैं कि, अविद्यात्मक कर्म्म के अनुयायी लौकिक मनुष्य कम से कम भौतिक सम्पत्ति से तो वञ्चित नहीं रहते। परन्तु विशुद्ध ज्ञानवादी तो न इधर के ही रहते, न उधर के ही रहते। 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' यह पहिला मन्त्र इसी रहस्य का स्पष्टीकरण कर रहा है।

तत्त्व यह निकला कि, केवल विद्या का अनुगमन भी व्यर्थ, एवं केवल अविद्या का अनुगमन भी व्यर्थ। क्योंकि वह (अक्षरब्रह्म) विद्या-अविद्या दोनों से पृथक् है। न वह विद्यामात्र है, न अविद्यामात्र। है वह उभय रूप। क्योंकि तत्त्वद्रष्टा विद्वानों की इस सम्बन्ध में यही सम्मति है। और 'अन्यदेवाहुर्विद्यया०' यह दूसरा मन्त्र इसी सम्मति का स्पष्टीकरण कर रहा है।

ईश्वर का जहां अव्ययसंस्था से सम्बन्ध है, वहाँ जीव का अक्षरसंस्था के साथ ही प्रधान सम्बन्ध है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जा चुका है। अक्षरब्रह्मात्मक जीवात्मा वास्तव में विद्या-अविद्यात्मक ही है। विद्या-अविद्यात्मक जीवात्मा का यही परमपुरुषार्थ है कि, यह अपने विद्या-अविद्या भागों से (ज्ञान-कर्म्म से) उस उपास्य, अमृत-मृत्युलक्षण अव्ययेश्वर के साथ समबलयभाव को प्राप्त हो जाय। 'विदुषां चाविदुषां च०' इस तीसरे मन्त्र ने जीवात्मा के इसी परमपुरुषार्थ प्राप्ति के उपाय का स्पष्टीकरण किया है।

यह अपने अविद्या (कर्म्म) भाग से अव्यय के मृत्युभाग को वश में करता हुआ, विद्या (ज्ञान) भाग से उसके अमृततत्त्व को प्राप्त कर कृतकृत्य बन जाता है। जीवाक्षरसम्बन्धी

विद्या-अविद्याभाव ही ईश्वराव्यय सम्बन्धी अमृत-मृत्युभाव प्राप्ति के कारण हैं, यही निष्कर्ष है। सचमुच अव्ययात्मा की प्राप्ति के लिए प्रत्येक दशा में विद्या-अविद्या के समन्वय का ही अनुगमन अपेक्षित है। अविद्या कर्म्मसूचिका है। इधर बिना कर्म्म के कभी नैष्कर्म्य सम्पत्ति मिल नहीं सकती। साथ ही केवल विद्या (ज्ञान) के पारायण से भी तब तक कुछ नहीं बनता, जब तक कि उसे कर्म्म का अनुगामी न बना दिया जाय। ईश्वर के कर्म्मरूप आधे भाग की निन्दा करनेवाले (कर्म्मजाल को अनुपयुक्त एवं मिथ्या बतलानेवाले) भी आत्मबोध से वञ्चित हैं, एवं ज्ञानरूप आधे भाग की उपेक्षा करनेवाले विशुद्ध कर्म्मवादी नास्तिक भी सदा 'शून्यं-शून्यं —'दुःखं-दुःखं' पुरस्कार के ही पात्र बने रहते हैं। श्रौती उपनिषत् के इसी अर्थ का अनुगमन करती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधि गच्छति ॥

—गीता।

३—सम्भूति-विनाशलक्षणक्षर-ब्रह्म के समर्थक वचन—

(१) अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
तती भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥
(२) अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां येन् स्तद्विचचक्षिरे ॥
(३) सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

क्षर प्रधान भौतिक विश्व में 'सम्भूति' और 'विनाश' रूप से ही हम सदसल्लक्षण-क्षरब्रह्म के दर्शन कर रहे हैं। भौतिक पदार्थ के आविर्भाव (उदय) का सम्भूति से सम्बन्ध

---

१ इन तीनों मन्त्रों का अर्थ अक्षरब्रह्मसमर्थक पूर्वोपात्त तीनों औपनिषद मन्त्रों से मिल रहा है। केवल विद्या-अविद्या के स्थान में 'सम्भूति-विनाश' का सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

है, एवं तिरोभाव (अस्त) का विनाश से सम्बन्ध है। जब सत्तारस (ग्रन्थिरूप से) बल की आश्रयभूमि बन जाता है, तो वही बलसंघात 'सम्भूति' रूप में परिणत हो जाता है। वही बलसंघात ग्रन्थिबन्धनरूप सत्ताश्रय से वञ्चित होता हुआ, सत्ता के साथ केवल सहचरभाव से रहने की दशा में 'विनाश' का अनुगामी बन जाता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, बलसंघात का सत्तारस को अपने गर्भ में ले लेना ही उसकी सम्भूति है, एवं बलसंघात का सत्तारस के गर्भ में विलीन हो जाना ही उसका विनाश है। सम्भूति की दशा में सत्तागर्भित बल का साम्राज्य है, विनाश की दशा में बलगर्भिता सत्ता का वैभव है, यही तात्पर्य्य है। इस प्रकार क्षरब्रह्म में भी हम सल्लक्षण ब्रह्मरूप सम्भूतिभाव, एवं असल्लक्षण कर्म्मरूप विनाशभाव दोनों का साक्षात्कार कर रहे हैं।

श्रुत्युक्त 'विनाश' शब्द श्रमणकाचार्य्य अभिमत 'शून्यवाद' नहीं है। श्रमणक तो असत् का अर्थ अभाव मानते हैं, जैसा कि पूर्व में आटोप के साथ बतलाया जा चुका है। हमारा यह असत् तो बल नामक तत्त्वविशेष है। ऐसी दशा में विनाश का केवल 'तिरोभाव' ही अर्थ होता है। विनाश शब्द अभाव का सूचक नहीं है। अपितु व्यावस्था का ही द्योतक है। कहीं शून्यवादी 'विनाश' शब्द से स्वार्थसिद्धि न कर बैठें, इसी लिए आरम्भ में ही श्रुति ने—'येऽसम्भूतिमुपासते' कह दिया है। इसी लिए पुराणाचार्य्य इस अवस्था को 'प्रलय' शब्द से व्यवहृत किया करते हैं। बलसंघातरूप पदार्थों का अभावलक्षण नाश नहीं होता, अपितु लयलक्षण विनाश होता है। सत्तारस में लीन हो जाना ही प्रकृत विनाश शब्द से अभिप्रेत है।

गीताप्रतिपादित त्रिब्रह्म संस्था—

यद्यपि गीताशास्त्र के त्रिब्रह्म प्रकरण में केवल 'अव्ययब्रह्म' का ही प्रधान रूप से निरूपण हुआ है, जैसा कि पूर्व के 'त्रिब्रह्म-त्रिकर्म्म' प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। एवं इसी दृष्टि से यद्यपि गीताशास्त्र प्रधान रूप से 'अव्ययशास्त्र' ही कहलाया भी है। तथापि अव्ययब्रह्म से नित्य युक्त रहने वाली अक्षरब्रह्मसंस्था, एवं क्षरब्रह्मसंस्था (जीवसंस्था एवं जगत्संस्था) का भी चूंकि गौणरूप से गीता में निरूपण हुआ है। अतएव गीता को भी वेदशास्त्र की तरह त्रिब्रह्मप्रतिपादिका कह सकते हैं। स्वयं गीताभाष्य में इन तीनों संस्थाओं का यत्रतत्र विस्तार से निरूपण होनेवाला है। अतः यहां प्रकरणसङ्गति के लिए केवल कुछ एक वचन उद्धृत कर देना ही पर्य्याप्त होगा।

१—अमृत-मृत्युलक्षण अव्ययब्रह्म के समर्थक वचन—

(१)—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
—गी० १५।१७।

(२)—गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयं स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥
—गी० ९।१८।

(३)—अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
—गी० ४।६।

(४)—अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
—गी० ७।२४।

(५)—अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हसि ॥
—गी० २।१७।

२—विद्या-अविद्यालक्षण अक्षरब्रह्म के समर्थक वचन—

(१)—अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ॥
—गी० ८।२१।

(२)—अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
—गी० ८।१८।

(३)—दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
—गी० ७।१४।

(४)—सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यम् ॥

—गी० ९।७।

(५)—प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशः प्रकृतेर्वशात् ॥

—गी० ९।८।

३—सम्भूति-विनाशलक्षण क्षरब्रह्म के समर्थक वचन—

(१)—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

—गी० ७।४।

(२)—अधिभूतं क्षरो भावः ।

—गी० ८।४।

(३)—क्षरः सर्वाणि भूतानि ।

—गी० १५।१६।

(४)—प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥

—गी० १३।२९।

(५)—तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत् प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु ॥

—गी० १३।३।

अद्वैतवाद का समर्थन—

पूर्व में द्वैतवाद का बड़े अभिनिवेश के साथ समर्थन किया गया था, और उसी प्रसङ्ग में यह भी कहा गया था कि, जब सम्पूर्ण उपनिषत्, तदनुगामी वेदान्त-दर्शन, तत्सम गीताशास्त्र, सभी प्रामाणिक शास्त्र जब एकस्वर से अद्वैतवाद का समर्थन कर रहे हैं, तो इन सब के विपरीत द्वैतवाद का पक्ष उठाना भी जब अपराध है तो, उसका समर्थन अवश्य ही मत्तप्रलाप है। ब्रह्म-कर्म्म इन दो तत्त्वों को मानते हुए सद्वादमूलक 'अद्वैतवाद' (ब्रह्मवाद) का समर्थन किसी भी दृष्टि से सम्भव नहीं है।

आज भारतवर्ष की विद्वन्मण्डली में अधिकांश में इसी सम्भावना को आगे करते हुए कर्म्ममार्ग के उच्छेद का समर्थन किया जा रहा है, अपनाया जा रहा है एकमात्र ब्रह्मवाद, ज्ञानवाद, जिसका कि पूर्व के 'विद्वानों की वादचतुष्टयी' नामक प्रकरण के 'विद्वानोंका सद्वाद' नामक अवान्तर प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

प्रस्तुत प्रकरण में इसी सम्बन्ध में हमें कुछ विचार करना है। यह तो ध्रुव सत्य है कि, भगवान् रामानुजाचार्य का 'विशिष्टाद्वैतवाद' (ईश्वर-जीव-जगत्-लक्षण त्रित्ववाद), भगवान् वल्लभाचार्य्य का 'शुद्धाद्वैतवाद', भगवान् निम्बार्क-माध्वादि आचार्यों का 'द्वैताद्वैत,' 'द्वैतादि'वाद ये सभी वाद प्रायोवाद हैं। जिस प्रकार विश्वसृष्टि के गर्भ में विभिन्न कार्य्य-कारणवादों की दृष्टि से साध्यों के दस वादों की प्रामाणिकता तथा उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं है, इसी प्रकार विश्वसृष्टि की दृष्टि से उक्त परमभागवत आचार्यों के विशिष्टाद्वैत-वादादि की भी प्रामाणिकता तथा उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। विभिन्न दृष्टिकोणों से सभी वादों का समर्थन किया जा सकता है। यही कारण है कि, तत्तद्विशेष परिस्थितियों में धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए अवतीर्ण भगवदंशावतार भगवद्रामानुजादि तत्तदाचार्यों नें तत्तद्विशेषदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले तत्तद्विशेष कार्य्यकारणभावों को लक्ष्य में रखते हुए तत्तत् सम्प्रदाएं प्रतिष्ठित कीं, एवं सनातनधर्म्मियों नें सभी को वेदमूलक मानते हुए सभी की प्रामाणिकता, एवं उपादेयता स्वीकार की। अवश्य ही श्रुति के कुछ एक ऐसे वचन उद्धृत किए जा सकते हैं, जिन से उक्त सभी वादों का समर्थन हो रहा है। तत्तद्दार्शनिकग्रन्थों में तत्तत् प्रमाणों का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है, अतः यहां उनको उद्धृत करना अप्रस्तुत होगा।

इस सम्बन्ध मे हमें वक्तव्य केवल यही है कि, भारतवर्ष मे सनातनधर्म्म से सम्बन्ध रखनेवाली जितनीं भीं सम्प्रदाए हैं, जितनें भी मत हैं, जितनें भी विभिन्न पथ हैं, अधिकारी वर्ग की योग्यता के अनुसार 'सोपानपरम्परा' न्याय से वे सभी सुव्यवस्थित हैं। जो जिस सम्प्रदाय का अनुगामी है, उसे अनन्यभाव से उसी का पक्षपाती रहना चाहिए, परन्तु इतर सम्प्रदायों का खण्डन न करते हुए। अवश्य ही सम्प्रदायवाद तत्तत्समयविशेष की दृष्टि से आत्यन्तिक रूप से उपादेय बनते हुए आदरणीय ही कहे जायगे। यह सब कुछ ठीक है। परन्तु वेदशास्त्र में एक दृष्टि ऐसी भी है, जिसका चरमकारणतावाद से सम्बन्ध है। विश्व के भीतर आप सभी वादों का समन्वय कर सकते हैं। परन्तु समष्टि रूप से विश्व की कारणता

का विचार उपस्थित होने पर हमें 'अद्वैतवाद' की ही शरण में आना पड़ता है, एवं उसी को 'सिद्धान्तवाद' मानने के लिए विवश होना पड़ता है।

श्रुति-(उपनिषत्) स्मृति-(गीता)-दर्शन (वेदान्तसूत्र) की समष्टिरूपा 'प्रस्थानत्रयी' का अन्तिम लक्ष्य अद्वैततत्व ही माना जायगा, एवं इसी अद्वैतवाद का हमें पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार 'द्वैतवाद'-रूप से समर्थन करना पड़ेगा। मानेंगे—अद्वैतवाद, समर्थन करेंगे द्वैतवाद का। मानेंगे, द्वैतवाद, समर्थन करेंगे अद्वैतवाद का। मानेंगे ब्रह्मवाद, समर्थन करेंगे ब्रह्म-कर्म्मवाद का। मानेंगे ब्रह्म-कर्म्मवाद, समर्थन करेंगे ब्रह्मवाद का। दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय कैसे होगा ? दूसरे शब्दों में अद्वैतवाद और द्वैतवाद दोनों को सिद्धान्त-पक्ष कैसे माना जायगा ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए ही संक्षेप से अद्वैतवाद का स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है।

रस-बललक्षण परात्परब्रह्म, अमृत-मृत्युलक्षण अव्ययब्रह्म, विद्या-अविद्यालक्षण अक्षरब्रह्म, सम्भूति-विनाशलक्षण क्षरब्रह्म, इन कुछ एक प्रधान विवर्त्तों के पूर्वोक्त स्पष्टीकरण से, साथ ही में उनके रस-बलादि दो दो भावों के प्रदर्शन से सहसा यह भान हो पड़ता है कि, मानो हम द्वैतवाद को ही सिद्धान्तवाद बताने का प्रयास कर रहे हैं। इस प्रयास को निर्म्मूल बनाने के लिए हम प्रधान रूप से 'अस्ति-भाति' इन दो शब्दों को ही आगे करते हुए अद्वैत-वाद की परीक्षा आरम्भ करते हैं

सब से पहिले तो यही विचार करना चाहिए कि यह 'भेद' कितने भागों में विभक्त है, जिस के कि द्वारा हमें अभेद में भी भेद की भ्रान्ति हो जाया करती है। विद्वानों ने सजातीयभेद, विजातीयभेद, स्वगतभेद रूप से भेदवाद को तीन भागों में विभक्त माना है। वटवृक्ष और पिप्पलवृक्ष में अवश्य ही कुछ ऐसा भेद है, जिस से वट पिप्पल नहीं कहलाता, पिप्पल वट नहीं कहलाता। वट एक अन्य जाति का वृक्ष है, पिप्पल भिन्न ही जाति से सम्बन्ध रखता है। इसी जातिभेद को 'विजातीयभेद' कहा जायगा। हालांकि वृक्षत्वेन दोनों वृक्ष वृक्ष होने से सजातीयभेद के भी अन्तर्गत माने जा सकते हैं, परन्तु वटत्व-पिप्पलत्वेन दोनों का भेद विजातीयभेद ही माना जायगा। पिप्पल एवं वट के जितने भी वृक्ष हैं, उन में परस्पर में भी अवश्य ही कोई ऐसा भेद है, जिससे 'यह पिप्पल, और वह पिप्पल' इत्याकारक पृथक् पृथक् ज्ञान होता है। जातित्वेन समान (अभिन्न) रहने पर भी व्यक्तित्वेन सब पिप्पल वृक्ष परस्पर में भिन्न हैं। इसी व्यक्तिभेद को (समानजातीयतानुबन्धी भेद को)

'सजातीयभेद' कहा जायगा। अब केवल एक ही पिप्पल वृक्ष का विचार कीजिए। पत्र, शाखा, प्रशाखा, फल, स्थूण, जड़ें आदि अनेक अवयवों के सम्मिलन से पिप्पल का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। एक ही पिप्पल वृक्ष में पत्रादि रूप अनेक भिन्न भिन्न अवयवों का समावेश है। यह अवयवभेद इस वृक्ष का अपना अपने में हीं रहने वाला भेद है, अतएव इसे 'स्वगतभेद' कहा जायगा।

मनुष्यो एवं पशुओं का पारस्परिक भेद जातिभेदमूलक 'विजातीयभेद' है। मनुष्यों मनुष्यों का पारस्परिक भेद व्यक्तिभेदमूलक 'सजातीयभेद' है। एवं मनुष्य के शरीर से सम्बध रखने वाला हस्त कर्ण-नासिका-उदर-पाद-अङ्गुली-नख-केश-लोम आदि का पारस्परिक भेद अवयवभेदमूलक 'स्वगतभेद' है। इस प्रकार जाति, व्यक्ति, अवयव इन तीन भेदभावों को क्रमश. आधार बना कर विजातीय, सजातीय, स्वगत इन तीन भेदों का (विश्वसृष्टि में) आविर्भाव हुआ है। तीन से अतिरिक्त और कोई चौथा भेद नहीं रहता।

रस-बलमूर्त्ति, सदसल्लक्षण, ब्रह्म-कर्म्मात्मक 'ब्रह्म' पदार्थ चूकि उक्त तीनों ही भेदों से बाहिर है, अतएव उसे 'अद्वय-अभिन्न-अविभक्त-अद्वैतमूर्त्ति' आदि नामों से व्यवहृत करना सर्वथा न्यायसङ्गत बन जाता है। जिस प्रकार एक जङ्गल मे सैंकड़ों हजारों तरह के भिन्न भिन्न वृक्ष पुष्पित पल्लवित रहते हैं, एवं जिन वृक्षों की लकड़िया काटकाट कर विविध प्रकार के भवनों का निर्म्माण किया जाता है, एवमेव ब्रह्मरूप जङ्गल मे पुष्पित पल्लवित रहने वाले ब्रह्मरूप वृक्षों से ब्रह्मरूप लकड़िया काट काट कर ही ब्रह्मरूप अनन्त द्यावापृथिवियों का (त्रैलोक्यों का) निर्म्माण हुआ है। जङ्गल दूसरी चीज है, वृक्ष दूसरी चीज है, वृक्षों की जातियाँ, अवयव सब भिन्न भिन्न हैं, इन से बनने वाले प्रासादों का स्वरूप भिन्न भिन्न है। क्या ब्रह्म द्वारा होने वाली सृष्टिनिर्म्माणप्रक्रिया मे भी ऐसा ही भेदभाव है ? क्या जङ्गल स्थानीय ब्रह्म दूसरा है ? क्या वृक्षादि स्थानीय ब्रह्म भिन्न भिन्न हैं ? इसी आशङ्का का वृक्षदृष्टान्त से ही बडी ही प्राञ्जलभाषा मे उत्तर देते हुए वेदमहर्षि कहते हैं --

ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्--
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो--
ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥

--तै० ब्रा० २।८।९।६-७

"जंगल, वृक्ष, काष्ठ, भवन आदि सब कुछ वही है" श्रुति का यही तात्पर्य्यार्थ है। अपने इसी तात्पर्य्य से श्रुति ब्रह्म के सम्बन्ध में सजातीय-विजातीय-स्वगत तीनों भेदों का निराकरण कर रही है। यह एक माना हुआ, एवं सर्वविदित सिद्धान्त है कि, सभी जंगलो मे सभी तरह के वृक्ष उत्पन्न नहीं होते। कहीं करीर, कहीं आम्र, कहीं केला, कहीं नारियल। इस भेद का क्या कारण? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि, जमीनें सभी जगहों की समान नहीं होतीं। मिट्टी का भेद ही इस भेद का कारण है। यह मिट्टी का भेद ही तो जंगल का भेद है। चूकि जंगल भिन्न भिन्न जाति के हैं, अतएव वृक्षादि मे भिन्नता है। जब मूल कारण मे ही भेद है, दूसरे शब्दों मे जङ्गलों मे (जगलो की मिट्टी मे) ही जाति भेद है, तो इस भिन्न मूलकारण से सम्बन्ध रखनेवाली वृक्षादि आगे की सृष्टियों मे भेद का रहना स्वभावसिद्ध है। इधर 'ब्रह्म वनम्' कहती हुई श्रुति मूलकारणरूप जङ्गल स्थानीय ब्रह्म में ही सजातीय भेद का अभाव सिद्ध कर रही है। श्रुति कहती है कि, वहाँ तो जगल-वृक्ष आदि सब कुछ ब्रह्म ही है। उस एक ही ब्रह्म के वन-वृक्ष-द्यावापृथिवी आदि अनेक रूप हैं।

वही तत्त्व अपनी रस-बलात्मिका परात्परावस्था में 'ब्रह्मवनम्' है। वही मायोपाधि से युक्त होकर अमृत-मृत्युमय अव्ययब्रह्म कहलाता हुआ 'ब्रह्म स वृक्ष आसीत्' है। वही अपने हृद्-बल से विद्या-अविद्यामय अक्षरब्रह्म कहलाता हुआ वृक्ष काटने वाला तक्षा (विश्वनिर्म्माता शिल्पी) है, एव वही अपने ब्रलोपाधिक परिणामी भाव मे आकर सम्भूति-विनाशमय क्षरब्रह्म कहलाता हुआ द्यावापृथिवी (विश्व) रूप मे परिणत हो रहा है। यदि इस ब्रह्म के जैसा, ठीक इसी तरह का कोई दूसरा ब्रह्म और होता, तो उसकी दृष्टि से ब्रह्म पर 'सजातीयभेद' का कलङ्क आ सकता था। परन्तु उक्त श्रौतसिद्धान्त के अनुसार उसके जैसा वह एक ही है, अतएव वह एकाकी ब्रह्म अवश्य ही सजातीयभेदशून्य कहा जायगा।

जिस तरह इस ब्रह्म के जैसा कोई दूसरा ब्रह्म नहीं है, वैसे ही इससे भिन्न स्वरूप रखने वाला भी कोई दूसरा ब्रह्म नहीं है। पिप्पल वृक्ष चूकि अश्वत्थ वृक्ष से भिन्न स्वरूप रखता है, इसलिए दोनों मे विजातीयभेद है। यहाँ तो एक ब्रह्म के अतिरिक्त जब दूसरे ब्रह्म की सत्ता ही नहीं, तो विजातीय ब्रह्म का प्रश्न ही एक ओर रह जाता है। यही इसकी विजातीय-भेदशून्यता है। इसके जैसा दूसरा नहीं, इससे भिन्न स्वरूप रखनेवाला कोई दूसरा नहीं, यहीं पर सीमा समाप्त नहीं है। कहीं से ब्रह्म सुनता हो, कहीं से देखता हो, अपने किसी अवयव से चलता हो, किसी से कर्म्म का सञ्चालन करता हो, यह अवयवभेद भी उसमे नहीं है। वह सर्वत्र समरस है, अखण्ड है, परिपूर्ण है। किसकी तरह? इस प्रश्न का इसलिए

कोई उत्तर नहीं हो सकता कि, उसके जैसा अखण्ड कोई दूसरा नहीं है। "सर्वतः पाणि-पादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्" (श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।१६।) के अनुसार वह सर्वेन्द्रिय बनता हुआ इन्द्रियातीत है, सर्वगुण बनता हुआ निर्गुण है, निरवयव बनता हुआ अखण्ड-अद्वय है। चूंकि वृक्ष-मनुष्यादि की तरह इस में अपने आप में अवयव भेद भी नहीं है, अतएव इसे 'स्वगतभेदशून्य' कहने में भी कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। इस प्रकार जाति-व्यक्ति-अवयवभेदनिबन्धन विजातीय-सजातीय-स्वगतभेद नामक तीनों भेदों से शून्य रहता हुआ यह ब्रह्म शून्यतालक्षण नानाभाव से असंस्पृष्ट बन कर सर्वथा 'पूर्ण पूर्ण' बना हुआ है। इन्हीं तीनों भेदों का आत्यन्तिक रूप से निराकरण करने के लिए ही श्रुति ने कहा है—

१—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्—'एकमेवाद्वितीयम्' [ब्रह्म]"

—छान्दोग्य० उप० ६।२।१।

२—मनसैवानुद्रष्टव्यं—'नेह नानास्ति किञ्चन'।"

—बृहदारण्यक० उप० ६।४।१९।

श्रुति में 'एकम्'—'एव'—'अद्वितीयम्' ये तीन शब्द पढ़े हुए हैं। इन में 'एकं' शब्द सजातीयभेद का खण्डन कर रहा है, 'एव' शब्द विजातीयभेद की निवृत्ति कर रहा है, एवं 'अद्वितीयम्' शब्द स्वगतभेद का निवारक बन रहा है। "वह ब्रह्म एक ही, अद्वितीय है, वहां नाना कुछ नहीं है" इसका तात्पर्य्य है—"वह ब्रह्म—सजातीय (एकं), विजातीय (एव) स्वगत (अद्वितीयं) तीनों भेदों से रहित है"। इस प्रकार 'अहं'-'असौ' इत्यादि नामों से श्रुतिमन्त्रों में यत्रतत्र अभिश्रुत, सत्-असत् रूप से गीतादि स्मार्त्त उपनिषदों में उपवर्णित 'ब्रह्म' पदार्थ अवश्य ही 'अद्वय' माना जायगा, एवं इसी आधार पर ब्रह्म की सत्-असत् इन दो भातियों से द्वैतवाद का मुख से उच्चारण करते हुए भी हम 'अद्वैतवाद' का ही समर्थन करेंगे।

यदि विशुद्ध सद्वादी यह आपत्ति उठावे कि, 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' का 'ब्रह्म' शब्द केवल ब्रह्म का समर्थक है। श्रुति में चूंकि 'कर्म्म' का उल्लेख नहीं है, अतएव हम (सद्वादी) यहां के ब्रह्म शब्द से सल्लक्षण विशुद्ध ब्रह्म का ही ग्रहण करेंगे, तो वादी की इस विप्रतिपत्ति का उस समय कोई महत्त्व न रहेगा, जब कि—'अन्तरं मृत्योरमृतम्'—(शत० ब्रा० १०।५।२।४)

'सतो वन्धुमसति निरविन्दन्' (ऋक् सं० १०।१२९।४।) इत्यादि अन्य वचनों की मीमांसा की जायगी। 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदा० उप० १।४।१०।) इत्यादि श्रुति ने 'अहं' को 'ब्रह्म' कहा है। और 'सदसच्चाहमर्जुन' (गी० ९।१९।) इत्यादि स्मृतियाँ अहं लक्षण ब्रह्म को सदसन्मूर्त्ति वतला रहीं हैं। इन इतर श्रुति-स्मृतियों का समन्वय तभी सम्भव है, जब कि ब्रह्म शब्द को सदसत् दोनों का संग्राहक मान लिया जाय।

अब इसी सम्बन्ध में सद्वादी की ओर से एक महाविप्रतिपत्ति और उपस्थित होती है। सद्वादी कहता है कि, ब्रह्म जहां अमृत है, कर्म्म वहां मृत्यु है। एवं 'मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठोपनिषत् ३।४।१०।) के अनुसार मृत्यु नाना लक्षण है। यदि आप का (सदसद्वादी का) ब्रह्म पदार्थ ब्रह्म-कर्म्ममय है, तो अवश्य ही उसमें कर्म्मलक्षण मृत्युनिबन्धन नानाभाव का समावेश मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में सजातीय एवं विजातीय भेदों से शून्य मान लेने पर भी ब्रह्म को स्वगतभेद शून्य न माना जा सकेगा। ब्रह्म-कर्म्म की सम्मिलित अवस्था 'ब्रह्म' है। इस एक ही ब्रह्म स्वरूप में जब नानाभावलक्षण कर्म्म विराजमान है, तो इसे स्वगतभेदशून्य कैसे कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यों समझिये कि, ब्रह्मस्वरूप में जब कर्म्म का अन्तर्भाव है, कर्म्म जब मृत्युलक्षण बनता हुआ खण्ड खण्ड है, खण्डभाव को ही जब अवयव कहा जाता है, अवयवभेद का ही नाम जब स्वगतभेद है, एवं कर्म्म की कृपा से जब ब्रह्म में यह अवयवभेद विद्यमान है, तो ब्रह्म को कदापि निरवयव नहीं कहा जा सकता। अब बतलाइए! ऐसी दशा में 'स्वगतभेदशून्यसिद्धान्त' का क्या महत्व रहा? सिद्धान्तवादी (सदसद्वादी) का ब्रह्म को सदसत् मानना, सत् को एकरस मानना, असत् (वल) को नाना मानना, और फिर ऐसे ब्रह्म को स्वगतभेदशून्य बतलाना सम्भव हो सकता है, अथवा नहीं? इसका विचार नीरक्षीरविवेकियों को ही करना चाहिए।

स्वागतम्!!! इसी विप्रतिपत्ति ने तो सद्वाद को सिद्धान्तपक्ष मनवाने की भूल करवा रक्खी है। भूल सुधार का वही उपाय है, जिसका प्रकरणारम्भ में ही उल्लेख किया जा चुका है। 'अस्ति' और 'भाति' के तत्त्व परिज्ञान से सारी विप्रतिपत्तियाँ छूट जातीं हैं। ब्रह्म के रसलक्षण सत् का जहां 'अस्ति' से सम्बन्ध है, वहां वललक्षण असत् का 'भाति' से सम्बन्ध है। अस्तित्व ही अस्ति है, प्रतीति ही भाति है। भाति के सम्बन्ध में यह सर्वानुभूत विषय है कि, किसी वस्तु की यदि भाति (प्रतीति) अनेक भी होतीं हैं, तब भी वह वस्तु एक ही कहलाती है। अस्ति एक हो, भाति अनेक हो, कभी उस अनेक भातियुक्त एक अस्ति के

सम्बन्ध में द्वित्व त्रित्त्व, अथवा अनेकत्त्व के व्यवहार का अवसर नहीं आता। द्वित्वादि व्यवहारों की मूलप्रतिष्ठा सत्ताभेद है। सत्ताभेद ही द्वैतादि का कारण देखा गया है। भातिलक्षण, प्रतीति विषयक, ज्ञानीय भेद कदापि द्वैतवाद का समर्थक नहीं बन सकता।

उदाहरण के लिए एक घट पर दृष्टि डालिए। उपादान कारण अपने कार्य्य से अभिन्न रहता है। अर्थात् जिस उपादानद्रव्य से जो कार्य्य उत्पन्न होता है, उस कार्य्य में वह उपादानद्रव्य अवश्य ही प्रतिष्ठित रहता है। घट का उपादान द्रव्य मिट्टी है। अतएव एक वैज्ञानिक मनुष्य कार्य्यरूप घट में कारणरूप मिट्टी की सत्ता स्वीकार करेगा। मिट्टी का उपादान पानी है, अत. घट में पानी भी मानना पड़ेगा। पानी का उपादान अग्नि है, अग्नि का उपदान वायु है, वायु का उपादान आकाश [1] (वाङ्मय मर्त्याकाश) है, आकाश का उपादान प्राण (सौम्यप्राण) है, सौम्यप्राण को विकासभूमि मन ('श्वोवस्यस'[2] नाम से प्रसिद्ध अव्यय मन) है, मन का आलम्बन विज्ञान है, सर्वालम्बन आनन्द[3] है। इस प्रकार कार्य्यरूप वह घट पदार्थ आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण–आकाश (वाक्)-वायु-तेज (अग्नि)-जल-मिट्टी- इन नौ भातियों से युक्त होकर ही हमारी दृष्टि का विषय बन रहा है। दसवां स्वयं घट है। अवश्य ही तत्त्वविश्लेपक वैज्ञानिक घट पदार्थ में इन १० प्रतीतियों का अनुभव करेगा। क्या इन दस भातियों से घट पदार्थ दस संख्याओं में परिणत हो जायगा ? कभी नहीं। क्यों? सत्ता का अभेद, सत्ता की एकरूपता।

वैज्ञानिक समाधान करेगा कि, आनन्दरूपा मूलसत्ता ही विज्ञानरूप में, विज्ञानसत्ता ही मनोरूप मे, मन.सत्ता ही प्राणरूप मे, प्राणसत्ता ही आकाशरूप में, आकाशसत्ता ही वायुरूप मे, वायुसत्ता ही तेजोरूप में, तेज.सत्ता ही जलरूप मे, जलसत्ता ही मृत् (मिट्टी) रूप में, एवं

---

१ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी (मृत्)"–(मृत्तिकातो घट·)—तै॰ उपनिषत्–ब्रह्मानन्दपत्री, १ अनु॰।

२ 'तद्वा इद मनस्येव परमं प्रतिष्ठितम्। तदेतच्छ्वोवस्यस नाम ब्रह्म'

—तै॰ ब्रा॰ ३।२।९।१०।

३ "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्त्यभिसविशन्ति"। —तै॰ उपनिषत, भृगुवल्ली, ६ अनु॰।

मूलसत्ता ही परम्परया घट रूप में परिणत हो रही है। उस एक ही आनन्दसत्ता के आधार पर भातिलक्षण विविध बल नृत्य कर रहे हैं, जैसा कि 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (वेदान्तसूत्र, १।१।१२।) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्त से भी प्रमाणित है। भाति दस हैं, अधिक भी हो सकती हैं, परन्तु सत्ता एक है, इसी लिए वस्तुतत्त्व एक ही है, अद्वितीय ही है। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करनेवाली कोशश्रुति ने आत्मा के आनन्द—विज्ञान—मन—प्राण—अन्न (वाक्) इन पाच कोशों का निरूपण करते हुए पाचों को ही विश्व का मूल बतलाया है, एवं पांचों के साथ 'स एव-स एव' कहते हुए एकसत्तावाद का समर्थन किया है। देखिए!

१—'अन्नं' ब्रह्मोपासते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् ॥

२—तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा 'प्राणमयः'। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्यपुरुषविधतामनु–अयं पुरुषविधः ॥

३—तस्यैष एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा 'मनोमयः'। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामनु—अयं पुरुषविधः ॥

४—तस्यैष एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा 'विज्ञानमयः'। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामनु—अयं पुरुषविधः ॥

५—तस्यैष एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा'ऽऽनन्दमयः'। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामनु—अयं पुरुषविधः।'

—तै० उपनिषत्, ब्रह्मानन्दवल्ली, २-३-४-५-अनु०

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्'

—छान्दो० उप० ६।१।१

यह श्रुत्यन्तर भी कारणसत्ता का ही समर्थन कर रही है। इस लक्षण को 'जलमेव सत्यम्'–'अग्निरेव सत्यम्'–'वायुरेव सत्यम्'–'आकाश एव सत्यम्'–'प्राण एव सत्यम्'—'मन एव सत्यम्'—'विज्ञानमेव सत्यम्'—'आनन्द एव सत्यम्' इत्यादि पूर्व-पूर्वसत्ताभावसूचक वाक्यों का भी उपलक्षण समझना चाहिए।

श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, नाम-रूपात्मक कार्य्यरूप घट मे जो सत्ता-प्रतीति हो रही है, वह वास्तव मे मिट्टी की ही सत्ता है। वही सत्तारस घटस्वरूपानुबन्धी बलरूप वाक् को आरम्भक (उपादान) बना कर घट के अस्तित्व का कारण बन रहा है। घट की सत्यता, किंवा नाम-रूप की सत्यता मृत्तिका की सत्यता पर अवलम्बित है। वही सत्य घट तक व्याप्त हो रहा है, वही सत्य मृत्तिका, जल, अग्नि, वायु, आकाश मे व्याप्त हो रहा है। सत्य, ज्ञान-घन, अनन्त ब्रह्म ही सत्य है। इस सत्य कारण से उत्पन्न (विवर्त्तरूप से रूपान्तर में प्रकट) कार्य्यरूप विश्व सत्य बन रहा है।

इधर हमारे सद्वादी महोदय बलतत्त्व की सत्यता न सहते हुए, दूसरे शब्दों मे नाम-रूपात्मक विश्व को मिथ्या मानने का अभिनिवेश प्रकट करते हुए, 'वाचारम्भण०' इत्यादि श्रुति का यह तात्पर्य्य लगाते हैं कि, नानाभाव से प्रतीयमान नाम-रूपात्मक विश्व सर्वथा मिथ्या है। मृत् (कारण) स्थानीय सद्ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, एवं घट (कार्य्य) स्थानीय असद्विश्व एकान्ततः मिथ्या है। सद्वादियों के इस जगन्मिथ्यात्ववाद का हमें इस लिए विरोध नहीं करना कि, हमारी दृष्टि में जो महत्व एक असद्वादी (नास्तिक) के असद्वाद का है, वही, वही क्यों उससे भी अधिक महत्त्व इन विशुद्ध सद्वादियों के जगन्मिथ्यात्ववाद का है। जिस उक्त वचन से वे अपना अभिप्राय सिद्ध करने का वृथा प्रयास कर रहे हैं हमें तो प्रयास करने पर भी उस वचन से जगन्मिथ्यात्व का गध भी प्रतीत नहीं होता।

अभ्युपगमवाद से थोडी देर के लिए यदि हम यह मान भी लेते हैं कि, "वाचारम्भणं" इत्यादि श्रुति नामरूप प्रपञ्च को मिथ्या बतला रही है, तो उस अन्य श्रुति का वे मिथ्यावादी कैसे समन्वय करेंगे, जो कि श्रुति नामरूपात्मक प्रपञ्च को तो सत्य बतला रही है, एवं नाम-रूप के उपक्रमरूप प्राण को 'अमृत[१] तत्त्व' कह रही है। सृष्टिसाक्षी आत्मा के मनः प्राण-वाक्

---

१ "तदेतदमृतं सत्येन छन्नम्। प्राणोवाऽमृत, नाम-रूपे सत्यम्। ताभ्यामय प्राणश्छन्न:"। शत० ब्रा० १४।४।४।३

ये तीन विवर्त्त माने गये हैं। तीनों में मन-प्राण दोनों का एक विभाग है, वाक् का एक विभाग है। आनन्द-विज्ञानमय मन की कामना से प्राणव्यापार होता है। प्राणक्षोभ से वाक् क्षुब्ध होती है। क्षुब्ध वाक् ही क्रमशः आकाशादि पांच महाभूतों के रूप में परिणत होती है। नाम-रूपात्मक प्रपञ्च पाञ्चभौतिक बनते हुए वाङ्मय हैं। इनका प्रथम सम्बन्धी आत्मा का प्राणभाग ही बनता है। इसीलिए श्रुति ने प्राण को ही अमृत (आत्मा) कह दिया है। जो मिथ्याभिमानी जगत् को मिथ्या मानते हैं, उनकी दृष्टि में प्राण के अमृतत्त्व का क्या अर्थ होगा ? यह उन्हीं से पूँछना चाहिए।

दूसरी दृष्टि से 'वाचारम्भणं' का समन्वय कीजिए। 'घट' यह वैकारिक नाम वाक्-रूप आरम्भक से ही सम्बन्ध रखता है, वाक् ही घट का आरम्भक (उपादानक) है। वाक्-तत्व ही बलग्रन्थियों के तारतम्य से आकाशादि पञ्च भूतों में परिणत हुआ है। स्वयं पृथिवी (मिट्टी) उसी वाक् का चरमरूप है। अतः इसे भी अवश्य ही 'वाक्'* ही कहा जायगा। पृथिवीरूपा वाक् प्रकृति है, घटरूपा वाक् विकृति है। कारण ही तो कार्य्य के प्रति प्रकृति कहलाता है, एवं कार्य्य ही तो कारणापेक्षा से विकृति कहलाता है। 'घ–ट' इन दो अक्षरों की समष्टिरूप 'घट' यह नाम जिस कम्बुग्रीवादियुक्त पदार्थ का है, उसका आरम्भ (उत्पत्ति-उद्भव) वाक्रूप मिट्टी से ही तो हुआ है। प्रजापति (कुम्भकार-कुम्हार) मिट्टीरूप वाक् में जलरूप वाक् डालता है, साथ ही साथ अपने हाथों से क्रियात्मक वाङ्मय बल का आधान करता जाता है। इस प्रकार मिट्टी-जल-क्रिया-दण्ड-चक्र-चीवर-सूत्र आदि वाङ्मय विविध बलों की समष्टि ही कालान्तर में 'घट' यह वैकारिक नाम धारण कर लेती है। घटनिर्म्माता कुम्भकार पार्थिव है, दण्ड-चीवर-चक्र-पानी सब कुछ साधन पार्थिव हैं। पार्थिव पदार्थों में सभी सहयोगी पार्थिव हैं। चूंकि कार्य्यरूप घट पार्थिव है, अतएव आरम्भ में **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'** कह कर श्रुति ने अन्त में **'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** इस रूप से उपसंहार किया है। तात्पर्य्य यह हुआ कि, पहिले वाक्य से तो श्रुति ने सामान्यतः पदार्थमात्र का

---

*१—इयं वै (पृथिवी) वाक्। (ऐ० ब्रा० ५।३३।)।

२—वागिति पृथिवी। (जै० उ० ब्रा० ४।२२।११।)।

३—वागेवायं लोकः। (शत० ब्रा० १४।४।३।११।)।

४—यन्मृत-इयं तत् (पृथिवी)। (शत० ब्रा० १४।१।२।९।)।

वाक् से सम्बन्ध बतलाया, दूसरे वाक्य से घट सम्बन्धिनी मृत्तिकामयी वाक् का स्पष्टीकरण किया। इस प्रकार श्रुति ने केवल उस सत्ता का ही अभेद सूचित किया, जो कि परम्परया मिट्टी में आकर घट-प्रतिष्ठा का कारण बना करती है।

उक्त परिस्थिति का ही दूसरी तरह से समन्वय कीजिए। घट का आरम्भक अब मृत्तिका है, तो 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं' के स्थान में यद्यपि 'मृत्तिकयारम्भणं विकारो नामधेयम्' यह होना चाहिए था। तथापि किसी विशेष प्रयोजन के लिए ही श्रुति ने मृत्तिका के साथ 'वाक्' तत्त्व का प्रयोग करना आवश्यक समझा है। बात यथार्थ में यह है कि, 'कारणता' तीन भागों में विभक्त है। 'आलम्बन-निमित्त-उपादान' तीन कारणों के समन्वय से ही कार्य्य की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। इसी लिए दर्शन-सम्प्रदाय में 'कारण समुदाय को ही कार्य के प्रति कारण' माना गया है। आनन्दविज्ञानगर्भित-मन.प्राणवाङ्मय, सत्तालक्षण, सृष्टिसाक्षी आत्मा के मनोभाग से 'काम' का, प्राणभाग से 'तप' का, एवं वाक्भाग से 'श्रम' का उदय होता है। मन.-प्राण-वाक् तीनों की उन्मुग्धावस्था ही 'सत्ता' है। सत्तारूप मन से पदार्थ के रूप का, सत्तारूप प्राण से पदार्थ के कर्म्म का, एवं सत्तारूपिणी वाक् से पदार्थ के नाम का विकास होता है। इस प्रकार आनन्दविज्ञानगर्भित, सृष्टिसाक्षी आत्मा के मन-प्राण-वाक् तीन पर्व ही क्रमशः रूप-कर्म्म-नाम के आरम्भक बनते हैं। चूंकि वाक्तत्त्व ही नाम-प्रपञ्च का आरम्भक बनता है, अतएव श्रुति को 'नामधेयम्' के सम्बन्ध में 'वाचारम्भणम्' यह कहना पड़ा है।

यही वाक्तत्त्व 'आकाश' (मर्त्याकाश) नाम का पहिला भूत है। उत्तरोत्तर होनें वाली बलग्रन्थियों के तारतम्य से यही आकाशात्मिका वाक्, किंवा वाङ्मय आकाश अपनी शब्दतन्मात्रा को आगे करता हुआ पंच महाभूतरूपों में परिणत हो रहा है। आकाशात्मिका शब्दतन्मात्रा ही सर्वभूतजननी है, अतएव सभी भूतों में शब्दतत्त्व व्याप्त है। कोई भी प्रत्यय शब्दशून्य नहीं है, जैसा कि—'न ह्यशब्दमिवेहास्ति' (नृसिंहउत्त० उप० ६।८) 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृतः' (वाक्यपदी) इत्यादि श्रौत-स्मार्त वचनों से स्पष्ट है। वाक्तत्त्व की इसी सर्वव्यापकता को स्पष्ट करने के लिए अन्य श्रुति भी कहती है- 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' (तै० ब्रा० २।८।४) 'अथो वागेवेदं सर्वम्' (ऐ० आरण्यक ३।५।६)। आनन्द-विज्ञानघन मनोमय वही आत्मा 'अव्ययब्रह्म' रूप से सृष्टि का आलम्बन-कारण बनता है, आनन्द-विज्ञानघन, मनोगर्भित, प्राणमय वही आत्मा 'अक्षरब्रह्म' रूप से सृष्टि का निमित्त-कारण बनता है, एवं आनन्द-विज्ञानघन, मनःप्राणगर्भित, वाङ्मय

वही आत्मा 'क्षरब्रह्म' रूप से सृष्टि का उपादान-कारण बनता है। उपादानता का चूंकि वाक्तत्त्व से ही प्रधान सम्बन्ध है, इस हेतु से, वाक्तत्त्व ही सम्पूर्णभूतों का जनक है, इस हेतु से, एवं वाक्तत्त्व ही वैकारिक नाम प्रपञ्च का आरम्भक है, इस हेतु से श्रुति ने 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' यही कहना अन्वर्थ समझा है। चूकि घट का आरम्भक मृत्तिकामयी वाक् है, इस लिए आगे जाकर 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' यह कहना चरितार्थ बन जाता है। इस प्रकार श्रुति ने वागारम्भण द्वारा भिन्नसत्तावाद का आमूलचूड़ खण्डन करते हुए अद्वैतसत्तावाद की ही स्थापना की है। नामों के भेद से कोई असद्वादी असद्वाद को प्रामाणिक न मान बैठे, साथ ही में सदसद्वाद के आधार पर कोई सद्वादी द्वैतवाद के भ्रम में न पड़ जाय, केवल इसी उद्देश्य के लिए श्रुति को 'वाचारम्भणं'० इत्यादि कहना पड़ा है।

श्रुति में पढ़ा हुआ 'वाक्' शब्द अपना कैसा तात्त्विक अर्थ रखता है? इसका कुछ अनुमान पाठकों को उक्त श्रुति-समन्वय से हुआ होगा। श्रुति का 'वाक्' शब्द उस तत्त्व का वाचक है, जो कि आत्मा की एक अन्तिम कला है, जिससे कि सम्पूर्ण भूतों का विकास हुआ है, जिसके कि सम्बन्ध में भगवान् मनु का 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे' (मनु० १।२१) यह सिद्धान्त है। इधर आज के व्याख्याता लोगों ने परिभाषाज्ञान के अभाव से वाक् के तात्त्विक अर्थ की दुर्दशा करते हुए श्रुति का जो अनर्थ किया है, उसे देख कर कहना पड़ता है कि, जगन्मिथ्यात्ववादियों ने अपनी मिथ्या भ्रान्ति के साथ साथ श्रुतितत्त्व के सत्य अर्थ को भी मिथ्या बना डाला है। व्याख्याता कहते हैं—"घट-तो केवल वाणी का विकार है। हमने मिट्टी का ही नाम घट रख लिया है। वस्तुतः घट मिथ्या है, मिट्टी ही सत्य है"। वाक् का अर्थ इन बुद्धिजीवों को अपनी वाणी प्रतीत हुआ। 'हमने नाम रख लिया है' इस बालसिद्धान्त को कौन स्वीकार करेगा। फिर उन व्याख्याताओं से क्या यह नहीं पूंछा जा सकता कि, 'घट' यह नाम जैसे आप का रक्खा हुआ है, इस नाम करण से ही यदि घट मिथ्या है तो, 'मृत्तिका' ही सत्य कैसे हुई? क्योंकि मृत्तिका भी तो आप ही का रक्खा हुआ नाम है। अस्तु, छोड़िए इस निरर्थक विवाद को। हमे प्रकृत में उक्त श्रुति द्वारा केवल यही सिद्ध करना है कि, विश्व में हमें जो नानाभाव, नाना नाम-रूप-कर्म्म प्रतीत हो रहे हैं, उन सब का मूल असद्बल है, एवं वह बल चूकि भातिसिद्ध पदार्थ है, सत्तासिद्ध तत्त्व एकमात्र सल्लक्षण 'रस' है, एवं यही रस बल के समन्वय से अनेक भातियों में प्रतीत हो रहा है, अतएव द्वैत-प्रतीति होने पर भी सत्तानुबन्धी अद्वैत पर कोई आक्रमण नहीं हो सकता।

सचमुच भातिवाद कभी द्वैतवाद का पोषक नहीं बन सकता। इसी सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टान्त और लीजिए। दर्शनशास्त्र की सुप्रसिद्ध पञ्चीकरण-प्रक्रिया से, एवं वेदशास्त्र की त्रिवृत्करण-प्रक्रिया से प्रत्येक महाभूत पञ्चावयव है। इस प्रकार पांच भूतों के २५ भूत हो जाते है। यदि अणु-परमाणुवाद पर दृष्टि डाली जाती है, तो यह अवयव संख्या अनन्त पर जाके ठहरती है। असंख्य परमाणुओं से अपना स्वरूप सम्पन्न करने वाले, अवान्तर पचीस भूतों से छत्रमूर्त्ति पाच महाभूतों से मानव शरीर का निर्माण हुआ है। भातिमूला इन अनन्त सख्याओं के रहने पर भी शरीर 'एक' क्यों कहलाता है ? इसका उत्तर वही सत्तैक्य, वही सत्ताद्वैत। अस्तु, इन सब विषयों का विशद विवेचन 'गीताचार्यश्रीकृष्ण' नामक स्वतन्त्र खण्ड के 'सत्यकृष्णपरीक्षा' नामक अवान्तर प्रकरण मे होनेवाला है, अत. प्रकृत में अधिक विस्तार अनपेक्षित है।

अवश्य ही ब्रह्मतत्त्व सत्-असत् भेद से उभयमूर्त्ति बनता हुआ भी अद्वय ही माना जायगा। इस सदसद्वाद से द्वैत के भ्रम में पडने वाले उन सद्वादियों के अनुरोध से अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोडी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, 'ब्रह्म केवल सद्रूप ही है'। उन के सद्वाद का अभिनन्द करते हुए हम उन से प्रश्न करेंगे कि, जब श्रुतिएं—'ब्रह्म वेदं सर्व सच्चिदानन्दरूपम्' (नृ० उ० ता० उप० ७।) 'सत्यं-ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म' (तै० उप० २।१।१।) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृहदा० उप० ३।६।२८।) इत्यादि रूप से ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द घन बतलाती हुईं उस मे तीन कलाएं मान रहीं हैं, तो उन सद्वादियों के पास ऐसा कौन-सा साधन है, जिस के आधार पर वे इस स्वगतभेद का निराकरण कर सकेंगे। सिद्धान्तवादी के केवल 'असत सत्' इन दो भावों पर ही जहां सद्वादी स्वगतभेद का आरोप लगा बैठते हैं, वहा स्वयं सद्वादी के ऊपर तीन भावों के आधार पर स्वगतभेद का आरोप लगाया जा सकता है। अवश्य ही सद्वादियों का सल्लक्षण, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सजातीय-विजातीयभेद शून्य तो मान लिया जायगा, परन्तु सत्ता चेतना-आनन्द इन तीन अवयव-भेदों के प्रतीत होने पर वे उसे स्वगतभेदशून्य कैसे रख सकेंगे ? यदि सद्वादी 'भाति' द्वारा इस स्वगतभेद का निराकरण करता है, तो फिर उसी भाति के द्वारा स्वगतभेद का निराकरण करने वाले सदसद्वादी ने ही कौन-सा अपराध किया है। कहने का तात्पर्य्य यही हुआ कि, जिस विप्रतिपत्ति को आगे करता हुआ सद्वादी सिद्धान्तवाद पर जो आक्षेप करता है, वह आक्षेप तो उस पर भी नित्य सिद्ध बन रहा है। यदि वह स्वगतभेद के निराकरण के लिए भाति-भाव को आगे रखता है, तो सिद्धान्तवादी का भी वही उत्तर पर्य्याप्त बन जाता है। और यहा तक तो दोनों

समस्थान पर प्रतिष्ठित रह जाते हैं। परन्तु जहां सदसद्वादी—'अन्तरं मृत्योरमृतम्' (शत० १०।५।२।४।) 'विद्यां चाविद्यां च'—(ईशोप० ११।) । 'सम्भूतिं च विनाशं च' (ईशोप० १४।) इत्यादि द्वन्द्वप्रतिपादिका श्रुतियों का पूर्णरूप से यथावत् समन्वय करता हुआ, भातिभाव-द्वारा स्वगतभेद का सर्वात्मना निराकरण करता हुआ-'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस आत्यन्तिक अद्वैतवाद का अनुगामी बना हुआ है, वहां एक सद्वादी को केवल सत् मानने के अभिनिवेश से पद पद पर विषमता का अनुगमन करना पड़ता है। द्वन्द्वप्रतिपादक, साथ ही में अद्वैत को मुख्य लक्ष्य बनाने वाले दोनों विरुद्ध वचनों का समन्वय तभी सम्भव है, जब कि 'अस्ति' की समानता से, अस्ति की परमसामन्यता स्वीकार करते हुए नानाभाव को भातिसिद्ध मान लिया जाय। अस्ति द्वारा सामान्यभाव का, भातिद्वारा विशेषभावों का एकत्र समन्वय करते हुए सिद्धान्ततः अद्वैत का जयघोष किया जा सकता है और किया जा सकता है इस जयघोष के साथ साथ द्वैतवाद का भाति-द्वारा समर्थन भी। यही तो उसकी अनिर्वचनीयता है।

सनातनतत्त्व और सनातनयोग—

सल्लक्षण अमृत, एवं असल्लक्षण मृत्यु दोनों हीं सनातन हैं, शाश्वत हैं। दोनों के सम्यक् दर्शन से, सम्यक् ज्ञान से, तथा सम्यक् अनुष्ठान से ही पराशान्ति-लक्षण सनातनयोग का उदय होता है, जो कि सनातनयोग गीता के शब्दों में 'समत्वयोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। सल्लक्षण विशुद्ध अमृततत्त्व अपना स्वरूप नहीं दिखला सकता। "अमृत तत्त्व एक है, शान्त है, निर्विकार है" यह बोध किसी अनेकभावापन्न, अशान्त, एवं सविकारतत्त्व की नित्य अपेक्षा रखता है। "अमृत एक है, शान्त है" यह बात तभी सम्भव है, जब कि इसका प्रतिद्वन्द्वी कोई अन्य अशान्त एवं अनेकभावयुक्त तत्त्व हो। एकत्व और शान्तत्व अनेकत्व तथा अशान्तत्व पर ही निर्भर है। उदाहरण के लिए भाव अभाव के द्वन्द्व को ही लीजिए। भाव का स्वरूप-समर्पक सदा अभाव ही बना करता है। पुस्तक का अभाव ही पुस्तकसत्ता का कारण बनता है। यह अभाव तीन तरह से पुस्तकसत्ता की प्रतिष्ठा बन रहा है। किसी समय पुस्तक न थी, तभी पुस्तक ने किसी समय सत्ता का रूप धारण किया है। इस प्रकार प्रत्येक सत्तायुक्त पदार्थ अपने प्रागभाव को कारण बना कर ही अस्तिरूप से प्रकट होता है। आज पुस्तक का अस्तित्त्व विद्यमान है। यह अस्तित्त्व आज भी नास्तित्त्व के गर्भ में प्रतिष्ठित रह कर ही सुरक्षित बन रहा है। पुस्तक की सीमा के चारों ओर यदि पुस्तक का अभाव न हो तो—'इदं पुस्तकं' यह अङ्गुली निर्देश सर्वथा असम्भव हो जाय। चारों ओर पुस्तक का

अभाव है, इसी लिए पुस्तक पुस्तक है। यदि आप को कहीं पुस्तक के धरातल की अभावात्मिका सीमा न मिलती, तो कभी आप पुस्तक के अस्तित्व का अभिनय न कर सकते थे। जिस पुस्तक का अस्तित्व आपकी आँखों के सामने है, उस पुस्तक के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं, उन सब का अभाव ही इस पुस्तक के अस्तित्व का कारण बना हुआ है। यह पुस्तक इस लिए 'यह पुस्तक है' कि, यह न घट है, न पट है, न मठ है, न अन्य पुस्तक है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व तदरिक्त यच्चयावत् पदार्थों के अभाव से ही 'इदं' का अनुग्राहक बनता है। इस प्रकार सत्ता के उदय से पहिले के अभाव से, सत्तोदय के पीछे सीमाभावरूप अभाव से, एवं इतर वस्तुओं के अभाव से, तीन तरह से अभाव ही भाव का कारण बन रहा है। रिक्तभाव ही पूर्णभाव की प्रतिष्ठा माना गया है। यदि 'अनृतभाव'[1] न होता, तो सत्य का कोई मूल्य ही न रहता, रोग ही स्वास्थ्य शब्द की प्रतिष्ठा है, पाप ही पुण्य शब्द का रक्षक है, हिंसा ही अहिंसा शब्द की जननी है, एक ही अनेकत्व की प्रतिष्ठा है, रात्रि ही अह:शब्द की उपपत्ति है, प्रजा शब्द ही राजा शब्द का मूलाधार है। ठीक इसी तरह हमारे इस ब्रह्मप्रकरण मे भी असत् ही सापेक्ष सत् की मूल-प्रतिष्ठा है, सत् ही सापेक्ष असत् का आधार है। इसी सापेक्षभाव से दोनों ही सनातन हैं, दोनों ही शाश्वत हैं।

रही बात भेदप्रतीति की। इसके सम्बन्ध में यही उत्तर पर्य्याप्त होगा कि, प्रतीति प्रतीति है, ज्ञान है, भान है। भान ही 'भाति' है। एवं भातिभेद अद्वैतवाद का विरोध नहीं कर सकता, यह पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया ही जा चुका है। उन्मादगुण से विभूषित आज के भारत के लिए उन्मादजननी भंग का व्यावहारिक दृष्टान्त ही इस सम्बन्ध में विशेषरूप से सामयिक होगा। कालीमिर्च, बादाम, चीनी, इलायची, मुनक्का, किशमिश, केशर, दुध आदि सहयोगियों को साथ लेकर अपने सम्मिश्रण से 'भंग' नामक उन्मादक एक अपूर्व पेय पदार्थ सम्पन्न होता है। भंग मे उक्त सभी पदार्थों का आयतन समान प्रदेश ही है। हमारा ज्ञान सब के पार्थक्य का अनुभव कर रहा है। मिर्च की तिक्तता, बादाम की ईषत् मधुरता, चीनी की उग्र मधुरता, इलायची की गन्धमादकता, मुनक्का की लेलिह्यमान सरसता, किशमिश की ईषत् स्पृहणीयता, केशर की उत्कट मोहकता, दुग्ध की स्निग्धता, सर्वोपरि भंग साम्राज्ञी की

---

[1] आजकल 'अनृत' शब्द का अर्थ मिथ्या समझा जाता है। परन्तु वास्तव में अनृत का अर्थ है—'ऋत'। जो कि ऋत 'सामान्ये सामान्याभाव:' के कारण 'अनृत' कहलाता हुआ सत्य की प्रतिष्ठा बनता है।

कटुता-मिश्रित उग्रता, सभी का तो पान करते समय अनुभव हो रहा है। ज्ञानीय जगत् में सब पृथक् पृथक् हैं, भाति (प्रतीति) सब की पृथक् पृथक् है। परन्तु सत्ता सब की एक है। इसीलिए तो अनेक पदार्थों को अपने उदर में रखता हुआ भी यह पेय पदार्थ 'भंग' इस एक नाम से ही व्यवहृत हो रहा है। क्षणवल, धारावल, मायावल, जायावल, अभ्ववल, यक्षवल, हृदयवल, आपोवल, सम्भूतिवल, विनाशवल, विद्यावल, अविद्यावल आदि भेद से बल संख्या में अनन्त हैं। इन अनन्त बलों को अपने गर्भ में रखनेवाला सत्तारस एक है। इस सत्-रस के आधार पर ये असद्बल परस्पर के सम्बन्ध तारतम्य से विविध भावों की भातियों के जनक बना करते हैं। सत् में असत् के बन्धन से ही सदसद्ब्रह्म का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। सत् के गर्भ में रहनेवाले सभी असद्बलों की प्रतीति भिन्न है। परन्तु सत्ता एक है। और यही ब्रह्म की सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्यता है। एककालावच्छेदेन भान अनन्त हैं, परन्तु सत्ता एक है। निःश्रेयसाधिगम के लिए सत् को असत् में देखना पड़ेगा, असत् को सत् में ढूंढ़ना पड़ेगा। नित्यशान्त, अतएव 'अकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध सत् का अन्वेषण नित्य अशान्त, अतएव 'कर्म्म' नाम से प्रसिद्ध असत् में करना पड़ेगा, एवं असत् को सत् में प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। क्योंकि अकर्म्म (सद्रस) कर्म्म (असद्बल) में व्याप्त है, कर्म्म का पर्व पर्व अकर्म्म में प्रतिष्ठित है। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

> कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥ १ ॥
>
> —गी० ४।१८।
>
> ब्रह्मण्याध्याय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
> लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ २ ॥
>
> —गी० ५।१०।

"जो व्यक्ति कर्म्म (असद्बल) में अकर्म्म (सद्रस) देखता है, अकर्म्म में कर्म्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है। वह युक्त (युक्तयोगी, सिद्धपुरुष) है। उसने सम्पूर्ण कर्म्म कर लिए, कर्म्मप्रपञ्च पर उसका अधिकार हो गया। अर्थात् वह कृतकृत्य है। (१)। जो व्यक्ति आसक्ति छोड़ कर ब्रह्म में (कर्म्म का) आधान कर कर्म्म करता है, वह कर्म्मजनित

संस्कार-लेप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे कि, रात दिन पानी में रहता हुआ भी कमल-पत्र पानी की आर्द्रता से लिप्त नहीं होता। (२)"

'समत्वं योग उच्यते' (गी० २।४८) इस गीतासिद्धान्त के अनुसार समता का ही नाम 'योग' (बुद्धियोग) है। ब्रह्म कर्म्म दोनों के अनुष्ठान से ही इस योग की प्राप्ति होती है। यदि दोनों में से किसी एक ही का आश्रय लिया जाता है, तो विषमता रहती है भार का समतुलन नहीं होता, आज की भाषा के अनुसार वैलेन्स ठीक नहीं होता। समभार सम-तुलनरूप समत्व, किंवा समता दोनों के योग पर ही निर्भर है। इसी से भार का समतुलन होता है, वैलेन्स ठीक बनता है, और यही समत्व किंवा समता है। ब्रह्मवादी महोदय अस-लक्षण कर्म्म से इसलिए भय करते है कि, कर्म्म संस्कारलेप का जनक है। एवं संस्कारलेप आत्मा की स्वाभाविक ज्ञानज्योति का आवरक है। इस भय को दूर करते हुए भगवान् कहते हैं कि, "हम मानते है कि, कर्म्म अवश्य ही सस्कार उत्पन्न करता है। परन्तु तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि, कर्म्म का सहयोगी ब्रह्म-पदार्थ (ज्ञानतत्व) सर्वथा असङ्ग है। इसे आधार बना कर जब कर्म्म किया जाता है, तो ब्रह्म की असङ्गवृत्ति के प्रभाव से कर्म्मजनित संस्कारलेप का भी हमारे पर असर नहीं होता, साथ ही में कर्म्मविभूति से भी हम वञ्चित नहीं होते। समत्वलक्षण बुद्धियोग की यही तो विलक्षणता एवं विशेषता है। ब्रह्मा-र्पणभावना से किया हुआ कर्म्म कभी बन्धन (लेप) का कारण नहीं बनता"। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' (गी० ४।२४) इत्यादिरूप से भी भगवान् ने इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है।

दो कर्णच्छिद्र, दो नासाच्छिद्र, दो चक्षुगोल, एक मुखविवर, एक उपस्थविवर, एक मूल-द्वार ये नौ विवर ही इस पाञ्चभौतिक शरीरपुर के नवद्वार मानें गए हैं। नवद्वारात्मक इस शरीरपुर में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षण 'कर्म्मात्मा' प्रतिष्ठित है। इस देही को कर्म्मबन्धन से बचाने के लिए, साथ ही में कर्म्मवैभव का भोक्ता बनाने के लिए "मैं स्वयं अपनी इच्छा (उत्थाप्याकांक्षा) से कुछ नहीं करता, अपितु कर्म्म का होना आत्मा की स्वाभाविक इच्छा (उत्थिताकांक्षा) से ही सम्बन्ध रखता है" यह भावना रखते हुए ही कर्म्म में प्रवृत्त रहना चाहिए। ऐसा करने से कर्म्म कभी बन्धन का कारण नहीं बन सकता। इसी अभिप्राय से आचार्य कहते हैं—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥

—श्वेताश्वतरोप० ३।१८।

सर्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥

—गी० ५।१३।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्।
पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-गच्छन्-स्वपन्-श्वसन्॥

—गी० ५।८।

प्रलपन्-विसृजन्-गृह्णन्-उन्मिषन्-निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्॥

—गी० ५।९।

उदाहरण के लिए जयपुर को दृष्टान्त बनाइए। परम वैज्ञानिक, ज्योतिर्विद्यानिष्णात, स्वर्गीय श्रीसवाई जयसिंह नृपति के द्वारा प्राकृतिक स्थिति के आधार पर निर्मित जयपुर शहर उसमें रहनेवाली प्रजा का बहिरङ्गपुर है। इस पुररूप बहिःशरीर में आध्यात्मिक नवद्वार पुर के अनुसार नव द्वार हैं[1]। वे नव द्वार क्रमशः सूरजपोल (सूर्य्यद्वार), चांदपोल (चन्द्रद्वार), गङ्गापोल (गङ्गद्वार), किसनपोल (कृष्णद्वार), श्योपोल (शिवद्वार), तिरपोल्या (त्रिद्वारात्मकद्वार), रामपोल (रामद्वार), ब्रह्मपोल (ब्रह्मद्वार), ध्रूपोल (ध्रुवद्वार) इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

---

१ महाराज श्री जयसिंह महोदय ने प्राकृतिक स्थिति के आधार पर ही इन नवद्वारों का निर्म्माण कराया है। शहर का पूर्वद्वार सूरजपोल है, क्योंकि सूर्य्य का पूर्व दिशा से सम्बन्ध है। पश्चिमद्वार चान्दपोल है, क्योंकि चन्द्रोदय का पश्चिम से सम्बन्ध है। उत्तरद्वार गङ्गापोल है, क्योंकि गङ्गा का उद्भव उत्तर में ही हुआ है। इसी प्रकार अन्य नामों में भी प्राकृतिक स्थिति का ही अनुकरण हुआ है, जो कि अनुकरण शास्त्रानुगत कलानिर्म्माण का पृष्ठपोषक बन रहा है।

इन नव द्वारों से हजारों मनुष्य आते जाते रहते हैं। सब अपनी कामना के अनु अपने अपने कर्म्म में प्रवृत्त हैं। पुराध्यक्ष जयपुर नरेश न इन कर्म्मों के कर्त्ता हैं, न कार्ा हैं, अपितु साक्षीमात्र हैं। बस ठीक इसी तरह नवद्वारात्मक शरीरपुर में प्रतिष्ठित कर्म्म कर्म्माध्यक्ष साक्षी ईश्वरभाव के साथ सायुज्य भावना रखता हुआ तद्रूप बन कर यदि स रूप से कर्म्म में प्रवृत्त रहता है, तो वह कभी इनमें लिप्त नहीं होने पाता। इस प्रकार कर्म्म इन दोनों को सनातन माननेवाला व्यक्ति द्विमूलक सनातनयोग (बुद्धियोग) का गमन करता हुआ अवश्य ही—'कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि'—'कर्म्मबन्धं प्रहास्यति'।

अब तक हमने ज्ञान-क्रिया भेद से द्वित्ववाद का ही समर्थन किया है। परन्तु अब तो 'अर्थ' तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है, जो कि अर्थत ज्ञान-क्रिया का आलम्बन बनता हुआ त्रित्ववाद का समर्थक रहा है, एवं जिसका कि पूर्व की 'विद्वानों की वादचतुष्टयी' के 'विद्वानों का त्रिसत्यवाद' न के अवान्तर प्रकरण मे समर्थन किया जा चुका है। अवश्य ही सामान्य दृष्टि से विच करने पर ब्रह्म-कर्म्म (ज्ञान-क्रिया) के अतिरिक्त एक तीसरे अर्थतत्त्व की सत्ता माननी पड़ती है। परन्तु तात्विक विचार आगे जाकर इसका अर्थतत्त्व मे ही अन्तर्भाव कर डाल है। कर्म्म ही क्रिया है, क्रियाकूट ही गुण है, गुणकूट ही द्रव्य है, एवं द्रव्य ही अर्थ, कि पदार्थ है। इस दृष्टि से ज्ञान-क्रिया-अर्थ लक्षण त्रित्ववाद का ज्ञान-क्रियालक्षण, सदसन्मूर्ति ब्रह्म-कर्म्मात्मक द्वित्ववाद पर ही पर्य्यावसान हो जाता है। सदसद्वादलक्षण ब्रह्म-कर्म्मवा ही वैज्ञानिकों का चरम सिद्धान्तपक्ष है। श्रुति-स्मृतिद्वारा प्रमाणित, अनुभव-युक्ति-तर्क दृष्टान्तादि से सर्वात्मना परीक्षित इसी ब्रह्म-कर्म्मवाद का संग्रहदृष्टि से स्पष्टीकरण करते हु निम्न लिखित श्लोक हमारे सामने आते हैं—

अभियुक्तों की सम्मति—

१—यदिदं दृश्यते दृश्यं तद् विद्याद् ब्रह्म कर्म्म च।
कर्म्म क्षुब्धं, ब्रह्म शान्तं, विश्वं तदुभयान्वयः॥

"प्रत्यक्ष दृष्ट जितने भी पदार्थ हैं, उन सब को (समष्टि तथा व्यष्टिरूप से) हम ब्रह्म-कर्म्म इन दो दो भागों मे विभक्त देख सकते हैं। देख क्या सकते हैं, देख रहे हैं। ब्रह्मतत्त्व सर्वथा शान्त है, कर्म्मतत्त्व नित्य अशान्त है, क्षुब्ध है। प्रत्यक्षदृष्ट परिवर्त्तन ही कर्म्म के साक्षात दर्शन हैं। यदि परिवर्त्तन न हो तो, कोई वस्तु कभी पुरानी न हो। कालान्तर में

होनेवाली वस्तु की जीर्णता ही, इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण है कि, वस्तु में अवश्य ही कर्म्म-तत्त्व विद्यमान है। इस क्षणिक कर्म्म के समावेश से ही प्रत्येक पदार्थ आत्यन्तिक रूप से क्षुब्ध बना रहता है।

उक्त क्षोभ के साथ साथ ही हम एक अक्षुब्ध अपरिवर्त्तनीय भाव का भी साक्षात्कार कर रहे हैं। जो पदार्थ क्षण क्षण मे बदल रहा है, उसे ही आप इस अपरिवर्त्तनीय द्रव्य के कारण 'इदमस्ति' 'अयं घटः' इत्यादि रूप से अस्ति की उपाधि से भी सुशोभित कर रहे हैं। यह अस्तितत्त्व उस क्षणिक तत्त्व का सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी भाव है। वह नित्य अशान्त था, यह नित्य शान्त है। इस प्रकार एक ही द्रव्य में, प्रत्येक द्रव्य में आपको दोनों प्रतिद्वन्द्वियों के दर्शन हो रहे हैं। आपके इस दृश्य पदार्थ का क्षुब्ध अंश ही असत्-कर्म्म है, अक्षुब्ध अंश ही सत्-ब्रह्म है, एवं इन दोनों के समन्वित रूप का ही नाम 'विश्व' है। 'तत्तु समन्वयात्' सिद्धान्त भी इसी समन्वित रूप का समर्थन कर रहा है।

२—अन्योन्यमविनाभूतं प्रतिद्वन्द्व्यभिभावकम्।
सहकारि च सापेक्षं सधर्म्मि च विधर्म्मि च॥

यद्यपि तमः प्रकाशवत् विषय-विषयी रूप ब्रह्म-कर्म्म हैं दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध, तथापि दोनों अविनाभूत हैं। ब्रह्म कर्म्म के बिना नहीं रहता, कर्म्म ब्रह्म के बिना नहीं रह सकता। दोनों अन्योऽन्य महा प्रतिद्वन्द्वी हैं। एक (ब्रह्म) शान्त है, निष्क्रिय है, निरञ्जन है, व्यापक है, प्रकाशस्वरूप है, एक (कर्म्म) अशान्त है, सक्रिय है, साञ्जन है, व्याप्य (परिच्छिन्न-ससीम) है, तम स्वरूप है। जिस प्रकार परस्पर अत्यन्त प्रतिद्वन्द्विता रखते हुए भी तम [१] और प्रकाश दोनों एक ही स्थान में, एक ही बिन्दु में समन्वित रहते हैं, उसी प्रकार ये दोनों भी एक ही बिन्दु में प्रतिष्ठित हैं, क्या यह कम आश्चर्य है? इस आश्चर्य्य का समन्वय न करने के कारण ही तो त्रित्ववादियों ने ब्रह्म-कर्म्म से अतिरिक्त एक तीसरे 'अभ्व' तत्त्व की कल्पना कर डाली है, जो कि अभ्वतत्त्व एक बलविशेष बनता हुआ ब्रह्म-कर्म्मवादी के मत में कर्म्म में ही अन्तर्भूत है।

---

१ न हि ध्वान्तमीदृग् न यत्र प्रकाशः, प्रकाशो न तादृङ् न यत्रान्धकारः।

—श्री गुरुप्रणीत-अहोरात्रवादः

ऐसा कोई प्रकाश (उजेला) नहीं, जिसमें अन्धकार न हो। ऐसा कोई अन्धकार नहीं, जिसमें प्रकाश न हो। ऐसी कोई गति नहीं, जिसमें स्थिति न हो। ऐसी कोई स्थिति नहीं, जिसमें गति न हो। ठीक इसी प्रकार ऐसा कोई सत् नहीं, जिसमें असत् न हो। ऐसा कोई असत् नहीं, जिसमें सत् न हो। आग और पानी में सहज बैर माना जाता है। परन्तु हम देखते हैं, एक ही पाञ्चभौतिक शरीर में दोनों विरोधी निर्विरोधी बन कर प्रतिष्ठित हैं। विरोधी भावों का नाश शान्ति का कारण नहीं है, अपितु विरोधी भावों का समन्वय, सहयोग, सम्मिलन, सद्भाव, सौजन्य ही विश्वशान्ति की मूल प्रतिष्ठा है, और यही शिवभाव है, जैसा कि, शिव—तद्वाहन वृषभ—तद्भूषण सर्प—तद्भालस्थित अमृत—तत् कण्ठस्थित गरल—तत् पत्नी महाकाली—तद्वाहन सिंह—तत्पुत्र कार्त्तिकेय और गणपति—तद्वाहन मयूर और मूषक आदि-आदि विरोधी भावों की समष्टिरूप 'शिवपरिवार' दृष्टान्त से स्पष्ट है। शिव-परिवार इसीलिए शिवस्वरूप है कि, इसमें घोर-घोरतम, शान्त-शान्ततम विरोधी भावों का समन्वय है। जहां विरोधी भावों का समन्वय नहीं होने पाता, वहां आवश्यक रूप से कलहमूला अशान्ति का उदय हो जाता है, यह सार्वजनीन अनुभव है।

ब्रह्म-कर्म्म दोनों प्रतिद्वन्द्वी भाव एक दूसरे के अभिभावक बने हुए हैं, यह दूसरा आश्चर्य है। ब्रह्म ने कर्म्म को निभा रक्खा है, एवं कर्म्म ने ब्रह्म का विकास कर रक्खा है। दोनों विरोधी, दोनों का समन्वय, पहिला आश्चर्य। दोनों अभिभावक, दूसरा आश्चर्य। दोनों सहकारी, यह तीसरा आश्चर्य। दोनों साथ मिल कर ही वस्तु का स्वरूप-सम्पादन करते हैं। दोनों सापेक्ष, यह चौथा आश्चर्य। कर्म्म को अपनी प्रतिष्ठा के लिए, अपने स्वरूप-परिचय के लिए ब्रह्म की अपेक्षा है। विना ब्रह्म को आधार बनाए कर्म्म हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार विना कर्म्म को अपनाए ब्रह्मदेव भी सृष्टिप्रक्रिया में सफल नहीं हो सकते। ज्ञानसिद्ध पदार्थ ही कर्म्म है, कर्म्मसिद्ध पदार्थ ही ज्ञान है। पदार्थ कर्म्ममय है, इसीलिए हम उसे जानते हैं। पदार्थ को हम जानते हैं, इसीलिए वह है। दोनों में उपकार्य्य-उपकारक भाव है। चक्षुरिन्द्रिय शैत्यगुणानुगामिनी है। चक्षु सदा शीतोपचार चाहता है। परन्तु यही अपनी स्वरूपसत्ता के लिए अत्यन्त विरुद्ध सूर्य्यतत्व की भी अपेक्षा रखती है। अत्यन्त तप्त सौरतत्व शीतानुगामी चक्षु का उपकारक बने, क्या यह कम आश्चर्य है ?

चांवलों में पानी भर कर स्थाली (बटलोही) को अग्नि पर चढ़ा दिया जाता है। अग्नि-जल दोनों अपना अपना कार्य्य आरम्भ कर देते हैं। इन दोनों विरोधियों के समन्वय से ही 'भात' नामक अपूर्व पदार्थ सम्पन्न हो जाता है। अग्नि सर्वथा तापधर्म्मा है, पानी सर्वथा

शीतगुणक है। दोनों महा प्रतिद्वन्द्वी हैं, घोर विरोधी हैं। परन्तु भातनिर्म्माण में दोनों विरोधियों के एकत्र समन्वय की अपेक्षा है। इसी तरह परस्पर विरोध रखते हुए भी ब्रह्म-कर्म्म दोनों ही विश्व-निर्म्माण में समन्वित हैं। जिस प्रकार भात-निर्म्माण धर्म्म में आग-पानी दोनों परस्पर सधर्म्मी, किन्तु प्रातिस्विक रूप से विधर्म्मी हैं, एवमेव विश्वनिर्म्माण-धर्म्म में ब्रह्म-कर्म्म जहां सधर्म्मी हैं, प्रातिस्विकरूप से दोनों ही विधर्म्मी भी बने हुए हैं, और यही पांचवां आश्चर्य्य है। ऐसे आश्चर्य्यमय ब्रह्म-कर्म्मभाव का निरूपण करना भी अपने आपको, और वाचकों को आश्चर्य में ही डालना है।

३—तारतम्येन कर्म्म-योगाद् ब्रह्म द्विधा विदुः।
परं ब्रह्म-वरं ब्रह्म, परं त्वात्मैव स द्विधा॥

विश्व का मूलरूप, परस्पर अविनाभूत, महाप्रतिद्वन्द्वी, एक दूसरे का अभिभावक, अन्योऽन्य सहकारी, सापेक्ष, सधर्म्मी, एवं विधर्म्मी ब्रह्म-कर्म्म का युग्म ही आगे जाकर कर्म्म के योग-तारतम्य से दो स्वरूप धारण कर लेता है। सचमुच यह कर्म्म के योगविशेष का ही फल है कि, ब्रह्म-कर्म्मरूप एक ही अद्वितीय ब्रह्म 'परब्रह्म'—'अवरब्रह्म' भेद से दो रूपों में परिणत हो रहा है। ब्रह्म का पहिला परब्रह्मरूप जहाँ विश्व का 'आत्मा' कहलाता है, वहां इसी ब्रह्म का दूसरा अवरब्रह्मरूप उस आत्मा का 'शरीर' कहलाता है। वही एकरूप से आत्मा बन गया है, एक से शरीर बन गया है।

यहीं विश्राम नहीं हो जाता। कर्म्मतारतम्य से, बलों के सम्बन्ध वैचित्र्य से ब्रह्म के आत्मलक्षण 'परब्रह्म' नामक पहिले रूप के आगे जाकर 'परात्परब्रह्म' – 'षोडशीब्रह्म' ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। इन दोनों आत्मरूपों में से परात्पर नामक पहिलारूप 'विश्वातीत' है, षोडशी नामक दूसरा रूप 'विश्वात्मा' है। परब्रह्म-आत्मा-विश्वात्मा इत्यादि रूप से अनेक नामों से व्यवहृत 'ब्रह्म' पदार्थ विशुद्ध ब्रह्म नहीं है, अपितु यह ब्रह्म आवश्यक रूप से कर्म्म को अपने गर्भ में रखता है। कर्म्मगर्भित ब्रह्म ही ब्रह्म है, जिसे कि दोनों (ब्रह्म-कर्म्म) के रहते हुए भी ब्रह्म की प्रधानता से 'तद्वादन्याय' से 'ब्रह्म' ही कह दिया जाता है। यही अवस्था अवरब्रह्म लक्षण कर्म्ममय विश्व की समझिए। यहां ब्रह्मतत्त्व गर्भ में है, एवं कर्म्म प्रधान है। अतएव उभयात्मक होने पर भी प्रधानतया इसे 'कर्म्म' ही कह दिया जाता है। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, ब्रह्म-कर्म्मात्मक ब्रह्म का आत्मरूप ब्रह्म भी उभयात्मक है, एवं शरीर

(विश्व) रूप कर्म्म भी उभयात्मक है। आत्मब्रह्म में ब्रह्म प्रधान है, कर्म्म गौण है। शरीरब्रह्म मे कर्म्म प्रधान है, ब्रह्म गौण है। जब तक दोनों पृथक् पृथक् समझे जाते हैं, तब तक गौण-मुख्यभाव की कृपा से आध्यात्मिक आत्म-शरीर संस्थाओं में विषमता रहती है। जब दोनों का समन्वय करा दिया जाता है, तो आत्मा का गौण कर्म्म शरीर के मुख्य कर्म्म से मिल कर प्रधान बन जाता है, शरीर का गौण ब्रह्म आत्मा के मुख्य ब्रह्म से संश्लिष्ट होकर प्रधान बन जाता है। दूसरे शब्दों मे इस समन्वय की कृपा से ब्रह्म कर्म्म दोनों हीं गौण, दोनों ही मुख्य बनते हुए समभाव मे परिणत होते हुए समत्वयोग के अनुयायी बन जाते हैं।

कर्म्मगर्भित ब्रह्मतत्व ब्रह्मगर्भित कर्म्म (विश्व) में एक रूप से व्याप्त है। सर्वत्र अप्रतिहत-गति है। अतएव—'अतति, सर्वत्र सातत्येन गच्छति, व्याप्तो भवति' इस निर्वचन से इस कर्म्मगर्भित, परब्रह्म लक्षण ब्रह्मतत्व को 'आत्मा' कहा जाता है। यह आत्मब्रह्म, किंवा परब्रह्म पूर्व कथनानुसार परात्पर-षोडशी ये दो रूप धारण किए हुए है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा।

४—अशेषकर्म्मवद् ब्रह्म परात्परमिति श्रुतम्।
महामायाकर्म्मभेदादवच्छिन्नः षोडशी परः॥

सर्वकर्म्म (अशेषबल) विशिष्ट ब्रह्म ही श्रुतियों में 'परात्पर' नाम से सुना गया है। वही 'सर्वधर्म्मोपपन्न' ब्रह्म है, जैसा कि—'सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च' (शा० सूत्र २।१।१७) इत्यादि शारीरक सिद्धान्त से स्पष्ट है। शुक्ल-कृष्ण-हरित-पीत-नील-रक्त-धूम्र-बभ्रु आदि जितने भी वर्ण हैं, सब का इस परात्परब्रह्म मे समन्वय है। सम्पूर्ण कर्म्मप्रपञ्च (बलप्रपञ्च) सहचरसम्बन्ध से इसमें प्रतिष्ठित है। यह अणोरणीयान् है, महतो महीयान् है। और इन्हीं सब धर्म्मों के कारण परात्पर असीम है, अत्यनपिनद्ध है, व्यापक है, अतएव वाङ्मनसपथातीत बनता हुआ, 'नेति नेति' रूप से उद्गीयमान बनता हुआ शास्त्रानधिकृत है।

इस व्यापक परात्पर का ही एक (माया द्वारा कल्पित) प्रदेश मायाबल से सीमित बन कर, मायापुर में सुप्त होता हुआ—

'सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः'

—श० ब्रा० १३।६।२।१

'स वाऽअयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु-पुरिशयः'
(पुरिशय एव पुरुषः परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः)

—श० १४।५।५।१८

इत्यादि निर्वचन के अनुसार 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। महामाया से अतीत अमायी परात्पर परात्पर है, महामायावच्छिन्न वही मायी परात्पर प्रदेश 'पुरुष' है। महामायावच्छिन्न यह परात्परब्रह्म (पुरुष) यद्यपि माया सीमा के कारण ससीम अवश्य बन जाता है, परन्तु रहता है असङ्ग ही। कर्म्मचिति (बलों का ग्रन्थिबन्धन) का उदय एकमात्र मायाबल ही निर्भर नहीं है। योगमाया के समन्वय से ही महामाया सङ्गभाव की जननी बनती हुई ब्रह्म-वैविध्य का कारण बनती है।

विशुद्ध महामायावच्छिन्न ससीम ब्रह्म तो चितिधर्म्म से पृथक् रहता हुआ, चितिलक्षण वैविध्य से पृथक् ही रहता है। अतएव इस महामायी ब्रह्म को—

'न वैविध्यमेति, विविधतां न गच्छति'

इस निर्वचन से 'अव्यय'[1] ही कहा जाता है। आगे जाकर हृदयबल से सम्बन्ध रखने वाली अनन्त योगमायाओं के कारण यही अव्ययात्मा चितिधर्म्म से युक्त होता हुआ 'चिदात्मा' बन जाता है। महामायावच्छिन्न यह परब्रह्म हृदयबलानुगामिनी अपनी 'परा' 'अपरा' नाम की अन्तरङ्गप्रकृतियों से नित्ययुक्त रहता है। पराप्रकृति 'अक्षर' है, अपरा प्रकृति 'क्षर' है। अव्ययपुरुष, अक्षर, क्षर तीनों हीं पांच पांच अवान्तर कलाओं से युक्त हैं, जिन कलाओं का कि उदय योगमाया से हुआ है। सोलहवां वह सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति मायातीत परात्पर भी इसमें अनुस्यूत रहता है। इस प्रकार अपनी अन्तरङ्ग प्रकृतियों से षोडशकल बनता हुआ वही अव्यय पुरुष 'षोडशीपुरुष' (सोलहकलावाला पुरुष) बन जाता है। इस प्रकार कर्म्मयोग के तारतम्य से एक ही परब्रह्म के 'परात्परब्रह्म'—'षोडशीब्रह्म'

---

१ सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥
—गोपथ ब्रा० पू० १।२६।

ये विवर्त्त हो जाते हैं। सर्वबलविशिष्टरस ही 'परात्पर' शब्द से श्रुत है, एवं महामायात्मक-कर्म्मावच्छिन्न, नियतबलविशिष्टरस ही 'षोडशी' नाम से उपवर्णित है।

५—परमेश्वर इत्युक्तो विश्वातीतः परात्परः।
तत्रेश्वराः परात्मानः सन्ति षोडशिनोऽमिताः॥

परात्पर भी 'परात्मा' है, एवं षोडशी भी 'परात्मा' है। चूंकि परात्पर नामक परात्मा षोडशी नामक परात्मा से भी 'पर' (परे तथा उत्कृष्ट) है, अतएव 'परादपि-अन्ययादपि-परः-अतीतः-उत्कृष्टः' इस निर्वचन से इस विश्वातीत परब्रह्म को 'परात्पर' कह दिया जाता है। विश्व का सीमाभाव से सम्बन्ध है। परात्पर विश्वातीत बनता हुआ असीम है। यह असीम परात्पर ही विज्ञान भाषा में 'परमेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। परमेश्वर के उदर में अनन्त मायाबल हैं। परमेश्वरात्मक इस परात्पर के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाली एक एक माया से एक एक षोडशी पुरुष का उदय होता है। एक एक महामाया से अवच्छिन्न एक एक षोडशी ब्रह्म ही एक एक स्वतन्त्र 'ईश्वर' है। चूंकि परात्पर के उदर में अनन्त मायाबल हैं, एवं एक एक मायाबल से एक एक ईश्वरतन्त्र का उदय होता है, अतएव परमेश्वर की प्रतिद्वन्द्विता में अनन्त ईश्वर (षोडशी) सिद्ध हो जाते हैं।

परमेश्वर एक है, ईश्वर असंख्य हैं। परमेश्वर अजर-अमर है, ईश्वरतत्व मायावच्छेद से उदित होने के कारण 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' इस नियम के अनुसार मरणधर्म्मा है।

महामायावच्छिन्न ईश्वर ही 'अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक' अश्वत्थ है। इस अश्वत्थवृक्ष की एक सहस्र वल्शा (शाखा-टहनी) हैं। एक एक वल्शा में 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी' ये पांच पांच पुण्डीर (पर्व-पोर) हैं, यही 'पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शा' है। इस वल्शादृष्टि से एक एक महामायी अश्वत्थेश्वर में सहस्र सहस्र ब्रह्माण्डों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। पञ्चपुण्डीरात्मक ब्रह्माण्ड के गर्भ में ऋषि, पितर, देवता, गन्धर्व, असुर, पिशाच, मनुष्य, कृमि, कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी आदि अनन्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं। अनन्त प्राणियों को अपने गर्भ में रखने वाला, पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शा से अपना स्वरूप सम्पन्न करनेवाला, अश्वत्थेश्वर का हजारवां अवयव भूत यही तत्व 'उपेश्वर' नाम से उपवर्णित है। वल्शात्मक एक ब्रह्माण्ड में रहनेवाले ऋष्यादि सम्पूर्ण जीवों का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण यही उपेश्वर, किंवा वल्शेश्वर है। दूसरे ब्रह्माण्डों से, एवं तदधिष्ठाता उपेश्वरों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। अस-

दादि की अपेक्षा पञ्चपुण्डीराधिष्ठाता उपेश्वर ही हमारा ईश्वर (अश्वत्थ), परमेश्वर (परात्पर) सब कुछ है। यदि कुछ सम्बन्ध है भी, तो उपेश्वर द्वारा ही।

परात्पर में अनन्त मायाबल, एक एक मायाबल का एक एक ईश्वर, एक एक ईश्वर के उदर में सहस्र सहस्र उपेश्वर, एक एक उपेश्वर के उदर में असंख्य असंख्य प्राणी। उपेश्वर शरीर के गर्भ में असंख्य जीव उत्पन्न होते रहते हैं, एवं नष्ट होते रहते हैं। हम सब प्राणी उपेश्वरशरीर के कीटाणु हैं। इसी प्रकार हम सब प्राणियों का (प्रत्येक का) शरीर भी असंख्य कीटाणुओं से व्याप्त है। अनन्त कीटाणुगर्भित प्राणि-शरीररूप अनन्त कीटाणुओं को अपने गर्भ में रखने वाला उपेश्वर उस अश्वत्थेश्वर का भ्रूण है। अश्वत्थेश्वर ऐसे ऐसे सहस्र भ्रूणों को अपने गर्भ में धारण किए हुए है। सहस्र भ्रूणगर्भित अश्वत्थेश्वर उस मायातीत परात्पर का एक भ्रूण है। मायाबल के आनन्त्य से उस अनन्त परात्पर में ऐसे अनन्त भ्रूण प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार अथ से इति पर्य्यन्त उस अनन्त ब्रह्म के आनन्त्य का विस्तार हो रहा है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, विश्वातीत परात्पर 'परमेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस असीम परात्पर में मायामित, किन्तु संख्या से अमित 'परात्मा' नाम के अनन्त ईश्वर (षोडशी) प्रतिष्ठित हैं।'

६—महामायाकर्म्मभेदावच्छिन्नस्तु परोऽव्ययः।
परावरोऽक्षरस्तत्र क्षरस्तत्रावरः परः॥

मितिप्रवर्त्तक, दूसरे शब्दों में सीमासम्पादक महामाया नाम के कर्म्म से अवच्छिन्न अव्ययपुरुष 'पर' नाम से प्रसिद्ध है। पराप्रकृतिरूप अक्षरब्रह्म 'परावर' नाम से प्रसिद्ध है। एवं अपराप्रकृतिरूप क्षरब्रह्म 'अवर' नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम श्रेणि में प्रतिष्ठित रहने से क्षर 'अवर' है। उत्तम श्रेणि में प्रतिष्ठित अव्यय अक्षर-क्षरापेक्षया 'पर' है। मध्यम श्रेणि में प्रतिष्ठित अक्षर प्रथमश्रेणिस्थ क्षर की अपेक्षा से 'पर' बनता हुआ, एवं उत्तमश्रेणिस्थ अव्यय की अपेक्षा से 'अवर' बनता हुआ 'परावर' है। श्लोकस्थ सबसे अन्त का 'पर' शब्द अन्यार्थक ही समझना चाहिए—'क्षरस्तत्रावरः परः' (परः-अन्यः-तृतीयः क्षरः-अवरः)।

७—त्रयोऽमी पुरुषा उक्ता अव्ययश्चाक्षरः क्षरः।
त्रयस्ते पुरुषा युक्ताः षोडशी पुरुषः परः॥

इस प्रकार परपुरुष (अव्यय), परावरपुरुष (अक्षर पुरुष, किंवा पराप्रकृति), अपरपुरुष (क्षरपुरुष, किंवा अपराप्रकृति), दूसरे शब्दों में उत्तमपुरुष (अव्यय), मध्यम-पुरुष (अक्षर), प्रथमपुरुष (क्षर) इन तीनों की युक्तावस्था ही 'षोडशीपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है।

८—आत्मैवेदं परं ब्रह्म सर्वत्राप्तमकर्म्म तत्।
अथ कर्म्मावरं ब्रह्म तदात्मा च पुरं च तत्॥

सर्वत्र अविभक्तरूप से व्याप्त, किन्तु विभक्तमिव स्थित आत्मलक्षण यह परब्रह्म, किंवा परात्मा (षोडशीपुरुष) विश्व का आत्मा बना हुआ है। यह विश्वात्मा ब्रह्मभाग की प्रधानता से स्वयं अकर्म्मरूप (सत् प्रधान-ज्ञानप्रधान) बना हुआ है। इस 'अकर्म्म' संज्ञक विश्वात्मा का अपराप्रकृतिलक्षण क्षर भाग परिणामी है। इससे प्रतिक्षण नवीन नवीन विकार निकलते रहते हैं। विकारावस्था में परिणत आत्मा का (आत्मक्षर का) यह क्षर भाग ही विश्वरूप ब्रह्मपुर की प्रतिष्ठा बनता है। विकाररूप में परिणत क्षर विश्वपुर है, परिणामी, किन्तु स्वस्वरूप से अविकृत अवर क्षर ब्रह्म ही वैकारिक क्षर विश्व का आत्मा है। इस आत्मसम्बन्ध से ही यह क्षर क्षर होता हुआ भी 'आत्मक्षर' कहलाया है। इस दृष्टि से षोडशीपुरुष तो परब्रह्मकोटि मे रह जाता है, एवं षोडशी के अवरलक्षण क्षर भाग से उत्पन्न विकारक्षरसंघ अवरब्रह्मकोटि में आ जाता है।

परब्रह्म को अकर्म्मरूप बतलाया गया है। रहता हुआ भी कर्म्म-भाग इसमें अनुद्बुद्ध है। इसी दृष्टि से इसे 'अकर्म्म' कहा जा सकता है। इसी प्रकार परब्रह्म का मायातीत दूसरा परात्पर विवर्त्त भी सर्वथा अकर्म्मरूप ही माना जायगा। इस परात्पर ब्रह्म का तो सृष्टिकर्म्म से षोडशीलक्षण परब्रह्म जितना भी सम्पर्क नहीं है। परात्पर तो सर्वथा नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, एवं नित्यमुक्त है। यहां कर्म्म का लेश भी नहीं है। तात्पर्य्य यह हुआ कि, परात्पर में कर्म्म सर्वथा सुप्त रहता है, एवं कर्म्म की इसी सुप्तावस्था को 'बल' कहा जाता है। और इसीलिए परात्पर को 'सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति' कहना अन्वर्थ बनता है। इधर हमारा षोडशी पुरुष मायावच्छेद के कारण कर्म्मप्रपञ्च का सहकारी तो अवश्य बन जाता है, परन्तु स्वस्वरूप से यह कर्म्मलेप (कर्म्मसंस्कार) से पृथक् ही रहता है। इसी असङ्गभाव के कारण हम इसे भी असङ्गपरात्परवत् 'अकर्म्म' ही मान लेते हैं। सम्पूर्ण प्रपञ्च मायागर्भ में समाविष्ट है।

उधर माया की परिधि तक षोडशी पुरुष को व्याप्त बतलाया गया है। फलतः इस अकर्म्म षोडशी ब्रह्म की सर्वव्याप्ति सिद्ध हो जाती है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

—गी० ७।७।

इस प्रकार परात्पर-ब्रह्मगर्भित (परात्परप्रदेशगर्भित), अकर्म्म लक्षण परात्मा (षोडशी) सर्वत्र आत्मरूप से व्याप्त हो रहा है, श्लोकस्थ—'आत्मैवेदं परं ब्रह्म सर्वत्रात्मककर्म्म तत्' इस पूर्वार्द्ध से यही कहा गया है।

षोडशी पुरुष के परिणामी आत्मक्षर से निरन्तर विकार निकलते रहते हैं, यह कहा जा चुका है। जिस तरह दूध से उत्पन्न शर (थर-मलाई) दूध पर प्रतिष्ठित होती जाती है, लौह से उत्पन्न किट्ट (जंग) लौह पर ही चढ़ता जाता है, ठीक इसी तरह आत्मक्षर से उत्पन्न विकारसंघ आत्मक्षर पर ही प्रतिष्ठित रहता है। विकारसंघ के उदय से आत्मक्षर का आत्मत्व (आत्मविकास-आत्मज्योति) दब जाता है। रह जाता है, केवल वैकारिक कर्म्म का साम्राज्य। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि, जिस प्रकार परब्रह्म में केवल ब्रह्म ही नहीं है, वैसे यहां भी केवल कर्म्म का ही साम्राज्य नहीं है। जैसे शर के नीचे दुग्ध रहता है, जंग के भीतर लौह छिपा रहता है, फेन के भीतर पानी प्रतिष्ठित रहता है, वैसे ही विकारसंघ के गर्भ में वह आत्मक्षर (अव्यय-अक्षरविशिष्ट आत्मक्षर) प्रतिष्ठित रहता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, अव्यय-अक्षर से अविनाभूत-आत्मक्षर को अपने गर्भ मे रखने वाला विकार-संघ ही कर्म्मप्रधान दूसरा 'अवरब्रह्म' है।

कर्म्मरूप यह अवरब्रह्म भी परब्रह्म की तरह दो भागों में परिणत रहता है। जिस प्रकार परब्रह्म के दोनों रूप क्रमशः परात्पर, षोडशी नामों से व्यवहृत हुए हैं, वैसे इस अवरब्रह्म के दोनों रूप क्रमशः 'आत्मा—पुर' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। स्वयं विकारसंघ उस आत्मक्षर का आयतन है, निवासभूमि है। अतः इसे हम 'आत्मपुर' किंवा 'ब्रह्मपुर' कह सकते हैं। और विकारसंघरूप यही पुर आगे जाकर 'विश्व' नाम धारण करता है। जिस प्रकार लौह का यत्किञ्चित प्रदेश ही जंग बनता है, शेष लौह अविकृतरूप से ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है,

इसी तरह आत्मक्षर का भी यत्किञ्चित् प्रदेश ही (अविकृतपरिणामरूप से) विकाररूप में परिणत होता है, शेष भाग अविकृतरूप से ज्यों का त्यों बचा रहता है। वस्तुतस्तु—

"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य (ब्रह्मणो)।
न कर्म्मणा वर्द्धते, नो कनीयान्" ॥

—बृहदारण्यकोप० ४।४।२३।

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अनन्त विकार उत्पन्न हो जाने पर भी नित्य आत्मक्षर के प्रदेश की थोड़ी सी भी हानि नहीं होती। विकारोत्पत्ति से पहिले वह जैसा, जितना रहता है, विकार उत्पन्न होने पर भी वह वैसा, एवं उतना ही रहता है। इसीलिए दार्शनिकों नें आत्मक्षरसम्बन्धी परिणामवादको 'अविकृतपरिणामवाद' की उपाधि से विभूषित किया है।

तात्पर्य्य कहने का यही है कि, आत्मक्षर से उत्पन्न विकारसंघ पुर किंवा विश्व है। एवं स्वयं आत्मक्षर इस पुर का आत्मा है। जिस प्रकार परात्पर और षोडशी की समष्टि 'परब्रह्म' है, वैसे ही आत्मा (आत्मक्षर), और पुर (विकारसंघात्मक विश्व) दोनों की समष्टि 'अवरब्रह्म' है। परब्रह्म ब्रह्मप्रधान बनता हुआ 'ब्रह्म' है, अवरब्रह्म कर्म्मप्रधान बनता हुआ 'कर्म्म' है। ब्रह्म-कर्म्मलक्षण पर-अवरब्रह्म की समष्टि ही 'तदिदं सर्वम्' है। श्लोकस्थ— 'अथ कर्म्मावरं ब्रह्म, तदात्मा च पुरं च तत्' इस उत्तरार्द्ध ने इसी रहस्य का स्पष्टीकरण किया है।

९—कर्म्मानुबन्धसापेक्षं ब्रह्मेदं त्रिविधं पुनः।
सृष्टं-प्रविष्ट-मुन्मुक्तं, सृष्टानुप्राविशद्धि तत् ॥
१०—ब्रह्म, सृष्टं कर्म्म—कर्म्मचितिन्यष्ट्यवलम्बनम्।
प्रविष्टं ब्रह्म तद् विद्यात् समष्ट्यवलम्बनम् ॥
११—कर्म्मातीतं तु यत् कर्म्मोपहितं ब्रह्म भिन्नवत्।
तदुन्मुक्तमिदं नित्यशुद्ध-बुद्धं निरञ्जनम् ॥

—श्री गुरुप्रणीत, गीताविज्ञानभाष्य, रहस्यकाण्ड, 'ब्रह्म-कर्म्मसमीक्षा'।

(६)—पूर्वप्रतिपादित, सदसल्लक्षण ब्रह्मतत्त्व ही कर्म्मानुबन्ध की अपेक्षा से- 'सृष्टब्रह्म—प्रविष्टब्रह्म—उन्मुक्तब्रह्म (प्रविविक्तब्रह्म)' ये तीन संस्था हो जाती हैं।

ब्रह्म के इन्हीं तीनों विवर्त्तों को 'विश्व-विश्वचर-विश्वातीत'—'अपरब्रह्म-परब्रह्म-परात्परब्रह्म' इन अन्य नामों से भी व्यवहृत किया जाता है। परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षररूप से चतुष्पात् बना हुआ वह षोडशी ब्रह्म—

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'

—यजुः सं० ३१।३।

'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः, पादोस्येहाभवत् पुनः'

—यजुः सं० ३१।४।

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'

—गी० ११।४२।

इत्यादि श्रुति-स्मृति के अनुसार अपने चतुर्थपाद स्थानीय, किंवा एकांश स्थानीय क्षर भाग से विकार उत्पन्न कर उनसे विश्व का स्वरूप निर्म्माण कर 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार अपने षोडशीरूप से उस निर्मित वैकारिक विश्व के गर्भ में विश्वाभिमानी आत्मरूप से प्रविष्ट हो जाता है।

विश्व का उपादान कारण षोडशीब्रह्म का आत्मक्षर भाग है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। वही अपने विकारों को अपने ऊपर चढ़ाते चढ़ाते उस विकारसंघ से 'सृष्ट' रूप में परिणत हो गया है। इस प्रकार अपने विकार भाग से सृष्ट (सृष्टि) रूप में परिणत होता हुआ, शेषरूप से उस सृष्टरूप का आधार बन कर 'प्रविष्ट' कहलाने लगता है। इसके अतिरिक्त मायातीत जो भाग न सृष्ट बनता, न प्रविष्ट होने का अभिमान करता, कार्य्यकारणातीत वही (परात्पर) भाग 'उन्मुक्त', किंवा 'प्रविविक्त' कहलाता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति मायातीत परात्पर नामक 'परब्रह्म' विश्वातीत बनता हुआ 'उन्मुक्त ब्रह्म' है। नियतबलविशिष्टरसमूर्त्ति, माहामायी 'षोडशी' नामक 'परब्रह्म' विश्वचर बनता हुआ 'प्रविष्ट ब्रह्म' है। एवं आत्मक्षररूप से आत्मा, विकारसंघरूप से आत्मपुर इन दो भागों में विभक्त रहता हुआ योगमायी 'अपरब्रह्म' ही 'सृष्टब्रह्म' है। महामाया-योगमायारूप बलात्मक कर्म्मानुबन्ध के तारतम्य से एक ही तीन विवर्त्तभावों में परिणत हो गया है, यही निष्कर्ष है।

(१०)—दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, सृष्टरूप को उत्पन्न कर उसमें प्रविष्ट रहनेवाला ब्रह्म तो (ब्रह्मभाग की प्रधानता से) 'ब्रह्म' कहलाता है। एवं इसका सृष्टरूप (कर्म्मयोग की प्रधानता से) 'कर्म्म' कहलाता है। सम्पूर्ण विश्व कर्म्मलक्षण बलों की चिति से ही सम्पन्न हुआ है। यह चितिभाव समष्टि-व्यष्टिरूप से दो भागों में विभक्त है। सम्पूर्ण विश्व समष्टिरूपा चिति है। विश्व का एक एक पदार्थ व्यष्टिरूपा चितिएँ है। कर्म्मप्रधान, अतएव 'कर्म्म' नाम से ही व्यवहृत सृष्टब्रह्म तो इन व्यष्टिरूपा चितियों का आलम्बन बनता है। एवं ब्रह्मप्रधान, अतएव 'ब्रह्म' नाम से ही प्रसिद्ध प्रविष्टब्रह्म समष्टिरूपा महाचिति का आलम्बन बनता है।

प्रकारान्तर से यों देखिए कि, विश्व के यच्चयावत् पदार्थों का जो प्रातिस्विक (वैय्यक्तिक) प्रतिष्ठातत्त्व है, वह 'सृष्टब्रह्म' है। तत्तत् पदार्थों की प्रातिस्विक क्रिया क्षररूप सृष्टब्रह्म के आधार पर ही अवलम्बित है। ऐसी ऐसी अनन्त व्यष्टियों की समष्टि ही विश्व है। इस समष्टि (विश्व) की एकहेलया, एककालावच्छेदेन जो प्रतिष्ठा है, जिसके कि आधार पर महाविश्वात्मक महाकर्म्म स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, वही महा आलम्बन 'प्रविष्टब्रह्म' है। ब्रह्म-कर्म्मोभयमूर्त्ति, किन्तु ब्रह्मप्रधान, अतएव 'ब्रह्म'—'अकर्म्म' इत्यादि नामों से व्यवहृत, समष्टि का आलम्बनरूप षोडशी लक्षण 'परब्रह्म' ही 'प्रविष्टब्रह्म' है। एवं कर्म्म-ब्रह्मोमयमूर्त्ति, किन्तु कर्म्मप्रधान, अतएव 'कर्म्म' नाम से व्यवहृत, व्यष्टियों का आलम्बनरूप आत्म-आत्मपुर लक्षण 'अपरब्रह्म' ही 'सृष्टब्रह्म' है, यही निष्कर्ष है।

(११)—यह तो हुई सृष्ट-प्रविष्ट की मीमांसा। अब तीसरा 'उन्मुक्तब्रह्म' शेष रह जाता है। सृष्टब्रह्म जहां कर्म्मप्रधान बनता हुआ कर्म्मरूप है, प्रविष्ट ब्रह्म जहाँ ब्रह्मप्रधान बनता हुआ अकर्म्मरूप है, वहाँ हमारा यह तीसरा उन्मुक्त ब्रह्म मायासीमा से बाहर रहता हुआ कर्म्मतीत बना हुआ है। यद्यपि ब्रह्मतत्त्व (रसतत्त्व) बिना कर्म्मतत्त्व (बलतत्त्व) के सर्वथा अनुपपन्न है। ऐसी दशा में मायानवच्छिन्न, अतएव विश्वातीत इस उन्मुक्तब्रह्म को भी आत्यन्तिकरूप से कर्म्मातीत, किंवा कर्म्मशून्य नहीं कहना चाहिए था। तथापि घटत्त्व सम्बन्धी एक विशेष प्रकार के शाब्दबोध के आधार पर 'भाति' द्वारा यथाकथंचित् उन्मुक्तब्रह्म की कर्म्मातीतता सुरक्षित रक्खी जा सकती है।

'घटे घटत्वम्' इस वाक्य के अर्थ का हमें समन्वय करना है। तर्कानुगामी दार्शनिक इस वाक्य को अशुद्ध बतलाने का उपक्रम करते हुए कहते हैं कि, 'घट में घटत्त्व है' यह नहीं कहा जा सकता। चूंकि घट में कम्बुग्रीवादिलक्षण घटत्त्व रहता है, अतएव घट को घट

कहा जाता है। जिस क्षण घट से घटत्व निकल जाता है, घट का अस्तित्व उसी क्षण विलीन हो जाता है। घटत्व को अपने गर्भ में रखने वाला घट शब्द ही हमारे उच्चारण का विषय बन सकता है। जिस घट में घटत्व न रहेगा, वह घट घट ही न रहेगा, फिर उच्चारण हम किसका करेंगे, एक परिस्थिति। दूसरी परिस्थिति यह है कि, एक घट में एक ही घटत्व रहता है। दो घटत्वों का तात्पर्य्य होगा—घटत्व मे घटत्व, और यह सर्वथा असम्भव है। घटत्व घट में रहा करता है, घटत्व में घटत्व क्या रहेगा? इन दोनों परिस्थितियों को सामने रखते हुए 'घटे घटत्वम्' का वाक्यार्थ बोध कीजिए।

प्रश्न यह है कि, वक्ता ने 'घटे' यह शब्द बोला ही कैसे, जब कि अभी उसमें घटत्व नहीं है, जिसकी स्थापना के लिए वह आगे जाकर 'घटत्वम्' बोलता है। 'घटे' यह उसी दशा मे बोला जा सकता है, जब कि घट मे घटत्व न रहे। और ऐसा सम्भव नहीं। जब घट में घटत्व विद्यमान है तो—'घटे घटत्वं' का वाक्यार्थ होना चाहिए—'घटत्वविशिष्टे घटे घटत्वम्'। चूंकि एक 'त्व' मे दूसरा 'त्व' रह नहीं सकता, इसलिए उक्त वाक्यार्थ अशुद्ध माना जायगा। अब बतलाइए—'घटे घटत्वम्' का कैसे समन्वय किया जाय?

तार्किक उत्तर देते है कि, यह ठीक है कि, घट कभी घटत्व के बिना नहीं रहता। परन्तु हम अपने ज्ञान मे दोनों का पार्थक्य अवश्य ही कर सकते हैं। "घट भिन्न वस्तु है, घटत्व भिन्न वस्तु है, दोनों अविनाभूत हैं"। इस प्रकार घट-घटत्व का भेद और अभेद दोनों हमारे ज्ञान में आ रहे हैं। इस ज्ञानीय भेद को लेकर ही सत्तादृष्टि से अभिन्न रहने वाले भी घटत्व की वाक्य समन्वय के लिए थोड़ी देर के लिए अविवक्षा कर दी जाती है, और इसी ज्ञानीय पार्थक्य के आधार पर 'घटे-घटत्वम्' का 'घटत्वोपहिते घटे-घटत्वम्' यह वाक्यार्थ कर लिया जाता है।

ठीक इसी शाब्दबोधप्रक्रिया से यहां काम लीजिए। यह सच है कि, कर्म्म (बल) को छोड़ कर ब्रह्म कभी विशुद्धरूप में परिणत नहीं रहता। तथापि- 'ब्रह्मणि ब्रह्मत्वम्' इस वाक्य में ब्रह्म में रहने वाले कर्म्म की (भातिद्वारा) अविवक्षा कर 'कर्म्मोपहिते ब्रह्मणि ब्रह्मत्वम्' यह वाक्यार्थ बना लिया जाता है। ब्रह्म का ब्रह्मत्व (ब्रह्मपना) कर्म्म ही है। जिस प्रकार बिना घटत्व के घटपदार्थ का कोई मूल्य नहीं, एवमेव बिना कर्म्मत्व के ब्रह्म पदार्थ भी सर्वथा अनुपपन्न ही रहता है। इस प्रकार 'त्व' की अविवक्षा से हम अपने बौद्ध-जगत् के आधार पर उन्मुक्तब्रह्म को कर्म्मातीत कह सकते हैं।

कर्म्मातीत यह उन्मुक्तब्रह्म नित्यशुद्ध है। कभी इसके साथ पाप्मा (कर्म्मलेप) का सम्बन्ध नहीं होता। यह नित्यबुद्ध है। कभी इसका ज्योतिर्भाग कर्म्म से आवृत नहीं होता। यह आत्यन्तिक रूप से निरञ्जन है। तमोगुणरूप विश्वाञ्जन के साथ कभी इसका सम्पर्क नहीं होता। इस प्रकार सद् सल्लक्षण, एक ही ब्रह्म मायावलात्मक कर्म्म के योगतारतम्य से 'उन्मुक्त-प्रविष्ट सृष्ट' इन तीन विवर्त्तभावों में परिणत हो जाता है। सृष्टात्मक 'विश्व' भी ब्रह्म है, विश्वप्रविष्ट 'विश्वात्मा' भी ब्रह्म है, विश्वातीत 'उन्मुक्त' भी ब्रह्म है। जब तीनों एक ही ब्रह्म के तीन विवर्त्त हैं, तो फिर क्यों न हम निम्न लिखित सिद्धान्त का अनुगमन करें—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म—एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। नेह नानास्ति किञ्चन'।

ब्रह्म-कर्म्म के विविध रूप—

स्वयं जीवात्मा, जीवात्माओं के भौतिक शरीर, पाञ्चभौतिक विश्व, विश्वचर षोडशीब्रह्म, विश्वातीत परात्पर ब्रह्म सब कुछ ब्रह्म-कर्म्ममय हैं, ब्रह्म-कर्म्मात्मक हैं, यह अब तक के ब्रह्म-कर्म्मेतिवृत्त से भलीभांति सिद्ध हो जाता है। अब इस सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। कुछ एक ऐसे उदाहरण बतला कर, जिनसे कि ब्रह्म-कर्म्म के विविध रूपों का सम्यक् परिज्ञान प्राप्त करते हुए हमारा अन्तस्तल गीतोक्त 'ब्रह्म-कर्म्म' के तात्विक स्वरूप पर पहुंच सके, इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

परात्पर, ईश्वर, जीव, विश्व-यद्यपि ये चारों ही ब्रह्म-कर्म्मात्मक हैं। तथापि परात्पर की मायातीतता हमारी वाणी का अवरोध कर देती है, अतः इसके सम्बन्ध में किसी उदाहरण का विचार न कर शेष तीनों का ही विचार किया जायगा। ब्रह्म अमृत पदार्थ है, कर्म्म मृत्यु पदार्थ है, यह पूर्व में यत्रतत्र स्पष्ट किया जा चुका है। अब इन दोनों तत्त्वों के सम्बन्ध में सर्वथा नवीन दृष्टि से ही विचार आरम्भ होता है।

मायामय मर्त्यविश्व की अपेक्षा से ब्रह्मलक्षण अमृतभाग के, किंवा अमृतलक्षण ब्रह्मभाग के 'साक्षी-भोक्ता-प्राण-वित्त' ये चार विभाग हो जाते हैं, जिनकी कि समष्टि को हम—'चतुष्पात्-ब्रह्म'—'ब्रह्मचतुष्पदी'—'ब्रह्मचतुष्टयी' इत्यादि नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। इन चारों ब्रह्मविवर्त्तों के अतिरिक्त पांचवा कर्म्मलक्षण मृत्यु भाग, किंवा मृत्युलक्षण कर्म्मभाग पृथक् बच रहता है। आगे जाकर इस कर्म्मभाग के भी आरम्भ में दो विभाग, आगे जाकर अनन्त विभाग हो जाते हैं, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायगा। पहिले ब्रह्मचतुष्टयी का ही विचार कर लीजिए।

मर्त्यविश्व की अपेक्षा से ब्रह्म का पहिला 'साक्षी' भाग सर्वथा अखण्ड है, निरवय है, अमात्र है, अत्यन्त निगूढ़ (गुप्त) है। अतएव इस साक्षीब्रह्म को 'गूढोत्मा'* कहा जाता है। शब्दब्रह्मवेत्ता अपनी परिभाषा में इसी गूढोत्मा को 'स्फोट' कहा करते हैं, जिस के कि—'अखण्डस्फोट-वाक्यस्फोटादि' आठ अवान्तर विभागों का 'भूषणादि' व्याकरणग्रन्थों में स्पष्टीकरण हुआ है। इसी गूढोत्मा को हम अपने इस ब्रह्म-कर्म्म प्रकरण मे अकर्म्म लक्षण, असङ्ग 'षोडशीपुरुष' कहेंगे, जिसका कि पूर्व मे स्पष्टीकरण किया जा चुका है। यही विश्व का सर्वश्रेष्ठ-सर्वज्येष्ठ आलम्बन माना गया है[1]।

षोडशीपुरुपलक्षण, आलम्बनभूत इस साक्षीब्रह्म के आधार पर भोक्ता-प्राण-वित्त ये तीन ब्रह्मविवर्त्त, एवं पूर्वोक्त कर्म्मविवर्त्त चारों प्रतिष्ठित रहते हैं। तीन ब्रह्मविवर्त्त, एक कर्म्मविवर्त्त, इस प्रकार यह साक्षी इस ब्रह्म-कर्म्मचतुष्टयी का आलम्बन बनता हुआ सर्वालम्बन बन रहा है। 'अमात्र' 'तुरीय'–'गूढोत्मा'—'साक्षी'—'आलम्बन' इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध होनेवाला स्फोटस्थानीय जो षोडशीपुरुष है, इसके चौथे भाग को हमने 'आत्मक्षर' कहा है। परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर की समष्टि ही षोडशी है। एवं 'आत्मक्षर' अवश्य ही इसका चौथा पर्व है।

इसी आत्मक्षर से विकारक्षर की उत्पत्ति बतलाई गई है। यही विकारक्षरसंघ विज्ञान-भाषा में—'विश्वसृड्ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है। और यही विश्वसृड्ब्रह्म हमारे इस ब्रह्म प्रकरण का दूसरा 'भोक्ता' नामक विवर्त्त है। स्वयं षोडशीपुरुष 'साक्षी' था, षोडशी के आत्मक्षर से उत्पन्न विकारक्षरसंघरूप 'विश्वसृट्ब्रह्म' ही 'भोक्ता' ब्रह्म है। इसी को पूर्वप्रकरण मे हमने

---

*१. एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

—कठोपनिषत् १।३।१२

२ नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

—गी० ७।२५

१ एतदालम्बन श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बन ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

—कठोपनिषत् १।२।२७

(अवरब्रह्म में आत्मा-आत्मपुर ये दो पर्व बतलाते हुए) वैकारिक विश्व का आत्मा कहा है, एवं यही व्यष्टिचितियों का आलम्बन सिद्ध किया गया है। यही 'भोक्ताब्रह्म' यत्रतत्र ब्राह्मणग्रन्थों में—'प्रथमजब्रह्म'—'प्रतिष्ठाब्रह्म'—'त्रयीब्रह्म'—'सप्तपुरुष-पुरुषात्मक-प्रजापति' इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। (देखिये शत-ब्रा० ६।१।१।१ ब्रा० ।)

आत्मक्षरावच्छिन्न, अतएव तद्रूप, विकारमूर्त्ति इस भोक्ता ब्रह्म के अनन्तर क्रमप्राप्त तीसरा 'प्राणब्रह्म' विवर्त्त है। प्राणतत्त्व के त्रिवृद्भाव के कारण इस तीसरे प्राणब्रह्म के आगे जाकर 'आत्मब्रह्म—जायाब्रह्म—प्रजाब्रह्म' (आत्मा—जाया—प्रजा) ये तीन अवान्तर विवर्त्त और हो जाते हैं। त्रिवृत्प्राण में मन -प्राण वाक् तीनों आत्मकलाओं का समन्वय है, जैसा कि 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथमखण्ड के—'मनः-प्राण-वाक् के त्रिवृद्भाव की व्यापकता' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। इसी त्रिवृद्भाव क कारण प्राणब्रह्म के प्राणगर्भित-मन, प्राणगर्भिता-वाक्, प्राणगर्भित-प्राण ये तीन रूप हो जाते हैं। और ये ही तीनो रूप क्रमश 'आत्मा जाया-प्रजा' कहलाते हैं। प्राणब्रह्म के इन तीनों विवर्त्तों का जब चौथे 'वित्तब्रह्म', एवं पाँचवें मर्त्य कर्म्म, इन दोनों का समन्वय हो जाता है, तो तत्काल पाङ्क्त (पञ्चात्मय) यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। विश्वयज्ञ का स्वरूप 'आत्मा (यजमान), जाया (यजमानपत्नी), प्रजा, वित्त (दक्षिणादि), कर्म्म (आध्वर्यवादि)' इन पाँच पर्वों के समन्वय पर ही निर्भर है। इन पाँचों यज्ञावयवों में से 'वित्त' नाम के चौथे यज्ञपर्व तक ही आत्मा की व्याप्ति मानी गई है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होनेवाला है।

शेष रहता है—चौथा 'वित्तब्रह्म'। भोग्य (अन्न) ही वित्त है, भोक्ता ही प्राण है। प्राण अन्नाद है, वित्त अन्न है। अन्नाद के गर्भ मे प्रविष्ट अन्न अन्नाद ही बन जाता है, इसीलिये तो वित्तपर्य्यन्त ही आत्मव्याप्ति मानी गई है, जैसाकि—

'यावद्वित्तं तावदात्मा' 'एतावान् खलु वै पुरुषो, यावदस्य वित्तम्'

तै० ब्रा० १।४।७।७

इत्यादि वचन से स्पष्ट है। आत्मा अमृतप्रधान है, अमृत ही ब्रह्म है। चूंकि इसकी व्याप्ति वित्त पर्य्यन्त है, अतएव वित्त को भी ब्रह्म का ही (चौथा) विवर्त्त मान लिया गया है।

· उक्त चारों ब्रह्मविवर्त्तों में से साक्षीरूप षोडशीब्रह्म अपने असङ्गभाव के कारण (मर्त्य विश्व की दृष्टि से) 'उन्मुक्तब्रह्म' (विश्वातीत) माना जायगा। प्रथमजलक्षण, विश्वसृड्ब्रह्म 'प्रविष्टब्रह्म' (विश्वचर) कहा जायगा। एवं प्राणलक्षण आत्मा-जाया-प्रजावर्ग, वित्त, कर्म्म इन पांचों यज्ञपर्वों की समष्टि 'सृष्टब्रह्म' (विश्व) कहलाएगा।

जिस प्रकार ब्रह्मभाग-साक्षी, भोक्ता, प्राण, वित्त इन चार भागों में विभक्त है, एवमेव मृत्यु-लक्षण कर्म्मभाग भी चेतनसृष्टि, जड़सृष्टि भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। विश्व-गर्भ में प्रतिष्ठित रहनेवाले यच्चयावत् पदार्थों को चेतन-जड भेद से दो ही भागों में विभक्त माना जा सकता है। दोनों में ही कर्म्मलक्षण क्रियातत्त्व का साक्षात्कार हो रहा है। इन दोनों में से अस्मदादि चेतनपदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाली क्रिया, किंवा कर्म्म की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है। विवाद है, केवल जड़पदार्थों की क्रिया के सम्बन्ध में।

वृक्ष का पत्ता हिल रहा है। यह 'हिलना' एक क्रियाविशेष ही है। इस सम्बन्ध में प्रश्न किया जा सकता है कि, जब हमने (किसी भी चेतनप्राणी ने) पत्ते को छूआ तक नहीं, तो पत्ता अपने आप कैसे हिल पड़ा ? प्रश्न का मूल यही है कि, न तो ज्ञान को आधार बनाए विना क्रिया का सञ्चालन सम्भव, एवं न ज्ञान के विना क्रिया की स्वरूप प्रतिष्ठा ही सम्भव। प्रत्यक्ष प्रमाण चेतनसृष्टि है। आध्यात्मिक कर्म्म-कलाप की प्रतिष्ठा, एवं कर्म्म-प्रवृत्ति का हेतु आध्यात्मिक, ज्ञानमूर्त्ति 'चिदाभास' (जीवात्मा) है। हमारा कर्म्म हमारी इच्छाशक्ति पर निर्भर है, एवं इच्छाशक्ति का आलम्बन ज्ञानशक्ति है। हम देखते हैं कि, सुषुप्ति अवस्था में जब हमारी ज्ञानशक्ति पुरीतति नाड़ी में जाती हुई अभिभूत हो जाती है, तो उस समय तक के लिए कर्म्मेन्द्रिएं निश्चेष्ट, निष्क्रिय बन जाती हैं। "ज्ञानशक्ति के आधार पर उत्थित कामना ही कर्म्म-प्रवृत्ति का एकमात्र कारण है" इस सम्बन्ध में इस से बढ़कर और क्या प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है।

जब कि चेतनप्रतिष्ठित कर्म्मों का उत्थान-पतन (आविर्भाव-तिरोभाव) ज्ञानसहकृत कामनाधीन देखा जाता है, तो 'कर्म्मसामान्यसिद्धान्त' की अपेक्षा से हमें जड़-प्रतिष्ठित कर्म्मों को भी ज्ञानसहकृत-कामना के आधीन ही देखना पड़ेगा। साथ ही में यह भी निर्विवाद है कि, वृक्षकम्पन, वायुसंचरण, समुद्रगर्जन, मेघवर्षण, वज्रनिर्घोष, विद्युत्-चाकचिक्य, आदि आदि जड़-पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी कर्म्म हैं, उनका हमारे (चेतन प्राणियों के)

ज्ञान एवं कामना से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब बतलाइए! किसके ज्ञान से, किस की इच्छा से जड-कर्म्म प्रवृत्त हुए ?

अगत्या जड़कर्म्मों की उपपत्ति के सम्बन्ध में हमे यही मानना पडता है कि, अवश्य ही एक ऐसा कोई महा ज्ञान है, जिसकी कि नित्य, तथा निर्बाध कामना के आधार पर सम्पूर्ण कर्म्म-कलाप प्रतिष्ठित है, जो कि अपनी ज्ञानमयी कामनारश्मियों से तत्तत्-समय विशेषों में तत्तत् कर्म्मों का उत्थान-पतन किया करता है। चेतनालक्षण किंवा चिदात्मलक्षण, सर्वाधिष्ठाता वह 'महाज्ञाननिधि' ही आस्तिक जगत में—'परमात्मा-ईश्वर—अन्तर्य्यामी—जगन्नियन्ता' इत्यादि नामों से उपस्तुत है।

'वृक्ष का पत्ता क्यों हिला' ? यदि वायु द्वारा इस प्रश्न के समाधान की चेष्टा की जायगी, तो भी काम न चलेगा। यह ठीक है कि, प्रत्यक्ष मे हम वायुगमन को ही पत्रादि कम्पन का कारण देखते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति के अनुसार वायु भी जडपदार्थ ही है। अवश्य ही वायु-गति के लिए भी किसी अन्य प्रेरणा की अपेक्षा रहेगी। वायु को किसने कम्पित किया ? इस प्रश्न के समाधान में भारतीय ज्योतिषशास्त्र 'शनि' और 'बुध' इन दो ग्रहों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। इन दोनों की प्रेरणा से ही वायु में कम्पनादि का उत्थान-पतन सिद्ध किया जाता है। परन्तु देखते हैं कि, वायुवत् शनि-बुध भी जडपिण्ड ही हैं। इनका संयोजक कौन ? इस प्रकार अन्ततोगत्वा हमे उसी पूर्वोक्त ईश्वरेच्छा पर विश्राम करना पडता है। कर्म्मगर्भित ज्ञान ही उस ईश्वर का ईश्वरत्व है। ज्ञानविग्रहमूर्त्ति ईश्वर की इच्छा ही सर्वकर्म्मप्रवर्त्तिका है। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, चेतनप्रतिष्ठित कर्म्मों के अधिष्ठाता जहा तत्तच्चेतन-सस्थाओं के अधिष्ठाता तत्तच्चेतन प्राणी हैं, वहा जड-प्रतिष्ठित कर्म्मों का प्रवर्त्तक ईश्वरतत्त्व है। चेतन का कर्म्म हो, अथवा जड का कर्म्म, कर्म्ममात्र ज्ञानाधीन हैं, ज्ञान में विश्रान्त है। जैसा कि–'सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' (गी० ४।३३।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है।

चेतन सम्बन्धी कर्म्म 'आध्यात्मिक कर्म्म' हैं, एवं इनका जीवात्मा से सम्बन्ध है। जड-सम्बन्धी कर्म्म 'आधिदैविक कर्म्म' हैं, एवं इनका परमात्मा से सम्बन्ध है। आगे जाकर यह कर्म्मद्वयी 'कर्म्मत्रयी' रूप में परिणत हो जाती है। कुछ एक कर्म्म तो ऐसे हैं, जिनका एकमात्र प्रभु परमात्मा ही है। सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश-ओषधि-वनस्पति-समुद्र-पर्वत आदि जितने भी प्राकृतिक जड पदार्थ हैं, इन सबके प्राकृतिक कर्म्म ईश्वर के प्रातिस्विक कर्म्म हैं। इनके स्वरूप-निर्म्माण का, इनके उच्चावच कर्म्मों का हमारे

ज्ञान से (जीवात्मा के ज्ञान से) कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वयं ईश्वर ही अपनी स्वतन्त्र इच्छा से इन्हें बनाता है, तत्तत्-नियत कर्म्मों में प्रवृत्त रखता है, एवं यथासमय संहार कर डालता है। इस प्रकार ईश्वरतन्त्र से तन्त्रायित ऐसे ऐसे यच्चयावत् प्राकृतिक पदार्थों की, एवं इनके कर्म्मों की समष्टि को हम 'ईश्वरकर्म्म' ही कहेंगे।

ग्रन्थनिर्म्माण करना, वायुयान बनाना, नौका बनाना, प्रासाद बनाना, इत्यादि जितने भी नवीन आविष्कारकर्म्म हैं, उन सब का प्रभु जीवात्मा है। सेर, दो सेर आदि परिमाण (तौल), संख्याएं, वस्त्रविन्यास, पाठशाला, रसायनशाला, औषधालय आदि सब हमारे प्रातिस्विक कर्म्म हैं, इनके साक्षात् अधिष्ठाता हम हैं, न कि ईश्वर। अतएव ऐसे ऐसे सब कर्म्मों की समष्टि को 'जीवकर्म्म' ही कहा जायगा।

जङ्गल में केतकी, चम्पा, मल्लिका, आदि वृक्ष विना हमारे (जीव के) प्रयास के प्रकृति-सम्बद्ध ईश्वरीय प्रेरणा से पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं। एक कलावित् वहां पहुंचता है, और उन वृक्षों के पौधों को शहर में लाकर बड़े विन्यास के साथ अपने उद्यान में प्रतिष्ठित कर देता है। यह विन्यास मानवज्ञान की कृपा का फल है। प्राकृतिक पौधे ईश्वरीय ज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं, इनका उद्यान-सम्बन्धी विन्यास जीवज्ञान पर प्रतिष्ठित है। इस प्रकार इनमें दोनों के ज्ञानभावों का समन्वय हो रहा है। सामान्य (जङ्गली) आम्रवृक्ष ईश्वरीय कर्म्म है, कलमी आम्रवृक्ष उभयकर्म्म है। प्राकृतिक दूर्वा (दूब) ईश्वरीयकर्म्म है, उसे काट छांट कर यथाभिरुचि विशेष विन्यास में परिणत कर देना हमारा कर्म्म है, अतएव इसमें दोनों का समन्वय माना जायगा। इस प्रकार सैंकड़ों कर्म्म ऐसे मिलेंगे, जिनमे सुचतुर ईश्वर, एवं चतुर जीव दोनों शिल्पियों का शिल्प प्रतिष्ठित रहता है। एवं ऐसे ही कर्म्म 'उभयकर्म्म' कह-लाते हैं। फलतः 'ईश्वरकर्म्म, जीवकर्म्म, उभयकर्म्म' भेद से दो के तीन कर्म्म बन जाते हैं।

यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है, तो चेतनप्रतिष्ठित जीवकर्म्म, एवं जड़प्रतिष्ठित ईश्वरकर्म्म दोनों के अवान्तर दो दो भेद मानने पड़ते हैं। चेतन पदार्थों में भी दो कर्म्म प्रतिष्ठित हैं, एवं जड़पदार्थों में भी दो कर्म्म प्रतिष्ठित हैं। कर्म्मतत्त्व प्रधान रूप से 'आदान-विसर्ग' भेद से दो भागों में विभक्त देखा गया है। उभयनिष्ठ यह कर्म्म हमारे शरीर में (आध्या-त्मिक संस्था में) दो विभिन्न अधिकारियों के भेद से दो भागों में बटा हुआ है। एवमेव जिन्हें आप जड़पदार्थ कहते हैं, उनमें भी दो अधिकारी प्रतिष्ठित हैं, अतएव उनका कर्म्म भी कर्म्मद्वयी ही बन रहा है। पहिले चेतन-कर्म्मद्वयी का ही विचार कीजिए।

शरीर का गर्भावस्था में आना, उत्पन्न होना, शरीर का जीवात्मा से सम्बन्ध होना, इत्यादि अनेक कर्म्म हृदयस्थ तन्त्रायी ईश्वर के आधीन हैं। उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, आदि कितने एक कर्म्म उसी महाज्ञान के आधीन हैं, जो कि ज्ञानमूर्त्ति सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ सब का साक्षी बन रहा है। इसके अतिरिक्त खाना, पीना, हंसना, रोना, चलना, फिरना इत्यादि अनेक कर्म्म जीवेच्छा से सम्बन्ध रखते हैं। भूख लगना ईश्वरकर्म्म है, भोजन करना जीवकर्म्म है। भुक्तान्न को रसासृग्मासादि धातुरूपों में परिणत कर देना ईश्वरकर्म्म है। इस प्रकार आध्यात्मिक जिन कर्म्मों की प्रवृत्ति उत्थितताकाक्षा से होती है, वे सब ईश्वरकर्म्म माने जायगे एवं जिन आध्यात्मिक कर्म्मों की प्रवृत्ति उत्थाप्याकाक्षा से होती है, वे सब जीवकर्म्म माने जायगे।

इसी प्रकार वृक्षादि जडपदार्थों का पार्थिव रसादान-विसर्गरूप कर्म्म, वैश्वानर तैजससंज्ञक वृक्षात्मा का प्रातिस्विक कर्म्म माना जायगा। एवं वृक्ष का कम्पित होना, शाखा-प्रशाखाओं का उत्पाटित होना ये कुछ एक कर्म्म ईश्वरकर्म्म कहे जायगे। इस दृष्टि से कर्म्मद्वयी कर्म्म-चतुष्टयी रूप में ही परिणत मानी जायगी। यही क्यों, आगे जाकर तो कर्म्मसंख्या का विस्तार अनन्त पर ही जाके ठहरता है, जिसका कि आंशिक परिचय आगे आनेवाला 'कर्म्मयोगपरीक्षा' प्रकरण देगा।

अस्तु छोडिए इस झगड़े को। ईश्वरकर्म्म हो, अथवा जीवकर्म्म। चेतनप्रतिष्ठित कर्म्म हो, अथवा जडप्रतिष्ठित कर्म्म। प्रत्येक दशा में कर्म्म रहेगा ज्ञान के ही आधीन। कुछ एक कर्म्म क्षुद्रचेतनस्थ (जीवस्थ) हैं, कुछ एक महाचेतनस्थ (ईश्वरस्थ) है, एव कुछ एक उभय-चेतनस्थ हैं। सर्वथा कर्म्ममात्र ज्ञान में परिसमाप्त हैं, ज्ञान मे विश्रान्त हैं यह निर्विवाद है।

अबतक जिसे हम 'ज्ञान' शब्द से पुकारते आए हैं, वह ज्ञान पाठकों का सुपरिचित 'ब्रह्म' पदार्थ ही है। 'तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्' यह दार्शनिक सिद्धान्त ज्ञान को ही ब्रह्म कह रहा है।

'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः'

—ईशोपनिषत् ५

इस औपनिषद सिद्धान्त के-अनुसार अपने प्रतिद्वन्द्वी असल्लक्षण बलतत्त्व के बाहर-भीतर सब ओर अनुस्यूत, बल पर प्रतिष्ठित जो ब्रह्मतत्त्व है, उसी से सम्पूर्ण कर्म्मों का उदय हुआ है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म ही कर्म्मों का उक्थ-ब्रह्म-सामलक्षण आत्मा है। कर्म्म का अस्तित्त्व ब्रह्मसत्ता पर ही प्रतिष्ठित है। स्वस्वरूप से सर्वथा असत् (क्षणिक) रहता हुआ भी कर्म्म ब्रह्मसत्ता

की अपना आश्रय बनाता हुआ 'सत्' बन कर सत्यरूप धारण किए हुए है। कर्म्म का कर्म्मपना ब्रह्म पर ही अवलम्बित है। साथ ही में ब्रह्म का ब्रह्मत्व कर्म्म पर ही अवलम्बित है। इसी तादात्म्य-भाव के कारण ब्रह्म-कर्म्म ये दो मानते हुए भी हमें दोनों की समष्टि को केवल 'ब्रह्म' शब्द से सम्बोधन करने में कोई सङ्कोच नहीं होता।

ब्रह्मतत्त्व को आश्रय बना कर उत्पन्न-स्थित-नष्ट होनेवाले कर्म्म को कभी ब्रह्ममर्य्यादा से पृथक् नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि, कर्म्मयोग, ज्ञानयोग, बुद्धियोग नाम से प्रसिद्ध तीनों कर्त्तव्य भागों से सम्बन्ध रखनेवाली योगविद्या (कर्म्मविद्या) को ब्रह्मविद्या भी कह दिया जाता है।

'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः'

—शत॰ ब्रा॰ १४।४।२।२०

इस शातपथी श्रुति ने कर्त्तव्यरूप यज्ञकर्म्म के अभिप्राय से ही 'ब्रह्मविद्या' शब्द का प्रयोग किया है। जो तात्पर्य्य गीता के 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' (गी॰ ३।११) इस यज्ञकर्म्मातिशयसूचक वाक्य का है, उसी अर्थ में उक्त श्रुति प्रयुक्त हुई है। सचमुच में ब्रह्म-कर्म्म दोनों अभिन्न हैं। कर्म्मविद्या, ब्रह्मविद्या कहने भर को दो हैं, वस्तुतः एक ही ब्रह्मविद्या के दो पर्व हैं। तभी तो—'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' यह अध्यायोपसंहारवाक्य अन्वर्थ बनता है। हमारा गीताशास्त्र योग (बुद्धियोगात्मक कर्म्म) गर्भित इसी ब्रह्मविद्या (अव्ययविद्या) का निरूपण करता है, एवं गीता का वह ब्रह्म पदार्थ सदसल्लक्षण बनता हुआ ब्रह्म-कर्म्ममय है, अमृत-मृत्युमय है।

प्रकरणोपसंहार

ब्रह्म-कर्म्म का पर्य्याप्त स्पष्टीकरण हो चुका। अब केवल एक विषय का दिग्दर्शन करा के प्रकरणोपसंहार किया जाता है। ब्रह्मलक्षण ज्ञानतत्त्व योगमाया के अनुग्रह से सम्यक्-ज्ञान, मिथ्या-ज्ञान, अज्ञान भेद से तीन भागों में विभक्त हो जाता है। इसी योगमाया के समावेश से कर्म्मतत्त्व के भी सत्-कर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इनमें सम्यक्-ज्ञान सत्कर्म्म का, मिथ्याज्ञान विकर्म्म का, एवं अज्ञान अकर्म्म का प्रवर्त्तक बनता है। सत्कर्म्म से सम्यक्-ज्ञान का, विकर्म्म से मिथ्याज्ञान का, एवं अकर्म्म से अज्ञान का उदय होता है। इस प्रकार ६ ओं में परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक (उपकार्य्य-उपकारक) सम्बन्ध बना रहता है। इसी सम्बन्ध में गीताशास्त्र का

मुख्य उद्देश्य है—"जीवात्मा को मिथ्याज्ञान-विकर्म्म, तथा अज्ञान-अकर्म्म इन दोनों द्वन्द्वों से पृथक् कर बुद्धियोगद्वारा उसे सम्यक्-ज्ञान-सत्-कर्म्मलक्षण ब्रह्म-कर्म्म का अनुगामी बनाते हुए जीवन्मुक्त कर देना"। यही इस शास्त्र की सर्वशास्त्रता, पूर्णता, विलक्षणता, एवं अपूर्वता है। एवं इसी ब्रह्म-कर्म्मरहस्योद्घाटन के लिए गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

समाप्ताचेयं—ब्रह्म-कर्मपरीक्षा

* *

*

इति

गीताविज्ञानभाष्य-भूमिकायां

'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा'

समाप्ता

* *

*

अथ

गीताविज्ञानभाष्य-भूमिकायां

'कर्म्मयोगपरीक्षा'

॥ श्रीः ॥

अथ

गीताविज्ञानभाष्य-भूमिकायां

'कर्म्मयोगपरीक्षा'

१—संदर्भ-संगति

'हमें क्या चाहिए' ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति हमारे मुख से निकलवाती है—'योगःक्षेमो नः कल्पताम्' (यजुःसं० २२ अ०।२२ मं०)। विना किसी कष्ट के 'योग-क्षेम' होता रहे, एक मुमुक्षु भारतीय की इससे अधिक और कोई चाह नहीं हो सकती।

हमारी चाह—

किसी वस्तु की प्राप्ति हो, उस प्राप्त वस्तु का प्राप्त करनेवाले आत्मा के साथ 'अन्तर्याम'[१] सम्बन्ध हो जाय, इसी को 'योग' कहा जायगा। एवं यह योग नियत समय तक बना रहे, यही 'क्षेम' कहा जायगा। और ऐसा 'योग-क्षेम' ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ कहलाएगा, जिसकी कि कामना अपने स्तुति-मन्त्रों द्वारा हम व्यक्त किया करते हैं।

---

१ जिस प्राप्त वस्तु में हमारा 'ममत्व-इदत्व' हो जाय, जिसके उपयोग में हम स्वतन्त्र रहें, वही वस्तुयोग 'अन्तर्य्यामिरूपयोग' कहलाएगा। कोशाध्यक्ष के आत्मा के साथ कोश का योग अवश्य है, परन्तु वह इस योग से कोई लाभ नहीं उठा सकता। ऐसा अनुपयुक्त, परतन्त्रयोग अपने 'बहिर्य्याम' भाव के कारण 'अयोग' ही कहलाएगा। कहने को देश हमारा, देश की सम्पत्ति हमारी, परन्तु स्वातन्त्र्य अणुमात्र भी नहीं, ऐसा अव्यवहार्य योग वास्तव में अयोग ही रहेगा। 'योगःक्षेमो नः कल्पताम्' का योग ऐसा योग नहीं है। स्वतन्त्र कर्त्ता प्राप्त वस्तु का यथाभिरुचि, स्वतन्त्रापूर्वक उपभोग कर सके, इसी अर्थ में 'योग' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

'किसी वस्तु की प्राप्ति हो' यह वाक्य योग शब्द की पूरी व्याख्या करने में असमर्थ है। संसार बहुत बड़ा, अनन्त। संसार में रहनेवाले पदार्थ अनन्त। संसारी मनुष्य की कामनाएँ अनन्त। कौन क्या प्राप्त नहीं करना चाहता। क्या प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभी कामनाओं के अनुसार सभी वस्तुएं प्राप्त कर सकता है? असम्भव। भिन्न भिन्न योग्यता, गुण, शक्तिएँ रखनेवाले सर्वविध सांसारिक पदार्थों को, नियत योग्यता, गुण, शक्ति रखनेवाला व्यक्ति केवल इच्छामात्र से प्राप्त कर ले, यह सर्वथा असम्भव, खपुष्पवत् नितान्त शून्य कल्पना। अवश्य ही हमें पदार्थों की प्राप्ति के सम्बन्ध में किसी न किसी मर्य्यादा का आश्रय लेना पड़ेगा।

संसार अनन्त तो अवश्य है, संसार के पदार्थ भी अनन्तता से वञ्चित नहीं है, साथ ही मानवीय मन की कामनाओं का भी अन्त नहीं है। मनुष्य क्या है?

कामसमुद्र—

इसका उत्तर श्रुति ने दिया है—'कामनाओं का समुद्र'। जिस तरह आपूर्य्यमाण समुद्र में अनन्त तरङ्गें उच्चावचभाव से इतस्ततः दोलायमान रहतीं हैं, वैसे ही समुद्रस्थानीय मन में विविध कामनाओं का आविर्भाव, तिरोभाव होता रहता है। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक चेष्टा अवश्य ही किसी न किसी कामना की प्रेरणा का ही फल है। किसी बड़े शहर के 'बड़े बाजार' के ऊंचे से मकान की छत पर चढ़ जाइए, समुद्र का प्रत्यक्ष हो जायगा। हजारों नरमुण्ड पूर्व से पश्चिम, पश्चिम से पूर्व, दक्षिण से उत्तर, उत्तर से दक्षिण आ, जा रहे हैं। सब की अपनी अपनी एक चाल है, अपनी अपनी एक धुन है, अपना अपना एक लक्ष्य है। कौन इस 'नरमुण्ड समुद्र' को इधर से उधर, उधर से इधर प्रवाहित कर रहा है? वही कामना। कामना नहीं, कामना का समुद्र। लोग कहते हैं, अमुक व्यक्ति ने अमुक को इतना दान दिया, उसने उसकी परवरिश की। श्रुति कहती है—बिलकुल झूठ। कौन किसे देता है, कौन किसे दे सकता है, और कौन किससे लेता है। यह सब 'काम' (कामना) का ही क्रीड़ा—कौतूहल है। काम ही दाता है, काम ही प्रतिग्रहीता है। बिना अपनी इच्छा के कौन किसको देता है, कौन किस से लेता है। कामनासमुद्र के इसी साम्राज्य का स्पष्टीकरण करते हुए निम्न लिखित श्रौत-वचन हमारे सामने आते हैं—

१—कामो भूतस्य भव्यस्य सम्राडेको विराजति।
स इदं प्रति पप्रथे ऋतूनुत्सृजते वशी॥

—तै० ब्रा० २।४।१।९।

२—क इदं कस्मा अदादित्याह—प्रजापतिर्वै कः ।
स प्रजापतये ददाति, इति कामः कामायेत्याह ।
कामेन हि ददाति, कामेन प्रतिगृह्णाति ॥

३—कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता-इत्याह ।
कामो हि दाता, कामः प्रतिग्रहीता ॥

४—कामं समुद्रमाविशेत्याह । समुद्र इव हि कामः ।
नेव हि कामस्यान्तोऽस्ति । न समुद्रस्य ॥

—तै० ब्रा० २।२।५।५-६-। ।

इस प्रकार कामनाओं के इस अनन्तसमुद्र मे अपनी [1]शरीर-नौका को कामनारूप वायु के झोकों से इतस्तत. दोलायमान करता हुआ इस नौका का खेवय्या कर्म्मभोक्ता जीवात्मा अपनी कामनानुसार कब क्या प्राप्त करेगा ? यह निर्णय कठिन है। अवश्य ही इन अनन्त कामनाओं को, एव कामनानन्त्य से सम्बन्ध रखनें वाले अनन्त पदार्थों को देख कर इसे आत्मविस्मृति हो जायगी।' यह करूं कि, वह, इसे प्राप्त करूं, अथवा उसे, इसी द्वन्द्वभाव में यह फसा रह जायगा। और रह जायगा अपने परमपुरुषार्थ से वञ्चित। कामना समुद्र का सन्तरण करने वाले निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम, कृतकृत्य महर्षियों नें कामनाकुचक्र मे फँसे रहने वाले कामकामी, अतएव सर्वथा अशान्त ऐसे संसारियों की दशा का अवलोकन किया। एवं परिस्थिति की जाच करने के पीछे अपनी दिव्यदृष्टि के प्रभाव से मूलतत्त्व का दर्शन करते हुए कामना के सम्बन्ध में अपना यह निर्णय किया कि,—

आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

—गी० २।७०। ।

---

१ इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां 'वायुर्नावमिवाम्भसि' । (गी० २।६७) ।

निर्णय का तात्पर्य्य यही है कि, साधारण मनुष्यों ने कामना को ही समुद्र समझ रक्खा है। वस्तुतः समुद्र है आत्मा, कामना तो आत्मसमुद्र में रहनेवाली तरंगें हैं। इन तरङ्गों को आत्मधर्म्म में प्रविष्ट कराते हुए हमने निष्काम आत्मा को सकाम बना डाला है। शान्त को अशान्त आवरण से आवृत कर डाला है। जो कामनाएँ हमारी थीं, हम उनके बने हुए हैं। समुद्र की अनन्तता सान्त-सादि कामना के रूप में परिणत कर डाली गई है। यही अशान्ति का मुख्य कारण है। इसे दूर करने का एकमात्र उपाय होगा, समुद्र और तरङ्गों का पार्थक्य। साथ ही में— 'सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः' इस शङ्कर सिद्धान्त का अनुगमन। तरंगें अवश्य ही समुद्र की हैं परन्तु अनन्त समुद्र तो सान्त तरङ्गों का नहीं बन सकता। क्षुद्र-महा तरंगें, क्षुद्र-महा नद-नदियाँ समुद्र गर्भ में रहतीं हुई कुछ भी उत्पात मचातीं रहें, इससे उस अनन्त की अनन्त शान्ति का क्या बनता बिगड़ता है। कामना का उत्थान हुआ, होने दीजिए। कामनानुसार किसी वस्तु की प्राप्ति हो गई, होने दीजिए। कामनानुसार वस्तु न मिली, न सही। आप (आत्मा) इस पराधिकार चर्चा में क्यों पड़ते हैं। जो होता है, उसे देखते रहिए। द्रष्टा बनिए, दृश्य मत बनिए। होना होगा, सो हो ही जायगा, नहीं होगा सो नहीं ही होगा। आप कहेंगे—अशान्ति होती है। हम कहेंगे होने दीजिए। आपका अशान्ति से क्या सम्बन्ध। सान्त-सादितत्त्व ही अशान्त बना करता है। आप तो अनन्तसमुद्र हैं। आप पर इस काममूला अशान्ति का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। आप आप बने रहिए, बस अशान्ति से बचने के लिए यही पर्य्याप्त है[1]। जो महापुरुष इस प्रकार अपने आपको कामनाओं से पृथक्-सा बनाते हुए जीवनयात्रा में प्रवृत्त रहते हैं, उनके लिए तो वास्तव में उक्त साधन ही पर्य्याप्त है। परन्तु प्रश्न है, अस्मदादि उन संसारियों का, जो कामना को अपनी आत्मसीमा से बाहिर नहीं निकाल सकते। इनकी शान्ति का क्या उपाय?

शान्ति का उपाय—

कामनाओं का वर्गीकरण, मर्य्यादा-शृङ्खला से निबिड़ बन्धन। संसारी मनुष्य तभी शान्ति प्राप्त कर सकेगा, जब कि वह अपनी कामनाओं को सीमित बना लेगा। कामना ही आगे जाकर आवश्यकतावृद्धि का कारण बनती है। बढ़ीं हुई आवश्यकताएँ ही कामनाओं

---

1 विहाय कामान्य सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्म्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (गी० २।७१)।

को प्रबल बनाती हैं। प्रवृद्ध कामनाएँ ही हमें सतृष्ण बना कर इधर उधर अनुधावन करवातीं हैं। जिस प्रकार परिश्रम के अवसान में हमें आवश्यकरूप से शान्ति मिला करती है, एवमेव कामना के विराम में भी शान्ति दुर्निवार है। हमारी अनन्त इच्छाएँ हीं अनन्त आवश्यकताओं की जननी बनतीं हैं। अनन्त आवश्यकताएँ हीं हमारी सीमित शक्ति को कुण्ठित कर अशान्ति का कारण बनतीं हैं। ऐसी दशा में हमें सिद्धान्तरूप से यह मान ही लेना पड़ेगा कि, इच्छाओं को सीमित बनाना, सीमित इच्छाओं के द्वारा अपनी जुरूरतें कम से कम रखना ही सामान्य संसारी की शान्ति का अन्यतम उपाय है।

यही उपाय आर्य्यसभ्यता में 'वर्णाश्रमधर्म्मानुगत'—**'स्वधर्म्म'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। स्वधर्म्म सीमित कामना का ही रूपान्तर है। अनन्त विश्व की अनन्त कामनाओं को, अनन्त कामनाओं से सम्बद्ध विश्व के अनन्त पदार्थों को आप्त महर्षियों नें चार भागों में विभक्त कर डाला है। पदार्थ भले ही अनन्त-असंख्य हों, कामना भले ही कहने को अनन्त-असंख्य हों। परन्तु उन सब संख्याओं का चार संख्याओं में हीं अन्तर्भाव है। **ज्ञानकामना, कर्म्मकामना, अर्थकामना, कलाकामना** चार के अतिरिक्त कोई पांचवीं कामना नहीं है। **ज्ञानपदार्थ, कर्म्मपदार्थ, अर्थपदार्थ, कलापदार्थ** इन चार पदार्थों के अतिरिक्त कोई पांचवां पदार्थ नहीं है।

छोड़िए संसार की बात। भारतवर्ष की दृष्टि से ही विचार कीजिए। भारतवर्ष में हीं व्यवस्थित 'वर्णव्यवस्था' के आधार पर विचार करते हुए उक्त कामना, तथा पदार्थ-चतुष्ट्रयी का रहस्य भलीभांति समझ में आ जाता है। ब्राह्मण-वर्ण की कामना 'ज्ञानकामना', इसका अधिकार ज्ञानपदार्थ में। क्षत्रियवर्ण की कामना 'कर्म्मकामना', इसका अधिकार कर्म्मपदार्थ में। वैश्यवर्ण की कामना-'अर्थकामना', इसका अधिकार 'अर्थपदार्थ में। एवं शूद्रवर्ण की कामना 'कलाकामना' और इसका अधिकार 'कलापदार्थ में। ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र भावों से सम्बन्ध रखने वाले चारों वर्ण क्रमशः इन चार कामनाओं की सीमा में रहते हुए, अपनी अपनी कामना से सम्बन्ध रखने वाले अपने अपने अधिकृत पदार्थ को प्राप्त कर उसके साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध से योग करते हुए ही क्षेम के पात्र बन सकते हैं। क्षेम का अर्थ बतलाते हुए आरम्भ में हीं यह कहा जा चुका है कि, प्राप्त वस्तु का संरक्षण ही 'क्षेम' है। यह एक मानी हुई बात है कि, जो वस्तु अपनी कामना से अपने अधिकार में की जाती है, उसी की यथावत् रक्षा हो सकती है। पराधिकृत वस्तु रक्षा करते रहने पर भी छीन ली जाती है, अथवा छिनने का डर बना रहता है। एवं इस

स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य—

भयावस्था में ऐसी परायत्त प्राप्त वस्तु में भी हम रमण नहीं कर सकते। सुतरां योग और क्षेम वहीं मर्य्यादित होते हैं, जहां स्वकामनानुबन्धी स्वपदार्थ प्राप्ति का साम्राज्य है।

सभी को सब चाहिए, परन्तु सभी को सब प्राप्त करने की न तो योग्यता ही है, न समय ही। अवश्य ही इस 'सर्वसिद्धि' के लिए समाज का उक्त रूप से वर्गीकरण करना पड़ेगा। विभक्त वर्ण अपने अपने सञ्चित तत्त्व से एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करता रहेगा। 'मा विद्विषावहै' को मूलमन्त्र बनाते हुए पारस्परिक सहयोगद्वारा समाज का उपकार होता रहेगा, लोकतन्त्र अक्षुण्ण बना रहेगा, राष्ट्र सुसमृद्ध रहेगा, कभी राष्ट्रविप्लव का अवसर न आवेगा। परिणामतः ऐहलौकिक अभ्युदय नामक सुख राष्ट्र की प्रातिस्विक सम्पत्ति बनी रहेगी। जिस राष्ट्र में ब्राह्मणवर्ण ज्ञानोपासना में तल्लीन है, क्षत्रियवर्ण कर्म्मोपासना (पौरुषोपासना) में प्रवण है, वैश्यवर्ण अर्थोपासना का अनुयायी है, शूद्रवर्ण शिल्प-कला में अग्रगामी है, साथ ही में चारों वर्ण स्वार्जित सम्पत्ति से एक दूसरे की आवश्यकताएं पूरी करते रहते हैं, परस्पर सहयोग बनाए रखते हैं, निश्चयेन वह राष्ट्र अपने तन्त्र में मर्य्यादित रहता हुआ 'स्व—तन्त्र' है। ठीक इसके विपरीत जहां का ब्राह्मण समाज धन-लोलुप बन रहा है, जहां के क्षत्रिय इन्द्रियलोलुप बन रहे हैं, जहां का वैश्य समाज धर्म्मसञ्चालक बन रहा है, जहां का शूद्रवर्ग उपदेशक बन रहा है, इस प्रकार सब वर्ण पर-धर्म्मों का अनुगमन कर रहे हैं, वह राष्ट्र पर-तन्त्र में आता हुआ अवश्य ही 'पर—तन्त्र' है।

ऐहलौकिक योग-क्षेम कैसे सुरक्षित रह सकता है? इसके समाधान की चेष्टा की गई।

पारलौकिक योग-क्षेम— भारतेतर देशों की दौड़ ऐहलौकिक योग-क्षेम पर ही विश्रान्त है। परन्तु वर्णाश्रम धर्म्मानुगामी एक भारतीय द्विजातीय (ब्रा० क्ष० वै०) केवल इसी से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। शरीर सुख को प्रधान बनाने वाले ऐहलौकिक योगक्षेम के साथ साथ उसकी दृष्टि में आत्मसुख को प्रधान बनाने वाले पारलौकिक योग-क्षेम का भी बड़ा महत्त्व है। इसीलिए उसने शरीरानुबन्धी योग-क्षेम की प्राप्ति के लिए जहां 'वर्णव्यवस्था' का अनुगमन किया है, वहां आत्मानुबन्धी योग-क्षेम की प्राप्ति के लिए 'आश्रमव्यवस्था' का अनुगमन आवश्यक समझा है। इन दोनों ही व्यवस्थाओं का विशद-वैज्ञानिक विवेचन आगे होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, जिस व्यवस्था के द्वारा द्विजाति अपनी आयु के सौ वर्षों को पञ्चविंशति (२५) के क्रम से चार भागों में विभक्त कर कर्म्म-उपासना-ज्ञान योगों द्वारा आत्मा को निःश्रेयसभाव का अधिकारी बना देता है, वैय्यक्तिक कल्याणकारिणी वही व्यवस्था 'आश्रमव्यवस्था' कहलाई है।

'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' के आरम्भ में हीं यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, आत्मा के दिव्यपर्व ब्रह्म-कर्म्म नाम से, एवं लौकिकपर्व ज्ञान-क्रिया नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्रह्म-कर्म्म दोनों तो आत्मा के स्वरूप ही है। इनके सम्बन्ध में योग-क्षेम मर्य्यादा घटित नहीं होती। योग उसका हुआ करता है, जो हम से पृथक् रहता है। व्यष्टिरूप ज्ञान तथा क्रिया आत्मसीमा से बाहिर हैं। ज्ञान के योग से आत्मा का ब्रह्मभाग उपकृत (विकसित) होता है, क्रिया के योग से आत्मा का कर्म्मभाग उपकृत होता है। इस दृष्टि से यद्यपि योग दो ही ('ज्ञानयोग'—'क्रिया—(कर्म्म) योग') बनते हैं। तथापि दोनों योगों की मध्यावस्था से एक तीसरा उभययोग और बन जाता है, जो कि योग प्राचीनों की परिभाषा में 'भक्तियोग' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार ज्ञानप्रधान ज्ञानयोग, कर्म्म-प्रधान कर्म्मयोग, एवं उभयप्रधान भक्तियोग भेद से दो के तीन योग बन जाते हैं। ब्रह्म-कर्म्म का योग नहीं हो सकता, योग होता है व्यष्टिरूप ज्ञानादि का। अतएव पहिले प्रकरण को जहां हमनें केवल 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' नाम से व्यवहृत किया है, वहां प्रकृत प्रकरण को (योगभाव के कारण) 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नाम से व्यवहृत किया है। ब्रह्म-कर्म्म केवल जान लेने की वस्तु थी, कर्म्मयोग व्यावहारिक योग है। इसी प्रकार आगे आने वाले ज्ञान-भक्तियोग भी व्यावहारिक योग ही मानें जायंगे।

अपने ब्रह्मचर्य्याश्रम में सदसल्लक्षण ब्रह्म-कर्म्ममूर्त्ति आत्मब्रह्म का मौलिक रहस्य जान लेना ही पहिला आश्रम है। इस आश्रम में यह द्विजातिबालक सफल गुरु के सफल आश्रम में रहता हुआ यम-नियमादि के नियन्त्रण में रहता हुआ ब्रह्म-कर्म्म की सम्यक् परीक्षा करेगा। जब इसे यह बोध हो जायगा कि, "मैं यह हूँ, और मुझे यह करना है" तो समावर्त्तन संस्कार के अनन्तर घर लौटता हुआ यह सर्वप्रथम कर्म्म से योग करने के लिए दूसरे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होगा। आपञ्चाशत् (५० तक) कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहकर, आत्मा के कर्म्म भाग को इस व्यष्टिरूप कर्म्म के योग से उपकृत करता हुआ उपासनाप्रधान तीसरे 'वानप्रस्थाश्रम' में प्रविष्ट होगा। इस आश्रम में 'ईश्वरप्रणिधानलक्षण' भक्ति का योग प्राप्त कर सर्वान्त में आत्मा के ब्रह्मभाग को उपकृत करने के लिए चौथे 'संन्यास-आश्रम' का अनुगामी बनेगा, और यहां आकर इसका जन्म सफल बनेगा। इस प्रकार ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा द्वारा गृहस्थ—वानप्रस्थ—संन्यास आश्रमों में प्रतिष्ठित रहता हुआ क्रमशः कर्म्म-भक्ति-ज्ञानभावों का योग-क्षेम प्राप्त करता हुआ द्विजाति अपनी आध्यात्मिक संस्था को सबल, तथा पूर्ण बनाता हुआ कृतकृत्य हो जायगा, यही प्राचीनाभिमत योग-परम्परा है।

इस योग-परम्परा को प्राचीनाभिमत इस लिए कहा गया है कि, गीता की दृष्टि में ये तीनों ही योग किसी विशेष कारण से योगमर्य्यादा से वञ्चित हैं। गीता केवल बुद्धि के योग को ही योग मानती है। तीनों से विलक्षण चौथा बुद्धियोग ही गीता का सिद्धान्तयोग है। इस दृष्टि से 'कर्म्म—भक्ति—ज्ञान—बुद्धि' नामक चार योग हो जाते हैं। प्रश्न-कर्म्म-परीक्षा के अनन्तर चारों मे से क्रमप्राप्त 'कर्म्मयोग' का स्वरूप ही सर्वप्रथम पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

इति—सन्दर्भसङ्गतिः

* *

*

२—योगसंगति

कुर्वन्नेवेह 'कर्म्माणि' जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥

—ईशोपनिषत्—२।

जिस योग (कर्म्मयोग) का आज हम दिग्दर्शन कराने चले हैं, उस योग की जटिलता प्रायः सर्वविदित है। कर्म्मरहस्य के अन्यतम उपदेष्टा भगवान् कृष्ण के श्रीमुख से जब इस योग के सम्बन्ध में हम यह सुनते हैं कि—'गहना कर्म्मणो गतिः' (गी० ४।१७।), तो थोड़ी देर के लिए हमें अवाक् रह जाना पड़ता है, और साथ ही अपनी अनधिकार चेष्टा के लिए लज्जित होना पड़ता है। सचमुच 'कर्म्मजाल' जटिल ही नहीं, अपितु एक महाविभिषिका है। बड़े बड़े तत्त्वदर्शी विद्वान् भी कभी कभी किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बनते देखे, सुने गए हैं। उन्हें भी 'इदमित्थमेव'—इदमेव कर्त्तव्यम्' इत्यादि निश्चयात्मक निर्णय से वञ्चित बतलाया जा रहा है। भगवान् कहते हैं, "साधारण मनुष्यों की कौन कहे, कवि (तत्त्वद्रष्टा आप्तपुरुष) भी—क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इसके निर्णय में असमर्थ हो जाते हैं"—

कर्म्ममार्ग की जटिलता—

'किंकर्म्म, किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः'

—गी० ४।१६।

सर्वसाधारण की दृष्टि में भक्ति और ज्ञानयोग जटिल बने हुए हैं। लोगों का विश्वास है कि, अपने भक्त की भगवान् आरम्भ में बड़ी कटु परीक्षा लिया करते हैं, जैसा कि भक्तराज अम्बरीष, शिवि, मोरध्वज, ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा, नरसी, आदि भक्तों के पावन चरित्रों से प्रमाणित है। ज्ञान की कृपाणधारा भी सुप्रसिद्ध है ही। परन्तु स्थिति कुछ दूसरी ही है। भक्ति-मार्ग पर आरूढ़ हुए पीछे भक्त की परीक्षा आरम्भ होती है, ज्ञानयोगारूढ़ योगी के पतन का भय रहता है। परन्तु यहाँ तो 'प्रथमे पादे-ही-मक्षिकापातः' है। सम्भव है, कर्म्मयोग पर

आरूढ़ हुए बाद कर्म्मयोग दोनों की अपेक्षा सुगम पथ हो। परन्तु इतना निश्चित है कि, इस पर आरूढ़ होना ही महा कठिन है। इस प्राथमिक दृष्टि से कर्म्म का महत्त्व दोनों से बढ़ा चढ़ा है। भक्त को मोह नहीं होता, ज्ञानी को मोह नहीं होता, परन्तु कर्म्मठ को पद पद पर मोह का सामना करना पड़ता है।

कर्म्ममार्ग के सम्बन्ध में कभी कभी ऐसी अड़चनें उपस्थित हो जातीं हैं, जिनके सामने कर्म्मप्रवर्त्तिका बुद्धि सर्वथा कुण्ठित हो जाती है। ऐसे विषम अवसरों पर मानवीय मन, और तत्संयुक्ता बुद्धि दोनों का व्यापार (कर्त्तव्याकर्त्तव्यनिश्चय करनेवाला विकासभाव) विराम कर लेता है। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, ऐसे सैंकड़ों उदाहरण सामने रक्खे जा सकते हैं, जिनमें अथ से इति तक धर्म्मसंकट व्याप्त हो रहा है। धर्म्मशास्त्र के निर्णय के अनुसार पिता की अपेक्षा माता का आसन ऊंचा माना गया है। इसी से यह भी सिद्ध है कि, पिता के अनुशासन की अपेक्षा माता की आज्ञा अधिक महत्त्व रखती है। परन्तु हम देखते हैं कि, महात्मा परशुराम जैसे परमधार्म्मिक व्यक्ति पिता जमदग्नि की आज्ञा से निर्दोष माता का शिरश्छेद कर डालते हैं, और इनके इस कर्म्म को पवित्र कर्म्म घोषित किया जाता है।

हमारे देखते हुए एक मार्जार (बिल्ली) मूषक (चूहे) पर घातक आक्रमण कर रही है। "यदि कोई सबल प्राणी निर्बल प्राणी पर आक्रमण करे, तो तटस्थ व्यक्ति को अपना वश रहते उस आक्रमणकारी की घातकवृत्ति रोकना चाहिए" यह धर्म्मादेश है। इस दृष्टि से मार्ज्जार को आक्रमण से रोकना हमारा धर्म्म हो जाता है। उधर शास्त्र यह भी कहता है कि, जीव जीव का हिंसक है। पारस्परिक अन्न-अन्नादभाव से ही प्राणियों का जीवन सुरक्षित है। साथ ही में यह भी तो बहुत सम्भव है कि, यदि मार्ज्जार को थोड़े समय आहार न मिलेगा, तो वह मर जायगी। इस दृष्टि से यदि हम मार्जार को भगा देते हैं, और वह भूख से मर जाती है तो, क्या हम इस हिंसा के भागी नहीं हुए? एक अल्पप्राणी को बचाने के लिए हमें एक बड़े प्राणी की हत्या का पाप उठाना पड़ रहा है। दोनों घटनाएं पूर्ण विरोध रख रहीं हैं। बतलाइए! दोनों में किसे तो छोड़ दिया जाय, और किसका अनुगमन किया जाय?

निदर्शनमात्र है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, आस्तिक्य आदि सभी धर्म्मादेशों को पदे पदे अपवादों का सामना करना पड़ रहा है। इन अपवादों के रहते नियमों का क्या महत्त्व रह जाता है? यह भी कम जटिल समस्या नहीं है। देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा-भेद से सब ने सत्य-अहिंसा की परिभाषाओं में भेदभाव का समावेश कर रक्खा है। किसे

कर्त्तव्य माना जाय, किसे अकर्त्तव्य कहा जाय? क्या हमारा आत्मा इस सम्बन्ध में अपने आप कोई निर्णय कर सकता है? अवश्य ही 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' यह कहते हुए शास्त्र ने भी एक स्थान में—"आत्मा को जो प्रिय लगे, हम जिसे अच्छा कहें, वही कर्त्तव्य कर्म्म है, वही धर्म्मपथ है" इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

परन्तु विचार करने पर उक्त सिद्धान्त में भी कई दोष उपलब्ध हो रहे हैं। समाज में ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है, जो वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था, मूर्त्तिपूजन, अवतारसत्ता, तीर्थमाहात्म्य, श्राद्धकर्म्म आदि आदि शास्त्रीय आदेशों को एकमात्र ब्राह्मणों की स्वार्थलीला न समझते हों। यही नहीं, यह सब प्रपञ्च इन महानुभावों की दृष्टि में निरा ढकोसला है, देश-जाति-व्यक्ति के विनाश का मुख्य कारण है। ऐसे ही कुछ एक महानुभावों ने धर्म्मा-देश के 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' केवल इस अंश को आगे करते हुए, "जो अच्छा लगे, सो करना, जिसे हम ठीक समझें वही उपादेय" इसी 'मन-माने' पथ का अनुगमन कर रक्खा है। यही लज्जाभूमि इन महानुभावों की गौरवभूमि बन रही है।

आत्मतुष्टि को ही कर्त्तव्य-कर्म्मों में प्रधान निर्णायक मान लेने पर एक मद्यपी, व्यभिचारी, चोर, जुआरी की निन्दा करने का हमें क्या अधिकार है। क्योंकि ये सभी व्यक्ति मद्यपानादि में आत्मतुष्टि का अनुभव कर रहे हैं। स्वयं मनु[1] ने भी मद्यपानादि को व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति माना है। आत्मतुष्टि के पक्षपाती यह हेतु आगे करते हुए यदि मद्यपानादि को बुरे कर्म्म बतलाते हैं कि—"मद्यपानादि से समाज का बौद्धजगत् विकृत हो जाता है, समाज में उच्छृङ्खलता फैलती है, उच्छृङ्खलता से समाज की स्वाभाविक शान्ति भङ्ग होती है" तो फिर हमें कहना पड़ेगा कि, आत्मतुष्टि सिद्धान्त का कोई महत्त्व नहीं है। कर्त्तव्यनिर्णय के सम्बन्ध में 'जो हमें अच्छा लगे' का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। बतलाइए! अब कोई *दूसरी परिभाषा, जिससे यह उलझन सुलझ सके।*

"जिन कर्म्मों को समाज अच्छा कहे, वे सत्कर्म्म हैं, वे ही ग्राह्य, तथा उपादेय हैं। जो कर्म्म समाजदृष्टि से बुरे हैं, वे असत् हैं, एवं वे अग्राह्य तथा अनुपादेय हैं" क्या इस परिभाषा से काम चल सकेगा? नहीं, सर्वथा नहीं। देश-काल-पात्रादि की परिस्थिति के अनुसार

---

१ न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये, न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां······················॥

सामाजिक, आर्थिक, नैतिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। कोई भी समाज सदा के लिए किसी नियत स्वरूप का अनुगामी नहीं बना रहता। दैशिक-कालिक कितने एक रूढिवाद भी समय समय पर सामाजिक व्यवस्था के अङ्गोपाङ्ग बनते रहते हैं। यही क्यों, कालान्तर में तो यही रूढिवाद समाज का मुख्य अङ्ग बनता हुआ शाश्वत धर्म्म तक का स्थान ग्रहण कर लेता है। हम जानते हैं कि, बहुभोज, बहुविवाह, बालपरिणय, कन्याविक्रय, वृद्धविवाह आदि कर्म्म समाज के लिए आत्यन्तिकरूप से घातक हैं। परन्तु रूढिवादी नेताओं के दबदबे में आकर हम इनके विरुद्ध 'उफ' भी नहीं कर सकते। नेता दकियानूसी ही सही, परन्तु रूढिवाद के भक्त समाज ने उनके हाथों में अपनी बागडोर दे रक्खी है। इनका कहना ही समाज का कहना है। इनका निर्णय ही सामाजिक निर्णय बना हुआ है। फलतः 'समाज जिसे अच्छा कहे' इस परिभाषा से भी काम चलता नहीं दिखाई देता। निकालिए! अब कोई अन्य मार्ग, जिसके अनुगमन से समाज का कल्याण हो सके।

"समाज में जो व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा रखते हैं, साथ ही में जो शिक्षित भी हैं, हानि लाभ को समझते हैं, सारासार विवेकी हैं, ऐसे शिष्ट महापुरुषों के द्वारा निर्णीत पथ ही समाज का कल्याण कर सकता है" क्या इस परिभाषा से काम चल जायगा? मीमांसा कीजिए। किसे प्रतिष्ठित, शिक्षित, हानि-लाभपरीक्षक, एवं सारासार विवेकी माना जाय? यह प्रश्न भी इसलिए कम महत्त्व नहीं रखता कि, इन सब योग्यताओं का सामयिक शासनतन्त्र के साथ प्रधान सम्बन्ध रहता है। जो समाज, तथा राष्ट्र जैसे शासक के शासन में प्रतिष्ठित रहता है, उसे आवश्यकरूप से उस शासक की योग्यताओं का अनुगमन करना पड़ता है। 'यथा राजा, तथा प्रजा'—'राजा कालस्य कारणम्' इत्यादि सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं।

जिस शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, आचार, व्यवहार आदि में शासकजाति प्रतिष्ठित रहती है, शासित जातियों को विवश होकर उन्हीं का अनुगमन करना पड़ता है। शासक जिस शिक्षा का प्रसार करते हैं, प्रतिष्ठा के जो लक्षण मानते हैं, जिसे विवेक कहते हैं, उस शिक्षा, प्रतिष्ठा, विवेक के अनुगामी ही शासित समाज में शिक्षित प्रतिष्ठित एवं विवेकी माने जाते हैं। स्पष्ट है कि, शासक-जातियों से सम्बन्ध रखनेवाले ये सब धर्म्म, सब योग्यताएं कभी समाज का मूलस्तम्भ नहीं मानी जा सकतीं।

उदाहरण के लिए भारतीय समाज को ही लीजिए। विगत शताब्दी से भारतवर्ष एक ऐसी शासक-जाति का अनुगामी बना आ रहा है, जो कि शिक्षा-सभ्यता आदि में

भारतीय संस्कृति से जरा भी मेल नहीं खाती। पश्चिमी शिक्षा का प्रधान लक्ष्य भूतोन्नति है, ऐहलौकिक सुख है। आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, मुक्ति, पाप, पुण्य आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का उस शिक्षा में समावेश नहीं के समान है। इधर भारतीयशिक्षा भूतोन्नति के साथ साथ आत्मनिःश्रेयसता का भी समादर कर रही है। दोनों के लक्ष्य, उद्देश्य, लक्ष्यपूर्त्ति के साधन, संस्कृति मे उतना ही अन्तर है, जितना कि अन्तर सर्वथा प्रतिद्वन्द्विता रखनेवाली पूर्व-पश्चिम दिशाओं मे होना चाहिए। अन्तर बना रहे, इससे क्या हुआ। राज्य-प्रणाली से सम्बन्ध रखनेवाली राजनीति कब अपने नियन्त्रण से मुक्त करना चाहती है। विवश होकर भारतीय समाज को शासक की नीति का अनुगमन करना पड़ रहा है। परिणाम वही हो रहा है, जो कि होना चाहिए। वही शिक्षा, वही सभ्यता, वही विवेक, वही प्रतिष्ठा, इस प्रकार हमारे लिए 'वही' आराध्य मन्त्र बन रहा है। पश्चिमी शिक्षा में निष्णात शिक्षक ही आज शिक्षित, सभ्य, विवेकी एवं प्रतिष्ठित माने जा रहे हैं। समाज के ये सम्भ्रान्त महानुभाव अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में ही भारत का कल्याण मान रहे हैं।

जिन भारतीय विद्वानों नें अपनी मौलिक संस्कृति का अध्ययन किया है, उनके विचारानुसार पश्चिम की संस्कृति एकमात्र भूतोन्नति का कारणाभास बनती हुई भारतीयता का सर्वनाश करने वाली सिद्ध हो रही है। दोनों ही 'समाजनेता' बनने का दम भर रहे है। दोनों दलों मे पर्य्याप्त अहमहमिका देखी जाती है। दोनों एक दूसरे की भरपेट निन्दा करने में हीं कृतकृत्यता का अनुभव कर रहे है। तटस्थ जनता ने दोनों दलों का क्रमशः सुधारक, पुराणापन्थी, यह नामकरण भी कर डाला है। थोड़ी देर के लिए हम भी इन नामों का समादर कर लेते हैं। सुधारकवर्ग भारतवर्ष का ऐसा सुधार करने के लिए कटिबद्ध हो रहा है कि, जिससे 'न रहे बांस, न बजे बासुरी' सवासोलह आना चरितार्थ हो जाय। रुढिवादों के सुधार के साथ साथ ये महानुभाव मौलिकता का भी सुधार कर देना चाहते हैं। रोग के साथ साथ रोगी की सत्ता भी मिटा देना चाहते हैं। इनकी दृष्टि में भारतीय सभ्यता का कोई भी अङ्ग ऐसा नहीं है, जिसे उपयोगी समझा जाय। उधर पुराणपन्थी महोदय सत्ययुग के कल्पित स्वप्न देख रहे हैं। ये रोगी की रक्षा के साथ साथ रोग को भी रक्षा कर रहे हैं। मौलिकता के आवेश में पड़ कर रुढिवाद को भी 'धर्म्म' मानने की विफल चेष्टा कर रहे हैं। एक धर्म्म के ठेकेदार हैं, तो दूसरे धर्म्मशब्द से भी घृणा कर रहे हैं। एक विशुद्ध आदर्शवादी हैं, तो दूसरे उत्पथ कर्म्म के अनुगामी हैं। एक आलस्य की प्रतिमूर्त्ति हैं, तो दूसरे विरुद्ध कर्म्मों से ही अपने आप को कर्म्मठ मानने का अभिमान कर रहे हैं। यहीं

सीमा समाप्त हो जाती, तब भी गनीमत थी। परन्तु यहां तो पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता ने भी तो घर कर रक्खा है। दोनों में से एक भी अपनी भूल स्वीकार करने के लिए तय्यार नहीं है। सिद्धान्त बड़े उदार बना रक्खे हैं। कहने को विश्वबन्धुत्व आदर्श है। परन्तु व्यावहार में अणुमात्र भी सहनशक्ति नहीं है। जिसने अपना जो सिद्धान्त बना रक्खा है, वह उसके विरोध में कुछ भी सुनना नहीं चाहता। आपस की इस रस्सेकशी का परिणाम यह हो रहा है कि, भारतीय समाज का न आज कोई आदर्श है, न सिद्धान्त है, न व्यवस्थित जीवन है। सभी नेता हैं, सभी पण्डित हैं, सभी शिक्षित हैं, सभी विवेकी हैं, सभी प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं सब विषम परिस्थितियों के आधार पर हमें कहना पड़ेगा कि, कर्त्तव्यनिर्णय के सम्बन्ध में "समाज के प्रतिष्ठित, शिक्षित व्यक्तियों का निर्णय ही कर्त्तव्यनिर्णय में प्रमाण है" इस परिभाषा का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

इस प्रकार कर्त्तव्य-कर्म्म के निर्णय के सम्बन्ध में बुद्धिवाद, आत्मतुष्टि, समाजानुबन्ध, नेतृत्व आदि सभी उपाय एक तरह से व्यर्थ सिद्ध हो रहे हैं। किसी भी उपाय को—'इदमित्थमेव कर्त्तव्यम्' इस प्रकार के असंदिग्ध अर्थ को व्यवस्थित करने वाला नहीं कहा जा सकता। यद्यपि बहुत अंशों में यह ठीक है कि, समाज के शिष्ट पुरुषों, शिक्षित महानुभावों के हाथ में ही सामाजिक कर्त्तव्य की बागडोर रहती है।

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'

—गी० ३।२१।

इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार समाज के मान्य व्यक्ति जिन कर्त्तव्य कर्म्मों का आचरण करते हैं, अस्मदादि सामान्य इतरजन उन्हीं शिष्टानुसम्मत आचरणों का अनुगमन करने लगते हैं। तथापि इस उपाय को भी एकान्ततः अपवाद रहित नहीं कहा जा सकता। विशेषतः उस भारतीय समाज के लिए, जिसकी सभ्यता के कुछ एक नियम प्रकृतिदेवी से सम्बन्ध रखते हुए सनातन हैं, सदा एकरूप से चले आ रहे हैं, कभी उक्त उपाय कर्त्तव्यनिर्णय के सम्बन्ध में अपवाद रहित नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए अतीत तथा वर्त्तमान भारत की शिष्टता का अवलोकन कर लेना ही पर्य्याप्त होगा।

यह कहा जा चुका है कि, शासित जाति को विवश होकर शासक जाति की संस्कृति का बाना अनिच्छापूर्वक पहिनना पड़ता है। आगे जाकर चिरकालिक अभ्यास से शासित की यह अनिच्छा अभिनिवेशपूर्वक इच्छारूप में परिणत हो जाती है। और हमारा वर्त्तमान

भारतीय समाज अधिकांश में ऐसी आगन्तुक इच्छा का ही अनुगामी बन रहा है। इसके बाह्य शासकों ने जैसी शिक्षा का प्रसार किया है, जिस ढंग की सभ्यता का स्रोत बहाया है, यह (भारतीय समाज) द्रुत वेग से उसी प्रवाह में प्रवाहित हो रहा है। उधर विशुद्ध प्राच्य सभ्यता का ही एकमात्र पक्षपाती, प्राच्यशिक्षा-दीक्षित विद्वद्वर्ग भी समय समय पर अपने पदाभिमान का, नेतृत्वाभिमान का उद्‌घोष करता रहता है। फलतः भारतीय समाज आज उभयतः पाशारज्जु से ग्रह-गृहीत बन रहा है।

कर्त्तव्य-कर्म्म निर्णय से सम्बन्ध रखनेवाली यह जटिलता वर्त्तमान युग में ही उपस्थित हुई हो, यह बात नहीं है। अतीत युगों में भी यह जटिलता सुरक्षित देखी गई है। कुरुकुल पितामह भीष्म जैसे महातत्त्ववेत्ता के मुख से भी द्रौपदी-वस्त्रापहरण जैसे निन्दनीय कर्म्म के सम्बन्ध मे **'धर्म्मस्य सूक्ष्मा गतिः'** यह निर्णय सुना जाता है। द्रोणाचार्य जैसे धर्म्मगुरु भी क्षात्र-धर्म्मयुद्ध के सर्वथा विपरीत चक्रव्यूह में फँसे हुए अभिमन्यु की तलवार की मूठ काट गिराते हैं। धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए अवतार धारण करनेवाले भगवान् कृष्ण जब भीम को दुर्य्योधन के जङ्घाप्रदेश में गदाप्रहार करने का संकेत करते दिखलाई पड़ते हैं, तो हमें अवाक् रह जाना पड़ता है। इन सब जटिलताओं से त्राण पाने के लिए प्राचीनसम्प्रदाय-परम्परा का निम्न लिखित वचन हमारे सामने आता है—

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्म्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर उक्त आदेश हमें बड़ा ही मार्मिक, तथा कर्त्तव्यकर्म्मनिर्णय में परम उपादेय प्रतीत होता है। समाज के अस्मदादि सर्वसाधारण व्यक्तियों के लिए तो **'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** (बड़े आदमी जिस रास्ते से गए है, हमे भी उसी रास्ते से जाना चाहिए) के अतिरिक्त और दूसरा श्रेयःपन्था हो ही नहीं सकता। वही वेदशास्त्र एक स्थान पर **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** (किसी को मत मारो) यह आदेश दे रहा है, तो वही वेदशास्त्र इस आदेश से सर्वथा विरुद्ध **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** (अग्नीषोमीय पशु का आलम्भन करना चाहिए) यह कहता हुआ यज्ञकाण्ड मे पशुहिंसा का समर्थन कर रहा है। वही स्मृतिशास्त्र जहा एक स्थान पर अन्त्यजस्पर्श का निषेध कर रहा है, वहां उसी के मुख से अन्यत्र अन्त्यजस्पर्शादि को निर्दोष भी सुना जा रहा है। देवयात्रा,

विवाहादि के सम्बन्ध मे 'स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति' निर्णय देखा जाता है। श्रुति-स्मृति के इन विरुद्ध आदेशों का समन्वय करने मे असमर्थ बनता हुआ एक सामान्य व्यक्ति अवश्य ही किंकर्त्तव्यविमूढ होता हुआ लक्ष्यच्युत बन जाता है। सभी व्यक्ति श्रुति-स्मृति के मौलिक रहस्यों को जान कर विरोध का समन्वय करलें, यह असम्भव है। ऐसी दशा मे सामान्य जनता का कल्याण तो एकमात्र महाजनाभिमत पथानुगमन में ही सम्भव है। स्वयं गीताचार्य ने भी रूपान्तर से इसी पथ का अनुगमन श्रेष्ठ बतलाया है। देखिए।

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥
>
> गी० ३।२१।

यद्यपि पूर्व कथनानुसार महाजन सम्मत मार्ग भी एकान्ततः अपवादरहित नहीं है तथापि अगत्या हमे सर्वसाधारण के कल्याण के लिए इसी पथ को कर्त्तव्य-कर्म्म निर्णय मे आधार मानना पडता है, मानना चाहिए। गुण-दोषमय संसार मे सर्वथा निर्दुष्ट परिभाषा बना लेना एक प्रकार से सर्वथा असम्भव ही है। श्रुति ने भी एक स्थान पर इसी महाजनपथानुगमन का आदेश दिया है, परन्तु थोडे संशोधन के साथ। लोकनीति एवं राजनीति मे निपुण महा-पुरुष भी मनुष्य हैं, एवं मनुष्य का अन्तर्जगत 'अनृतसंहिता वै मनुष्याः' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सदा सर्वदा सत्य सिद्धान्त का अनुगामी नहीं रह सकता। परिस्थितियों के आक्रमण से मानवीय मन से समय समय पर भूल हो जाना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में हमारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, महापुरुषों के जो सुचरित हैं, सदाचरण हैं उनका तो अनुगमन करें, एवं इतर चरित्रों की बिना मीमांसा किये उपेक्षा कर दें। यही संशोधन करती हुई श्रुति कहती है—

> यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।
> यान्यनवद्यानि कर्म्माणि, तानि (त्वया) सेवितव्यानि, नो इतराणि॥
>
> —तै० उप० १।११।२।

यह तो हुई लोकनीति तथा राजनीति की गाथा। अब धर्म्मनीति सम्बन्ध से भी महाजन शब्द की परिभाषा का विचार कर लीजिए। लोक-राजनीतियो का प्रधान सम्बन्ध

जहां दृष्ट पदार्थों से हैं, वहां धर्म्मनीति का प्रधान सम्बन्ध अदृष्ट पदार्थों से माना गया है। ऐसी दशा में यह सिद्ध विषय है कि, धर्म्मनीति से सम्बन्ध रखनेवाले कर्त्तव्य कर्म्मों के सम्बन्ध में अदृष्ट, अतीन्द्रिय तत्त्वों के द्रष्टा आप्त महर्षि ही महाजन मानें जायंगे। केवल लोक राजनीति में निपुण व्यक्ति कभी धर्म्म सम्बन्ध में प्रमाणभूत न माने जायंगे। जिन देशों के सभ्यता-संस्कृति-आचार-व्यवहारादि एकमात्र राजनीति को ही प्रधानता दे रहे हैं, जिनके राजनीतितन्त्र में धर्म्मनीति का स्थान एकान्ततः गौण है, दूसरे शब्दों में जहां धर्म्मवाद प्रकृति से सम्बन्ध न रखता हुआ केवल मतवाद है, उन देशों की बात तो जाने दीजिए। वहां के लिए तो वे ही महाजन हैं, जो कि राजनीति के परपारदर्शी हैं जिनका कि एकमात्र लक्ष्य भूतोन्नति ही है। हमें विचार तो उस देश (भारत) का करना है, जिसमें कि कृष्णमृग स्वच्छन्दरूप से विचरण करता है, जहां कि धर्म्मतत्त्व को ही प्रधान माना जाता है, जहां कि राजनीति वही राजनीति कही जाती है, लोकनीति वही लोकनीति मानी जाती है, जोकि धर्म्मनीति का अनुगमन करती रहती है। वैसी लोकनीति, वैसी राजनीति भारतीय धर्म्मप्रधान प्राङ्गण में कभी आदर प्राप्त नहीं कर सकती, जो कि केवल भूतोन्नति को अपना लक्ष्य बनाती हुई धर्म्मनीति की उपेक्षा कर बैठती है। उसी हद तक हमारे देश को लोक-राजनीतियां मान्य हैं, जहा तक कि धर्म्मवृषभ पर इनसे किसी प्रकार का आघात नहीं होता। जब भी कभी इनमें संघर्ष होने का अवसर उपस्थित होता है, तत्क्षण धर्म्म-नीति के सामने इतर नीतियों की उपेक्षा कर दी जाती है। एक दो बार ही नहीं, सहस्र सहस्र बार ऐसे अवसर उपस्थित हुए हैं, जिनमें धर्म्मनीति को ही मुख्य स्थान दिया गया है, धर्म्मप्रवर्त्तक आप्त महर्षियों के आप्तोपदेशरूप शब्दशास्त्र को ही कर्त्तव्य-कर्म्मनिर्णय में प्रधान माना गया है। ऐसे महापुरुषों के आदेशों की, जिन्होंने एकमात्र लोक-राजनीतियों को ही मुख्य स्थान दिया है, दूसरे शब्दों मे जिनका लक्ष्य केवल लोकोन्नति ही रहा है, सर्वथा उपेक्षा की गई है। इन दृष्टफलवादी महापुरुषों के अतिरिक्त उन अदृष्टफलवादी महापुरुषों के आदेशों की भी उपेक्षा ही हुई है, जिन्होंने तत्त्वज्ञान के अभाव से केवल अपनी कल्पना के आधार पर चिरन्तन परम्परा की उपेक्षा करते हुए धर्म्म, एवं तत्प्रतिपादक शास्त्रों की मनमानी व्याख्या करने का दुःसाहस कर डाला है।

तत्वतः निष्कर्ष यह हुआ कि, आर्यजाति उसे महापुरुष कहती है, एवं कहेगी, जो कि सन्देहशून्य, सर्वथा निश्चित तत्त्ववाद का प्रतिपादन करने वाले वेदशास्त्र के पारदर्शी विद्वान् होंगे। आर्य्यसन्तान उस महाजन के आदर्श का अनुसरण करेगी, जिसका कि आदर्श वेद-

शास्त्र होगा। भारतीय प्रजा अपने कर्त्तव्य कर्म्मों के निर्णय के सम्बन्ध में उन महाजन वाक्यों को प्रमाण मानेगी, जिनके वचन शास्त्र प्रमाण से युक्त होंगे। मानवधर्म्मरहस्यवेत्ता भगवान् मनु ने हमारे सामने महाजन शब्द की यही व्याख्या रक्खी है, जैसा कि उनकी निम्न लिखित सूक्तियों से स्पष्ट हो जाता है।

१—नैःश्रेयसमिदं कर्म्म यथोदितमशेषतः।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते॥

२—अनाम्नातेषु धर्म्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्म्मः स्यादशङ्कितः॥

३—धर्म्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥

४—दशावरा वा परिषद्यं धर्म्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्म्मं न विचालयेत्॥

५—त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्म्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥

६—ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्म्मसंशयनिर्णये॥

७—एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

८—अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥

९—यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्म्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति॥

१०—एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

—मनुस्मृतिः, १२ अ० । १०७ से ११६ पर्य्यन्त ।

१—मनु कहते हैं कि—यहां से पहिले पहिले हमनें निःश्रेयस प्राप्ति के साधनभूत कर्म्म का, यथानुरूप सर्वात्मना वर्णन किया । अब यहां से आगे इस मानव (धर्म्म) शास्त्र का गुप्त रहस्य बतलाया जाता है ।

२—जिन धर्म्माज्ञाओं का शास्त्र में विशेषरूप से, किंवा स्पष्टरूप से निरूपण नहीं हुआ है, अतएव जिनकी इतिकर्त्तव्यता में 'कैसे करें' ? यह सन्देह बना रहता है, ऐसे संदिग्ध धर्म्म-कार्य्यों के सम्बन्ध में (आगे बतलाए जानें वाले लक्षणों से युक्त) शिष्ट ब्राह्मण जैसी, जो व्यवस्था दें, वही व्यवस्था उस धर्म्मेतिकर्त्तव्यता में निश्चित धर्म्म (निश्चित कर्त्तव्य कर्म्म) मानना चाहिए । तात्पर्य्य यही हुआ कि, धर्म्मसन्देह के अवसर पर शिष्ट ब्राह्मणों का कथन ही प्रामाणिक मानना चाहिए ।

३—(ब्रह्मचर्य्य, सत्य, अहिंसा, आदि) धर्म्मों का यथावत् परिपालन करते हुए जिन ब्राह्मणों नें षडङ्ग, मीमांसा, धर्म्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र), पुराणादि से उपबृंहित (आलोडित) वेदशास्त्र (श्रुतिशास्त्र) का अध्ययन किया है, जो वेदवित् ब्राह्मण श्रुतिद्वारा निर्दिष्ट तत्त्वों के प्रत्यक्षवत् उपदेष्टा हैं, अर्थात् जिन्हें श्रुतिवचनों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों का मौलिक रहस्य विदित है, वे ही ब्राह्मण शिष्ट मानें जायंगे, (एवं ऐसे शिष्ट ब्राह्मण हीं धर्म्मनिर्णायक कहे जायंगे) ।

४—मान लीजिए, धर्म्मनिर्णायक शिष्ट पुरुषों के बाहुल्य में सदिग्ध मनुष्यों के सामने कभी कभी यह अडचन आ जाया करे कि, सभी शिष्ट हैं, इन में कौन विशेष योग्यता रखता है, कौन सामान्य योग्यता ? किसके पास चलें ? कौन शिष्ट अवहित (प्रमादरहित-सन्देह रहित) निश्चित अर्थ का अनुशासन करेगा ? तो ऐसी अवस्था में जिज्ञासु कभी कभी कठिन समस्या में पड़ सकता है । अनेक शिष्ट पुरुषों की विद्यमानता में कभी कभी 'अत्र गन्तव्यं वा तत्र गन्तव्यम्' यह समस्या उपस्थित हो ही जाया करती है । इस समस्या को सुलझाते हुए मनु कहते हैं कि, समाज में शिष्ट पुरुषों की एक परिषत् (समिति) होनी चाहिए । कुछ एक शिष्ट पुरुषों की ऐसी समिति होनी चाहिए, जो कि समाज में उपस्थित होने वाले सन्देहों का यथा समय सम्मिलित अनुमति (कसरत राय) से निराकरण करती रहे । इन परिषदों में अधिक से अधिक दस व्यक्ति रहें, कम से कम तीन व्यक्ति रहें । ये ही दोनों परिषदें क्रमशः 'दशावरा-परिषत्,

त्र्यवरा-परिषत् नामों से व्यवहृत होगीं, जिनके कि लक्षण आगे बतलाए जाने वाले हैं। अपने नियत सदाचार में प्रतिष्ठित दशावरा-परिषत्, अथवा त्र्यवरा-परिषत् सम्मिलित अनुमति से जिसे 'धर्म्म' कह दे, दूसरे शब्दों में धर्म्म-सन्देह स्थलों में अपना जो निर्णय प्रकट कर दे, समाज के सामान्य व्यक्तियों को कभी उस धर्म्म-निर्णय का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, सामान्य मनुष्यों को अपने कर्त्तव्य-कर्म्म निर्णय में समाज के शिष्ट पुरुषों की समितियों का आदेश ही प्रमाण मानना चाहिए।

५—ॠग्वेद का परिज्ञाता, यजुर्वेद का परिज्ञाता, सामवेद का परिज्ञाता, श्रुति-स्मृति से विरोध न रखने वाले हेतुशास्त्र (न्यायशास्त्र) का परिज्ञाता, मीमांसा-शास्त्रानुगत तर्क का परिज्ञाता, निरुक्तशास्त्र का परिज्ञाता, मनु-याज्ञवल्क्यादि स्मृतिशास्त्र का परिज्ञाता, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ इन दस शिष्ट पुरुषों की समिति ही 'दशावरा-परिषत्' कहलाएगी।

६—यदि दशावरा-परिषत् की सुविधा न हो, तो त्र्यवरा-परिषत् का कथन भी धर्म्मसंशय निर्णय में प्रमाण माना जायगा। ॠग्वेद का जानने वाला, यजुर्वेद का जानने वाला, एवं सामवेद का जानने वाला, इन तीन शिष्ट पुरुषों की समिति 'त्र्यवरा-परिषत्' (भी) धर्म्मसंशय निर्णय में उपयुक्त जाननी चाहिए।

७—वेदशास्त्र का परिज्ञाता, एक भी द्विजश्रेष्ठ जिसे 'धर्म्म' रूप से व्यवस्थित करे, उसी को उत्कृष्ट (असंदिग्ध) धर्म्म जानना चाहिए। ठीक इसके विपरीत यदि असंख्य मूर्ख एक एक साथ मिल कर भी किसी का समर्थन करे तो, उसे प्रामाणिक नहीं मानना चाहिए।

तात्पर्य्य यही है कि, धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में न तो शिष्ट पुरुषों का ही प्राधान्य है, न दशावरा-परिषत्, तथा त्र्यवरा-परिषत् का ही विशेष महत्त्व है, न अनेक व्यक्तियों का समूह ही अपना कुछ महत्त्व रखता। मनु ने धर्म्म निर्णय के सम्बन्ध में पूर्व में—

'यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः'—'दशावरा वा परिषत्'
'त्र्यवरावाऽपि वृत्तस्था'—'एकोऽपि वेदविद्धर्म्मम्'

इत्यादि जितने भी प्रकार बतलाए हैं, उन सब के मूल में वेदशास्त्र, एवं तदनुगामी धर्म्मशास्त्र ही मुख्य रूप से प्रतिष्ठित है। शिष्ट ब्राह्मणादि का निर्णय इसी लिए मान्य है कि, वे श्रुति-स्मृति सम्मत अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। मनु की दृष्टि में शास्त्रप्रमाण ही अपवाद रहित प्रमाण है। यदि एक भी व्यक्ति शास्त्र के आधार पर कुछ कहता है, तो उस एक का

भी कथन प्रमाण है। यदि शास्त्रविरुद्ध हजारों व्यक्ति मिल कर भी किसी सिद्धान्त की स्थापना करते हैं, तो उन हजारों का कथन भी अप्रामाणिक है।

८—जिन द्विजातियों नें साविव्यादि ब्रह्मचारि-व्रतों का पालन नहीं किया है, साथ ही न जिन्होंनें वेदमन्त्रों का विधिवत अध्ययन ही किया है, अपितु जो द्विजाति केवल नाममात्र के द्विजाति हैं, दूसरे शब्दों में 'हम जाति से ब्राह्मण हैं' इन शब्दों में अपना परिचय देते हुए जो कुत्सित भिक्षावृत्ति से यथाकथंचित् अपनी जीविका चलाते हैं, ऐसे सर्वशून्य हजारों द्विजातियों के सम्मिलित होने पर भी 'परिषत्' शब्द लागू नहीं होता। ऐसे जातिमात्रोपजीवी हजारों की परिषत् का भी कथन निरर्थक है।

६—(अशास्त्रीयशिक्षा, असदन्नपरिग्रह, दुराचार, कुसङ्ग, आदि असद्भावों से) जिन का आत्मा तमोगुण से अभिभूत हो गया है, इसी तमोगुण की प्रधानता से जिन्हें धर्म्म के मौलिक रहस्य का अणुमात्र भी बोध नहीं है, ऐसे तमोगुणी, नितान्त मूर्ख (अभिनिवेश-जनित अभिमान में आकर, मूर्खमण्डली द्वारा प्राप्त सम्मान से गर्व में आकर) यदि धर्म्म के सम्बन्ध में अपना मनमाना निर्णय करने लगते हैं, धर्म्मोपदेशक बन बैठते हैं, तो उनका यह पाप सौगुना बन कर इन्हीं के मत्थे मंढ जाता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, जिन्होंनें कभी न तो वेदादि शास्त्रों का अध्ययन ही किया है, न जिन्होंने कभी भूलकर भी धर्म्मचर्चा ही सुनी है, फिर भी लोकप्रतिष्ठा, अर्थप्रतिष्ठा, समाजप्रतिष्ठा आदि के अभिमान में पड़ कर अपने बुद्धिवाद के आधार पर ही जो तमोगुणी धर्म्मपदार्थ के सम्बन्ध में अपना मनमाना निर्णय करने का दुःसाहस कर बैठते हैं वे घोर पाप करते हैं। इनके इस पाप से समाज का सामान्य वर्ग तो लक्ष्यच्युत होता ही है, साथ ही ये स्वयं भी एक दिन—'समूलश्च विनश्यति'।

१०—(कर्त्तव्यकर्म्म निर्णय में किसे प्रमाण मानना चाहिए? इसका समाधान कर, प्रकरण का उपसंहार करते हुए मनु कहते हैं) मैंने आप लोगों को निःश्रेयस साधक यह सर्वोत्कृष्ट धर्म्मादितत्त्व बतलाया है। इस तत्त्व पर प्रतिष्ठित रहता हुआ विप्र सर्वोत्कृष्ट गति प्राप्त करता है।

मानवधर्म्मशास्त्र ने उक्त रूप से जिसे शिष्ट तथा महाजन कहा है, एक भारतीय के लिए ऐसे शिष्ट पुरुष का उपदेशवाक्य-संग्रहरूप शब्दशास्त्र ही कर्त्तव्य-कर्म्म निर्णय में असंदिग्ध प्रमाण है। कारण इसका यही है कि, कर्म्म स्वयं एक अतीन्द्रिय पदार्थ है। किस कर्म्म से कब, क्या, और कैसा संस्कार उत्पन्न हो जाता है? एवं वह संस्कार लेप हमारे प्रज्ञानमन का क्या हित-अहित कर डालता है? ये सब परोक्षविषय हैं। हम अपने चर्म्म-

चक्षुओं से कर्म्म के इन अतीन्द्रिय, अतएव अदृष्टरूप उच्चावच परिणामों को कभी नहीं देख सकते। कर्म्मसंस्कारों के इन रहस्यात्मक परिणामों का साक्षात्कार करने के लिए एक विशेष दृष्टि की अपेक्षा है, जो कि चिरकालिक तपोयोग द्वारा ही प्राप्त होती है। वेदशास्त्र (श्रुतिशास्त्र), एवं तदनुगामी धर्म्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) विदितवेदितव्य, अतीतानागतज्ञ, साक्षात्कृतधर्म्मा महामहर्षियों की प्रत्यक्षदृष्टि है। चिरकालिक तपःप्रभाव से प्राप्त अपनी दिव्यदृष्टि (अन्तर्दृष्टि, विज्ञानदृष्टि, योगजदृष्टि, आर्षदृष्टि) से जिन गुप्त रहस्यों का उन्होंने साक्षात्कार किया है, वे रहस्य ही शब्दशास्त्र द्वारा हमारे सामने आए हैं। उन आप्तपुरुषों का वचन ही हमारे लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है, जिसके कि सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। हमारी साधारण बुद्धि का केवल यही कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, वह इन शास्त्रीय वचनों का यथावत् अनुगमन करती हुई मन एवं इन्द्रियों को तदनुकूल ही प्रवृत्त रक्खे। तात्पर्य्य यही हुआ कि, गुप्तरहस्यात्मक कर्म्मतन्त्र का निर्णय एकमात्र शब्दप्रमाण को ही आधार बना सकता है।

'शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह-तदस्माकं प्रमाणम्'

इस न्याय के अनुसार प्रत्येक भारतीय आस्तिक के लिए स्वकर्त्तव्य-कर्म्म निर्णय में आप्त-पुरुषों का शब्द (श्रुति-स्मृति) ही एकमात्र निर्बाध प्रमाण है। और इस प्रमाणवाद में अणु-मात्र भी अपवाद के समावेश का अवसर नहीं है।

जो विशुद्ध बुद्धिवादी विशुद्ध तर्कवाद के अभिनिवेश में पड़ कर धर्म्म-कर्म्म के सम्बन्ध में अपना यथेच्छ निर्णय प्रकट करने का दुःसाहस करने लगते हैं, वे स्वयं एक पापकर्म्म करते हुए समाज-पतन के भी कारण बनते हैं। यथार्थ में इनका यह पाप समाज व्यवस्था में तो उच्छृङ्खलता पैदा करता ही है, साथ ही कालान्तर में ये स्वयं भी समूल नष्ट हो जाते हैं। *सम्भव है, बल-प्रधान आसुरप्राण के अनुग्रह से कुछ समय के लिए मुग्ध समाज इन बुद्धिवा-*दियों का अनुगामी बन जाय। यह भी बहुत सम्भव है कि, माया-तम-अविद्यादिभावों से सम्बन्ध रखनेवाली विशुद्ध भूतबुद्धि के द्वारा ये महानुभाव देखने भर के लिए समाज को उन्नत-सम्पन्न भी बना डालें, परन्तु परिणाम मे सर्वनाश आवश्यकरूप से निश्चित है। अधर्म्मपथ आसुरी विभूति है। उच्छृङ्खल, अनियमित, अशास्त्रीय, कल्पित कर्म्ममार्ग तमोगुण प्रधान बनता हुआ आसुरभाव का उत्तेजक है। तमोगुणप्रधान आसुरभाव क्षणिक अर्थ-सम्पत्ति का उत्तेजक है। अतएव तदनुगामी तामस व्यक्ति अवश्य ही कुछ समय के लिए

समृद्धिशाली-से प्रतीत होने लगते हैं। परन्तु परिणाम वही होता है, जो कि प्रकृतिसिद्ध है।

[1]अधर्म्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

—मनुः ४।१७४।

'उन् नति' लक्षणा उन्नति को ही ऐहलौकिक सुख माननेवाले, अशान्तिमयी भूतलिप्सा को ही सुख कहनेवाले, 'खाना पीना मौज उड़ाना' सिद्धान्त को ही जीवन का मुख्य उद्देश्य माननेवाले महानुभावों की दृष्टि में सम्भव है, पूर्वप्रदर्शित अधर्म्ममय उत्पथानुगामी कर्म्मवाद उपकारक हो। परन्तु जो आस्तिक भारतीय आत्मसत्ता पर विश्वास रखता हुआ पुण्यापुण्यभावों को तथ्यपूर्ण समझता है, शान्तिपूर्ण ऐहलौकिक अभ्युदय के साथ साथ पारलौकिक निःश्रेयस सुख को जीवन का मुख्य उद्देश्य मानता है, उसकी दृष्टि में तो शब्दशास्त्र से प्रमाणीकृत धर्म्मपथ ही एकमात्र कल्याणप्रद मार्ग है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा हमें कर्त्तव्य-कर्म्म निर्णय के सम्बन्ध में अपवाद रहित शब्द-शास्त्र पर ही विश्राम मानना पड़ता है। इसी शास्त्रीय प्रमाण्य का दिग्दर्शन कराते हुए वेदज्ञ मनु कहते हैं—

कर्त्तव्य-कर्म्मनिर्णायक—

१—वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
२—यः कश्चित् कस्यचिद्धर्म्मो मनुनापरिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥
३—सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्म्मे निविशेत वै॥

---

१ अधर्म्म मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति आरम्भ में पर्य्याप्तरूप से समृद्धिशाली बनता है, अनेक तरह के वैषयिक सुख प्राप्त करता है, (भूतवर्ग के आधार पर) अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। परन्तु एक दिन उसका समूल विनाश हो जाता है। (एक लखपुत्र, सवा लख नाती, रावण के घर दिया न बाती—लोकोक्ति)।

४—श्रुति-स्मृत्युदितं धर्म्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥

५—श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ॥

६—योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्-द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

७—वेदः, स्मृतिः, सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्म्मस्य लक्षणम्॥

८—अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मं ज्ञानं विधीयते।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

—मनुस्मृतिः—१ अ०। ६ से १३ पर्य्यन्त।

१—(धर्म्मनिर्णय में किसे प्रमाण मानना चाहिए? प्रकृत के आठ श्लोकों से इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् मनु कहते हैं) धर्म्म का सबसे पहिला मूल (प्रमाण) सम्पूर्ण वेदशास्त्र ही है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक अखिल वेद ही धर्म्म में मूल है। वेदशास्त्रानुगत स्मृतिशास्त्र धर्म्म में दूसरा प्रमाण है। वेदवित्-विद्वानों का [1]शील धर्म्म में तीसरा प्रमाण है। परमधार्मिक साधु पुरुषों का आचरण धर्म्म में चौथा प्रमाण है। आत्मतुष्टि धर्म्म में पांचवां प्रमाण है।

---

१ "ब्रह्मण्यता, देव-पितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनुसूयता, मृदुता, अपारुष्यं, तु मैत्रता, प्रियवादित्वं, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्यं, प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम्" (हारीतस्मृतिः) *इस स्मृत्यन्तर के अनुसार शीलगुण के तेरह अवयव माने गए हैं। जिन व्यक्तियों में त्रयोदशविध* यह शीलगुण रहेगा, उनका कथन भी धर्म्मनिर्णय में प्रमाण माना जायगा। यद्यपि शीलगुणक मनुष्य वेदशास्त्र के आधार पर ही धर्म्म का निर्णय करेगा, क्योंकि बिना वेदनिष्ठा के शील का उदय ही कठिन है। फिर भी पूर्वजन्मकृत सुकर्म्मों के अनुग्रह से यदि किसी में स्वभावत शीलगुण का उदय हो गया है, साथ ही समय-

कितनें एक महानुभाव 'आत्मतुष्टि' का 'अपने को अच्छा लगे, वह धर्म्म में प्रमाण' यह तात्पर्य्य लगाते हुए अपने मनमाने सिद्धान्त का समर्थन करने लगते हैं। परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, यहां की आत्मतुष्टि केवल विकल्पभाव से सम्बन्ध रखती है। किसी गुप्त मौलिक रहस्य की अपेक्षा से कहीं कहीं श्रौत आदेशों में (स्थूलदृष्टि से देखने पर) हमें विरोध प्रतीत होने लगता है। परन्तु हमारे लिए दोनों ही प्रमाण हैं, जैसा कि मनु कहते हैं—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्म्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्म्मौ सत्यगुक्तौ मनीषिभिः॥

—मनुः० ११४१

इसके अतिरिक्त ज्ञान-कर्म्म-उपासनाओं की इतिकर्त्तव्यताओं के सम्बन्ध में भी श्रुति ने कई विकल्प माने हैं, कई प्रकार बतलाए हैं। सभी प्रकार वेदोदित होने से प्रमाणभूत हैं। साधक पुरुष इन अनेक प्रकारों में से सुविधानुसार, योग्यतानुसार, इच्छानुसार किसी भी प्रकार (विकल्प) का अनुगमन कर सकता है। इसी दृष्टि से **'आत्मनस्तुष्टिरेव च'** कहा गया है। **'वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम्'** इत्यादि रूप से गर्ग ने भी आत्मतुष्टि की यही व्याख्या की है। ध्यान में रखने की बात है कि, जो मनुस्मृति, शील, साध्वाचरण आदि इतर प्रमाणों की प्रामाणिकता एक मात्र वेदप्रामाण्य पर प्रतिष्ठित बतला रहे हैं, वे 'यथेच्छाचार' को आत्मतुष्टि कहेंगे, और इसे धर्म्ममूल मानेंगे, यह कब सम्भव है।

२—यद्यपि वेदसम्मत सम्पूर्ण स्मृतियां, शील-साध्वाचार-आत्मतुष्टि आदि सभी वेदमूलत्वेन धर्म्मनिर्णय में प्रमाण हैं, तथापि वेदातिरिक्त इन इतर धर्म्मप्रमाणों में भी मनुस्मृति

प्रवाह में पड़ कर जिसने अपने शीलगुण का वेदविरुद्ध सिद्धान्तों में उपयोग कर डाला है, तो ऐसे शील को कभी धर्म्म का मूल न माना जायगा। प्रत्येक दशा में वेद ही सिद्धान्ततः धर्म्ममूल रहेगा। वेदानुमत, वेदप्रमाणानुगत, वेदसिद्धान्त समर्थक ही शीलगुण धर्म्म में प्रमाण माना जायगा। वेदविरोधी कारुण्य, सौम्यभाव, मृदुता, शरण्यता आदि का अनुगमन करनेवाले महानुभावों को कभी धर्म्मनिर्णायक न माना जायगा। अपनी इसी वेदशास्त्रनिष्ठा का समर्थन करने के लिए मनु को कहना पड़ा है—**"स्मृतिशीले च तद्विदाम्"**। वही स्मृति प्रमाण मानी जायगी, जो श्रुति का अनुगमन करेगी। वही शील धर्म्म में मूल माना जायगा, जो कि वेदानुगत होगा।

का स्थान मुख्य माना जायगा, क्योंकि मनुस्मृति का प्रत्येक सिद्धान्त वेद में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। अन्य स्मृतियों नें जहां वेद सिद्धान्तों का पर्य्याप्त स्पष्टीकरण नहीं किया, वहां मनुस्मृति ने बडी ही प्राञ्जल भाषा में थोड़े से में सम्पूर्ण वेद सिद्धान्त का स्पष्ट उपबृंहण कर डाला है। इसी लिए स्वयं श्रुति ने भी इतर स्मृतियों की अपेक्षा से मनुस्मृति को ही सर्वोत्कृष्ट माना है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

मनुर्वै यत्किञ्चिदवत्–तद्भेषजं भेषजतायाः।

—छान्दोग्य ब्राह्मण।

इसी हेतु से इतर स्मृतियों नें, महाभारत नें, सभी ने एक स्वर से धर्म्मशास्त्र-ग्रन्थों में मानवधर्म्मशास्त्र (मनुस्मृति) को ही मुख्य प्रमाण माना है। इसी आधार पर यह भी सिद्धान्त स्थापित होता है कि, जो स्मृतियां मनुस्मृति में प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाली हैं, वे ही धर्म्मनिर्णय में प्रमाण हैं। एवं जो इतर स्मार्त्तसिद्धान्त मनु के विरुद्ध जाते हैं, वे सर्वथा अप्रमाणिक हैं। मनु के इस सर्वोत्कर्ष का मूलकारण यही है कि, मनुस्मृति विशुद्धरूप से (अपवादरहित) वेदशास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही अनुगमन कर रही है। मनुस्मृति के इसी सर्वोत्कर्ष का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं—

१—वेदार्थोपनिबन्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥

२—तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्क-व्याकरणानि च।
धर्म्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्य्यावन्न दृश्यते॥

—बृहस्पतिः।

३—पुराणं, मानवो धर्म्मः, साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

—महाभारत।

मनुस्मृति के इसी माहात्म्य का दिग्दर्शन कराते हुए भृगु कहते हैं—मनु ने जिस वर्ण का जो भी धर्म्म बतलाया है, वह तत्त्वतः ज्यों का त्यों वेद में प्रतिपादित है। इसी हेतु से मनु

को सर्वज्ञानमय माना जायगा, एवं इसी आधार पर इसके इस मानवधर्म्मशास्त्र को भी सर्वज्ञानमय कहा जायगा।

३—वेदार्थ के उद्बोधक इतर सम्पूर्ण शास्त्रों का यथावत् परिज्ञान प्राप्त करके, अपने ज्ञानचक्षु से (बुद्धि से) श्रुति-प्रमाण के आधार पर ही शास्त्रज्ञ विद्वान् धर्म्म-कर्म्म पर प्रतिष्ठित रहे, एवं श्रुति के आधार पर ही दूसरों को भी स्वधर्म्म में प्रतिष्ठित रक्खे।

४—श्रुति-स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म्म-पथ का अनुसरण करने वाला मनुष्य इस जीवन मे कीर्त्ति को प्राप्त होता है, एवं भौतिक शरीर छोड़ने पर परलोक में उत्तम गति प्राप्त करता है।

५—श्रुति वेदशास्त्र है, एवं स्मृति धर्म्मशास्त्र है। अर्थात् श्रुति में धर्म्म के मौलिक रहस्य का प्रतिपादन है, एवं स्मृति में धर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का निरूपण है। कर्त्तव्य-कर्म्मात्मक सभी आदेशों के सम्बन्ध में श्रुति-स्मृति दोनों ही मानवीय तर्क से अमीमांस्य हैं। अर्थात् प्रतिकूल तर्क द्वारा दोनों में से किसी एक की भी मीमांसा (क्षोद-क्षेम) करने का हमें अधिकार नहीं है। क्योंकि इन्हीं दोनों शास्त्रों के आधार पर धर्म्म का स्वरूप प्रकाशित हुआ है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, हमें श्रौत, तथा स्मार्त्त आदेशों को नतमस्तक होकर मान लेना चाहिए। कुत्सित तर्कवाद से इनकी विधेयता में किसी प्रकार की मीमांसा नहीं करनी चाहिए।

६—जो मूर्ख अपने बुद्धिवाद के अभिमान में पड़ कर कुत्सित तर्कवाद का आश्रय लेता हुआ धर्म्म-मूलभूत श्रुति-स्मृति शास्त्रों की निन्दा करता है, इनके आदेशों में अपना अविश्वास प्रकट करता है, समाज के शिष्ट-साधु पुरुषों को चाहिए कि, वे ऐसे नास्तिक-वेदनिन्दक का सर्वात्मना सामाजिक बहिष्कार कर दें।

७—वेदशास्त्र, [1]वेदानुगत स्मृतिशास्त्र, वेद-स्मृत्युनुगत सदाचारी शिष्ट पुरुषों का सदाचार, विकल्पभावों में अपने आत्मा को रुचि के अनुकूल, इस प्रकार धर्म्मतत्त्व-रहस्य-वेत्ताओं ने धर्म्म के ये चार लक्षण माने हैं। धर्म्म-निर्णय में यथावसर चारों मे से कोई भी प्रमाण माना जा सकता है।

---

१ या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

—मनुः १२।९५।

८—जिनका अन्तरात्मा भौतिक सम्पत्तियों में लिप्त नहीं है, दूसरे शब्दों मे जिन्हें विषयासक्ति से घृणा है, जो महापुरुष भूतसम्पत्ति को ही जीवन का परम पुरुषार्थ नहीं मानते ऐसे असक्त आस्तिक पुरुषों के लिए ही इस धर्म्मशास्त्र का उपदेश हुआ है। एव धर्म्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) मे प्रतिपादित धर्म्माज्ञाओं की मौलिक उपपत्ति जानने की जिन्हें जिज्ञासा है, उनके लिए श्रुतिशास्त्र ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। श्रुति ही धर्म्म की उपपत्ति बतलाने मे समर्थ है।

बुद्धिवादियों को विदित हुआ होगा कि, धर्म्म-कर्म्म के निर्णय में उनकी बुद्धि, तथा तर्कवाद का कोई महत्त्व नहीं है। कारण स्पष्ट है। मानवीय बुद्धि का विकास मन के द्वारा इन्द्रियों को आधार बना कर दृष्ट बाह्य जगत् पर ही निर्भर है। जिन पदार्थों में इन्द्रियों की गति है, मानवीय मन, और मन पर प्रतिष्ठित रहने वाली बुद्धि उन ऐन्द्रियक विषयों मे ही अपना व्यापार कर सकती है। उधर धर्म्म-कर्म्म सर्वथा अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। फलत इन अतीन्द्रिय तत्त्वों के सम्बन्ध मे केवल ऐन्द्रियक ज्ञान रखने वाले अस्मदादि की बुद्धि का कोई उपयोग नहीं हो सकता[1]। जिन आप्त पुरुषों नें इन्द्रियदृष्टि से अतीत दिव्यदृष्टि से इन अतीन्द्रिय तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, उन दिव्यद्रष्टाओं का वचन रूप शब्द समूह ही धर्म्म-कर्म्म के सम्बन्ध में हम इन्द्रिय भक्तों के लिए प्रत्यक्षवत् प्रमाण है। इस सम्बन्ध मे शब्दप्रमाण के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। यह पाप है, यह पुण्य है, यह अधर्म्म है, यह धर्म्म है, इस बोध मे एकमात्र शब्दशास्त्र ही शरण है।

निरर्थकबुद्धिवाद—

उदाहरण के लिए हिंसा-अहिंसा का ही विचार कीजिए। मनसा वाचा कर्म्मणा किसी को किसी भी तरह का कष्ट पहुचाना हिंसा है, एव मनसा-वाचा-कर्म्मणा भूतदया रखना अहिंसा है। हिंसा से कष्ट होता है, अहिंसा से शान्ति मिलती है। किसी निरपराध व्यक्ति के कलेजे मे छुरा भोंकने पर उसे प्राणान्तक कष्ट होता है, एव यही हिंसाभाव है। किसी भूखे को पेट भर भोजन कराने से उसे शान्ति मिलती है, एव यही अहिंसाभाव है। यहा तक तो परिस्थिति ठीक ठीक, और सर्वमान्य है। अवश्य ही हिंसा से पीडा, एव अहिंसा से सुख होता है, यह निर्विवाद है।

हिंसा अहिंसा की व्यवस्था—

परन्तु जब इस सम्बन्ध मे पाप पुण्य का द्वन्द्व उपस्थित होता है, तब हमारी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। हिंसा से उस व्यक्ति को कष्ट होता है, यह भी बुद्धि स्वीकार कर

---

१ सर्वं कर्म्मेदमायत्त विधाने दैवमानुषे।
तयोर्दैवमचिन्त्य तु मानुषे विद्यते क्रिया॥ —मनु ७।२०५।

लेगी, तथा अहिंसा से उसे सुख मिलता है, यह भी बुद्धि मान लेगी। क्योंकि दुःख-सुख दोनों ही अनुभव के विषय हैं। हम स्वयं अपने ऊपर दोनों घटनाएं घटित कर इसका अनुभव कर सकते हैं। परन्तु कष्टदायक हिंसाकर्म्म करने से हमें—पाप लगता है, एवं सुखप्रापक अहिंसाकर्म्म करने से हमें पुण्य होता है, इस सम्बन्ध में हमारी बुद्धि कोई निर्णय नहीं कर सकती। क्यों नहीं हिंसा को पुण्यजननी, एवं अहिंसा को पापजननी मान लिया जाय? हमारे हिंसाकर्म्म से एक व्यक्ति ज्यों ज्यों अधिकाधिक दुःख पाता जाता है, त्यों त्यों हमें अधिकाधिक पुण्य होता जाता है। एवं हमारे अहिंसाकर्म्म से ज्यों ज्यों एक व्यक्ति सुखी होता जाता है, त्यों त्यों हम अधिकाधिक पाप के भागी बनते जाते हैं, यह कहने और मानने में क्या आपत्ति उठाई जा सकती है? यदि कोई हिंसक व्यक्ति अपने हिंसाकर्म्म को पुण्यप्रद कर्म्म कहता है, एवं वही अपने अहिंसाकर्म्म को पापप्रदकर्म्म कहता है, तो आप किस युक्ति-तर्क-प्रमाण से उसे रोकेंगे? यह एक विचारणीय प्रश्न है। सुख-दुःख तो इन्द्रियानुभूत विषय हैं, परन्तु पाप-पुण्य तो सर्वथा अतीन्द्रिय हैं। यहां तो आपका बुद्धिवाद कोई काम नहीं कर सकता।

यह निश्चित है कि, शब्दप्रमाण का आश्रय लिए बिना आप प्रयत्न सहस्रों से भी हिंसाकर्म्म को पापप्रद, तथा अहिंसाकर्म्म को पुण्यप्रद सिद्ध न कर सकेंगे। पाप-पुण्यरूप अतीन्द्रिय संस्कार चर्म्मचक्षु से परे हैं। जिन योगियों नें इन्द्रियातीत आर्षदृष्टि से इन संस्कारों का साक्षात्-कार किया है, उनका कथन ही इस सम्बन्ध में निर्णायक बन सकता है। वे इस सम्बन्ध मे जैसी, जो व्यवस्था देंगे, बिना किसी नचनुच के वैसी, वही व्यवस्था हमारे लिए मान्य होगी, और उस दशा मे हमारी ओर से कल्पित हिंसा-अहिंसा का कोई मूल्य न रहेगा। शास्त्र जिसे हिंसा कहेगा, उसे ही हम हिंसा कहेंगे, वह जिन कर्म्मों को अहिंसाकर्म्म बतलाएगा, हम उन्हीं को अहिंसाकर्म्म कहेंगे। प्रत्यक्षदृष्ट, किंवा प्रत्यक्षानुभूत दुःख-सुख के आधार पर हमें हिंसा-अहिंसा की व्यवस्था करने का कोई अधिकार न होगा। यदि प्रत्यक्ष में कोई कर्म्म हिंसामय भी प्रतीत होगा, परन्तु यदि शास्त्र उसे पुण्यप्रद कहेगा तो हम ऐसे हिंसाकर्म्म को भी अहिंसाकर्म्म ही मानेंगे। एवमेव प्रत्यक्ष में अहिंसामय प्रतीत होनेवाला कर्म्म भी यदि शास्त्रदृष्टि से पापप्रद होगा, तो हम उसे अवश्य ही हिंसाकर्म्म कहेंगे। तात्पर्य्य यही हुआ कि, हमारी इन्द्रियों से अनुभूत सुख-दुःख कभी अहिंसा-हिंसा-भावों के व्यवस्थापक न मानें जायंगे। अपितु इन्द्रियातीत पुण्य-पाप संस्कार ही इनके व्यवस्थापक बनेंगे, और यह व्यवस्था एकमात्र शब्दशास्त्र पर ही निर्भर रहेगी। दूसरे

शब्दों में शब्दशास्त्र जिसे हिंसा-अहिंसा कहेगा, (अपने अनुभव से विरुद्ध होते हुए भी) हमें उसे ही हिंसा-अहिंसा मानना पड़ेगा।

यज्ञ में 'पशुपुरोडाश' की आहुति होती है। भगवती के आगे पशु का बलिदान होता है। हमारी ऐन्द्रियक दृष्टि के अनुसार यज्ञ में पशु का वध, तथा भगवती के लिए पशु का बलिदान, दोनों हीं कर्म्म हिंसामय-से प्रतीत हो रहे हैं। हम यह भी अनुभव करते हैं कि, यज्ञियपशु एवं बलिपशु को अत्यधिक कष्ट भी होता है। परन्तु इससे क्या हुआ। चूंकि शास्त्र विधान करता है, दोनों को ही पुण्यप्रद कहता है, अगत्या इस हिंसाकर्म्म को हमें अहिंसाकर्म्म ही मानना पड़ता है। हम जानते हैं कि, इन दोनों हीं दृष्टान्तों से वर्त्तमान युग का सभ्य समाज हमारे ऊपर कुपित होगा। परन्तु हम विवश हैं। किसी व्यक्तिविशेष, अथवा समाज विशेष को प्रसन्न करने के लिए सत्य परिस्थिति पर कभी पर्दा नहीं डाला जा सकता। अवश्य ही यज्ञियपशुवध, एवं बलिदान आज एक जटिल समस्या बन रहा है। कितने एक सनातनधर्म्मी नेता भी इस सम्बन्ध में ऊहापोह करते दिखलाई देते हैं। परन्तु यज्ञियरहस्य, एवं तान्त्रिक उपासना रहस्य के आधार पर हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि, इस सम्बन्ध में हमारे निर्णय का कोई महत्त्व नहीं है। किसी अतीन्द्रिय रहस्य के आधार पर ही शास्त्र ने यह व्यवस्था की है, एवं शास्त्रव्यवस्था ही इस सम्बन्ध में निर्बाध प्रमाण है। वह अतीन्द्रिय रहस्य क्या है? इस प्रश्न का समाधान तो [1]यज्ञग्रन्थों में हीं द्रष्टव्य है। यहाँ इसका दिग्दर्शन कराना भी अप्राकृत, एवं विस्तारजनक होगा। वक्तव्यांश इस सम्बन्ध में केवल यही है कि, 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' का आदर्श उपस्थित करने वाला शास्त्र यदि यज्ञ में पशु-बलि का विधान करता है, तो मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही इस विधान में कोई तथ्य है। भले ही वह अतीन्द्रिय तथ्य हमारी समझ में न आवे, फिर भी हमें नतमस्तक होकर तथ्यानुगत यज्ञादि विधानों को स्वीकार कर लेना चाहिए।

थोड़ी देर के लिए धर्म्मनीति को एक ओर रख कर लोकनीति की दृष्टि से ही हिंसा-अहिंसा का विचार कीजिए। राष्ट्रसमृद्धि के लिए ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शिल्प-वाणिज्य-सेना-शस्त्र आदि सभी साधन आवश्यकरूप से अपेक्षित हैं। इन सभी साधनों को सदा प्रस्तुत

---

१ यज्ञ में पशुपुरोडाश क्यों आवश्यक माना गया है? इस प्रश्न का विशद वैज्ञानिक समाधान 'शतपथ-विज्ञानभाष्या' न्तर्गत 'पुरोडाशब्राह्मण' प्रकरण में देखना चाहिए।

रखना पड़ेगा। प्रकृत में हमें शस्त्रबल का विचार करना है। परराष्ट्रों के आकस्मिक आक्रमणों से अपने राष्ट्र को बचाने के लिए शस्त्र-प्रयोग में निपुण बलवती सेना का सदा सज्जीभूत रहना आवश्यक है। अब प्रश्न यह है कि, यह क्षत्रसमाज ऐसे कौन से साधन का अनुगमन करता रहे, जिससे इसका शस्त्र-प्रयोगाभ्यास सुरक्षित बनां रहे ? क्या निर्दोष मनुष्यों को इसका साधन बनाया जाय ? शास्त्र से पूछिए, वह समाधान करेगा। वन्यहिंस्रक पशुओं का यथावसर संहार, कल्पित पुत्तलिकाओं का अनुगमन, आदि साधनों से, एवं बलि-दान प्रथा से ही हम अपनें शस्त्राभ्यास को सुरक्षित रख सकेंगे। मानव समाज के हित के लिए हमें अवश्य ही इन हिंसा कर्म्मों का समादर करना पड़ेगा। सभी के माला जपने से तो काम नहीं चल सकता। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि, जिन क्षत्रिय वीरों नें अपनें तीक्ष्ण शस्त्रों से शत्रुओं का मर्म्मभेदन किया है, वे सभी चण्डिका-बलि के अनन्योपासक रहे हैं। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य था कि, उसने अवैध अहिंसावाद में पड़ कर युद्ध-काल से अपना शस्त्रबल खो दिया।

समाज को धर्म्म शिक्षा देनेवाला ब्राह्मणवर्ग आध्यात्मिक भावों का अनन्योपासक माना गया है। अपनी इस आध्यात्मिक वृत्ति के कारण ही यह शस्त्रबल से पृथक् रहा है। इसी आधार पर मन्वादि धर्म्माचार्यों नें ब्राह्मण के लिए शस्त्रधारण-कर्म्म निषिद्ध माना है। परन्तु हम देखते हैं कि, स्वयं धर्म्माचार्यों नें आध्यात्मिक-भाव प्रधान इस ब्राह्मणवर्ग के लिए भी समय विशेषों पर शस्त्रबल से काम लेनें का आदेश दिया है। "अराजकता, विप्लव धर्म्महानि आदि विशेष अवसरों पर अध्यात्मवादी ब्राह्मण को भी शस्त्र उठा लेना चाहिए" इस शास्त्रादेश के सामने तो वर्त्तमानयुग की अध्यात्मवादानुगामिनी कल्पित अहिंसा का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। देखिए, समयविशेपज्ञ आचार्य्य क्या कहते हैं—

१—शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्म्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥

२—आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्म्मेण न दुष्यति॥

३—गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

४—नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥
—मनुः ८।३४८ से ३५१ पर्य्यन्त।

कहना न होगा कि, इसी कल्पित अहिंसावाद की विभीषिका से आयुर्वेद की सुप्रसिद्ध 'शल्यचिकित्सा' (सर्जरी) का भी तभी से नाश हो गया। जहाँ हमारे बालबन्धु तक असिधारा से आलिंगन करते थे, वहाँ आज हमारा समाज मूषक शब्द से भी भयत्रस्त होने लगा। कल्पित अहिंसा के मोह में पड़कर आज हम अपना शस्त्रबल एकान्ततः खो बैठे। जिन जातियों में शस्त्रप्रयोगाभ्यास बना हुआ है, उनके साम्मुख्य मात्र से हम कम्पित होने लगे। आज इस कायरवृत्ति ने हमारे पौरुष का सर्वनाश सा कर डाला है। अपनी इसी नपुंसकता से आज हमारे धन-जन-पशु-सन्तति सभी वर्ग एक भयानक खतरे में पड़े हुए हैं। आततायी लोग दिन दहाड़े हमारे सर्वस्व पर आक्रमण कर रहे हैं, और हम अध्यात्मवाद को आगे कर अहिंसा की पुकार के बेसुरे राग आलाप रहे हैं।

अहिंसावादी कहते हैं, आध्यात्मिक अहिंसा से एक दिन अवश्य ही शस्त्रबल को नत होना पड़ता है। ठीक है, सिद्धान्त सार्वजनीन है। आध्यात्मिक शक्ति के आगे तो कोई भी पशुबल विजय प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु प्रश्न यह है कि, क्या समूचा राष्ट्र ज्ञानानुगत इस आध्यात्मिकवाद का एकहेलया अनुगामी बन सकता है ? क्या सम्पूर्ण मानव समाज को एक ही सांचे में ढाला जा सकता है ? असम्भव। न आज तक ऐसा हुआ, न भविष्य में ऐसा होगा। अनन्त वर्षों से धारावाहिक रूप से चला आनेवाला इतिहास इस बात का साक्षी है कि, जब जब भी राष्ट्रों पर आक्रमण हुआ है, तब तब शस्त्रबल से ही उनकी रक्षा हुई है। कल्पनावादी लोग ध्रुव-प्रह्लाद का दृष्टान्त देने लगते हैं। परन्तु उन्हें यह विदित नहीं है कि, ये उदाहरण भक्तिमार्ग से सम्बन्ध रखते हैं। ज्ञान और भक्तिमार्ग में भले ही शस्त्रबल उपेक्षणीय मान लिया जाय, परन्तु बाह्यजगत् से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्ममार्ग कभी इससे वञ्चित नहीं किया जा सकता। वस्तुतस्तु ज्ञानमार्गादि की रक्षा के लिए भी इसी बल का आश्रय लेना पड़ेगा। देवता और असुरों में होनें वाले द्वादश महासंग्राम सत्ययुग की घटना है। यज्ञरक्षार्थ असुरविनाश के लिए विश्वामित्र का भगवान् रामचन्द्र का सहयोग प्राप्त करना त्रेतायुग की घटना है। आततायी दुर्योधन से न्यायप्राप्त अधिकार

प्राप्ति के लिए भगवान कृष्ण की प्रेरणा से होनेवाली पाण्डवयुद्धप्रवृत्ति द्वापरयुग की घटना है। कलियुग की घटनाओं के सम्बन्ध में तो विशेष वक्तव्य है ही नहीं। केवल एकदेशी सिद्धान्त को लेकर अन्य सभी सामयिक सिद्धान्तों की उपेक्षा कर देना कौन सी बुद्धिमानी है। जो शास्त्र हमें 'मा हिंस्यात्' का पाठ पढ़ाता है, वही शास्त्र समय पड़ने पर—

'युद्धाय कृतनिश्चयः'—'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'

कहने में भी कोई संकोच नहीं करता। कहावत प्रसिद्ध है कि—"सभी पालकी में चढ़नेवाले हो जायं, तो पालकी उठावे कौन ?"। सभी तपस्वी-महर्षि-अध्यात्मवादी बन जायं, तो लोक नीति का सञ्चालन कौन करे ? राष्ट्र को एक ओर अध्यात्मवाद की आवश्यकता है, तो दूसरी ओर उसे भूतवाद भी अपेक्षित है।

उक्त कथन से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि, हम इस दृष्टान्त से पशुबलि का समर्थन करना चाहते हैं। अभिप्राय केवल हिंसा-अहिंसाभाव से है। इसके व्यवस्थापक हम नहीं हो सकते। शास्त्र जिस समय जो व्यवस्था करेगा, वही हमारे लिए मान्य होगी। फिर वह व्यवस्था हिंसामयी हो, अथवा अहिंसामयी। इधर कुछ समय से कतिपय वेदभक्तों ने भी प्रवाह में पड़ कर यज्ञिय-पशुपुरोडाश का विरोध कर अपनी अल्पज्ञता का परिचय दे डाला है। परन्तु हम इन वेदभक्तों से पूंछते हैं कि, जब यज्ञप्रतिपादकब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट रूप से पशु-पुरोडाश का विधान मिलता है, एवं निगमानुगत आगमशास्त्र जब बलिविधान कर रहा है, तो वे किस आधार पर इसे बुरा कर्म्म कहने का साहस कर रहे हैं ? हिंसा अहिंसा की परिभाषा उन्होंने कहां से प्राप्त की ? पाप-पुण्य के विवेक का शिक्षण कहां से प्राप्त किया ? शास्त्र से। फिर शास्त्रानुगत व्यवस्थाओं के अनुगमन में क्यों आपत्ति की जाती है ? अवश्य ही यज्ञिय हिंसा प्रत्यक्ष में हिंसा होती हुई भी किसी अतीन्द्रियभाव के कारण अहिंसा ही मानी जायगी, और ऐसी इस हिंसात्मिका अहिंसा को पुण्यप्रदा ही कहा जायगा। देखिए ! इस सम्बन्ध में शास्त्र क्या कहता है—

१—यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥

२—ओषध्यः, पशवो, वृक्षा, स्तिर्यञ्चः, पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः॥

३—मधुपर्के च यज्ञे च पितृ-दैवतकर्म्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः॥

—मनुः ५।३९ से ४१ पर्य्यन्त।

४—यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम्।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि॥

—मनु० ५।३८

५—या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ॥

—मनुः ५।४४।४।

६—यज्ञाय जग्धिर्मांसस्यैष दैवो विधिः स्मृतः।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते॥

—मनुः ५।३१।

७—नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः।
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम्॥

—मनुः ५।३५।

८—कुर्य्याद्घृतपशुं सङ्गे कुर्य्यात् पिष्टपशुं तथा।
न त्वेव वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत् कदाचन॥

—मनुः ५।३७।

सर्वशास्त्रपारङ्गत भगवान् कृष्णद्वैपायन (व्यास) ने भी इस प्रश्न की पर्य्याप्त मीमांसा की है। उन्होंने आरम्भ में यज्ञिय हिंसा को हिंसा मानते हुए पूर्वपक्ष उठाया है कि 'अशुद्धम्'। अर्थात् यज्ञ में पशु-वध करना हिंसा कर्म्म है, अनुचित कर्म्म है। आगे जाकर इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए व्यासमुनि कहते हैं—'इति चेत्-न, शब्दात्'। यज्ञिय हिंसा बुरी है, अशुद्ध है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शास्त्र में इसका विधान है। व्यासदेव का अभिप्राय यही है कि, पाप-पण्यादि अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में एकमात्र शब्दप्रमाण ही

शरण है। वह जिसे हिंसा-अहिंसा कहेगा, वही हिंसा-अहिंसा, हिंसा-अहिंसा मानी जायगी, एवं इस शास्त्रीय विषय में हमारी अनार्षकल्पना का कोई मूल्य न होगा।

लोकदृष्टान्त से भी हिंसा-अहिंसा की व्यवस्था देख लीजिए। हम जानते हैं कि, ऑपरेशन से रोगी को असीम वेदना होती है। यदि हिंसा का 'किसी को किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचाना ही हिंसा है' यही लक्षण माना जायगा, तो इस ऑपरेशन कर्म्म को भी हम हिंसा कर्म्म कहेंगे। परन्तु कोई भी विचारशील इस हिंसा को हिंसा नहीं मानता। यज्ञिय पशुवध पर टीकाटिप्पणी करने वाले उन परमकारुणिकों से हम पूछते हैं कि, लेबोट्रियों में आए दिन निरीह अश्वादि पशुओं के मर्म्मस्थलों में जो सूचिका-प्रवेश कर्म्म किया जाता है, वह कौन सा पुण्य कर्म्म है? मानव समाज अपने स्वार्थ के लिए उन मूक पशुओं के शरीरावयव-विशेषों में सूचिका प्रवेश द्वारा इन्जेक्शन तय्यार करता रहता है। परीक्षा के लिए असंख्य जीवित प्राणी (मेढक आदि) बेदर्दी के साथ चीर-फाड़ दिए जाते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि, आज तक न तो किसी दयालु ने इस कर्म्म को रोकने के लिए कोई अपील ही निकाली, एवं न समाज में इस हिंसा कर्म्म का किसी की ओर से कोई विरोध ही हुआ।

यदि कभी कोई जिज्ञासु उक्त हिंसा कर्म्म के सम्बन्ध में प्रश्न कर बैठता है, तो उसे उत्तर मिलता है कि, "प्राणी-समाज में मनुष्य एक अत्यधिक उपयोगी प्राणी है। इतर प्राणियों की अपेक्षा इसका स्थान ऊंचा है। इसकी सत्ता से इतर प्राणियों की जीवन-यात्रा का निर्वाह होता है। दूसरे शब्दों में मानव-समाज की समृद्धि पर ही इतर प्राणियों का जीवन अवलम्बित है। दूसरी दृष्टि से मनुष्य एक सभ्य-बुद्धिमान् प्राणी है। अतएव अन्य प्राणियों की अपेक्षा इसके जीवन का विशेष मूल्य है। अतएव इसके उपकार के लिए होनेवाला हिंसा कर्म्म बुरा नहीं माना जा सकता"।

इस प्रकार एक एक लेबोट्रियों में होनेवाले असंख्य असंख्य प्राणियों के बलिदान का समर्थन करनेवाले वे सभ्य एवं दयालु जब यज्ञकर्म्म में होनेवाले एक पशु के आलम्भन पर आक्षेप करते हुए लज्जा का अनुभव नहीं करते, तो हमे कहना पड़ता है कि, इन बुद्धिविशारदों का बुद्धिवाद सर्वथा जीर्ण-शीर्ण है। अस्तु शास्त्रीय कर्म्म सदोष हैं, अथवा निर्दोष? इस प्रश्न की मीमांसा का प्रकृत में अवसर नहीं है। कहना केवल यही है कि, केवल बुद्धिवाद के आधार पर ही किसी विषय का निर्णय नहीं किया जा सकता। इसी सम्बन्ध में एक दो दृष्टान्त और भी उपस्थित किए जा सकते हैं।

हम देखते हैं कि, आज कितनें एक ईश्वरभक्त उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखनेवाले वर्णधर्म्मों के उच्चावच अधिकारों को मानवता का कलङ्क मान रहे हैं। साथ ही देवप्रतिमाओं के दर्शन-स्पर्श में ही ये कारुणिक अवरवर्णों का कल्याण समझ रहे हैं। क्या हम उन आस्तिकों से यह पूछ सकते हैं कि, देवप्रतिमा दर्शन से कल्याण होता है, मन्दिरों में प्रतिमारूप से साक्षात् भगवान् विराजमान हैं, इत्यादि बोध उन्हें किसके द्वारा हुआ ? किस आधार पर वे देवप्रतिमोपासना, देवदर्शनादि को लाभप्रद मानने लगे ? शास्त्रप्रमाण के अतिरिक्त उनके पास इन प्रश्नों के समाधान का और कोई उपाय नहीं हो सकता। जब यह विषय शास्त्रसिद्ध है, तो इसके सम्बन्ध में अपनी कल्पना का समावेश करना कौनसी बुद्धिमानी है। शास्त्र ने प्रकृति-सिद्ध नित्य वर्णधर्म्मानुसार उपासना के जो प्रकार बतलाए हैं, तत्तद्वर्णों के लिए जो जो नियमोपनियम बनाए हैं, उनके अनुगमन में हीं भारतीय वर्णसमाज का कल्याण है।

अस्पृश्यताविवेक—

अतीन्द्रिय कर्म्मों को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। प्रत्यक्ष दृष्ट लौकिक व्यवहारों पर ही दृष्टि डालिए। लौकिक व्यवहारों के निर्णय में भी हमे पद पद पर शब्दप्रमाण का ही आश्रय लेना पड़ता है। हम जानते हैं कि, काष्ठौषधि—विक्रेता एक पन्सारी विद्वान् नहीं है। परन्तु हम देखते हैं कि, विद्वान्-अविद्वान सभी व्यक्ति केवल उसके वचन पर विश्वास करके गिलोय-अकरकरा-वंशलोचन-वच आदि के नाम से जो वस्तुएं वह दे देता है, बिना नचनुच के ले आते हैं। यह घोड़ा है, यह हाथी है, यह मनुष्य है, यह पशु है, यह पक्षी है, इत्यादि सम्पूर्ण पदार्थबोध वृद्धव्यवहारमूलक एकमात्र शब्दप्रमाण पर ही निर्भर है। इन लोक-व्यवहारों के सम्बन्ध मे हम कभी परीक्षा करने के लिए तय्यार नहीं होते।

लौकिकदृष्टि और शब्दप्रमाण—

परीक्षा करना अच्छा है, साथ ही परीक्षा करने से आत्मविश्वास भी पूर्व की अपेक्षा दृढ़मूल बनता है। और इसी दृष्टि से परीक्षकों नें परीक्षा को उत्कृष्ट साधन माना है। यह सब कुछ ठीक है। परन्तु परीक्षा-क्षेत्र में सभी को समानाधिकार नहीं है। सर्वसाधारण व्यक्ति कभी परीक्षा करने की योग्यता नहीं रखते। फिर अतीन्द्रिय पदार्थों की परीक्षा के सम्बन्ध में तो आर्षदृष्टिशून्य, केवल शब्दज्ञानानुगामी विद्वान् भी सर्वसाधारण की कोटि में ही प्रविष्ट हैं। यदि हमारी यह भावना हो जाय कि, हम तो पहिले परीक्षा कर लेंगे, तब परीक्ष्य कर्म्म का अनुगमन करेंगे। समझलेंगे, तब अनुष्ठान करेंगे, तो निश्चयेन हमारा जीवन ही कठिन हो जाय। आचरणदशा मे—'पहिले परीक्षा करेंगे, तभी काम में लेंगे' यह सिद्धान्त

सर्वथा निष्फल है। शास्त्र की आज्ञा है कि, द्विजाति को प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिए। अब कोई बुद्धिवादी यह संकल्प कर बैठे कि "जबतक मैं सन्ध्या का मौलिक रहस्य न समझलूगा, तबतक सन्ध्या न करूंगा" तो सम्भवतः जीवनपर्य्यन्त उसे सन्ध्या करने का अवसर न मिलेगा, और ऐसे अभिनिवेश में पड़ कर यह सन्ध्या जैसे आवश्यक कर्म्म से वञ्चित रह जायगा। सभी तो रहस्यवेत्ता नहीं होते। सर्वत्र ही तो रहस्योपदेशक उपलब्ध नहीं होते। सभी तो रहस्य ज्ञान के पात्र नहीं होते। जिन्हें रहस्य ज्ञान की जिज्ञासा है, वे सद्बुद्धिपूर्वक अन्वेषण करते रहें, परन्तु साथ साथ शास्त्र पर विश्वास कर कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहें। आत्मकल्याण का इस से उत्कृष्ट और कोई मार्ग नहीं हो सकता। वस्तुतस्तु आजकल जिन महानुभावों नें परीक्षा शब्द को आगे रख रक्खा है, दूसरे शब्दों में जो महानुभाव पदे पदे शास्त्रीय आदेशों के सम्बन्ध में—'हम तो समझलेंगे, तब करेंगे' यह उद्घोष करते दिखलाई देते हैं, उनको कुछ भी करना धरना नहीं है। वेशभूषाविन्यास, सेवाधर्म्म, अतिशय विनोदप्रियता आदि नित्यकर्म्मों से ही जब इन महानुभावों को समय नहीं मिलता, तो शास्त्रीय कर्म्मों का अनुष्ठान ये कब करेंगे। दुर्भाग्य से इनका जन्म एक ऐसे आस्तिक-समाज में हो गया है, जिसकी शास्त्रनिष्ठा सनातनकाल से निर्बाधरूप से चली आ रही है। बिना शास्त्रीय कर्म्म के अनुष्ठान के इन्हें आस्तिक समाज की भर्त्सना सहनी पड़ती है। और इसी से बचने के लिए इन्हों नें परीक्षा का बहाना निकाल रक्खा है। यदि विश्वास न हो, तो परीक्षा कर देखिए। रहस्यज्ञान हो जाने पर भी ये महानुभाव सिवाय हां-हां के और कोई पुरुषार्थ न दिखला सकेंगे। अब बतलाइए, इन जिज्ञासुओं की परीक्षा-प्रणाली का क्या महत्त्व रहा? यदि हमें सचमुच में हमारा कल्याण अभीष्ट है, तो हमें आरम्भ में श्रद्धा-विश्वासपूर्वक केवल शब्दप्रमाण के आधार पर ही कर्त्तव्य-कर्म्मों में प्रवृत्त हो जाना पड़ेगा, और तभी हम अभ्युदय-निःश्रेयस के अधिकारी बन सकेंगे। लक्षणैकचक्षुष्कता का प्राथम्य ही लक्ष्यैकचक्षुष्कता की सिद्धि का अन्यतम द्वार है।

निष्कर्ष कहने का यही है कि, कर्म्म-योग के निर्णय के सम्बन्ध में—हमें किस समय क्या करना चाहिए? कौन सा कर्म्म श्रेयस्कर है, एवं कौन सा कर्म्म प्रेयस्कर है? इस जिज्ञासा में मानवीय बुद्धि का निर्णय सर्वथा परास्त है। इस सम्बन्ध में भारतीय प्रजा के लिए तो एकमात्र शास्त्र-प्रमाण ही प्रधान निर्णायक है। हम अपनी कल्पना से किसी कर्म्म का

निर्णय नहीं कर सकते। प्रत्येक दशा में हमें शास्त्रादेश का ही अनुगमन करना पड़ेगा, और यही हमारे कल्याण का मूलसूत्र होगा।

हिन्दू-धर्म्मशास्त्र ही हिन्दू-जाति का, आर्य्यप्रजा का सर्वस्व है। यही इसका कर्म्मनिर्णायक है। अखिल ब्रह्माण्ड के गुप्त प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर कर्म्ममार्ग की व्यवस्था करने वाला भारतीय शास्त्र यदि महाविशाल बन जाय, तो इस में कौन सा आश्चर्य है। इस अल्पकाय परिलेख में शास्त्रों में प्रतिपादित समस्त कर्म्मकलाप का आनुपूर्व्वी से दिग्दर्शन भी तो नहीं कराया जा सकता। ऐसी दशा में इतर (स्मार्त्त) शास्त्रों का विशेष विचार न करते हुए प्रधान रूप से वेदशास्त्र सिद्ध कर्म्मकलाप का ही संक्षिप्त निदर्शन कराना सामयिक, तथा समीचीन प्रतीत होता है।

वेदशास्त्रकी प्रामाणिकता—

भारतीय-प्रजा का सम्पूर्ण कर्म्मकलाप, सम्पूर्ण धर्म्मकृत्य परम्परया एकमात्र वेदशास्त्र पर ही निर्भर है। मनु-याज्ञवल्क्य-वशिष्ठ-अत्रि हारीत-शङ्ख-लिखित-गोतम बृहस्पति-सम्वर्त्त-बृहस्पति-पराशर आदि आप्त पुरुषों द्वारा निर्म्मित 'स्मृतिशास्त्र', निर्णयसिन्धु, धर्म्मसिन्धु, आचारकल्प, शुद्धिविवेक, श्राद्धमयूख, आचारादर्श, वर्षक्रियाकौमुदी, हारलता, तीर्थचिन्तामणि, चतुर्वर्गचिन्तामणि, वर्षक्रियाकौमुदी, विधानपारिजात, आदि 'निबन्ध-ग्रन्थ' शारीरक, प्राधानिक, वैशेषिक, तार्किक, मीमांसक आदि 'दर्शनतन्त्र', अङ्गभूत इन सभी इतर शास्त्रों की प्रामाणिकता अङ्गीभूत वेदशास्त्र-प्रमाण पर ही निर्भर है। वेदातिरिक्त सम्पूर्ण शास्त्र वेदप्रामाण्य की अपेक्षा रखते हुए जहाँ 'परत-प्रमाण' कोटि में निविष्ट हैं, वहाँ अपने प्रत्यक्षदृष्ट असंदिग्धार्थभाव के कारण अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य शास्त्र की अपेक्षा न रखता हुआ वेदशास्त्र 'स्वत.प्रमाण' है। परतः प्रमाणरूप मन्वादि शास्त्र वेदानुकूल हैं, सब स्मार्त्त आदेशों का मूल वेद में उपलब्ध होता है, इसी लिए ये शास्त्र प्रामाणिक माने जाते हैं। जो स्मृति, जो निबन्ध, जो दर्शन, वेदविरुद्ध है, वह सर्वथा त्याज्य है, नितान्त उपेक्षणीय है। इसी आधार पर हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि, भारतवर्ष का स्वतः प्रमाणरूप, सर्वमूलभूत, अतएव सर्वादि-शास्त्र यदि कोई शास्त्र है, तो वह एकमात्र वेदशास्त्र ही है। यदि किसी शास्त्र को ईश्वरप्रणीत होने का गर्व है, तो वह एकमात्र अपौरुषेय वेदशास्त्र ही है।

'वेद पौरुषेय है ? अथवा अपौरुषेय ? दूसरे शब्दों में वेदमन्त्र ईश्वर की रचना है ? अथवा महर्षियों की रचना ?' यह एक निर्णीत विषय बनता हुआ भी वर्त्तमानयुग के लिए विवादग्रस्त विषय है। कितने एक दार्शनिकों की दृष्टि में वेद अपौरुषेय है, एवं कितने एक वैज्ञानिक ग्रन्थरूप इस वेदमन्त्रराशि को पौरुषेय मानते हैं। जो कुछ हो, यह निर्विवाद है कि, वेद की सत्यता में आर्यसन्तान को न कभी सन्देह हुआ, न आज सन्देह है, एवं न भविष्य में ही सन्देह होगा। बीसवीं शताब्दी जैसे आज के इस भयङ्करयुग में भी वेदशास्त्र पर सर्वसाधारण की अनन्यनिष्ठा देखी सुनी जाती है। जिस व्यक्ति ने यावज्जीवन पश्चिमी-शिक्षा-समुद्र में ही सन्तरण किया है, भारतीय प्रजा का क्या धर्म्म है ? भारतीय शास्त्र कौन कौन से हैं ? जिसे यह भी बोध नहीं है, उच्छिष्टभोगी ऐसा पंथभ्रष्ट भारतीय भी वेद-शास्त्र के सामने नतमस्तक होता देखा गया है। स्वयं पश्चिमी विद्वान् भी वेद की सत्यता पर विश्वास करने मे कोई संकोच नहीं करते।

नवीन विचारवाले शिक्षित महानुभावों के सम्मुख जब कभी धर्म्मादेशों के सम्बन्ध में मन्वादि स्मार्त्त-धर्म्मों की चर्चा का अवसर आता है, तो वे उसका उपहास करने लगते हैं। स्मार्त्त-आदेशों के सम्बन्ध में इन बुद्धिवादियों के ये ही उद्गार निकलते हैं कि,—"जब मनु-याज्ञवल्क्यादि स्मृतिकार हमारे जैसे ही मनुष्य थे, तो बिना तर्क की कसौटी पर कसे क्यों अन्धश्रद्धा से उनके कथन पर विश्वास किया जाय। फिर समयानुसार स्मृतियाँ बदलतीं भी तो रहतीं हैं। सम्भव है, उस अतीत युग में उनका कोई उपयोग रहा हो। परन्तु आज तो इनका अणुमात्र भी महत्त्व नहीं रहा।" कहना न होगा कि, इस प्रकार स्मार्त्त-ग्रन्थों की अवहेलना करने वाले महानुभावों के सामने भी जब वेद का आदेश उपस्थित होता है, तो थोड़ी देर के लिए ये सहम जाते हैं। वेद-प्रामाण्य के आगे इन्हें भी अपने तर्कवाद का अव-रोध करना पड़ता है।

भारतवर्ष में अनेक मत हैं, अनेक सम्प्रदाएँ हैं, अनेक आचार हैं, ज्ञान-कर्म्म-उपासना के अनेक प्रकार हैं।' परन्तु इन सब का मूल वेद में उपलब्ध होता है, अतएव ये सभी विभिन्न मार्ग हमारे लिए मान्य हैं। 'श्रीमद्भगवद्गीता' जैसा अलौकिक ग्रन्थ, भारत की कौन कहे,

---

[1] इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' प्रथमखण्ड के 'क्या उपनि-षत् वेद है ?' इस अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

निर्णय नहीं कर सकते। प्रत्येक दशा में हमें शास्त्रादेश का ही अनुगमन करना पड़ेगा, और यही हमारे कल्याण का मूलसूत्र होगा।

हिन्दू-धर्मशास्त्र ही हिन्दू-जाति का, आर्य्यप्रजा का सर्वस्व है। यही इसका कर्म्मनिर्णायक है। अखिल ब्रह्माण्ड के गुप्त प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर कर्म्ममार्ग की व्यवस्था करने वाला भारतीय शास्त्र यदि महाविशाल बन जाय, तो इस में कौन सा आश्चर्य है। इस अल्पकाय परिलेख में शास्त्रों में प्रतिपादित समस्त कर्म्मकलाप का आनुपूर्वी से दिग्दर्शन भी तो नहीं कराया जा सकता। ऐसी दशा में इतर (स्मार्त्त) शास्त्रों का विशेष विचार न करते हुए प्रधान रूप से वेदशास्त्र सिद्ध कर्म्मकलाप का ही संक्षिप्त निदर्शन कराना सामयिक, तथा समीचीन प्रतीत होता है।

वेदशास्त्रकी प्रामाणिकता—

भारतीय-प्रजा का सम्पूर्ण कर्म्मकलाप, सम्पूर्ण धर्म्मकृत्य परम्परया एकमात्र वेदशास्त्र पर ही निर्भर है। मनु-याज्ञवल्क्य-वशिष्ठ-अत्रि-हारीत-शङ्ख-लिखित-गोतम बृहस्पति-सम्वर्त्त-बृहस्पति-पराशर आदि आप्त पुरुषों द्वारा निर्म्मित 'स्मृतिशास्त्र', निर्णयसिन्धु, धर्म्मसिन्धु, आचारकल्प, शुद्धिविवेक, श्राद्धमयूख, आचारादर्श, वर्षक्रियाकौमुदी, हादलता, तीर्थचिन्तामणि, चतुर्वर्गचिन्तामणि, वर्षक्रियाकौमुदी, विधानपारिजात, आदि 'निबन्ध-ग्रन्थ' शारीरक, प्राधानिक, वैशेषिक, तार्किक, मीमांसक आदि 'दर्शनतन्त्र', अङ्गभूत इन सभी इतर शास्त्रों की प्रामाणिकता अङ्गीभूत वेदशास्त्र-प्रमाण पर ही निर्भर है। वेदातिरिक्त सम्पूर्ण शास्त्र वेदप्रामाण्य की अपेक्षा रखते हुए जहाँ 'परत-प्रमाण' कोटि में निविष्ट हैं, वहाँ अपने प्रत्यक्षदृष्ट असंदिग्धार्थभाव के कारण अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य शास्त्र की अपेक्षा न रखता हुआ वेदशास्त्र 'स्वत.प्रमाण' है। परतः प्रमाणरूप मन्वादि शास्त्र वेदानुकूल हैं; सब स्मार्त्त आदेशों का मूल वेद में उपलब्ध होता है, इसी लिए ये शास्त्र प्रामाणिक माने जाते हैं। जो स्मृति, जो निबन्ध, जो दर्शन, वेदविरुद्ध है, वह सर्वथा त्याज्य है, नितान्त उपेक्षणीय है। इसी आधार पर हमें इस निश्चय पर पहुँचना पडता है कि, भारतवर्ष का स्वतः प्रमाणरूप, सर्वमूलभूत, अतएव सर्वादि-शास्त्र यदि कोई शास्त्र है, तो वह एकमात्र वेदशास्त्र ही है। यदि किसी शास्त्र को ईश्वरप्रणीत होने का गर्व है, तो वह एकमात्र अपौरुषेय वेदशास्त्र ही है।

'वेद पौरुषेय है ? अथवा अपौरुषेय ? दूसरे शब्दों में वेदमन्त्र ईश्वर की रचना है ? अथवा महर्षियों की रचना ? यह एक निर्णीत विषय बनता हुआ भी वर्त्तमानयुग के लिए विवादग्रस्त विषय है। कितनें एक दार्शनिकों की दृष्टि में वेद अपौरुषेय है, एवं कितनें एक वैज्ञानिक ग्रन्थरूप इस वेदमन्त्रराशि को पौरुषेय मानते हैं। जो कुछ हो, यह निर्विवाद है कि, वेद की सत्यता में आर्यसन्तान को न कभी सन्देह हुआ, न आज सन्देह है, एवं न भविष्य में ही सन्देह होगा। बीसवीं शताब्दी जैसे आज:के इस भयङ्करयुग में भी वेदशास्त्र पर सर्वसाधारण की अनन्यनिष्ठा देखी सुनी जाती है। जिस व्यक्ति ने यावज्जीवन पश्चिमी-शिक्षा-समुद्र में ही सन्तरण किया है, भारतीय प्रजा का क्या धर्म्म है ? भारतीय शास्त्र कौन कौन से हैं ? जिसे यह भी बोध नहीं है, उच्छिष्टभोगी ऐसा पंथभ्रष्ट भारतीय भी वेद-शास्त्र के सामने नतमस्तक होता देखा गया है। स्वयं पश्चिमी विद्वान् भी वेद की सत्यता पर विश्वास करने में कोई संकोच नहीं करते।

नवीन विचारवाले शिक्षित महानुभावों के सम्मुख जब कभी धर्म्मादेशों के सम्बन्ध में मन्वादि स्मार्त्त-धर्म्मों की चर्चा का अवसर आता है, तो वे उसका उपहास करने लगते हैं। स्मार्त्त-आदेशों के सम्बन्ध में इन बुद्धिवादियों के ये ही उद्गार निकलते हैं कि,—"जब मनु-याज्ञवल्क्यादि स्मृतिकार हमारे जैसे ही मनुष्य थे, तो बिना तर्क की कसौटी पर कसे क्यों अन्धश्रद्धा से उनके कथन पर विश्वास किया जाय। फिर समयानुसार स्मृतियां बदलतीं भी तो रहतीं हैं। सम्भव है, उस अतीत युग में उनका कोई उपयोग रहा हो। परन्तु आज तो इनका अणुमात्र भी महत्त्व नहीं रहा।" कहना न होगा कि, इस प्रकार स्मार्त्त-ग्रन्थों की अवहेलना करने वाले महानुभावों के सामने भी जब वेद का आदेश उपस्थित होता है, तो थोड़ी देर के लिए ये सहम जाते हैं। वेद-प्रामाण्य के आगे इन्हें भी अपने तर्कवाद का अव-रोध करना पड़ता है।

भारतवर्ष में अनेक मत हैं, अनेक सम्प्रदाएँ हैं, अनेक आचार हैं, ज्ञान-कर्म्म-उपासना के अनेक प्रकार हैं। परन्तु इन सब का मूल वेद में उपलब्ध होता है, अतएव ये सभी विभिन्न मार्ग हमारे लिए मान्य हैं। 'श्रीमद्भगवद्गीता' जैसा अलौकिक ग्रन्थ, भारत की कौन कहे,

---

[1] इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' प्रथमखण्ड के 'क्या उपनि-षत् वेद है ?' इस अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

समस्त भूमण्डल में दूसरा नहीं है। ईश्वर के पूर्णावतार साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् कृष्ण के मुखपङ्कज से विनिःसृत है। परन्तु केवल इसी अतिशय के कारण गीताग्रन्थ प्रमाण नहीं माना जाता। अपितु गीता वेदोपबृंहिका है, वेदसम्मत है, इसलिए गीता प्रमाणभूत मानी गई है। स्वस्वरूप से स्वतःप्रमाणकोटि में रहती हुई भी गीता वेदप्रामाण्य की अपेक्षा रखती हुई परतः प्रमाणकोटि में आकर 'स्मार्त्ती उपनिषत्' ही कहलाई है। गीता के रचयिता स्वयं भगवान् कृष्ण वेदशास्त्र की प्रामाणिकता स्वीकार करते हुए, उसी के अनुसार कर्त्तव्य-कर्म्म के अनुगमन का आदेश दे रहे हैं। अहर्निश गीता का पारायण करनेवाले गीता भक्तों की दृष्टि से निम्न लिखित भगवदादेश सम्भवतः तिरोहित न रहा होगा—

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
> तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
> ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि॥
>
> —गी० १६।२३-२४।

स्पष्ट शब्दों मे भगवान् आदेश कर रहे हैं कि,—"जो व्यक्ति शास्त्रोक्त पद्धति को छोड कर अपनी यथेच्छा से कर्म्मवाद की कल्पना करता हुआ स्वबुद्धि से कल्पित, इन अशास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त होता है वह कभी अपने इन कल्पित कर्म्मों मे सफल नहीं हो सकता। न उसे सुख (ऐहलौकिक भौतिक सुख) ही मिल सकता, एवं न परागति (पारलौकिक आनन्द, आत्ममुक्ति) ही प्राप्त कर सकता। अर्थात् अशास्त्रीय, तथा शास्त्रविरुद्ध अकर्म्म (निरर्थक-कर्म्म)-विकर्म्मों (निषिद्ध कर्म्मों) का अनुगामी पुरुष कर्म्म में सफलता भी प्राप्त नहीं कर सकता, एवं न उसे 'अभ्युदय' नामक ऐहलौकिक सासारिक सुख मिल सकता, न 'निःश्रेयस' नामक पारलौकिक शाश्वत आनन्द का ही वह अधिकारी बनने पाता। ऐसी दशा मे उभयविध कल्याण के इच्छुक व्यक्ति को चाहिए कि, वह अपनी कार्य्य-अकार्य्य की व्यवस्था में, हमें कौन सा कार्य्य करना चाहिए, कौन सा कार्य्य नहीं करना चाहिए, इस सम्बन्ध मे (अपनी कल्पना से काम न लेकर) शास्त्र को ही प्रमाण बनावे। प्रत्येक दशा में वह शास्त्र-विधानोक्त कर्म्म का ही अनुष्ठान करे। जो गीताभक्त गीताभक्ति का डिण्डिमघोष करते हुए

भी भारतीय मन्वादि शास्त्रों का मखौल उड़ाया करते हैं, उन्हें सद्बुद्धि प्रदान करने के लिए क्या उक्त गीतावचन पर्य्याप्त नहीं है ?

अस्तु. कहना यही है कि, भारतीय कर्म्मवाद का मूलाधार वेदशास्त्र ही है। शुद्धोदन के पुत्र शाक्यसिंह ईश्वर के अवतार थे, अहिंसा, भूतदया आदि सात्विकभावों के उपदेष्टा थे, यह सब कुछ होने पर भी आर्यप्रजा के इसलिए उनका कथन प्रामाणिक न बन सका कि, उनके कथन में स्थान स्थान में वेद-सिद्धान्तों की निन्दा हुई। अतएव आगे जाकर बुद्ध-मत को 'नास्तिकमत' कह कर उसकी एकान्ततः उपेक्षा कर दी गई। चाहे कोई भी मत हो, लोकप्रतिष्ठा-प्राप्त बड़े बड़े से व्यक्ति का ही चाहे आदेश हो, यदि वह वेदशास्त्र विरुद्ध है, तो भारतीय आस्तिक प्रजा के लिए वह सर्वथा अनुपादेय है, त्याज्य है, उपेक्षणीय है। पश्चिमी विद्वान्, एवं इनके अनुयायी कतिपय भारतीय विद्वान् भारतीय धर्म्मवाद पर यह आक्षेप लगाया करते हैं कि, "भारतीयों का न कोई एक मत है, न कोई एक शास्त्र है। अनेक मत-वाद, एवं इन अनेक मतवादों के पोषक अनेक शास्त्र। साथ ही में सब मतवाद, तथा सब शास्त्र परस्पर में विरुद्ध सिद्धान्तों का समर्थन करनेवाले। इन्हीं भेदवादों से भारतवर्ष का राष्ट्र-दृष्टि से समन्वय न हो सका, राष्ट्र एकसूत्र में सुसंघठित न हो सका"।

इस प्रकार भारतीय तत्त्ववाद का अध्ययन न करने वाले कल्पनारसिक प्रौढिवाद में पड़ कर यह भूल जाते हैं कि, नाना मतों को मानता हुआ भी भारतवर्ष एक ही वेदसूत्र में बद्ध होता हुआ अभिन्न-धरातल पर प्रतिष्ठित है। प्रजावर्ग की स्थिति का विचार कीजिए। सभी प्रजाजनों के विचार एकहेलया परस्पर में कभी समान नहीं हो सकते। एक राष्ट्र में रहने वाले असंख्य प्रजाजनों के कर्म्म वैयक्तिक योग्यता, शक्ति, गुण, प्रकृति के भेद से परस्पर में सर्वथा विभक्त हैं। सब एक ही काम नहीं करते, नहीं कर सकते। नानाभाव से नित्य आक्रान्त, त्रिगुणभावापन्न, कर्म्ममय विश्व में एकत्त्व की स्थापना बन ही नहीं सकती। इस प्रकार अपने अपने, नियत, भिन्न भिन्न कर्म्मों में संलग्न प्रजाजन पारस्परिक भेद की उपासना करते हुए भी राष्ट्र एवं राष्ट्रपति राजा के अनुगामी बने हुए हैं। राजा सब का आराध्य प्रभु है, राजनीति-सूत्र उसका शासन दण्ड है। इस एक सूत्र में बद्ध प्रजाजन स्व स्व कर्म्म में रत रहते हुए निर्विरोधरूप से राष्ट्र का हितसाधन कर रहे हैं। ठीक इसी तरह सनातन धर्म्मान्तर्गत सम्पूर्ण सम्प्रदाएं, सम्पूर्ण मतवाद अनादिकाल से चले आने वाले वेदशास्त्ररूप सम्राट् के अनुशासन से अनुशासित रहते हुए सर्वथा प्रामाणिक हैं। वेदशास्त्ररूप एक, अभिन्न धरातल पर गुणत्रय-भेदभिन्न सम्प्रदायवाद प्रतिष्ठित है। भेदसहिष्णु अभेद ही

हमारा मूलमन्त्र है। एवं भारतीय धर्म्म, किंवा भारतीय कर्म्मवाद का यही सर्वोत्कर्ष है। निम्न लिखित मनु-वचन धर्म्म के इसी महत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए वेदशास्त्र का यशोगान कर रहे हैं—

१—यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्म्मणाम्।
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः॥

२—चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भवच्चैव सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥
—मनुः १२।९७।

३—वैदिके कर्म्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ॥
—मनुः १२।८७।

४—पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥
—मनुः १२।९४।

५—या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
मनुः १२।९५।

६—शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः॥
मनुः १२।९८।

७—बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥
—मनुः १२।९९।

८—सर्वेपां तु सनामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्म्ममे॥

मनुः १।२१।

९—वेदोदितं स्वकं कर्म्म नित्यं कुर्य्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥

मनुः ४।१४।

१०—श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्म्मसु।
धर्म्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥

मनुः ४।१५५।

११—वेदप्रणिहितो धर्म्मो ह्यधर्म्मस्तद् विपर्य्ययः॥

१—इष्टि, पशु, सोम, अति, महा आदि सम्पूर्ण यज्ञों का, सम्पूर्ण तप.कर्म्मों का, एवं दान, इष्ट, आपूर्त, दत्तादि, अन्यान्य सम्पूर्ण शुभ कर्म्मों का द्विजातिमात्र के लिए एकमात्र वेद ही सर्वोत्कृष्ट नि.श्रेयस—साधक है।

२—चारों वर्ण, तीनों लोक, आश्रम, अतीत, वर्तमान, आगामी, सब कुछ वेद से ही सिद्ध होता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पूपा भेद भिन्न चारों वर्णों की उत्पत्ति भी वेद से (तत्त्वात्मक मौलिक वेद से) ही हुई है, एवं इन चारों वीर्य्यात्मक वर्णों से कृतात्मा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र नामक चारों वर्णों के कर्त्तव्य-कर्म्मों की सिद्धि (अनुष्ठान-इति-कर्त्तव्यता) भी वेदशास्त्र (तत्त्ववेदनिरूपक शब्दात्मक वेदशास्त्र) से हुई है। इसी प्रकार पृथिवी अन्तरिक्ष-द्यौ इन तीनों लोकों की उत्पत्ति भी क्रमशः तत्त्वात्मक अग्निमय-ऋग्वेद, वायुमय यजुर्वेद, आदित्यमय सामवेद से ही हुई है, एवं लोकों की स्वरूप-रक्षा भी तत्त्वात्मिका वेदत्रयी से होने वाले यज्ञ से ही हो रही है, जो कि लोकयज्ञ 'सम्वत्सरयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ज्ञानचर्य्यात्मक ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थकर्म्मात्मक गृहस्थाश्रम, ज्ञानोपयिक वन्यकर्म्मात्मक वानप्रस्थाश्रम, तथा ज्ञानप्रधान सन्यासाश्रम, इन चारों आश्रमों की इति-कर्त्तव्यता भी मन्त्रवेदानुगत विधि-आरण्यक-उपनिषद्रूप ब्राह्मणवेद से ही सम्पन्न हुई है। निष्कर्षतः सब कुछ वेद से ही सिद्ध हुआ है।

३—ऐहिक आमुष्मिक कल्याण के सम्पादक जितने भी कर्म्म हैं, वे सब वैदिक (वेदोक्त) कर्म्मयोग में उन उन विशेष क्रिया-विधियों में अन्तर्भूत हैं। यज्ञ-दान-तप-इष्ट-आपूर्त-दत्त-लक्षण प्रवृत्ति-कर्म्म, एवं निवृत्ति-कर्म्म सभी का वेदोक्त कर्म्मयोग में अन्तर्भाव है। जैसा कि—

'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति-यज्ञेन, तपसा, दानेन, नाशकेनेति'

इत्यादि श्रुति से भी स्पष्ट है।

४—सूर्य्यात्मक द्युलोकस्थ, हव्यग्रहण करने वाले सौर प्राणदेवता, चन्द्रात्मक-अन्तरिक्ष-लोकस्थ, कव्य ग्रहण करने वाले चान्द्र पितर, एवं अग्न्यात्मक-पृथिवीलोकस्थित, अन्नग्रहण करने वाले मनुष्य, इन सब का चक्षु सनातन वेदतत्त्व है। यही इनके लिए परत:प्रमाण विरहित स्वत:प्रमाणरूप पथप्रदर्शक है। यह वेदशास्त्र सनातन होने से ही अशक्य हमारी बुद्धि से परे है, अर्थात् अपौरुषेय है। हमारे प्रमाज्ञान से परे की वस्तु है। अर्थात् वेदप्रमाण के सम्बन्ध में किसी प्रकार के ऊहापोह का अवसर नहीं है। वह हमारे लिए एक सर्वथा निश्चित-निर्भ्रान्त प्रमाण है।

५—जो स्मृतियाँ वेदप्रतिपादित तत्त्वों का अनुसरण नहीं करतीं, अथवा जो स्मृतियाँ वेद से विरुद्ध जाती हैं, जो इतर शब्दप्रपञ्च (चार्वाकादि सिद्धान्त-प्रतिपादक नास्तिकशास्त्र) वेदोदित मार्ग से विरुद्ध जाते हुए वेदमार्गानुगामी के लिए कुदृष्टि-स्थानीय बने हुए हैं, वे सब इस लिए निरर्थक समझने चाहिए कि, इन वेदविरुद्ध तन्त्रों के अनुगमन से नरकादि असत्-फल प्राप्त होते है।

६—सत्त्व-रज-तमोगुणात्मक प्रसूति-धर्म्मभेद से वेदतत्त्व से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध नाम की पञ्चतन्मात्रों का विकास हुआ है। प्राणमूर्त्ति ब्रह्मा-क्षर से सर्वप्रथम 'विश्वसृट्' नामक पांच प्राणादि का विकास होता है। इनसे 'पञ्चजनों' का विकास होता है। पांच पंचजनों में से प्राणात्मक प्रथम पञ्चजन से 'वेद' नामक पहिले 'पुरञ्जन' का विकास होता है। यही वेदनामक पुरञ्जन पञ्चतन्मात्रों का प्रवर्त्तक बनता है।

७—यह वेदशास्त्र ही अपनी स्वाभाविक यज्ञप्रक्रिया के द्वारा सम्पूर्ण भूतों की प्रतिष्ठा का कारण बनता है। इसी आधार पर सर्वभूत-प्रतिष्ठारूप इस वेदशास्त्र को हम (मनु) उस पुरुष के कर्त्तव्य-कर्म्म के लिए उत्कृष्ट साधन मानते हैं, जो कि वेदोक्त कर्म्म का अधिकारी है।

८—वेद ने जिस वर्ण के लिए जिन विशेष कर्म्मों का विधान किया है, वह वर्ण निरालस बन कर उन्हीं वेदोक्त वर्णानुगत स्वधर्म्मरूप स्वकर्म्मों का यथाविधि अनुगमन करता

रहे। वेदोदित स्वकर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ, यथाशक्ति उनका अनुगमन करता हुआ आस्तिक उत्कृष्ट गति प्राप्त करता है।

९—देवता-पितर-गन्धर्व-मनुष्य-अश्व-अश्वत्थ आदि आदि जितनें भी नाम सुने जाते हैं, उन नामों का (नामों से परिगृहीत यथयावत् जड़-चेतन पदार्थों का) निर्म्माण भी वेदशब्दों से ही हुआ है, एवं तत्तन्नामोपाधियुक्त तत्तत् पदार्थों के तत्तत् कर्म्मों की व्यवस्था भी वेद से ही हुई है। सप्तपुरुष-पुरुषात्मक चित्यप्रजापति ने त्रयीप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर इस त्रयी से ही लोक-प्रजा-नाम-कर्म्म आदि आदि भिन्न भिन्न संस्थाओं का स्वरूप निर्म्माण किया है।

१०—श्रुति-स्मृतियों में सम्यक्रूप से प्रतिपादित, अपने अपने नियत कर्म्मों में प्रतिष्ठित जो धर्म्म का मूल है, वर्णप्रजा का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह उसका निरालस बन कर अनुगमन करे, साथ साथ वेदमार्गानुगामी साधु पुरुषों के सदाचार को अपना आदर्श बनावे।

११—स्वकर्त्तव्य-कर्म्मों का निर्णय करते हुए वेदशास्त्र नें जिन कर्म्मों की अधिकारी भेद से व्यवस्था की है, स्वधर्म्मलक्षण, वेदप्रतिपादित वे व्यवस्थित कर्म्म हीं 'धर्म्म' कहलाएंगे, एवं इनसे अतिरिक्त विहिताप्रतिपिद्ध, तथा प्रतिपिद्ध यथयावत् कर्म्म 'अधर्म्म' कहलाएंगें। वेद जिनके अनुष्ठान की आज्ञा दे, वही धर्म्म, वेद जिनका निपेध करता है, वे सब अधर्म्म, एवं न तो वेद जिनका विधान करता है, एवं न वेद जिनकी आज्ञा देता है, वे सब भी अधर्म्म, धर्म्म-अधर्म्म की यही निश्चित परिभापा है। इस परिभापा के अनुसार धर्म्मा-धर्म्म, किंवा कर्त्तव्या-कर्त्तव्य के सम्बन्ध में एकमात्र वेदशास्त्र ही अपवादरहित निर्भ्रान्त प्रमाण है।

अब इस सम्बन्ध में विशेप कहने की कोई आवश्यकता न रह गई है कि, कर्म्ममार्ग की जटिलता से त्राण पाने का अन्यतम मार्ग एकमात्र वेदशास्त्र का अनुगमन ही है। वेदप्रतिपादित कर्म्ममार्ग के अनुगमन से, कर्म्ममार्ग में उपस्थित होनेवाली अड़चनें स्वतएव पलायित हो जाती हैं। हम जब अपनी इन्द्रियानुगता स्थूल बुद्धि से कर्म्मजाल का निर्णय करने बैठ जाते हैं, तभी मोह का उदय होता है। अपनी कल्पना के आधार पर जब पाप-पुण्य, हिंसा-अहिंसा का समतुलन करने की अनधिकार चेष्टा में प्रवृत्त हो जाते हैं, तभी हमारे सामने सङ्कट उपस्थित हो जाता है, जोकि सङ्कट अर्जुन के मोहभाव से स्पष्ट है। ऐसी दशा में इन अतीन्द्रिय कर्म्मरहस्यों के सम्बन्ध में एकमात्र शास्त्रविधि ही हमारे लिए कर्त्तव्य-पथ बच जाता है। सर्वशास्त्रों का मूलाधार चूंकि वेदशास्त्र है, साथ ही अपने इस 'कर्म्मयोग' प्रकरण में वेदोदित कर्म्म के स्पष्टीकरण की ही

वेदस्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रतिज्ञा की गई है। अतएव प्रसङ्गविधि की दृष्टि से यह भी आवश्यक हो जाता है कि, कर्म्म-प्रतिपादन से पहिले सक्षेप से उस वेदशास्त्र के वेदत्त्व का, वेदस्वरूप[1] का भी दिग्दर्शन करा दिया जाय, जोकि वेदशास्त्र कर्म्म-रहस्योद्घाटन कर रहा है।

जिसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है, जिसमे प्रकृतिसिद्ध यच्चयावत् विषयों का सोपपत्तिक (रहस्यज्ञानपूर्वक) निरूपण हुआ है, ऐसा जानने योग्य 'विज्ञानशास्त्र' ही वेदशास्त्र है। यह शास्त्र सम्पूर्ण विद्याओं का एक महाकोश है। विद्याकोशात्मक यह वेदशास्त्र यदि 'विद्याशास्त्र' है, 'विज्ञानशास्त्र' है, तो मन्वादिस्मृतिसंग्रह 'धर्म्मशास्त्र' है। 'वेद विज्ञानशास्त्र है, स्मृति धर्म्मशास्त्र है'-इससे कहीं यह अनुमान नहीं लगा लेना चाहिए कि, वेद 'अधर्म्मशास्त्र' है। शिव ! शिव !! अब्रह्मण्यं ! अब्रह्मण्यं !!

वेदशास्त्र के सम्बन्ध मे 'अधर्म्म' शब्द का उच्चारण करना भी अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बनाना है। "वेद विज्ञानशास्त्र, किंवा विद्याशास्त्र है" इस कथन का तात्पर्य्य केवल यही है कि, वेद मे जिन धर्म्म-कर्म्मों का निरूपण हुआ है, उनकी उपपत्ति (मौलिक-रहस्य) भी साथ साथ प्रतिपादित है। वेदशास्त्र उपपत्ति-पूर्वक ही कर्त्तव्य-कर्म्मों का विधान करता है। "अग्निहोत्र करना चाहिए !" वेद जहाँ यह आदेश देता है, वहां इस आदेश के साथ ही वह "क्यों करना चाहिए ?" इस जिज्ञासा का भी समाधान करता है। 'ज्योतिष्टोमयज्ञ से यज्ञकर्त्ता यजमान का 'भानुपात्मा' 'दैवात्मा' के आकर्षण से आकर्षित होता हुआ 'त्रिणाचिकेत' नाम से प्रसिद्ध 'त्रिवृत् स्वर्ग' में चला जाता है" इत्यादि सिद्धान्तों का मौलिक रहस्य बतलाना ही वेदशास्त्र का मुख्य विषय है।

इधर मन्वादि धर्म्मशास्त्रों का प्रधानरूप से विधि-निषेध-वचनों से ही सम्बन्ध है। स्मार्त्त-ग्रन्थों मे,—'इदं कुरु ! इदं मा कुरु !'—'इदं कर्त्तव्यं,-इदं न कर्त्तव्यम्' इत्यादि रूप से केवल आदेश ही रहते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, यदि श्रुतिशास्त्र विधि-निषेध-भावों का मौलिक रहस्य बतलाता हुआ हमारे सामने आता है, तो स्मृतिशास्त्र केवल विधि-निषेधभावों की तालिका बतला कर अपने कर्त्तव्य से छुट्टी पा लेता है। स्मार्त्त-ग्रन्थों से

---

१ इस विषय का विशद विवेचन 'उपनिषद्विज्ञानभाष्य भूमिका' में हुआ है। विशेष जिज्ञासा रखनेवालों को वही ग्रन्थ देखना चाहिए। वेदस्वरूप के सम्बन्ध में आज अनेक भ्रान्तियां फैली हुई हैं। वेदप्रेमियों से हम साग्रह अनुरोध करेंगे कि, वे एकबार अवश्य ही इस निबन्ध को देखने का कष्ट करें।

"ऐसा क्यों करें, क्यों न करें ?" ऐसे प्रश्न नहीं किए जा सकते, नहीं करने चाहिए। यदि आप विशेष आग्रह करेंगे, तो नास्तिक की उपाधि मिल जायगी। विशुद्ध तर्कवाद-मूलक अपने बुद्धिवाद को आगे करता हुआ यदि कोई व्यक्ति स्मृति से यह पूछने की धृष्टता कर बैठता है, तो स्मृति तत्काल उसकी भर्त्सना कर डालती है। देखिए !

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्य्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

क्या करना चाहिए, और क्या नहीं करना चाहिए ? किन कर्म्मों के अनुष्ठान से अभ्युदय-निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, एवं किन कर्म्मों के अनुगमन से प्रत्यवाय, तथा प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ता है ? इन प्रश्नों के उत्तर को आगे करता हुआ कर्म्मव्यवस्थापक शास्त्र ही स्मृतिशास्त्र है। यहां कर्म्मों के कार्य्य-कारणरहस्यों का निरूपण नहीं हुआ है। जिन कर्म्मों के अनुष्ठान से हमारी स्वरूपरक्षा होती है, वे ही कर्म्म—

'आत्मना धृतः सन् धारयति'—यत् स्याद् धारणसंयुक्तम्'
'धर्म्मिणा धृतः सन् धर्म्मिणं स्वस्वरूपेऽवस्थापयति'

इत्यादि निर्वचनों के अनुसार "धर्म्म" शब्द से सम्बोधित हुए हैं। कर्त्तव्य-कर्म्म ही धर्म्म है। अवश्य ही कर्त्तव्य-कर्म्म (धर्म्म) किसी न किसी गुप्त कार्य्य-कारणभाव से सम्बन्ध रखते हैं। "ऐसा ही करना चाहिए" इस बलप्रयोग का तात्पर्य्य केवल यही है कि, आप्त-पुरुषों नें गुप्त कार्य्य-कारणभावों की निश्चित परीक्षा कर तदनुरूप ही कर्म्म (धर्म्म) की व्यवस्था की है। विपरीत दिशा में कर्म्म का स्वरूप ही बिगड़ जाता है। कर्म्म (धर्म्म) के इसी कार्य्य-कारण रहस्य को 'विद्या' कहा गया है।

'यदेव विद्यया, श्रद्धयोपनिषदा करोति, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति'

—छन्दोग्योपनि०।

के अनुसार श्रद्धा-उपनिषत् से युक्त विद्या-भाव को आगे कर (मौलिक-कार्य्यकारणरहस्य जानकर) जो कर्म्म किया जाता है, वही वीर्य्यवत्तर होता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, कर्त्तव्य-कर्म्म ही 'धर्म्म' है, एवं इनका कार्य्य-कारणात्मक मौलिक रहस्य ही 'विद्या' है। चूंकि

स्मृतिशास्त्र धर्म्मरूप कर्त्तव्य-कर्म्मों का निरूपण कर रहा है, अतएव इसे हम 'धर्म्मशास्त्र' कहते हैं। श्रुतिशास्त्र कर्त्तव्य-कर्म्मों की कार्य्यकारण-रहस्यरूपा विद्या का स्पष्टीकरण कर रहा है, अतएव इसे हम 'विद्याशास्त्र' कहते हैं। वेद 'विद्या' है, स्मृति 'धर्म्म' है। वेद 'विद्यापुस्तक' है, स्मृति 'धर्म्मपुस्तक' है।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। जिस शास्त्र में धर्म्म का धर्म्मत्त्व (कार्य्य-कारणरूप-मौलिक रहस्य) प्रतिपादित है, वही 'श्रुतिशास्त्र' है। एवं जिस शास्त्र में निरुपपत्तिक धर्म्म-प्रवर्त्तनाओं का संग्रह हुआ है, वही 'स्मृतिशास्त्र' है। धर्म्म-पुस्तक केवल अनुशासन-ग्रन्थ है। यहां क्यों, क्या, नु, न, के समावेश का अणुमात्र भी अवसर नहीं है। ब्राह्ममुहूर्त्त में उठो! स्नान करो! संध्या करो! यज्ञोपवीती बने रहो! शिखा रक्खो! मस्तक ढक कर ही शौच-क्रिया करो! मस्तक उघाड़ कर ही भोजन करो! दिन में कभी मत सोओ! उत्तर की ओर मस्तक करके कभी न सोओ! सोते समय कभी पैर न धोओ! निद्रावस्था से पूर्व पानी न पीओ! गोवत्सतन्त्री, पुस्तक, देवप्रतिमा, ब्राह्मण आदि को लांघ कर न चलो! मुख से कभी अशुभ वाणी न बोलो! स्वाध्याय से मुख न मोड़ो! तृणच्छेद न करो! कौर काट कर भोजन न करो! नखच्छेदन न करो! वृथा अङ्गताड़न न करो! अलालवाणी का प्रयोग न करो! इत्यादि धर्म्माज्ञाओं की उपपत्ति क्या है? इस प्रश्न का समाधान तो वेदशास्त्र ही करेगा। धर्म्म का धर्म्मत्त्व (उपपत्ति-रहस्य) जानने की अभिलाषा हो, तो श्रुति की ही शरण में जाना चाहिए। क्योंकि—'धर्म्मं[2] जिज्ञासमानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'।

बहिरङ्गपरीक्षात्मक—'गीताभूमिका प्रथमखण्ड' के 'नामरहस्य' प्रकरण में 'आर्षदृष्टि' का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, साक्षात्-कृतधर्म्मा आप्तपुरुष की दृष्टि 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' है। एवं अपनी प्रत्यक्षज्ञानात्मिका इस प्रत्यक्षदृष्टि का अभिनय करनेवाले प्रत्यक्षद्रष्टा का

---

१ श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ॥

—मनुः

२ यः कश्चित् कस्यचिद् धर्म्मो मनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

—मनुः

वाक्य ही हमारे लिए श्रुति (प्रत्यक्षदृष्टि) है। द्रष्टा द्वारा श्रुत वाक्य हमारे लिए प्रत्यक्षदृष्टिवत् ही निर्भ्रान्त प्रमाण है। श्रोता जिस अर्थ को सुन कर अपने शब्दों से हमें सुनाता है, इस श्रोता का यह वाक्यसंग्रह ही 'स्मृति' है। चूंकि 'श्रुति' शब्द से परीक्षक आचार्य्य का प्रत्यक्ष-दृष्ट अर्थ अभिप्रेत है, अतएव मान लेना पड़ता है कि, वेदशास्त्र सचमुच में एक **'विज्ञानशास्त्र'** है। सारांश यही हुआ कि, यथार्थद्रष्टा परीक्षक की दृष्टि (प्रत्यक्षज्ञान) भी वेद है, एवं विज्ञानोपदेशक उसका वाक्य भी 'वेद' है। तत्त्वान्वेषण में अहर्निश संलग्न व्यक्ति ही 'परीक्षक' कहलाता है। एवं अपनी इस तत्त्वपरीक्षा मे सफल मनुष्य ही (उस अपने परीक्षित तत्त्व की अपेक्षा से) **'ऋषि'** कहलाता है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, जो विद्वान् तप-प्रभाव-द्वारा प्राप्त अपनी 'योगजदृष्टि' से अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्-कार कर लेता है, परीक्षा द्वारा पदार्थ के तात्त्विक स्वरूप से अवगत हो जाता है, ऐसा सिद्ध परीक्षक ही वैदिक-परिभाषानुसार 'ऋषि' शब्द-सम्बोधन का अधिकारी बनता है।

लोकभाषा मे जिसे 'पहुँचवान' कहा जाता है, वही वैदिक भाषा में 'ऋषि' कहलाया है। **'ऋषति-गच्छति-विषयम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषय के तह पर पहुँचा हुआ, साक्षात् कृतधर्म्मा महापुरुष ही 'ऋषि' कहा जायगा। यह ऋषि अपने दृष्ट अर्थ में एक प्रामाणिक व्यक्ति है, उसके अन्तस्तल मे पहुँचा हुआ है, अतएव इसे **'तत्र-भवान्'** कहा जाता है, एवं यही इस की आप्तता है। इसी आप्तता के कारण इसे **'आप्त'** (विषय में प्राप्त-पहुँचा हुआ) भी कहा जाता है। **'ऐसे आप्त महर्षि के द्वारा आर्षदृष्टि से देखा गया, सर्वथा परीक्षित, अतएव सन्देह रहित जो विज्ञानतत्त्व है, मौलिकतत्त्व है, उसी को 'वेदतत्त्व' कहते हैं'**। जिस तत्व के साक्षात्-कार से मनुष्य नामक व्यक्ति **'ऋषि'—'द्रष्टा'—'सिद्ध' 'आप्त'—'साक्षात्-कृतधर्म्मा'—'तत्रभवान्'** आदि उपाधियों से विभूषित हो जाता है, नियति के उस गुप्त-तत्त्व का ही नाम **'वेद'** है।

इस तत्त्वात्मक वेद के **'ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्'** इत्यादि पर्व कैसे, एवं क्यों हो गए? इनके २१-१०१-१०००-६-इत्यादि क्रमिक अवान्तर भेदों का क्या क्या कारण है? प्रकृति देवी के गुप्त साम्राज्य मे किन किन नियमोपनियमों से यह तत्त्वात्मक वेद रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादि तन्मात्राओं के द्वारा सृष्टि-निर्माण में प्रवृत्त होता है? जगन्नियन्ता जगदीश्वर सहस्र मुखों से कैसे इस ब्रह्मनिःश्वसित, अपौरुषेय वेद का प्रादुर्भाव होता है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान का प्रकृत ग्रन्थ मे न तो प्रसङ्ग ही है, न

उपयोग ही। इन सब विषयों के लिए तो 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' आदि इतर ग्रन्थ ही देखने चाहिए। प्रकृत में इस सम्बन्ध मे केवल इसी कथन से निर्वाह कर लेना चाहिए कि, मौलिक-तात्त्विक-अपौरुपेय-ब्रह्मनिःश्वसित-वेद का जैसा स्वरूप है, जो अवयव-संस्थान है, उदात्त-अनुदात्त-स्वरितादि भेद-भिन्न जैसी स्वरलहरी है, गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-आदि छन्दों का जो क्रम है, अत्रि-मरीचि-कश्यप-विश्वामित्र-वसिष्ठ-अगस्त्यादि प्राणऋषियों का जैसा संस्थानविशेष है, ठीक उसीके अनुरूप शब्दात्मक-पौरुपेय वेद का निर्म्माण हुआ है। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, जैसा स्वरूप नित्य-तात्त्विक-वेद का है, उसी के अनुरूप द्रष्टा महर्षियों नें बुद्धिपूर्वक[1] जिस विज्ञान वाक् का वाक्य-रचनापूर्वक सग्रह किया है, वह सग्रह भी 'ताच्छब्दन्याय' से 'वेद' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया है। तत्त्वात्मक वेद अपौरुपेय है, नित्य है, अकृतक है, कूटस्थ है। किन्तु वाङ्मयवेद ऋषिकृत होने से पौरुपेय है, अनित्य है, कृतक है। वेदमन्त्रों के रचयिता ऋषि हैं, मन्त्रात्मक वेदग्रन्थ पौरुपेय है, एवं इन मन्त्रों से सिद्ध, ऋगादि भेद भिन्न मौलिक विज्ञान-तत्त्व अपौरुपेयवेद है।

तत्त्वात्मक वेद के महर्पिगण द्रष्टा हैं, एवं मन्त्रात्मक वेद के कर्त्ता हैं। तत्त्वात्मक वेद के ये स्मर्त्ता[2] हैं, उसी स्मृति के अनुरूप उपनिबद्ध शब्दात्मक वेदशास्त्र के ये कर्त्ता हैं। यदि 'मीमांसादर्शन' के अनुसार शब्द एवं अर्थ की अभिन्नता मानली जाती है, शब्दार्थ का औत्पत्तिक[3] (उत्पत्तिसृष्ट, न तु उत्पन्नसृष्ट) सम्बन्ध मान लिया जाता है, तो अर्थात्मक (तत्त्वात्मक) एवं शब्दात्मक दोनों वेदों की अपौरुपेयता ही स्वीकार करनी पड़ती है। और इसी दृष्टि से आर्यप्रजा ने, सनातनधर्म्मावलम्बियों नें वेदतत्त्वानुगृहीत वेदमन्त्रों की भी अपौरुपेयता ही स्वीकार की है, जोकि शब्दार्थ के औत्पत्तिक सम्बन्ध की दृष्टि से सर्वथा समादरणीय है। अवश्य ही मन्त्रवाक् साधारण-लौकिक-शब्दवाक् की अपेक्षा कुछ विशेष महत्त्व रखती है। वेदमन्त्रों के छन्द, देवता, स्वर, अक्षरविन्यास, अक्षर संख्या आदि सभी प्रकृति से सम्बद्ध होते हुए अलौकिक हैं। वेदतत्त्व यदि 'विद्युत्' है, तो तत्प्रतिपादक वेदमन्त्र विद्युत-संचरणस्थानरूप विद्युत-तन्तु (तार) है। जो दाहक शक्ति विद्युत् में है,

---

१ "बुद्धिपूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे" (वैशेपिकतन्त्र)

२ "ब्रह्माद्या ऋषिपर्य्यन्ता स्मर्त्तारोऽस्य न कारकाः" (स्मृति.)

३ "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" (मीमांसा-दर्शन)

वही विद्युत्-तन्तु में है। वेदमन्त्र का यथाविधि उच्चारण कर देने मात्र से (यज्ञप्रक्रियाओं में) शत्रुविनाश हो जाता है। यदि स्वर-मात्रा आदि के उच्चारण में जरा भी इतस्ततः हो जाता है, तो वह मन्त्ररूप वाग्वज्र यज्ञकर्त्ता का नाश कर डालता है[1]। यही मन्त्र का मन्त्रत्व है। इसीलिए कल्प-सूत्रकारों नें वेदमन्त्र-पारायण को अतिशय पुण्य का कारण माना है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जायगा, तो हमे यह स्वीकार कर लेने मे कोई आपत्ति न होगी कि, वेदभाषा एक अलौकिक भाषा है, इसके गुम्फन में अवश्य ही प्रकृति का हस्तक्षेप है, मानवीय ज्ञान से यह परे की वस्तु है, इसका अक्षर अक्षर विधि के गुप्त विधान से सम्बद्ध होता हुआ अपरिवर्त्तनीय है, शाश्वत है, सनातन है, अपौरुषेय है। अस्तु. वेदापौरुषेयत्व-पौरुषेयत्व के विवाद में हमे अभी नहीं पडना है। इस विवाद को यहीं छोड़ कर प्रकृत का विचार कीजिए। साथ ही इस प्रस्तुत विचारधारा मे तत्त्वात्मक, तथा शब्दात्मक दोनों वेदों को अभिन्न मानते हुए ही वेदस्वरूप की मीमासा कीजिए। वेदतत्त्व ऋक्-यजुः-साम-अथर्व भेद से चार भागों में विभक्त माना गया है। इन चारों तत्त्ववेदों के याज्ञिक समन्वय से ही सम्पूर्ण विश्व, तथा विश्व मे रहनेवाली प्रजा का निर्म्माण हुआ है। वेदतत्त्वज्ञों की दृष्टि में इस वेदतत्त्व के अनेक भेद है, जोकि "छन्दोवेद, वितानवेद, रसवेद, उपलब्धिवेद, देशवेद, कालवेद, दिग्वेद, वर्णवेद, पर्ववेद, निदानवेद, गायत्रीमात्रिकवेद, ब्रह्मनिःश्वसितवेद, ब्रह्मस्वेदवेद, यज्ञमात्रिकवेद," इत्यादि नामों से यत्रतत्र उपश्रुत हैं। प्रकरण-सङ्गति के लिए इन मे से केवल पार्थिव-यज्ञमात्रिक वेद का एवं सौर-गायत्रीमात्रिक वेद का स्वरूप ही संक्षेप से पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है।

'अग्निर्भूस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः, सूर्य्यो द्यु स्थानः' (यास्कनिरुक्त) इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार भूलोक अग्निप्रधान माना गया है, जैसा कि – 'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' (शत० १४।९।४।२१) इत्यादि श्रुति से भी प्रमाणित है। यह पार्थिव अग्नि रस-वल लक्षण, हृदयस्थ प्रजापति के परस्पर-विरुद्ध अमृत-मृत्युभावों के भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। अमृताग्नि 'रसाग्नि' है, मर्त्याग्नि 'बलाग्नि' है। जिस भूपिण्ड पर आप-हम-सब प्रतिष्ठित हैं, वह बलप्रधान मर्त्याग्निमय है, किंवा मर्त्याग्निप्रधान

---

१ दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या-प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (महाभाष्य)

है, जो कि मर्त्याग्नि यज्ञपरिभाषा में 'चित्याग्नि' नाम से सम्बोधित हुआ है। भूकेन्द्र को आधार बनाकर भूपिण्ड से चारों ओर एकविंश अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त रहनेवाला प्राणाग्नि ही रस-प्रधान अमृताग्नि है। इसी अमृताग्नि से महिमापृथिवीरूपा-सौम्य-(पार्थिव)-त्रिलोकी का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। एवं यही अमृताग्नि यज्ञपरिभाषा में 'चितेनिधेय' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मर्त्य अग्नि से अपना स्वरूप निर्म्माण करानेवाला भूपिण्ड यज्ञपरिभाषा में जहाँ 'हविर्वेदि' कहलाता है, वहां अमृताग्निमय सौम्यत्रिलोकीरूप महा पार्थिवमण्डल 'महावेदि' कहलाया है। भूपिण्डलक्षण हविर्वेदि प्राकृतिक, नित्य, हविर्यज्ञ की प्रतिष्ठा है, एवं महिमालक्षण महावेदि नित्य, प्राकृतिक, ज्योतिष्टोमयज्ञ की प्रतिष्ठा बनती है।

अग्नितत्त्व जैसे भूपिण्ड, एवं महिमापृथिवी दोनों की प्रतिष्ठा है, एवमेव इस अग्नि की प्रतिष्ठा 'सोम' तत्त्व है। कारण यही है कि, अग्नि स्वभाव से ही 'अन्नाद' (अन्न खानेवाला) है। अन्न खाना इसका स्वरूपधर्म्म है। अन्नाद अग्नि अन्नरूप सोम की आहुति के बिना क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए पाञ्चभौतिक शरीर में आलोमभ्यः—आनखाग्रेभ्यः (लोमकेशों के अग्रभाग, एवं नखों के अग्रभागों को छोड़कर सर्वाङ्गशरीर में) व्याप्त वैश्वानर अग्नि को ही लीजिए। जब तक हम सायं प्रातः इस शारीर-वैश्वानर अग्नि में अन्न की आहुति देते रहते हैं, तभी तक यह स्वस्थ-सबल रहता हुआ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। यदि दो चार दिन के लिए अन्नाहुति रोक दी जाती है, तो यह मन्द पड़ जाता है। इसके मन्द पड़ते ही शरीरयष्टि शिथिल हो जाती है। अग्नि की अन्नादता में यही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पार्थिव अग्नि भी अग्नि है, अतएव यह भी अन्नाद है, भोक्ता है। अपने इसी अन्नाद-धर्म्म की रक्षा के लिए इसे भी अन्न-सोम की नित्य अपेक्षा बनी रहती है। सावित्राग्निमय सूर्य्य को देखिए न। इस सौर सावित्राग्नि में पारमेष्ठ्य 'ब्रह्मणस्पति' नामक सोम अनवरत आहुत होता रहता है। एक क्षण के लिए भी यह आहुति-क्रम बन्द नहीं होता। अग्नि-षोमात्मक इसी 'अग्निहोत्रयज्ञ[1] से सूर्य्य देवता स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। कहने का तात्पर्य्य यही हुआ कि, जब अन्नाद अग्नि अन्न-सोम की आहुति से ही सुरक्षित रह सकता है, तो हमें मानना पड़ेगा कि, इस अग्निमयी पार्थिव संस्था में भी अग्नि-सोम दोनों तत्त्वों का समन्वय हो रहा है।

---

१ "सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्" (शतपथ० ब्रा० २।३।१।१।)

अमृत-ब्रह्म-शुक्रमूर्त्ति प्रजापति की तीसरी[1] शुक्र-कला से ही पदार्थों का स्वरूप निर्म्माण होता है, जैसा कि 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' द्वितीय खण्ड की 'शुक्रनिरुक्ति' में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। प्रजापति की स्वाभाविक अमृत-मृत्युकलाओं के अनुग्रह से इस शुक्र-तत्त्व के भी अमृतशुक्र-मर्त्यशुक्र भेद से दो भेद हो जाते हैं। शुक्र-विदों ने 'वाक्-आपः-अग्निः' भेद से शुक्रतत्त्व के तीन अवान्तर भेद माने हैं। तीनों ही अमृत-मृत्युभेद से चूकि दो दो भागों मे विभक्त हो जाते है, अतएव आगे जाकर अमृतशुक्रत्रयी, मर्त्यशुक्रत्रयी भेद से ६ शुक्र हो जाते है। इनमें मर्त्याग्नि-प्रधान चित्य भूपिण्ड का स्वरूप-निर्माण तो मर्त्यशुक्रत्रयी से होता है, एवं अमृताग्नि-प्रधान चितेनिधेय पृथिवीमण्डल की स्वरूपनिष्पत्ति अमृतशुक्रत्रयी से होती है। भूकेन्द्र-भूपृष्ठ-पृष्ठ-केन्द्र का अन्तःप्रदेश तीन विभाग भूपिण्ड के कीजिए। केन्द्र में मर्त्य-वाक्-शुक्र, पृष्ठ में मर्त्य-अग्नि-शुक्र, एवं अन्तःप्रदेश में मर्त्य-आपः-शुक्र प्रतिष्ठित है। केन्द्रस्थ वाक्-शुक्रावच्छिन्न भूभाग ही 'स्वर्लोक' है, पृष्ठस्थ अग्नि-शुक्रावच्छिन्न भूभाग ही 'भूर्लोक' है, एवं अन्तःप्रदेशस्थ आपः-शुक्रावच्छिन्न भूभाग ही 'भुवर्लोक' है। इस प्रकार केवल मर्त्य भूपण्डि मे ही वाक्-आपः-अग्नि, इन तीन मर्त्य शुक्रों से क्रमशः "भूः[1]-भुवः-स्वः" ये तीन लोक हो जाते है। इन तीनों लोकों की समष्टि ही 'भूपिण्ड' है। इस लोकत्रयात्मक भूपिण्ड के आधार पर ही अमृतशुक्रत्रयी का वितान (फैलाव) होता है। इसी प्रथन (फैलाव)

---

१ यद्यपि अजकल 'भूः-भुवः-स्वः', तथा 'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ', इनको परस्पर में पर्य्याय माना जाता है। परन्तु विज्ञानदृष्टि से यह पर्य्याय-सम्बन्ध नितान्त अशुद्ध है। "दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" इत्यादि मन्त्र में द्यौ और स्वः का पृथक् पृथक् निर्देश करना ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, भूरादि एवं पृथिव्यादि में कभी पर्य्याय सम्बन्ध नहीं बन सकता। विज्ञानदृष्टि से विचार करने पर पाठकों को विदित होगा कि, भू-भुवः स्वः इन तीनों का केवल चित्य भूपिण्ड में अन्तर्भाव है। एवं पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ इन तीनों का प्राणाग्निमयी, सौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी में अन्तर्भाव है। भूरादि का जहां मर्त्यशुक्रत्रयी से सम्बन्ध है, वहां पृथिव्यादि का अमृतशुक्रत्रयी से सम्बन्ध है। भूपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर महिमा पृथिवी की त्रयस्त्रिंशत्-अहर्गणात्मिका अन्तिम परिधि तक क्रमशः भूकेन्द्र-अन्तःप्रदेश-भूपृष्ठ-त्रिवृत्स्तोम-पञ्चदशस्तोम-एकविंशस्तोम इन ६ भागों के साथ मर्त्य वाक्-शुक्रावच्छिन्न स्वर्लोक, मर्त्य आपः-शुक्रावच्छिन्न भुवर्लोक, मर्त्य-अग्निशुक्रावच्छिन्न भूर्लोक, अमृताग्निशुक्रावच्छिन्न पृथिवीलोक, अमृत आपःशुक्रावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक, एवं अमृतवाक्-शुक्रावच्छिन्न द्युलोक के साथ क्रमिक सम्बन्ध है।

के कारण 'यदप्रथयत्' इस ब्राह्मणोक्त निर्वचन के अनुसार महावेदि-लक्षण पार्थिव मण्डल 'पृथिवी' कहलाया है। जिस पर हम बैठे हैं, वह पृथिवी नहीं है, अपितु भूपिण्ड है। भूपिण्ड की व्याप्ति तो सर्वविदित है। परन्तु पृथिवीमण्डल सूर्य्यपिण्ड से भी ऊपर तक अपनी व्याप्ति रखता है,जैसा कि अन्यत्र लोकविद्याओं मे विस्तार से निरूपित है। मर्त्यशुक्रत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले भूपिण्ड का दिग्दर्शन कराया गया। अब अमृतशुक्रत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले पृथिवी-मण्डल का विचार कीजिए। जहा तक पार्थिव प्राण की व्याप्ति रहेगी, वहा तक का मण्डल 'पृथिवीमण्डल' कहलाएगा। एवं इसी पृथिवीमण्डल में दो विभिन्न दृष्टियों से अमृतशुक्रत्रयी का भोग देखना पड़ेगा। एकदृष्टि का 'वषट्कार' से सम्बन्ध रहेगा, एवं एक दृष्टि का ज्योतिष्टोमापरपर्य्यायक 'सम्वत्सरयज्ञ' से सम्बन्ध रहेगा। पहिले वषट्कार दृष्टि से ही विचार कीजिए। वाक्तत्व से ही 'वषट्कार' का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। जिन वागादि ६ शुक्रों का पूर्व मे दिग्दर्शन कराया गया है शुक्र के इन ६ ओं रूपों का विकास एकमात्र वाक्तत्त्व का ही विकास है, जो कि सर्वव्यापिनी 'प्राजापत्यावाक्' '**आनन्दघनविज्ञानमयमनः-प्राणगर्भिता वाक्**' नाम से प्रसिद्ध है। जिसकी कि व्याप्ति का—'**अथो वागेवेदं सर्वम्**'—'**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**'—'**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा**' '**वाग्विवृताश्च वेदाः**' '**वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः**' इत्यादि रूप से महर्षिगण यशोगान करते रहते हैं। यदि युग्म-अयुग्म दोनों स्तोमों का संग्रह करते हुए इस वाक्-तत्त्व की व्याप्ति का विचार किया जाता है, तब तो पार्थिवी-वाक् के ४८ अहर्गणों को सामने रखना पडता है। परन्तु इन सब अहर्गणों का विचार करना तो वडा ही जटिल बन जायगा। अतः प्रकृत मे अयुग्मस्तोमों से सम्बन्ध रखने वाले ३३ अहर्गणों तक व्याप्त रहने वाली पार्थिवी-वाक् को आधार बनाकर ही अमृतशुक्रत्रयी की मीमासा की जायगी।

भूपिण्ड के केन्द्र में अमृत-मृत्युधर्म्मोभयमूर्त्ति प्रजापति प्रतिष्ठित है, जिसके कि सम्बन्ध में—'**प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायति**' इत्यादि यजुर्म्मन्त्र प्रसिद्ध है। भूपिण्ड-सृष्टि से पहिले क्या था? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—'**आनन्दविज्ञानघनमनः-प्राणगर्भितवाङ्मयप्रजापति**'। चूकि वाक्तत्त्व प्रजापति का अन्तिम पर्व है, एवं '**वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्**' इत्यादि छान्दोग्यश्रुति के अनुसार प्रजापति का वाक्पर्व ही सृष्टि का उपादानकारण बनता है, अतः आगे हम प्रजापति को व्यवहार-सौकर्य्य के लिए 'वाङ्मय-प्रजापति' किंवा 'वाक्प्रजापति' नामों से ही सम्बोधित करेंगे।

हां, तो अन्वेषण कीजिए, उस स्थिति का, जब कि भू-संस्था का विकास न हुआ था, और केवल एकाकी वाङ्मय प्रजापति का ही साम्राज्य था। श्रुति कहती है कि, "उस दशा में प्रजापति सर्वथा एकाकी थे। उस समय उनके पास अपना और पराया कहकर बतलाने के लिए केवल 'वाक्' तत्त्व ही विद्यमान था। सृष्टिसाक्षी 'श्वोवसीयस' मन की स्वाभाविक कामना (उत्थिताकांक्षा) की प्रेरणा हुई। प्रेरणा से प्रजापति का यह संकल्प (मानस-व्यापार) हुआ कि, "अपन इस अपने स्वधनरूप वाक् को ही (सृष्टिरूप में) प्रवृत्त कर दें।" सत्यसंकल्प प्रजापति ने ऐसा ही किया। वाक् से ही सृष्टिनिर्म्माण कर डाला। वाक्भाग को पत्नी बनाया, प्राणादि शेष भाग से स्वयं ही पति बने। दोनों के मिथुन से गर्भाधान-संस्कार हुआ। सृष्टि का स्वरूप सम्पन्न हो गया"। इसी वाक्सृष्टि का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

१—"'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। तस्य वागेव स्वमासीत, वाग् द्वितीया। स-ऐक्षत-'इमामेव वाचं विसृजा, इयं वा इदं सर्वं विभवन्ती-एष्यति-इति'। स वाचं व्यसृजत"

—कठसंहिता, १२।५।२७

२—"प्रजापतिर्वा इदमासीत्, तस्य वाग् द्वितीयासीत्। ताम्मिथुनं समभवत्। सा गर्भमधत्त। सास्मादपाक्रामत्। सेमाः प्रजा असृजत। सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत्"।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण २०।१४।२

---

१ यद्यपि इन श्रुतियों में प्रतिपादित 'वाक्' तत्त्व शब्दप्रपञ्च से भिन्न तत्त्व है, वाक्तत्त्व से आगे जाकर शब्द-प्रपञ्च का विकास हुआ है। ऐसी स्थिति में इस वाक् को शब्द का पर्य्याय तो नहीं माना जा सकता, तथापि दूसरी दृष्टि से विचार करने पर थोड़ी देर के लिए हम वाक् से शब्दप्रपञ्च का भी ग्रहण कर सकते हैं। शब्द-तन्मात्रा सृष्टि का मूल है, यह प्रसिद्ध है। इधर लोक में भी हम देखते हैं कि, जिस मनुष्य की वाक् (शब्द) में बल होता है, जो वाक् का यथावत् उपयोग करना जानता है, वह आरम्भ में एकाकी रहता हुआ भी, लोक-वैभवों से रहित बनता हुआ भी एकमात्र वाग्बल के प्रभाव से लोकवैभव प्राप्त करने में समर्थ हो जाता

आज त्रैलोक्य मे वाङ्मय[1] प्रजापति का ही वैभव दिखलाई पड रहा है। सर्वत्र प्रजापति की महिमा का ही यशोगान हो रहा है। यह महिमा एकमात्र वाक्तत्त्व ही है। वाक् ही प्रजापति की स्वमहिमा है, जैसा कि—'वाग्वाऽअस्य (प्रजापतेः) स्वो महिमा' (शत० ब्रा० २।२।४।४) इत्यादि शातपथी श्रुति से स्पष्ट है। प्रजापति देवता की यह वाग्देवी सहस्र-भाव में परिणत होकर ही वषट्कार की जननी वनती है। मन-प्राणगर्भिता इस प्राजापत्या वाक् को ही "गौ" कहा जाता है। यह वाङ्मयी[2] गौ एक सहस्र मानी गई हैं, जिनका कि विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्य' के 'अग्निहोत्ररहस्य' मे प्रतिपादित है। इन सहस्र वाग्-धाराओ के आधार पर ही प्रजापति वाङ्मय-वषट्कार के स्वरूप सम्पादक वनते हैं।

यह प्राजापत्या वाक् अमृत-मृत्युमयी हे। कारण स्पष्ट है। जव कि—'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इस वाजसनेयश्रुति के अनुसार आनन्द-विज्ञानगर्भित, मन-प्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी प्रजापति अमृत-मृत्यु इन दोनों धर्म्मों से युक्त है, तो इसकी अन्तिम वाक्कला का भी इन दोनों धर्म्मों से युक्त रहना स्वत सिद्ध वन जाता है। प्रजापति को उभयधर्म्मावच्छिन्न इस वाक् से प्रजा उत्पन्न करनी है। प्रजाविवर्त्त— 'दैवतानि च भूतानि' के अनुसार देव-भूत भेद से दो भागों मे विभक्त है। दवप्रजा का विकास अमृतावाक् से होता है, एवं भूतप्रजा का विकास मर्त्यावाक् से होता है। भूपिण्ड से सम्वन्ध रखनेवाली अस्मदादि प्रजा मर्त्य-भूतप्रजा है, एव पृथिवीमण्डल से सम्वन्ध रखनेवाली अग्न्यादि प्रजा अमृत-देवप्रजा है। 'अन्तरं मृत्योरमृतं, मत्यावमृतमाहितः' इस सिद्धान्त के अनुसार चूंकि अमृत-मृत्यु दोनों हीं परस्पर मे अविनाभूत हैं, अतएव भूतप्रजा मे भी अमृतावाक् की सत्ता माननी पड़ती है एवं देवप्रजा मे भी मर्त्यावाक् का सम्वन्ध मानना

है। इस प्रकार ये दोनों श्रुतियां वाक्तत्त्व के विश्लेषण के साथ साथ, परमार्थतत्त्व के निरूपण के साथ साथ, लोकदृष्टि से हमें यह भी सकेत कर रही हैं कि, यदि तुम्हें प्रजापति की तरह पूर्ण वैभव युक्त वनना है, तो अपने वाग्बल से काम लो।

१ 'प्रजापतिर्वै वाक्" (तै० ब्रा० १।३।४।५।) "वाग्वै प्रजापति" (शत० ब्रा० ५।१।५।६।)

२ वाग्वाऽएषा निदानेन यत् साहस्री। तस्या एतत् सहस्र वाच प्रजातम्" । (शत० ४।५।८।४) "सहस्रधा महिमान सहस्र, यावत् ब्रह्म—विष्ठित तावती वाक्।"

पड़ता है। दोनों के निर्म्माण में अन्तर यही है कि, भूतप्रजा का निर्म्माण अमृतवाक्-गर्भिता-मर्त्यावाक् से हुआ है, एवं देवप्रजा का निर्म्माण मर्त्यवाक्-गर्भिता अमृतावाक् से हुआ है। भौमप्रजा मर्त्य-वाक्-प्रधाना है, एवं देवप्रजा अमृत-वाक्-प्रधाना है, यही तात्पर्य्य है।

अमृतगर्भिता मर्त्यावाक् से—'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्'—'वागेव साऽसृज्यत' (शत० ६।१।१।) के अनुसार सर्वप्रथम मर्त्य-आपः-शुक्र की ही उत्पत्ति होती है, जैसा कि—'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' इत्यादि मानव सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। इस मर्त्य-आपः-शुक्र में क्रमशः घनता का समावेश होने लगता है। यही घनावस्था आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य इन आठ अवयवों मे विभक्त होती हुई सर्वान्त में मर्त्य-अग्नि-शुक्र की स्वरूप सम्पादिका बन जाती है। 'तासु बीजमवासृजत्' वाला बीज यही मर्त्याग्नि शुक्र है। इस प्रकार वाक्-शुक्र ही क्रमशः आपः-अग्नि (चित्य-मर्त्य अग्नि) रूप में परिणत होता हुआ भूपिण्ड का स्वरूप समर्पक बन जाता है। वाक् शुक्र केन्द्र में अपनी प्रधानता रखता है, आपःशुक्र अन्त:प्रदेश मे, एवं अग्निशुक्र भूपृष्ठ में प्रधान बना रहता है। तत्वतः भूपिण्ड में प्राजापत्य तीनों मर्त्यशुक्रों का भोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि पूर्व में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

केन्द्रस्थ वाक् का अमृतभाग रस-प्रधान है, अतएव इसे 'तेजोरस' कहा गया है। इस रसमयी अमृतावाक् का भूपिण्ड के आधार पर केन्द्र से चारों ओर समानान्तर से वितान होता है। और यह वितान वाक्-तत्त्व के पूर्वोक्त सहस्रभाव के कारण भूपिण्ड के चारों ओर अपने एक सहस्र मण्डल बनाता है। यह वाक्-साहस्री-मण्डल ही भूकेन्द्रस्थ प्रजापति की महिमा (वितान) है। 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' के अनुसार यह प्रजापति अपने इस वाङ्मय महिमा मण्डल के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है।

एक सहस्र वाङ्मण्डलों के पृथक्-पृथक् ६ स्तोम (राशि-समूह-थोक-ढेर-स्तूप-संघ) माने गए है। ३०-३० वाग्-रश्मियों का एक एक 'अहर्गण' होता है। इस हिसाब से एक सहस्र रश्मिमण्डलों के ३३ अहर्गण बन जाते हैं। ९९० में ३०-३० के हिसाब से ३३ अहर्गण बन जाने पर १० मण्डल शेष रह जाते हैं, यही प्रजापति का उच्छिष्ट भाग कहलाता है। एवं—'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्' इस अथर्वश्रुति के अनुसार यही उच्छिष्ट भाग प्रजापुष्टि का कारण बनता है।

३३ अहर्गणों मे से तीन अहर्गणों का तो केन्द्रस्थ ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र इन तीन हृद्य अक्षरों में अन्तर्भाव हो जाता है, दूसरे शब्दों मे तीन अहर्गणों का तो मर्त्यवाङ्मय, किंवा मर्त्य-

शुक्रत्रयी रूप भूपिण्ड में अन्तर्भाव हो जाता है, शेष ३० अहर्गण् बाहर बच रहते हैं। भूपिण्डस्थ तीन अहर्गणों में क्रमशः ६-६ अहर्गणों की वृद्धि होने से त्रिवृत्स्तोम (९), पञ्चदशस्तोम (१५), एकविंशस्तोम (२१), त्रिणवस्तोम (२७), त्रयस्त्रिंशस्तोम (३३), ये पांच वाक्-स्तोम बन जाते हैं। ३ में ६ के योग से १५, १५ में ६ के योग से २१, २१ में ६ के योग से २७, २७ में ६ के योग से ३३ इस प्रकार ३० अहर्गणों के ५ स्तोम बन जाना प्रकृति-सिद्ध है। इन पांच स्तोमों ($९^{१}$—$१५^{२}$—$२१^{३}$—$२७^{४}$—$३३^{५}$) के अतिरिक्त 'सप्तदशस्तोम' (१७) नाम का एक स्वतन्त्र स्तोम और माना गया है। त्रयस्त्रिंशदहर्गणात्मक महिमा-मण्डल का केन्द्र सत्रहवां अहर्गण बनता है। महिमा-केन्द्र दृष्टि से ही इस एकाकी सत्रहवें अहर्गण को एक पृथक् स्तोम मानना उचित होता है। यही स्तोम 'सप्तदशप्रजापति'— 'उद्गीथप्रजापति' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है।

प्रसङ्गागत यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, पार्थिव-संस्था में भूपिण्ड का केन्द्र, महिमा-मण्डल का (३३ का) केन्द्र, एवं महिमामण्डल की अन्तिमपरिधि, ये तीन स्थान मुख्य मानें गए हैं। इन तीनों में प्रजापतितत्त्व का प्रधानरूप से विकास है। तीनों स्थानों में प्रतिष्ठित, स्थानभेद से विभिन्न स्वरूप रखते हुए प्रजापति तीन स्वरूप धारण कर लेते हैं। भूकेन्द्रस्थ प्रजापति—'अनिरुक्तप्रजापति'—'प्रणव'—'अन्तर्य्यामी' 'कः' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। महिमा केन्द्रस्थ प्रजापति—'सप्तदशप्रजापति' 'उद्गीथ' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एवं अन्तिम (३३ वें अहर्गण के अन्त में सर्वसंस्था को अपने गर्भ में रखनेवाला) प्रतिष्ठित वही हृद्य प्रजापति 'चतुस्त्रिंशप्रजापति'—'ओङ्कार'—'सः'—'निरुक्तप्रजापति' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एकसहस्र वाङ्-मण्डलों का ३०-३० के हिसाब से ३३ अहर्गणों का विभाजन करते हुए १० मण्डल शेष बतलाए थे। इन दसों मण्डलों की समष्टि को ही प्रजापति का उच्छिष्ट भाग बतलाया था। यही (१० अहर्गण समष्टिरूप) चौंतीसवां अहर्गण माना गया है। एवं इसका परिधिरक्षक सर्वप्रजापति के साथ सम्बन्ध माना गया है। अतएव सर्वप्रजापति 'चतुस्त्रिंशप्रजापति' कहलाया है।

निष्कर्ष यही निकला कि, एक सहस्र वाङ्मय-गौतत्त्व के ३३ अहर्गण, ३३ अहर्गणों के . "$९^{१}$-$१५^{२}$-$१७^{३}$-$२१^{४}$-$२७^{५}$-$३३^{६}$" ये ६ स्तोम। इन ६ ओं में पहिला स्तोम (भूपिण्डस्थ तीन

अहर्गणों के समावेश से) ६ अहर्गण का, तीसरा[1] स्तोम स्वस्वरूप से एक अहर्गणात्मक, शेष के २-४-५-६ चारों स्तोम ६-६-अहर्गणों के। ये ६ ठा स्तोम भूकेन्द्र से चल कर महिमामण्डल की परिधि तक व्याप्त रहनेवाली साहस्री प्राजापत्या 'वाक्' के ही विवर्त्त हैं।
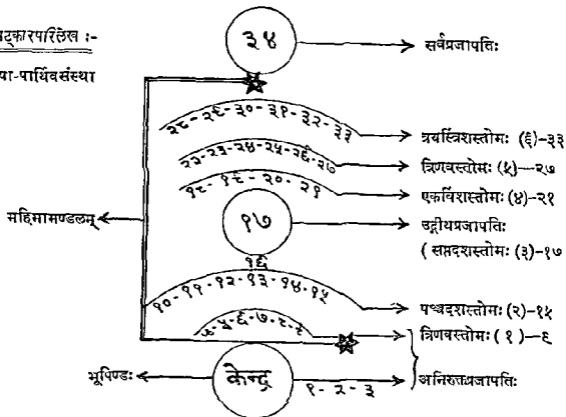
1 यद्यपि अनेक अहर्गणों की समष्टि ही 'स्तोम' कहलाती है, और सप्तदशस्तोम में केवल एक ही अहर्गण है, ऐसी दसा में इसके स्तोमभाव में आपत्ति की जा सकती है। तथापि चूंकि सत्रहवां अहर्गण ३३ अहर्गणात्मक महिमामण्डल का केन्द्र है, एवं 'तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार १६ इधर के, १६ उधर के, ३२ अहर्गण केन्द्रस्थ १७ वें अहर्गण के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, अतएव इनके सम्बन्ध से सप्तदश अहर्गण को (एकाकी रहते हुए भी) एक स्वतन्त्र स्तोम मान लिया गया है।

एक ही वाक् के मण्डलभेद से ६ विभाग हैं। इसी आधार पर इस षट्-स्तोमात्मक वाङ्-मण्डल को 'वाक्-षट्कार' कहा जाता है। परोक्ष-प्रिय देवताओं की परोक्षभाषा के अनुसार 'वाक्-षट्कार' शब्द ही आगे जाकर 'वषट्कार' रूप में परिणत हो गया है। यज्ञप्रयोगकाल मे जब वाङ्मय इन्द्र के लिए आहुति दी जाती है, तो उस समय इसी का प्रयोग होता है। प्रयोगदशा मे 'इन्द्राय वौक्···षट्' यह बोला जाता है। शब्द-संकेतविद्या के अनुसार 'मनःप्राणगर्भिता वाक्' ही—"वौक्" है। यही व्यक्त करने के लिए "वौषट्" बोला जाता है, जिसका कि विशदीकरण यज्ञग्रन्थों मे द्रष्टव्य है।

भूपिण्ड से सम्बन्ध रखनेवाले मर्त्यशुक्रों का "वाक्-आप.-अग्निः" यह संस्थान बतलाया गया है। परन्तु महिमा पृथिवी मे प्रतिष्ठित शुक्रत्रयी का संस्थान-क्रम बदल जाता है। यहां वाक्-आप.-अग्निः यह क्रम न रह कर 'अग्निः-आपः-वाक्' यह क्रम हो जाता है। पाठकों को स्मरण होगा कि, वषट्कार—तथा यज्ञ इन दो संस्थाओं के भेद से हमनें इस अमृताशुक्रत्रयी के दो विभाग बतलाए थे, साथ ही मे पहिले वषट्कारानुबन्धिनी-शुक्रत्रयी के दिग्दर्शन कराने का उपक्रम किया था। चूंकि वषट्कार का प्राजापत्य-वाक् से सम्बन्ध था, अतएव सर्वथा अप्राकृत होते हुए भी हमे बीच ही में प्राजापत्य-वाक् से सम्बन्ध रखनेवाले अहर्गणों का दिग्दर्शन करना पड़ा। अब पुनः प्रकरण-प्राप्त वषट्कारानुगता अमृतशुक्रत्रयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

३३ अहर्गणात्मक वषट्कारमण्डल का अयुग्म-स्तोमों के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है, साथ ही विषयोपक्रम मे ही यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, युग्म-स्तोमों की व्याप्ति की अपेक्षा से यही पार्थिव वषट्कार ४८ अहर्गणों तक व्याप्त हो जाता है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे विस्तारभिया कुछ न कहने की बात थी, फिर भी प्रकरण सङ्गति के लिए यह जान लेना तो आवश्यक ही होगा कि, चतुर्विंशत्यक्षरा (२४) गायत्री, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा (४४) त्रिष्टुप्, एवं अष्टाचत्वारिंशदक्षरा (४८) जगती, इन तीन युग्मस्तोमों के सम्बन्ध से पार्थिव-वषट्कार की गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत ये संस्थाएं हो जाती हैं। छन्दः सम्बन्ध से ही इन तीनों युग्मस्तोमों को 'छन्दोमा-स्तोम' कहा जाता है। भूकेन्द्र से, अथवा स्थूलदृष्टि की अपेक्षा से भूपृष्ठ से आरम्भ कर ४४ वें अहर्गण तक गायत्रस्तोम की व्याप्ति है, भूपृष्ठ से आरम्भ कर २४ वें अहर्गण तक त्रैष्टुभस्तोम की व्याप्ति है, एवं भूपृष्ठ से आरम्भ कर ४८ वें अहर्गण तक जागत्-स्तोम का साम्राज्य है। यह अनुमान लगाइए कि, जिस महिमा-पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर सूर्य्य प्रतिष्ठित है, उसके ४८ वें अहर्गण की व्याप्ति कहां

तक होगी। केवल अनुमानमात्र से ही हमें पार्थिव-विस्तार के सम्बन्ध में चकित रह जाना पड़ेगा।

अस्तु, छोड़िए, इस युगमस्तोम प्रपञ्च को। इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना है कि, ४८ अहर्गणों के '२१-३३-४८' ये तीन विभाग (भूकेन्द्र से) कर डालिए। भूकेन्द्र से २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त अमृत-अग्निशुक्र की व्याप्ति रहेगी। भूकेन्द्र से ३३ वें अहर्गण तक अमृत-आपःशुक्र की व्याप्ति मानी जायगी, एवं भूकेन्द्र से ४८ अहर्गण तक अमृत-वाक्-शुक्र की व्याप्ति मानी जायगी। और यही वषट्कारानुगता अमृता-शुक्रत्रयी कहलायेगी, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।
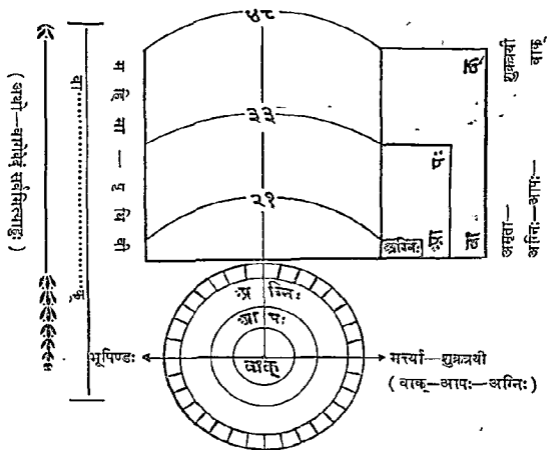
अब क्रमप्राप्त यज्ञ-सम्बन्धिनी अमृता-शुक्रत्रयी की मीमांसा कीजिए। 'अग्निः सर्वा देवताः' के अनुसार सम्पूर्ण (३३ सों) यज्ञिय देवताओं का प्राणाग्नि में अन्तर्भाव है। पूर्वप्रदर्शित युग्म-स्तोमानुसार महापृथिवी के २१ वें अहर्गण तक यह अमृत-प्राणाग्नि व्याप्त रहता है। अतएव इस आग्नेय मण्डल को ही हम देवमण्डल, तथा यज्ञमण्डल कहेंगे। इस यज्ञमण्डल की दृष्टि से भी शुक्रत्रयी की व्याप्ति देखी जा सकती है।

स्वयं अग्नि ही अपनी घन-तरल-विरल, इन तीन क्रमिक अवस्थाओं के भेद से क्रमशः त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१) इन तीन स्तोमों में पृथक्-पृथक्रूपेण प्रतिष्ठित रहता है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न अग्नि 'अग्नि' कहलाता है, यही अमृत-अग्नि-शुक्र का
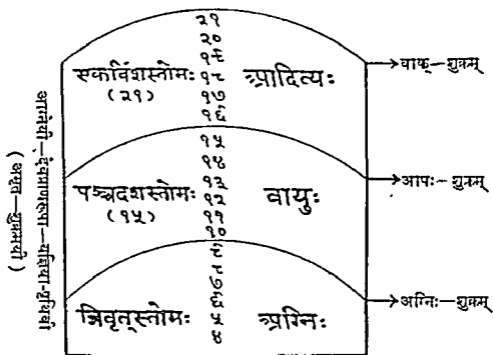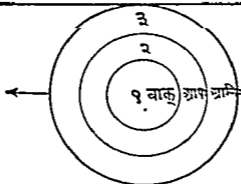
भोग हो रहा है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अग्नि 'वायु' कहलाता है, यहीं अमृत-आपः-शुक्र प्रतिष्ठित है। एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न अग्नि 'आदित्य' कहलाता है, और यहीं अमृत-वाक् शुक्र व्याप्त है। इस प्रकार केवल पार्थिव अग्निमण्डल में ही (अग्नि की अवस्थात्रयी से) तीनों अमृत शुक्रों का भोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि पीछे के परिलेख से स्पष्ट है।

एकविंशस्तोम पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला पार्थिव-प्राणाग्नि ही 'यज्ञाग्नि' नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं इसी यज्ञाग्नि से 'यज्ञमात्रिक वेद' का आविर्भाव हुआ है। ३३ अहर्गणों से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रदर्शित वषट्कार मण्डल मे 'अग्नि-सोम' का साम्राज्य माना गया है। इस पार्थिव वषट्कार के २१ वें अहर्गण तक तो पार्थिव अमृताग्नि प्रतिष्ठित रहता है, एवं २१ से आरम्भ कर ३३ पर्य्यन्त सोमतत्त्व व्याप्त रहता है। वस्तुतस्तु ३३ अहर्गणात्मक वषट्कार-मण्डल के आधे भाग में (१६ तक) तो अग्नि प्रतिष्ठित है, एवं आधे मे (१८ से ३३ पर्य्यन्त) सोम प्रतिष्ठित है। इन दोनों का केन्द्रस्थान १७ वां अहर्गण है, जैसा कि पूर्व में 'सप्तदशप्रजापति' का दिग्दर्शन कराते हुए स्पष्ट किया जा चुका है। यही सप्तदशस्थान इस पार्थिव-सोमयज्ञ (ज्योतिष्टोमयज्ञ) का 'आहवनीयकुण्ड' माना गया है। इस में प्रतिष्ठित पार्थिव प्राणाग्नि ही आहवनीय-अग्नि है। इसमें ऊपर रहने वाला दाह्य सोम आहुत होता रहता है। अग्नि दाहक (जलाने वाला) है, सोम दाह्य (जलने वाला) है। सप्तदशस्तोमस्थ, दाहक, अग्नि में जब ऊपर की ओर प्रतिष्ठित दाह्य सोम आहुत होता है, तो अग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यह अग्नि-ज्वाला इसी आहुति के प्रभाव से २१ वें अहर्गण तक व्याप्त हो जाती है। इसी दृष्टि से भूपिण्ड-धरातल से आरम्भ कर २१ वें अहर्गण तक अमृताग्नि की सत्ता मान ली जाती है, एवं २१ से ऊपर ३३ तक सोम की व्याप्ति मान ली जाती है।

२१ तक व्याप्त रहने वाली अग्नि-ज्वाला मूल में घन, मध्य में तरल, अन्त में विरल अवस्था से युक्त होकर तीन रूप धारण कर लेती है। याज्ञिक-परिभाषा में अग्नि की ये ही तीनों अवस्थाएं क्रमशः 'ध्रुव-धर्त्र-धरुण' नामों से प्रसिद्ध हैं। ९-१५-२१ इन तीन स्तोमों में क्रमशः प्रतिष्ठित रहने वाले ये ही तीनों अग्नि क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य नामों से प्रसिद्ध हैं, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इन में अग्नि से हमारी 'वागिन्द्रिय' का, वायु से 'प्राणेन्द्रिय' (घ्राणेन्द्रिय) का, एवं आदित्य से 'चक्षुरिन्द्रिय' का विकास हुआ है। २१ से ऊपर प्रतिष्ठित सोम के भी 'सायतन सोम'-'निरायतन सोम' भेद से अवान्तर दो विभाग हो जाते हैं। सायतन सोम 'भास्वर सोम' नाम से प्रसिद्ध है, एवं इसी से हमारे 'इन्द्रिय-मन'

का विकास हुआ है। निरायतन सोम 'दिक्सोम' नाम से प्रसिद्ध है, एवं इसी से हमारी 'श्रोत्रेन्द्रिय' का विकास हुआ है। इस प्रकार ३३ तक व्याप्त रहने वाले अग्नी-सोमों की अवस्था भेद से क्रमश ३-२ ये पाच अवस्था हो जातीं हैं। इन पाचों में अग्नित्रयी 'अन्नाद' है, एवं सोमद्वयी अन्न है। इनमे अग्नित्रयी से त्रयीवेद का विकास होता है, एव सोमद्वयी से अथर्ववेद का विकास होता है।

पार्थिववषट्कार के त्रिवृत्स्तोम में प्रतिष्ठित अग्नि (घनाग्नि) पार्थिव है, स्वय त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न प्रदेश इस महापृथिवी का 'पृथिवीलोक' है, एव पृथिवी लोकस्थ इसी पार्थिव प्राणाग्नि से 'ऋग्वेद' का विकास हुआ है। पञ्चदशस्तोम मे प्रतिष्ठित वायु (तरलाग्नि) आन्तरिक्ष्य है, स्वय पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न प्रदेश इस महापृथिवी का अन्तरिक्षलोक है, एवं अन्तरिक्षलोकस्थ इसी आन्तरिक्ष्य प्राणात्मक वायु से 'यजुर्वेद' का विकास हुआ है। एकविंशस्तोम मे प्रतिष्ठित आदित्य (विरलाग्नि) दिव्य है, स्वय एकविंशस्तोमावच्छिन्न प्रदेश इस महापृथिवी का द्युलोक है, एवं द्युलोकस्थ इसी दिव्य-प्राणात्मक आदित्य से 'सामवेद' का.विकास हुआ है। इस प्रकार केवल महापृथिवी के ही तीनों स्तोम-लोकों मे प्रतिष्ठित तीनो अतिष्ठावा देवताओं से तीन वेदो का विकास सिद्ध हो जाता है।

अपने ऋग्वेद से पार्थिव अग्नि देवता पार्थिव यज्ञ के होता' बनते हुए 'हौत्र-कर्म्म' के अध्यक्ष बनते हैं, जो कि हौत्र कर्म्म याज्ञिक परिभाषा में 'शस्त्र-कर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। अपने यजुर्वेद के सहयोग से आन्तरिक्ष्य वायु देवता पार्थिव यज्ञ के 'अध्वर्यु' बनते हुए 'आध्वर्यव' कर्म्म के सञ्चालक बनते हैं, जो कि आध्वर्यव-कर्म्म 'ग्रह-कर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। अपने सामवेद के सहयोग से द्युलोकस्थ आदित्य देवता पार्थिव यज्ञ के 'उद्गाता' बनते हुए 'औद्गात्र' कर्म्म के प्रतिष्ठापक बनते हैं, जो कि औद्गात्रकर्म्म 'स्तोत्र-कर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। अग्नित्रयी से अतिरिक्त बची हुई सोमद्वयी से 'घोर-अङ्गिरा'—'अथर्वाङ्गिरा' की समष्टिरूप चौथे 'अथर्ववेद' का विकास हुआ है। इसी के सहयोग से चतुर्थलोकाधिष्ठाता चन्द्रमा पार्थिव यज्ञ के ब्रह्मा बनते हुए 'ब्रह्म' कर्म्म के प्रवर्त्तक बनते हैं। अग्नित्रयी अन्नाद है, अतएव तद्रूप वेदत्रयी को भी हम 'अन्नाद' ही कहेंगे। सोमद्वयी अन्न है, अतएव तद्रूप अथर्व को भी हम अन्न ही कहेंगे। जब अन्नतत्त्व अन्नादतत्त्व के गर्भ मे आ जाता है, तो— 'अत्त्येवाख्यायते, नाद्यम्' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अन्न का स्वतन्त्ररूप से ग्रहण न हो कर अन्नाद से ही ग्रहण हो जाता है। चूकि वेदत्रयी अन्नादाग्नित्रयी से सम्बन्ध रखती

हुई अन्नाद है, एवं अथर्ववेद अन्नसोम से सम्बन्ध रखता हुआ अन्नस्थानीय है, अतएव उक्त सिद्धान्त के अनुसार उसका स्वतन्त्र व्यवहार नहीं होता। यही कारण है कि, लोक-व्यवहार में वेदशब्द से प्रायः 'वेदत्रयी' ही प्रसिद्ध हो रही है।

अग्निमय पार्थिव ऋग्वेद से मूर्त्ति (पिण्ड) का निर्म्माण होता है, वायुमय आन्तरिक्ष्य यजुर्वेद से पिण्ड में रहनेवाले गतितत्त्व का विकास होता है, एवं पिण्ड का महिमारूप से पिण्ड के चारों ओर वितान लक्षण जो तेजोमण्डल बनता है, उसका आदित्यमय दिव्य सामवेद से सम्बन्ध है। 'पिण्ड-गति-वितान' (मूर्त्ति-गति-तेज) इन तीनों के समन्वय से ही वस्तु की स्वरूपनिष्पत्ति होती है, एवं वस्तुस्वरूप-सम्पादक इन तीनों का क्रमशः ऋक्-यजुः-सामवेद से ही प्रादुर्भाव हुआ है। इसी तात्त्विकवेद का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः।
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्॥
सर्वं, तेजः सामरूपं ह शश्वत्।
सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥

—तै० ब्रा०

निम्न लिखित मनु वचन भी पूर्व प्रतिपादित, 'यज्ञमात्रिक' इसी पार्थिव वेद का स्पष्टीकरण कर रहा है—

अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्-यजुः-सामलक्षणम्॥

—मनुः

यह तो हुआ तात्त्विक वेद का सामान्य विचार। अब इसके विशेष स्वरूप का भी संक्षेप से विचार कर लीजिए। किसी भी वस्तु-पिण्ड को अपने सामने रख लीजिए, और उसमें वेदतत्त्व के दर्शन कीजिए। वस्तु-केन्द्र से आरम्भ कर वस्तु-प्रधि (परिधि) की ओर अपना रुख रखने वाला, उत्तरोत्तर ह्रस्व-भाव में परिणत होता हुआ, त्रिभुज, सूचीमुख अग्नि-तत्त्व ही 'ऋग्वेद' है। ऋक् ही मूर्त्ति-भाव का स्वरूप सम्पादक है, यह कहा जा चुका है। यह अग्निमय ऋग्वेद चूकि (हृदय से परिधि की ओर) क्रमशः उत्तरोत्तर छोटा होता जाता है, यही

कारण है कि, हम पुरोऽवस्थित वस्तुपिण्ड से ज्यों ज्यों दूर हटते जाते हैं, त्यों त्यों उस वस्तु का आकार हमें उत्तरोत्तर छोटा दिखलाई पडता है।

अब स्थिति को विपरीत बना दीजिए। प्रधि से आरम्भ कर केन्द्र की ओर अपना रुख रखनेवाला, तथा प्रधि से केन्द्र की ओर उत्तरोत्तर छोटे मण्डल बनानेवाला, साथ ही साथ केन्द्र से प्रधि की ओर उत्तरोत्तर बडा मण्डल बनानेवाला वर्त्तुल-वृत्ताकार मे परिणत, तेजोमय आदित्य तत्त्व ही 'सामवेद' है। अपने सामने रक्खे हुए वस्तु-पिण्ड पर दृष्टि डालिए स्थिति का भलीभांति स्पष्टीकरण हो जायगा। जिस प्रदेश में आप खडे हैं, उस प्रदेश को एक स्थिर प्रदेश मानते हुए, वहां से उस पुरोऽवस्थित वस्तु-पिण्ड को केन्द्र में समझते हुए एक मण्डलात्मिका रेखा खींच दीजिए। आपके प्रदेश से बना हुआ वह रेखात्मक मण्डल, जिसके कि केन्द्र मे वह वस्तु-पिण्ड प्रतिष्ठित रहेगा 'साम' कहलाएगा। इस रेखात्मक मण्डल के जिस एक प्रदेश पर खडे हुए आप केन्द्रस्थित वस्तुपिण्ड का जितना-आकार देख रहे हैं, इसी मण्डल के अन्य प्रदेशों में खड़े होकर जितने भी व्यक्ति मण्डलमध्यवर्त्ती उस वस्तुपिण्ड पर दृष्टि डालेंगे, सब को वस्तु का समान ही आकर दिखलाई देगा। वस्तु-पिण्ड ऋक् है, और पिण्ड कभी दृष्टि का विषय नहीं बनता। पिण्ड केवल स्पृश्य है उसे आप छू-भर सकते हैं, देख नहीं सकते। दृष्टि का विषय तो एकमात्र सामात्मक मण्डल ही बनता है। 'जिसे आप देख रहे हैं, उसे छू नहीं सकते, जिसे आप छू रहे हैं, उसे देख नहीं सकते' यही वेद महिमा है। देखा जाता है साममण्डल, छूआ जाता है ऋक्-पिण्ड। दोनों मे ऋक्-तत्त्व (केन्द्रस्थित वस्तु-पिण्ड) उस मण्डलात्मिका रेखा पर खडे हुए यच्चयावत् व्यक्तियों की दृष्टि मे समानाकार बना हुआ है, अतएव **'ऋचा समं मेने, तस्मात् साम'** इस निर्वचन के अनुसार इस ऋक् सम रेखात्मक मण्डल को अवश्य ही 'साम' कहा जा सकता है।

अपिच, आपको यह मान लेने मे भी कोई आपत्ति न होगी कि, प्रत्येक वस्तु-पिण्ड का अवसान वस्तु के बहिर्मण्डल-लक्षण रेखात्मक मण्डल पर ही होता है। मण्डल तक ही वस्तु का स्वरूप-दर्शन सम्भव है। ये मण्डल सहस्र होते हैं, यह बात दूसरी है। इसी आधार पर **'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'** कहना भी ठीक बन जाता है। परन्तु प्रत्येक दशा में मण्डल ही वस्तु की अवसानभूमि बनता है। अवसान ही 'साम' है। और अपने इस अवसान-भाव के कारण भी ये मण्डल साम' नाम से व्यवहृत हुए हैं।

दूसरी दृष्टि से 'साम' शब्द के रहस्यार्थ का अवलोकन कीजिए। वस्तु पिण्ड में वस्तु-पिण्ड के केन्द्र से स्पर्श करता हुआ, परिणाह के अवारपार अपनी व्याप्ति रखता हुआ रेखा-

भाव ही 'विष्कम्भ' (व्यास-डायमिटर) कहलाता है। यह विष्कम्भ ही वस्तु-पिण्ड की मूल-प्रतिष्ठा माना गया है। अतएव पिण्ड सम्बन्ध से हम अवश्य ही विष्कम्भ को "ऋक्" कह सकते हैं। विष्कम्भ यदि 'ऋक्' है, तो परिणाह (रेखात्मक बहिर्मण्डल, घेरा) साम है। मण्डल को ही तो पूर्व में साम बतलाया गया है। यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, वस्तु-पिण्ड-मध्यवर्त्ती व्यास को यदि त्रिगुणित बना दिया जाता है, तो वस्तु का बहिर्मण्डल बन जाता है। प्रत्येक वस्तु का परिणाह उस वस्तु के विष्कम्भ से त्रिगुणित होता है। दूसरे शब्दों में त्रिगुणित व्यास ही वस्तु का बहिर्मण्डल है। चूंकि व्यास ऋक् है, मण्डल साम है, एवं व्यास की अपेक्षा से मंडल त्रिगुणित है, अतएव 'त्र्यृचं साम' इस सिद्धान्त के अनुसार तीन ऋचाओं (तीन व्यासों) का एक साम (मण्डल-परिणाह) माना गया है। यह भी एक रहस्य का विषय है कि, जितनी देर में एक ऋङ्मन्त्र का उच्चारण होता है, उससे तिगुनी देर में यदि उसी ऋङ्मन्त्र का उच्चारण होता है, तो 'त्र्यृचं साम' परिभाषा के अनुसार वह ऋङ्मन्त्र ऋङ्मन्त्र न रह कर साममन्त्र कहलाने लगता है, जिस रहस्य का स्पष्टीकरण अन्यत्र उपनिषद्-भूमिकादि ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

अब तीसरे क्रमप्राप्त 'यजुर्वेद' का विचार कीजिए। यद्यपि सर्वसाधारण की दृष्टि से 'ऋक्-यजुः-साम' यह क्रम है। परन्तु तात्त्विकदृष्टि से 'ऋक्-साम' का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं यजु का एक स्वतन्त्र विभाग है। विष्कम्भ और परिणाह दोनों सम-सम्बन्धी हैं, दोनों से सीमित यजु पृथक्-जातीय है। अतएव तात्त्विक दृष्टि से वेदत्रयी का "ऋक्-साम-यजुः" यही क्रम सुव्यवस्थित बनता है। और इसी क्रम को प्रधान मान कर ऋक्-साम के निरूपण के अनन्तर होने वाले यजुः-निरूपण को क्रमप्राप्त कहा गया है।

ऋक्-विष्कम्भ है, साम परिणाह है, और ये दोनों ही 'वयोनाध' (आयतन-छन्द) मात्र हैं। विष्कम्भ भी कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है, एवं परिणाह भी सत्ताभाव से पृथक् है। दोनों केवल भातिसिद्ध पदार्थ हैं। जिसके ये विष्कम्भ-परिणाह हैं। दूसरे शब्दों में जिसका यह व्यास है, जिसका यह मंडल है, व्यास-मण्डलावच्छिन्न वही तत्त्व "वय" है, एवं इसी तत्त्व का नाम 'यजुर्वेद' है। यजु एक वस्तुतत्त्व है, सत्तासिद्ध पदार्थ है। अतएव इसे 'पुरुष' कहा गया है। पाठक यह अनुभव करेंगे कि, व्यास और मंडल कोई अस्तिभावोपेत तत्त्व नहीं है। जिसके ये व्यास-मण्डल हैं, सत्तासिद्ध तत्त्व तो एकमात्र वही है। व्यास किसी वस्तुतत्त्व का होता है, मण्डल किसी वस्तुतत्त्व का बनता है, एवं वही वस्तुतत्त्व 'यजुर्वेद' है। ऋक् 'महोक्थ' है, साम-'महाव्रत' है, एवं यजु-'पुरुष' है। महोक्थ-महाव्रतरूप ऋक्-साम आय-

तन हैं, पुरुषरूप यजु इस ऋक् सामायतन में प्रतिष्ठित रहने वाला वस्तु-तत्त्व है। द्रवत्त्व-गुरुत्व उत्क्षेपणत्त्व-अपक्षेपणत्त्व आदि धर्म्मों की आश्रयभूमि ऋक्-साम से वेष्टित यजु-पुरुष ही बना करता है। इसी आधार पर 'ऋक्-सामे यजुरपीतः' (शत० ब्रा० १०।१।१।६।) यह श्रौत सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

'पार्थिवयज्ञमात्रिक' वेद की मूलप्रतिष्ठा 'सौर-गायत्री मात्रिक' वेद माना गया है। सौर-प्रजापति सावित्री के पराङ्मुख हो जाने से गायत्री के साथ दाम्पत्यभाव मे परिणत होकर ही त्रयीवेद के आधार पर अपने सम्वत्सर यज्ञ मे, एवं तद् द्वारा पार्थिव-वेदसंस्था के स्वरूप समर्पक बने हुए हैं। 'सैषा त्रयी-विद्या तपति'-'तद्धैतदविद्वांस अप्याहुः–त्रयी वा एषा विद्या तपति-इति' (शत० १०।५।६) इत्यादि श्रुतियाँ सूर्य्यसस्था को भी वेदमयी बतला रहीं हैं। यही सौर वेद 'गायत्रतेज' के सम्बन्ध मे 'गायत्री-मात्रिक' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। गायत्रतेज सूर्य्य का वह तेज है, जो सूर्य्यबिम्ब से निकलने वाली रश्मियों के प्रतिफलन से (भूपिण्ड से, तथा वायुस्तर से टकरा कर) वापस जाता हुआ पदार्थों के प्रत्यक्ष का कारण बनता है। वेदमयी सौर-रश्मियाँ पदार्थ-पृष्ठों पर आकर तदाकाराकारित होती हुई हमारे चक्षु-पटल पर आकर पदार्थ-प्रत्यक्ष का कारण बनतीं हैं। रात्रि में सौर-ज्योतिर्म्मय इन्द्रभाग अस्त रहता है, अतएव बिना दीपादि का आश्रय लिए रात्रि मे वस्तु-प्रत्यक्ष नहीं होता। दीपादि-प्रकाश भी परम्परया सौर-प्रकाश ही है। विद्युत् साक्षात् 'इन्द्र' है, जैसा कि 'यदेतदा विद्योतते विद्युत्' (केनोपनिषत्) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से स्पष्ट है। 'तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' के अनुसार द्युलोकानुगत सूर्य्य इन्द्रप्रधान माना गया है। ऐन्द्र-ज्योति ही सौर-ज्योति है। ताप अग्नि (वैश्वानर अग्नि) का धर्म्म है, प्रकाश इन्द्र का धर्म्म है। अग्नि-ज्वाला (अर्चि) में जो प्रकाश दिखाई पडता है, वह इन्द्र की ही महिमा है। वरुण द्वारा प्रतिमूर्च्छित इन्द्र का ही नाम 'तैल' है। वरुणभाग धूम रूप मे परिणत होकर निकलता रहता है, तैलगत इन्द्र ज्योति रूप से विकसित होता रहता है। स्प्रीट-मिट्टी का तेल-कर्पूर-घृत-आदि जितने भी दाह्य पदार्थ हैं, सब में वरुण से मूर्च्छित सौर-इन्द्रतत्त्व प्रतिष्ठित है। इन्हीं सब कारणों से हमे मान लेना पडता है कि, पदार्थ-प्रत्यक्ष मे साधनरूप जितने भी वस्तु-भाव हैं, कहीं साक्षात्रूप से, एवं कहीं परम्परया उन सब का मूलकारण सौर-इन्द्र ही है। सबका सौर-ज्योति मे ही अन्तर्भाव है। इसी प्रकार चन्द्रमा का ज्योति भाग भी उसका अपना नहीं है। अपितु 'इत्था चन्द्रमसो गृहे' इत्यादि ऋग्वर्णन के अनुसार सौर-रश्मियों के द्वारा ही चान्द्र-सोमपिण्ड ज्योतिर्म्मय बन रहा है।

सूर्य्य बिम्ब से निकल कर सीधा-साक्षात्-रूप से पृथिवी की ओर आने वाला सौर तेज 'सावित्री' है, एवं पृथिवी, तथा पार्थिव पदार्थों से टकरा कर प्रतिफलित होता हुआ वापस सूर्य्य-दिक् की ओर जाने वाला सौरतेज 'गायत्री' है। आता हुआ सौर-तेज (सावित्री) कभी पदार्थ-प्रत्यक्ष का कारण नहीं बनता, अपितु जाता हुआ (प्रतिफलित) सौरतेज (गायत्री) ही प्रत्यक्ष का कारण बनता है। स्वयं सूर्य्यपिण्ड के दर्शन भी हम इस गायत्री के अनुग्रह से ही कर रहे हैं। इस पदार्थ-प्रत्यक्षीकरण से ही सौर-ज्योतिर्म्मय वेद 'गायत्री-मात्रिक-वेद' कहलाया है। स्वयं सूर्य्य बिम्ब 'महद्रुक्थ' है, ये ही ऋचाएँ हैं, एवं यही 'ऋग्लोक' है। सौर-रश्मिमण्डल 'महाव्रत' है, ये ही सहस्र साम हैं, एवं यही 'सामलोक' है। बिम्ब और मण्डल से सीमित, वयलक्षण जो 'पुरुपाग्नि' है, वस्तुतत्त्व है, वही यजु है, यही 'यजुर्लोक' है। सूर्य्य क्या तप रहा है, महदुक्थ-महाव्रत-पुरुष लक्षण त्रयीविद्या तप रही है। त्रयीमयी, त्रिगुणमूर्त्ति इसी सौर-वेदसंस्था का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

'यदेतन्मण्डलं तपति—तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतद्-र्चिर्दीप्यते-तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्-मण्डले पुरुषः—सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति'।

—शत० ब्रा० १०।

इस भूत-भौतिक विश्व में जो कुछ 'अस्ति' (है) कहने योग्य है, उस अस्तित्त्व की मूल प्रतिष्ठा 'उपलब्धिवेद' ही माना गया है। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस जाबाल सिद्धान्त के अनुसार विश्व एवं विश्व में रहनेवाली प्रजा, सब अग्नि-सोम का सम्मिश्रणमात्र है। अग्नितत्त्व त्रयीवेद का प्रवर्त्तक बनता है, सोमतत्त्व अथर्ववेद का प्रवर्त्तक बनता है। विशेष धर्म्मों के समन्वय से यह वेद यज्ञमात्रिक-गायत्रीमात्रिक-उपलब्धि आदि अनेक भागों में विभक्त होकर विश्व-वैचित्र्य का कारण बन रहा है। 'उपलब्धिवेद' के तात्त्विक स्वरूप को अवगत कर लेने पर पाठकों को यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि, 'अस्ति-लक्षणा उपलब्धि' की दृष्टि से विश्व, तथा विश्वान्तर्गत उपलब्ध होनेवाले-चर-अचर पदार्थ, सब कुछ वेदमय है। किसी भी पदार्थ को वेदमर्य्यादा से बाहर नहीं निकाला जा सकता। 'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' के अनुसार वेद ही सब का प्रभव-प्रतिष्ठा, एवं परायण है। वेद की यही सर्वारम्भकता 'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः' इत्यादि मन्त्रवर्णन से भी सिद्ध हो रही है। जब

कि पूर्व श्रुति सूर्य्य को त्रयी-विद्यामूर्त्ति बतला रही है, एवं सूर्य्य को ही जब त्रैलोक्यप्रसूति का कारण माना जा रहा है, तो हम अवश्य ही परम्परया वेद को ही 'सर्वप्रतिष्ठा' मानने के लिए सन्नद्ध हैं। पञ्चतन्मात्राओं (गुणभूतों) से भूतों (अणुभूतों की एवं रेणुभूतों की) की उत्पत्ति बतलाई जाती है। भूतों के पञ्चीकरण से पञ्चमहाभूतात्मक विश्व, एवं विश्वप्रजा का उद्गम बतलाया जाता है। इधर विश्वमूलभूत पञ्चतन्मात्राओं का विकास वेदतत्त्व से माना गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

शब्दः-स्पर्शश्च-रूपश्च-रसो-गन्धश्च-पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः॥

—मनु

उक्त तात्त्विक-वेद के दिग्दर्शन से विज्ञ पाठकों को विदित हुआ होगा कि, केवल शब्दात्मक वेदग्रन्थों पर ही वेद शब्द की इतिकर्त्तव्यता (व्याप्ति) समाप्त नहीं है। रहस्य-ज्ञान के विलुप्त-प्राय हो जाने से जिन महानुभावों नें वेद का मौलिक स्वरूप भुलाते हुए वेदग्रन्थों पर ही वेदनिष्ठा समाप्त समझ रक्खी है, उनसे हम नम्र निवेदन करेंगे कि, शब्दवेद भक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए वे उस तात्त्विक वेदतत्त्व की ओर भी अपना ध्यान आकर्षित करें, जिसके कि स्पष्टीकरण के लिए आप्तमहर्षियों के द्वारा वाक्य रचनात्मक ये वेदग्रन्थ हमारे सामने आए हैं। केवल वेदग्रन्थों पर ही वेदनिष्ठा-समाप्त करनेवालों से प्रश्न हो सकता है कि, क्या इन ग्रन्थों से, ग्रन्थान्तर्गत सूक्त मन्त्र-गाथा-कुम्ब्या-नाराशंस आदि से गन्धादि पञ्चतन्मात्राओं का विकास सम्भव है? क्या त्रयीघन सूर्य्य इन ग्रन्थों की राशि है? मुकुलित-नयन बन कर उत्तर सोचिए।

वस्तुस्थिति क्या है? इस सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। वेदतत्त्व मौलिक-तत्त्व है, एवं इसी से पञ्चतन्मात्राओं की प्रसूति के द्वारा सब की उत्पत्ति हुई है। इधर वेदग्रन्थों को 'वेद की पुस्तक' कहा जा सकता है। आप्तमहर्षियों नें अपनी आर्षदृष्टि से चिरकालिक परीक्षा के द्वारा नित्य वेदतत्त्व का स्वरूप-परिचय प्राप्त किया, एवं अस्मदादि के कल्याण के लिए उस गुप्त-वेदतत्त्व का रहस्य स्पष्ट करने के लिए अपनी प्राकृतिक, रहस्यभाषा में ही उसे शब्दप्रपञ्च द्वारा ग्रन्थरूप से हमारे सामने रक्खा। सचमुच यह एक अद्भुत चमत्कार है कि, नित्य, कूटस्थ, अपौरुषेय मौलिक वेद-तत्त्व का जैसा स्वरूप है, उसी के अनुरूप शब्दवेद का गुम्फन हुआ है। जैसा कि निम्न लिखित कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है।

अग्नि 'ऋक्' है। एवं पूर्वप्रतिपादित 'वषट्कारविज्ञान' के अनुसार अग्नि की व्याप्ति २१ वें अहर्गण तक मानी गई है। ऋङ्मूर्त्ति अग्नि, किंवा अग्निमूर्त्ति ऋक् के २१ पर्व होते हैं। २१ भागों में विभक्त अग्निमूर्त्ति ऋक्तत्त्व का स्पष्टीकरणवाले शब्दात्मक ऋग्वेद के भी २१ शाखा-भेद हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं—'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्'। ऋण-धनविज्ञानानुसार तत्त्वात्मक, वायुमय यजुर्वेद धन-भाव के कारण १०१ भागों में विभक्त है, इसी रहस्य को सूचित करने के लिए तत्प्रतिपादक यजुर्ग्रन्थ की भी १०१ ही शाखाएँ हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं—'एकशतमध्वर्युशाखाः'। बर्हिर्मण्डलात्मक सामतत्त्व के एक सहस्र अवान्तर मण्डल बनते हैं। सामतत्त्व सदा एक सहस्र भागों में विभक्त रहता है। इसी आधार पर तद्रहस्य भेदक शब्दात्मक सामवेद-ग्रन्थ के भी सहस्र ही शाखा-भेद हुए हैं—'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'। दशविध-स्तोमात्मक अथर्ववेद ऋणभाव के कारण ६ भागों में विभक्त रहता है। अतएव तत्प्रतिपादक शब्दात्मक अथर्ववेद-ग्रन्थ को भी ६ ही शाखाओं में विभक्त करना आवश्यक समझा गया है—'नवधाऽऽथर्व्वणोवेदः'।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, अग्नि-वायु-आदित्य इस देवत्रयी के साथ ऋक्-यजुः-सामात्मिका वेदत्रयी का क्रमिक सम्बन्ध है। साथ ही में 'अग्निः सर्वा देवताः' के अनुसार अग्नि-वायु-आदित्य, तीनों एक ही अग्नितत्त्व की तीन अवस्थाविशेषमात्र हैं। दूसरे शब्दों में तीनों अग्नि ही हैं। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न, घनावस्थापन्न अग्नि-(अग्नि)-मय ऋग्वेद महापृथिवी के (त्रिवृत्स्तोमस्थानीय) पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित है। पञ्चदश-स्तोमावच्छिन्न, तरलावस्थापन्न अग्नि-(वायु)-मय यजुर्वेद महापृथिवी के (पञ्चदश-स्तोमस्थानीय) अन्तरिक्षलोक में प्रतिष्ठित है। एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न, विरलावस्थापन्न अग्नि-(आदित्य)-मय सामवेद महापृथिवी के (एकविंशस्तोमस्थानीय) द्युलोक में प्रतिष्ठित है। निष्कर्षतः तीनों वेद अग्निमय ही हैं, एवं तीनों क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ लोकों की विभूतियाँ बने हुए हैं। वेदतत्त्व के इसी अग्नि-भाव का स्पष्टीकरण करने के लिए तत्प्रतिपादक शब्दात्मक तीनों वेदों का आरम्भ 'अग्नि' से ही हुआ है। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋग्वेदोपक्रम)—'अग्ने[1] ! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' (यजुर्वेदोपक्रम) 'अग्न आयाहि वीतये'

---

१ यद्यपि प्रचलित शुक्ल-यजुर्वेदसंहिता का उपक्रम "इषे त्वोर्जे त्वा०" इत्यादि मन्त्र से देखा जाता है, तथापि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर इसका उपक्रम "अग्ने ! व्रतपते०" इत्यादि मन्त्र को ही मानना

(सामवेदोपक्रम) इत्यादि उपक्रम मन्त्र ही यह स्पष्ट करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, वेदमन्थ वेदतत्त्व की साक्षात प्रतिकृति है।

अग्निमय-ऋग्वेद का हमनें त्रिवृत्स्तोमरूप पृथिवीलोक से सम्बन्ध बतलाया है। पृथिवी हमारे समीप है, पुरोऽवस्थित है। पार्थिव अग्नि हमारे सामने रक्खा है। इसी साम्मुख्य, किंवा सामीप्य के कारण पार्थिव ऋङ्मय अग्नि को 'पुरोहित' कहना सर्वथा अन्वर्थ बनता है। चूंकि ऋग्वेद पार्थिव, पुरोहित, अग्नि-प्रधान है, अतएव तत्प्रतिपादक ऋग्वेदमन्थ का उपक्रम भी पुरोधा-पार्थिव अग्नि की स्तुति से ही हुआ है। दूसरे शब्दों में यह कह लीजिए कि, पार्थिव ऋगग्नि हमारे सामने रक्खा है, एवं ऋग्वेद में इसी का प्राधान्य है, अतएव इसे 'पुरोहित' शब्द से व्यवहृत किया गया है।

कर्म्म को ही 'व्रत' कहा जाता है। कर्म्म क्रियातत्त्व है, क्रिया गतितत्त्व है, इधर वायुमय यजुर्वेद गतिभावात्मक बनता हुआ व्रत (कर्म्म) का पति (अधिष्ठाता—सञ्चालक) है। वायुमय यजुर्वेद का पञ्चदशस्तोमरूप अन्तरिक्षलोक से सम्बन्ध बतलाया गया है। प्रत्येक कर्म्म अपने सञ्चार के लिए अन्तरिक्षप्रदेश (अवकाश) की अपेक्षा रखता है। अन्तरिक्ष प्रदेशस्थ वायुतत्त्व ही प्राणरूप से गतिभाव का प्रवर्त्तक बनता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर आन्तरिक्ष्य, वायुमय यजुरग्नि को 'व्रतपति' शब्द से व्यवहृत किया गया है।

आदित्यमय सामवेद का एकविंशस्तोमरूप द्युलोक से सम्बन्ध बतलाया गया है। द्युलोकस्थ यह आदित्यात्मक अग्नि पृथिवी पर रहनेवाले अस्मदादि पार्थिव प्राणियों की अपेक्षा बड़ी दूर है। द्युलोकस्थ साममय आदित्याग्नि के इसी विदूर-धर्म्म को व्यक्त करने के लिए इसके सम्बन्ध में 'आयाहि' कहा गया है। जो हमसे दूर होता है, उसी के लिए

उचित प्रतीत होता है। याज्ञिक-कर्म्म की सङ्गति के लिए ही 'इषे त्वा०' इत्यादि को पहिले पढ़ दिया गया है। 'इष्टि' कर्म्म के पहिले दिन (इन्द्र के लिए "साम्नाय्य"—(दधि) तय्यार करने के लिए) गोदोहन कर्म्म होता है। इस कर्म्म में गोवत्स-अपाकरणार्थ पलाशशाखा तोड़ी जाती है। इसी कर्म्म में 'इषे त्वा-उर्जे त्वा-(छिनद्मि)' (अन्न के लिए, एवं भुक्तान्न से उत्पन्न होने वाले ऊर्क् रस के लिए तुम्हें काटता हूँ) इस मन्त्र का विनियोग हुआ है। वस्तुतः संहिता का आरम्भ तो 'अग्ने ! व्रतपते०' से ही मानना चाहिए। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, उपलब्ध होने वाला 'शतपथ ब्राह्मण' उपलब्ध होने वाली शुक्ल-यजु संहिता की व्याख्या माना गया है। एवं शतपथ ने 'ओं व्रतमुपैष्यन्नन्तरेण०' से आरम्भ करते हुए 'अग्ने व्रतपते०' को ही प्रथम मन्त्र माना है।

'आयाहि' शब्द प्रयुक्त होता है, यह सार्वजनीन है। इस प्रकार अग्नि-वायु-आदित्यात्मक ऋक्-यजुः-सामतत्त्वों के निरूपक ऋक्-यजुः-सामवेदग्रन्थों के उपक्रमभावों से सम्बन्ध रखने वाले 'पुरोहितम्'—'व्रतपते'—'आयाहि' शब्द यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, वेदग्रन्थ तत्त्वात्मक नित्यवेद के अनुरूप ही प्रवृत्त हुए हैं।

पार्थिव अग्नि को हमने घनावस्थापन्न बतलाया है, एवं इसी को ऋङ्मय बतलाते हुए मूर्त्ति (पिण्ड) का प्रवर्त्तक सिद्ध किया गया है। मूर्त्ति का सरलता से ग्रहण हो जाता है, क्योंकि अपने पिण्डभाव के कारण मूर्त्ति सीमित होती है। मूर्त्ति-सम्पादक पार्थिव मौलिक ऋग्वेद के इसी सीमाभाव को व्यक्त करने के लिए तत्प्रतिपादक ऋग्वेदग्रन्थ पद्यरूप से ही हमारे सामने आया है। अर्थब्रह्मविवर्त्त में जो स्थान मूर्त्तिभाव (पिण्डभाव) का है, शब्द-ब्रह्मविवर्त्त में वही स्थान 'पद्यभाव' का है।

आन्तरिक्ष्य अग्नि को तरलावस्थापन्न बतलाते हुए इसे 'वायु' शब्द से सम्बोधित किया गया है, एवं इसी प्राणवायु को यजुर्मय सिद्ध करते हुए इसे गतिभाव का प्रेरक माना गया है। वायुतत्त्व ऋत है, असीम-सा है, इतस्ततः बिखरा-सा है। पिण्डवत् इसमें सीमा नहीं रहती। वायुमूर्त्ति यजुः के इसी विशकलित भाव को व्यक्त करने के लिए तत्प्रतिपादक यजुर्वेदग्रन्थ गद्यरूप से हमारे सामने आता है। समतुलन की दृष्टि से वायु—और गद्यवाक्, दोनों एक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं।

पिण्ड ही अपने प्राणभाग से वितत होकर (फैलकर) महिमामण्डलरूप में परिणत होता है, पार्थिव पिण्डाग्नि, किंवा ऋगग्नि ही फैल कर विरलाग्नि, किंवा सामाग्नि रूप में परिणत हुआ है। ऋक् के वितानभाव का ही नाम 'साम' है। इसी वितानभाव को 'गान' कहा जाता है। विष्कम्भात्मिका एक ऋक् के त्रिगुण-भाव से परिणाहात्मक एक साम का स्वरूप निष्पन्न होता है, यह पूर्व में कहा ही जा चुका है। इसी आधार पर साममन्त्रों का वितान-भावात्मक 'गीतिभाव' में विनियोग हुआ है, जो कि गीति-कर्म्म उद्गानभाव से 'औद्गात्रकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। वितानभाव, एवं गानभाव दोनों समतुलित हैं, जैसा कि—'गीतिषु सामाख्या' इत्यादि आप्तवचन से भी प्रमाणित है।

इन कुछ एक उदाहरणों के दिग्दर्शन से वेद-प्रेमी महानुभाव इस निश्चय पर पहुंचे होंगे कि, परीक्षक-द्वारा यथार्थदृष्ट, प्रकृतिसिद्ध, तत्त्वात्मक नित्य-विज्ञान ही मौलिक वेद है। एवं इस मौलिक-तत्त्वात्मक-वैज्ञानिक-नित्य-कूटस्थ-अपौरुषेय वेद का स्वरूपप्रदर्शक, महर्षिप्रणीत वाक्यसंग्रहग्रन्थ मौलिकवेद की पुस्तक है। हां, इस सम्बन्ध में यह तो स्मरण रखना ही

पड़ेगा कि, मन्त्रवाक् साधारण लौकिकवाक् से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। मन्त्रवाक् अलौकिकवाक् है। मन्त्रवाक् का निर्म्माण नहीं होता, गुम्फन होता है। मन्त्रनिर्म्माण प्राकृतिक वेदतत्त्व के आधार पर उसी के अनुरूप हुआ है। उस विज्ञान-वेद में जैसी स्वरलहरी है, ठीक वही स्वरलहरी मन्त्र मे रक्खी गई है। उसका जैसा, जो छन्द है, इसका भी वैसा, वही छन्द रक्खा गया है, एवं यही मन्त्र का मन्त्रत्त्व है। बिना अर्थ समझे भी यदि कोई द्विजाति यथानुरूप मन्त्रपारायण करता है, तो इस पारायणमात्र से भी मन्त्र से सम्बद्ध प्राणदेवता आकर्षित हो जाता है। यदि कोई मन्दबुद्धि मन्त्र के मन्त्रत्त्व से परिचय न रखता हुआ, इसे लोकवाक् की तरह एक साधारणवाक् समझने की भूल करता हुआ अस्त-व्यस्त ढंग से इसका उच्चारण कर बैठता है, तो वह अभ्युदय के स्थान में अपना नाश करा बैठता है, जैसा कि पूर्व मे भी स्पष्ट किया जा चुका है। आज कितने एक महानुभाव यह भी कहते सुने गए हैं कि, गायत्री आदि औपासनिक मन्त्रों का लोकभाषा मे सरल-अनुवाद कर क्यों नहीं इन मन्त्रों को सर्वसाधारण के लिए उपयोगी बना दिया जाय? सभ्यता की दृष्टि से अनुचित समझते हुए भी हमें इस सम्बन्ध मे इस कटु-सत्य का आश्रय लेना ही पड़ता है कि, जो महानुभाव इस प्रकार वेदमन्त्रों के सम्बन्ध में 'तान् विन्देत चतुस्पदान्तजनता, चेष्टेत साप्युत्पथम्' को चरितार्थ करने का सुख-स्वप्न देख रहे हैं, वे वेदशास्त्र के महत्त्व से सर्वथा अपरिचित हैं। वे यह नहीं जानते कि, मन्त्रवाक् एक विज्ञानवाक् है, एवं, इसका प्रत्येक अवयव मौलिकतत्त्व से सम्बद्ध है। इसके प्रयोगो के सम्बन्ध मे मानवीय कल्पना का प्रवेश एकान्ततः निषिद्ध है। मन्त्रवाक् के इसी अतिशय के कारण ऋषि-प्रणीत होता हुआ भी वेदशास्त्र-ऋषिदृष्ट माना गया है। सचमुच वेदमन्त्र ऋषियो की रचना होती हुई भी, रचना नहीं है। कारण जिस प्रकार अस्मदादि अनाप्त व्यक्ति जिस ढंग से शब्द रचना किया करते हैं, वेदमन्त्रो की रचना वैसे नहीं हुई है। अपितु सत्या-अनादिनिधना-वाक् के आधार पर ऋषियो के द्वारा प्राकृतिक नियमों के आधार पर ही वेदवाक् का गुम्फन हुआ है, एव यही हमारे इस शब्दात्मक वेदशास्त्र की अपौरुषेयता, तथा निर्भ्रान्तता है। इसी लिए वेदशास्त्र भारतीय कर्म्मकलाप के सम्बन्ध मे एकमात्र निर्णायक माना गया है, जो कि निर्णय वेद के उक्त स्वरूप जान लेने पर विशेष निष्ठा का कारण बन जाता है।

विज्ञानात्मक नित्यवेद, तथा विज्ञानवेदप्रतिपादक शब्दवेद दोनों में से शब्दवेद ही हमारे लिए उपयोगी है। इसी से हमें कर्त्तव्य-कर्म्म की शिक्षा मिलती है। अतएव प्रस्तुत 'कर्म्मयोग' के सम्बन्ध में हम शब्दात्मक वेद को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनावेंगे। **'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार शब्दात्मक वेदशास्त्र 'मन्त्र-ब्राह्मण' भेद से दो भागों में विभक्त है। मन्त्र को 'ब्रह्म' कहा जाता है, अतएव 'मन्त्र-ब्राह्मण' के स्थान में 'ब्रह्म-ब्राह्मण' वाक्य भी प्रयुक्त हो सकता है। मन्त्रभाग ब्रह्मवेद है, मन्त्र-व्याख्यानात्मक वेदभाग 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध है। पिण्ड-गति-वितानात्मक, प्राकृतिक ऋक्-यजुः सामात्मक, अग्नि-वायु-आदित्यमय त्रयी-वेदतत्त्व के स्वरूप परिचय के लिए पद्य-गद्य-गेयात्मक मन्त्रात्मक वेदभाग हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। पद्यात्मक मन्त्रसंग्रह 'ऋक्संहिता' है, गद्यात्मक मन्त्रसंग्रह 'यजुर्वेदसंहिता' है, एवं गेयात्मक मन्त्रसंग्रह 'सामवेदसंहिता' है। मन्त्रात्मक यह वेदभाग **'विज्ञान—स्तुति—इतिहास'** इन तीन **'ज्ञातव्य'** विषयों का ही विशेषरूप से निरूपण कर रहा है। दूसरे ब्राह्मणभाग के **'विधि—आरण्यक—उपनिषत्'** ये तीन विभाग हैं। विभागत्रयात्मक यह ब्राह्मणभाग **'कर्त्तव्य'** विषयों का निरूपण कर रहा है—(देखिए—गीताभाष्यभूमिका, बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड, पृ० सं० १४८)।

ज्ञातव्य-कर्त्तव्यभेद से वेदशास्त्र के दो विभाग—

ज्ञातव्य-कर्त्तव्यभेद से ही वेदग्रन्थ ब्रह्म-ब्राह्मणभेद से दो भागों में विभक्त हुए हैं। कुछ विषय तो ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में हम कोई प्रयोग नहीं कर सकते। उनको जान लेना ही कर्त्तव्य की विश्रान्ति है। विज्ञान-स्तुति-इतिहास, तीनों को हम इसलिए ज्ञातव्य कह सकते हैं कि, ये तीनों ही हमारे द्वारा सञ्चालित नहीं हैं। इनका जानना तो इसलिए आवश्यक है कि, हमारे कर्म्म-कलाप का सौन्दर्य्य इन्हीं तीनों के परिज्ञान पर निर्भर है। ये स्वयं कर्त्तव्य न बन कर भी कर्त्तव्य के उपोद्बलक बनते हैं। इन तीनों में इतिहास की तो अकर्त्तव्यता, तथा केवल विज्ञेयता सार्वजनीन है ही। हां, विज्ञान और स्तुति के सम्बन्ध में अवश्य ही कर्त्तव्य-प्रतिच्छाया की भ्रान्ति हो सकती है। तत्त्वपरीक्षण को भी विज्ञान कहा जाता है, एवं तत्त्वपरीक्षा एक प्रकार का कर्म्म है, ऐसी दशा में विज्ञान भाग को कर्त्तव्य-कर्म्म मानने की आशङ्का की जा सकती है। परन्तु यहां विज्ञान शब्द से परीक्षा-कर्म्म अभिप्रेत नहीं है। अपितु नित्य मौलिक-विज्ञानवेद ही यहां विज्ञान शब्द से अभिप्रेत है। उसे ग्रन्थाध्ययनकर्म्म द्वारा जान लेने से ही विज्ञान शब्द की व्याप्ति गतार्थ

है। इस विज्ञान का व्यावहारिक रूप तो यज्ञ-कर्म्म ही है, जो कि विधि-भाग द्वारा प्रतिपादित यज्ञकाण्ड में अन्तर्भूत है। इसी प्रकार संहिताभाग में जिन जिन प्राणदेवताओं की स्तुतियाँ हुई हैं, उनका उपयोग कर्त्तव्यात्मक उपासनाकाण्ड में ही हुआ है। अपने प्रातिस्विक स्वरूप से तो संहिता में प्रतिपादित स्तुति भाग केवल ज्ञातव्य ही बना रहता है। विज्ञान-स्तुति-इतिहास, तीनों के सम्यक् परिज्ञान के अनन्तर ही हमें कर्त्तव्य-कर्म्म में प्रवृत्त होना चाहिए। तभी कर्त्तव्य-कर्म्मों में हमें पूरी सफलता मिल सकती है। वे कर्त्तव्य-कर्म्म 'प्रवृत्तिकर्म्म—निवृत्तिकर्म्म—उभयकर्म्म' भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। प्रवृत्तिकर्म्म 'कर्म्मयोग' है, निवृत्तिकर्म्म 'ज्ञानयोग' है, एवं उभयकर्म्म 'भक्तियोग' है। जिस प्रकार ऋक्-यजुः-साम-अथर्वभेद भिन्न वेदशास्त्र का ब्रह्मभाग (संहिताभाग) विज्ञान-स्तुति-इतिहास-लक्षण ज्ञातव्य तीनों विषयों का निरूपण करता है, एवमेव ब्राह्मणात्मक वेद के विधि-भाग ने प्रवृत्तिकर्म्म-लक्षण 'कर्म्मयोग' का, आरण्यकभाग ने उभयलक्षण 'भक्तियोग' का, एवं उपनिषत् भाग ने निवृत्तिकर्म्म-लक्षण 'ज्ञानयोग' का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से ब्रह्म-ब्राह्मणात्मक वेदभाग से ज्ञातव्यत्रयी, कर्त्तव्यत्रयी दोनों गतार्थ बनतीं हुईं सब कुछ गतार्थ है— 'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति'। जो महानुभाव तात्त्विक वेद के रहस्य से अनभिज्ञ रहते हुए अभिनिवेश में पड़ कर केवल ब्रह्मभाग को ही 'वेद' मानने का मिथ्या-संकल्प रखते हैं, वे उक्त मनुवचन का कैसे समन्वय करेंगे ? यह उन्हीं अभिनिविष्टों से पूँछना चाहिए।

विधिभाग नामक ब्राह्मणभाग द्वारा निरूपित कर्म्मकाण्ड का भौतिक 'विश्व' से सम्बन्ध है, एवं आरण्यक, तथा उपनिषत् नामक ब्राह्मणभागों द्वारा प्रतिपादित उपास्तिकर्म्म-ज्ञानकर्म्मों का 'विश्वात्मा' से सम्बन्ध है। विश्वात्मा ही 'ईश' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि वेदोक्त 'ईश' पदार्थ आगे जाकर 'ईश्वर' नाम में परिणत हो गया है। यह ईश्वरतत्त्व सोपाधिक-निरुपाधिक भेदों से क्रमशः सगुण-निर्गुण भेदों में परिणत हो रहा है। सत्यकाम, सत्यसंकल्प, सर्वधर्म्मोपपन्न, प्राकृत-अनन्तकल्याणगुणाकर, महामायी आत्मतत्त्व ही 'सगुणब्रह्म' है। एवं अकाम, असंकल्प, निर्धर्म्मक, मायातीत, अतएव विश्वातीत, निरञ्जन, ब्रह्मतत्त्व 'निर्गुणब्रह्म' है। आरण्यकभाग का मुख्य लक्ष्य जहां उपास्य सगुणब्रह्म है, वहां उपनिषत्भाग सगुण द्वारा तटस्थवृत्ति से निर्गुणब्रह्म को ही अपना लक्ष्य बना रहा है।

ब्राह्मणवेद की इतिकर्त्तव्यता-

प्रकारान्तर से देखिए। कर्म्मकाण्ड में कर्म्म का ही साम्राज्य बतलाया जाता है, उपासना-काण्ड में ज्ञान-कर्म्म दोनों की समानता मानी जाती है, एवं ज्ञानकाण्ड में ज्ञान का ही प्राधान्य

स्वीकार किया जाता है। उपासनाकाण्ड में हम प्रत्यक्ष ही ज्ञान-कर्म्म दोनों भावों का समन्वय पाते हैं। 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शाण्डिल्य सूत्र) के अनुसार ईश्वरानुरक्ति-लक्षण, सगुणेश्वर-ध्यान ही उपासना है। यह ध्यान मानस-ज्ञानात्मक एक वृत्तिविशेष ही है, और इसी वृत्ति के आधार पर उपासना में ज्ञान का समन्वय मानना पड़ता है। इस ध्यानात्मक ज्ञान की निश्चलता के लिए, दूसरे शब्दों में मनःसंयम के लिए, स्वभावतः मूर्त्त (भौतिक) पदार्थों की ओर झुके रहने वाले मन को स्थिरता के लिए भौतिक-मूर्त्त-पदार्थों का भी माध्यम स्वीकार करना पड़ता है। सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यादि पिण्डों को मध्यस्थ बनाइए, भगवत् प्रतिमाओं को मध्यस्थ बनाइए, किसी को भी आलम्बन अवश्य बनाइए। विना ऐसा किए उपासना-सिद्धि असम्भव है। मध्यस्थ बना हुआ यह भूतभाग ही कर्म्मभाग है। और इसी दृष्टि से उपासना उभयात्मिका मानी गई है। ज्ञानकाण्ड में चूंकि सर्वकर्म्मफलत्याग-वृत्ति का प्राधान्य है, अतएव इसे हम ज्ञानप्रधान मार्ग ही कहेंगे।

इस प्रकार उक्त दृष्टि से यद्यपि सगुण-निर्गुण भेद से उपासनाकाण्ड-ज्ञानकाण्ड, दोनों योगों का पार्थक्य बन जाता है, एवं इसी दृष्टि से दोनों के लिए क्रमशः आरण्यक-उपनिषत् इन दो तन्त्रों का पृथक्-पृथक् ही निरूपण भी हुआ है, तथापि विद्या-समानता की दृष्टि से आगे जाकर दोनों काण्डों का एक काण्ड (विद्याकाण्ड) पर ही पर्य्यवसान मान लिया जाता है। सगुण-विद्या भी विद्या है, एवं निर्गुणविद्या भी विद्या है। विद्या ही ज्ञान है, अतएव सगुणविद्या का ज्ञानकाण्ड में अन्तर्भाव करते हुए तीन मार्गों के आगे जाकर कर्म्ममार्ग (योग), ज्ञानमार्ग (सांख्य) ये दो ही मार्ग शेष रह जाते हैं।

ज्ञान, एवं उपासना दोनों में ध्यानात्मिका-ज्ञानवृत्ति की ही प्रधानता मानी गई है। उधर कर्म्मकाण्ड में कर्म्म का ही प्राधान्य स्वीकृत हुआ है। अतएव भारतीय महर्षियों ने लोकसाधारण में प्रचलित कर्म्म-उपास्ति-ज्ञान, कर्त्तव्यात्मक इन तीन योगों के 'कर्म्म-ज्ञान' ये दो ही प्रधान योग माने हैं। इसमें भी यह विशेषता ध्यान में रखने योग्य है कि, कर्म्ममार्ग को एक स्वतन्त्रमार्ग माना है, एवं उपासना, तथा ज्ञानयोग दोनों का समन्वय कर दोनों का एक योग (ज्ञानयोग) माना गया है। इसी आधार पर कर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मणभाग (विधिभाग) स्वतन्त्र रक्खा गया है, एवं उपासना प्रतिपादक आरण्यकभाग को, तथा ज्ञानयोग प्रतिपादक उपासनाभाग को, दोनों को मिलाकर एक ही नाम से व्यवहृत किया गया है, जैसा कि,-'बृहदारण्यकोपनिषत्' इत्यादि वृद्धव्यवहार से प्रमाणित है। इसी श्रौत-व्यवहार के आधार पर भगवान् ने भी मध्यस्था भक्तिनिष्ठा का सर्वान्त की ज्ञाननिष्ठा में अन्तर्भाव मानते हुए 'कर्म्म-भक्ति-ज्ञान'

इन तीन निष्ठाओं के स्थान में 'कर्म्म-ज्ञान' इन दो निष्ठाओं का ही प्राधान्य सूचित किया है, जो कि दोनों निष्ठाएँ गीतापरिभाषानुसार क्रमशः 'योगनिष्ठा' (कर्म्मयोग)—'सांख्यनिष्ठा' (ज्ञानयोग) नामों से प्रसिद्ध हैं [१]।

इस प्रकार वेदशास्त्र में, एवं तदनुगत गीताशास्त्र में, दोनों में ही यद्यपि (उपासना का ज्ञानयोग में अन्तर्भाव करते हुए) कर्त्तव्यभाग को–'कर्म्मनिष्ठा-ज्ञाननिष्ठा' इन दो भागों में विभक्त मान लिया गया है, तथापि कर्त्तव्यभाग के स्वाभाविक त्रित्व की भी एकान्ततः उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि कर्त्तव्य के तीन विभाग न होते, तो कर्त्तव्यप्रतिपादक, ब्राह्मणात्मक वेदभाग के 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' ये तीन नाम न सुने जाते। ब्राह्मणवेद के सुप्रसिद्ध तीन विभागों की उपश्रुति ही इस सम्बन्ध में प्रमाण मानी जायगी कि, कर्त्तव्य-कर्म्म 'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म' भेद से तीन ही भागों में विभक्त है। अतएव वैदिकयोग को योगत्रयी ही मानना न्याय सङ्गत होगा। किसी विशेष कारण से तीन स्वतन्त्र निष्ठाओं का दो निष्ठाओं में अन्तर्भाव करते हुए भी भगवान् ने एक स्थान पर—'**तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्म्मिभ्यश्चाधिकोयोगी**' (गीता ६।४६।) यह कहते हुए तीनों निष्ठाओं का स्वातन्त्र्य स्वीकार किया है।

कर्त्तव्यात्मक वेदभाग का मुख्य लक्ष्य 'योगत्रयी' है, फलतः वैदिक-योग की व्याप्ति '**ज्ञान-उपासना-कर्म्म**' इन तीन विभिन्न योगों में सिद्ध हो जाती है। ज्ञान-कर्म्ममूर्त्ति, किंवा ब्रह्म-कर्म्ममूर्त्ति, महामायावच्छिन्न, मायी, महेश्वर के साथ तदंशरूप, अतएव ब्रह्म-कर्म्ममूर्त्ति (ही), योगमायावच्छिन्न जीवात्मा का योग करा देना ही 'योग' है। महेश्वर का ब्रह्म-विवर्त्त 'आधिदैविकप्रपञ्च' है, एवं कर्म्म विवर्त्त 'आधिभौतिकप्रपञ्च' है। आधिदैविक साधनों द्वारा अपने अध्यात्म का महेश्वर के ब्रह्म-लक्षण आधिदैविकप्रपञ्च के साथ योग करा देना ही '**ज्ञानयोग**' है, जिसकी कि मीमांसा '**ज्ञानयोग-परीक्षा**' में की जायगी। आधिभौतिक साधनों के द्वारा अपने अध्यात्म का महेश्वर के कर्म्म-लक्षण आधिभौतिकप्रपञ्च के साथ योग करा देना ही '**कर्म्मयोग**' है, जिसके कि विस्तार के लिए

---

१ लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ !
ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्म्मयोगेन योगिनाम्॥

—गी० ३।३।

प्रकृत—'**कर्म्मयोग-परीक्षा**' प्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुआ है। आधिभौतिक साधनों के द्वारा अपने अध्यात्म का महेश्वर के आधिदैविकप्रपञ्च के साथ योग करा देना ही '**भक्तियोग**' है, जिसका कि स्पष्टीकरण '**भक्तियोग-परीक्षा**' मे किया जायगा। ज्ञानयोग मे साध्य-साधन, दोनों आधिदैविक हैं, कर्म्मयोग मे साध्य-साधन, दोनों आधिभौतिक हैं, एवं भक्तियोग मे साध्य आधिदैविक है, तथा साधन आधिभौतिक है। इस योग के प्रभाव से जीवात्मा मे ईश्वरीय-बल का आधान होता है, प्राप्त ईश्वरीय बल के प्रभाव से जीवात्मा सबल बनता हुआ आगन्तुक अविद्यादि दोषों को हटाने मे समर्थ हो जाता है। दोष-निवारण से आत्मा के स्वाभाविक शान्तआनन्द, नित्यविज्ञान (चेतना), तथा प्रतिष्ठाभाव (सत्ता) का उदय हो जाता है, एवं यही इस अपूर्ण जीव की पूर्णता, तथा कृतकृत्यता है।

नित्यसिद्ध ईश्वरीय योग—

मायी महेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित रहनेवाले जीवात्मा का क्या महेश्वर की विश्वव्यापक आधिदैविक-आधिभौतिक विभूतियों के साथ योग नहीं हो रहा? इस स्वाभाविक प्रश्न के उत्तर मे अभी केवल यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, जीव के प्रज्ञापराध से उत्पन्न होनेवाले सञ्चित अविद्यादि दोषों के आवरण ने ही इसे उसके स्वाभाविक योग को अयोगवत् बना रक्खा है। उक्त योगत्रयी से उसके साथ कोई अपूर्वयोग नहीं होता। उसके साथ तो योग स्वत सिद्ध है, प्राकृतिक है। बिना उसके योग के तो जीव की स्वरूप-रक्षा ही सम्भव नहीं। ऐसी दशा मे योगत्रयी के योग का केवल यही तात्पर्य्य शेष रह जाता है कि, इन साधनरूप ज्ञानादि योगों से जीवात्मा अविद्यादि आवरणों को हटा कर स्वत सिद्ध योग-विभूति के साथ साक्षात् रूप से सम्बन्ध कर ले। साधनरूप योगों के अनुष्ठान से जिस दिन इसके आवरण हट जाते हैं, स्वतःसिद्ध ईश्वरीय योग उस दिन उसी प्रकार प्रस्फुटित हो जाता है, जैसे कि साधनयोग-स्थानीय वायु के सञ्चालन से आवरणस्थानीय मेघों के हटते ही ईश्वरीय सिद्धयोग-स्थानीय स्वतः-सिद्ध सूर्य्यप्रकाश त्रैलोक्य को प्रकाशित कर देता है। ईश्वरीय ज्ञान (ज्ञानोपलक्षित कर्म्म भी) स्वतःसिद्ध पदार्थ है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
> तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
>
> —गी० ४।३८।

"योग स्वतःसिद्ध है" यह स्वीकार करने पर ही 'तस्माद्योगाय युज्यस्व' (गी० २।५०) इस वाक्य का समन्वय होता है। "योग के लिए योग करो" इस आदेश का तात्पर्य्य यही है कि, नित्य सिद्ध योग के विकास के लिए साधनरूप योग का आश्रय लेना आवश्यक है। विना योगानुष्ठान के स्वाभाविक योग का उदय नहीं, विना स्वाभाविक योग के उदय के आत्मबोध नहीं, एवं विना आत्मबोध के मृत्यु-पाश से छुटकारा नहीं, जैसा कि—'तमेव[1] विदित्त्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (यजुः सं० ३१।१८) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

नित्य संसिद्ध ईश्वरीय योग के विकास के कारणभूत, कर्त्तव्यात्मक, कर्म्म भक्ति-ज्ञान,

कर्त्तव्ययोग के दो भेद— इन तीन वैदिक-योगों के 'बुद्धियुक्त-योग, अबुद्धियुक्त-योग' भेद से दो भेद मानें जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में 'गीताशास्त्र' की यह सम्मति है कि, यदि इन वैदिक-योगों के साथ 'बुद्धियोग' नामक 'समत्वयोग' का योग कर दिया जाता है, तब तो तीनों योग उपादेय बन जाते हैं, एवं बुद्धियोग के योग से वञ्चित तीनों हीं योग हेय बन जाते हैं। हमारा कर्म्म, हमारी उपासना, हमारा ज्ञान, तीनों के साथ हमारी सम-बुद्धि का योग रहे, यही 'बुद्धियोग-युक्ता योगत्रयी' है, एवं ऐसी योगत्रयी ही अभ्युदय-निःश्रेयस का कारण बनती है। ठीक इसके विपरीत सम-बुद्धि से वञ्चित योगत्रयी 'अबुद्धियुक्ता-योगत्रयी' है, एवं यह प्रत्यवाय, तथा बन्धन का कारण है।

[2]'अकामस्य क्रिया काचिद्-दृश्यते नेह कर्हिचित्' इस मानव सिद्धान्त के अनुसार मनो-व्यापारलक्षणा कामना के सहयोग के विना किसी भी कर्म्म की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। मन ही कामनाओं का मूलद्वार है, एवं काममय मन का मनस्त्व एकमात्र बुद्धि-सहयोग पर ही निर्भर है। बौद्ध-प्रकाश को लेकर ही मन अपने कामना-व्यापार मे समर्थ बनता है। दूसरे शब्दों में बौद्ध-विज्ञान-प्रकाश के आभास (प्रतिबिम्ब) से ही मन प्रज्ञामूर्त्ति (चिन्मूर्त्ति) बनता हुआ कामना का द्वार बनता है। इस परिस्थिति से हमें इसी सिद्धान्त पर पहुंचना पड़ता

---

१ यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।२०।)।

२ अकामस्य क्रिया काचिद्-दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ (मनुः २।४।)।

है कि, काममयमन बुद्धि का सहयोग प्राप्त करके ही तत्तत् शुभा-शुभ कर्म्मों में प्रवृत्त होता है। सत् कर्म्म हो, अथवा असत् कर्म्म, सर्वत्र, सभी कर्म्मों में बुद्धि का योग आवश्यक रूप से अपेक्षित है। बिना बुद्धियोग के न कर्म्म में प्रवृत्ति हो सकती, न उपासना बन सकती, एवं न ज्ञानयोग का ही अनुष्ठान सम्भव। ऐसी स्थिति में प्रश्न हो सकता है कि, "जब बिना बुद्धि-योग के योगत्रयी का अनुष्ठान असम्भव है, तो—'कर्त्तव्यात्मक योगों के बुद्धि-अबुद्धि भेद से दो भेद हो जाते हैं'—यह किस आधार पर कहा गया" ?।

प्रश्न सामयिक, एवं यथार्थ है। वास्तव में यह ध्रुव सत्य है कि, बिना बुद्धि-योग के कोई भी कर्त्तव्य-कर्म्म नहीं बन सकता। फिर भी 'योग-द्वयी' वाला उक्त सिद्धान्त अक्षुण्ण बना रह जाता है। मानस धरातल में कामना की स्फूर्ति डालने वाला बुद्धितत्त्व **'विद्याबुद्धि-अविद्याबुद्धि'** भेद से दो भागों में विभक्त है। निश्चयात्मिका एकरूपा, व्यवसायधर्म्म-लक्षणा बुद्धि 'विद्याबुद्धि' है। एवं अनिश्चयात्मिका, बहुशाखा, अव्यवसाय-लक्षणा बुद्धि 'अविद्याबुद्धि' है। व्यवसायात्मिका विद्याबुद्धि मन पर शासन करती हुई, (अतएव) विषय-संसर्ग से उत्पन्न संस्कारों के लेप से सर्वथा असंस्पृष्ट (असङ्ग) रहती हुई स्व-ज्ञानप्रकाश से आत्मा के सत्वभाग का उपकार करती है। इधर अव्यवसायात्मिका बुद्धि मन से शासित होती हुई, (अतएव) विषयसंस्कार-लेप में लिप्त होती हुई अपने ज्ञान-प्रकाश से अभिभूत बन कर आत्मा के सत्वभाग को मलिन बना देती है। व्यवसायधर्म्म बुद्धि का ज्ञान-धर्म्म है, एवं अव्यवसाय वृत्ति बुद्धि का अज्ञान-धर्म्म है। व्यवसायात्मिका बुद्धि ज्ञान-लक्षणा है, एवं अव्यवसायात्मिका बुद्धि अज्ञान-लक्षणा है।

यद्यपि अव्यवसायात्मिका बुद्धि भी बुद्धि अवश्य है, और अपने इसी स्वतःसिद्ध बुद्धि-भाव के (बुद्धित्व के) कारण यह अपने ज्ञान-धर्म्म से भी वञ्चित नहीं मानी जा सकती, तथापि चूंकि यह ज्ञान अज्ञानात्मक-संस्कार लेप के आवरण से आवृत रहता है, अतएव बुद्धि का यह स्वतःसिद्ध ज्ञान-धर्म्म अज्ञानरूप में परिणत हो जाता है। अज्ञानावृत, स्वल्प ज्ञान ही अज्ञान है, यही अविद्या है, एवं यही अविद्या मोह[1] की अन्यतम प्रतिष्ठाभूमि है। इसी दृष्टि से इस अज्ञानावृता बुद्धि को 'अविद्याबुद्धि' कहा जाता है, एवं ज्ञानात्मिकाबुद्धि को 'विद्याबुद्धि' कहा जाता है। अविद्याबुद्धि में संस्कारलेपरूप अज्ञान का जो सम्पर्क है, वही उत्तरोत्तर

---

१ "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"। (गी० ५।१५।)।

कर्म्मासक्ति का जनक बनता है। यही आसक्ति आत्मबल की उत्तरोत्तर आवरक बनती जाती है। ऐसी अविद्याबुद्धि ज्ञानलक्षण, प्रातिस्विक स्व-धर्म्म से अभिभूत है, स्व-धर्म्म का अभिभव ही धर्म्मों का अभिभव है। अतएव इस अविद्याबुद्धि को हम 'अबुद्धि' (बुद्धि के स्वरूपधर्म्म से वञ्चित अविद्याबुद्धि) ही कहेंगे। साथ ही में ऐसी बुद्धि का योग भी अयोग ही कहा जायगा। यदि मेघावरण से सूर्य्य देवता अन्धकार दूर करने में असमर्थ हैं, तो उनका रहना न रहने के समान ही माना जायगा। ठीक इसी तरह यदि अविद्याबुद्धि का योग कर्म्मलेप के मार्ज्जन मे असमर्थ है, यही नहीं, अपितु उत्तरोत्तर अधिकाधिक कर्म्मलेप का जनक है, तो ऐसे योग का रहना न रहने जैसा ही माना जायगा। इसी आधार पर हम कह सकते है कि, अविद्याबुद्धि का योग अयोग है, ऐसे अयोग (अविद्याबुद्धिरूप) से युक्त 'कर्म्म उपास्ति-ज्ञान' तीनों हीं 'अबुद्धियुक्तयोग' हैं। ठीक इससे विपरीत यदि इन तीनों कर्तव्य-योगों के मूल में विद्याबुद्धि प्रतिष्ठित है, तो ऐसे योग से युक्त इन तीनों को 'बुद्धियुक्तयोग' कहा जायगा। तात्पर्य्य यही हुआ कि—विद्याबुद्धियुक्ता योगत्रयी उपादेय है, एव अविद्याबुद्धियुक्ता योगत्रयी सर्वथा हेय है।

अविद्याचतुष्टयी—

बुद्धि के स्वाभाविक व्यवसाय धर्म्म को आवृत करने वाला अविद्याभाव 'अभिनिवेश, अज्ञान, राग-द्वेष, अस्मिता' भेद से चार भागों में विभक्त है। इन चार अविद्याभावों के सम्बन्ध से अविद्याबुद्धि के भी चार विभाग हो जाते हैं। इसी अविद्याबुद्धि-चतुष्टयी को 'क्लेश' कहा जाता है, एवं इस चतुष्टयी की प्रतिद्वन्द्विनी 'धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य' भेदभिन्ना, विद्याबुद्धिचतुष्टयी 'भग' नाम से प्रसिद्ध है। प्रसङ्गागत इन अविद्यादिभावों का सक्षिप्त स्वरूप जान लेना भी अनावश्यक न होगा।

१—अभिनिवेश—असत् को सत् मान कर, सत् को असत् मान कर, सच को भूंठ मान कर, भूंठ को सच मान कर, दूसरे सदसद्विवेकी, सत्यानृतविवेकी विद्वान् के निर्णय की इस सम्बन्ध में कोई अपेक्षा न रख कर, केवल अपने बुद्धिवाद के अभिमान में पड़ कर जिस की कृपा से हम वास्तविक परिस्थिति से वञ्चित रह जाते है, उसी कृपालु को 'अभिनिवेश' कहा जाता है। असत् में सत्, एवं सत् मे असत् की बुद्धि कराने वाली अभिमानात्मिका वृत्ति ही 'अभिनिवेश' है, एवं अभिनिवेश से युक्त मनुष्य ही 'अभिनिविष्ट' (दुराग्रही-हठी) कहलाता है। "हम जिसे जैसा समझ रहे हैं, वह वैसा ही ठीक है, दूसरों का कथन निःसार है, हम तो ऐसा ही मानेंगे, ऐसा ही करेंगे, क्योंकि हमनें ठीक

समझा है" इस अहम्मन्यता का नाम ही अभिनिवेश है, और यही 'दुराग्रह' कहलाता है। चारों अविद्या-दोषों मे इस का विशेष प्रभुत्त्व माना गया है। कारण, दुराग्रह की चिकित्सा बड़ी कठिनता से होती है। "हम नहीं मानते" का इलाज सहसा सम्भव नहीं, जैसा कि वर्त्तमान युग के प्रत्यक्ष-उदाहरणों से स्पष्ट है। परिणाम इस वृत्ति-धारण का यह होता है कि, अभिनिविष्ट की बुद्धि असत्यभावों मे प्रतिष्ठित हो जाती है। यह असत्यभाव एक प्रकार का 'पाप्मा' है, लेप है, आवरण है। इसके आगमन से बुद्धि अपना 'विश्वास-धर्म्म' छोड़ देती है, मन श्रद्धा-धर्म्म से विमुख हो जाता है। स्वाभाविक धर्म्मों को छोड़ते हुए मन-बुद्धि दोनों परतन्त्र बन जाते हैं, कर्म्मपाश से बद्ध हो जाते हैं।

२—**अज्ञान**—कार्य्य-कारण के परिज्ञान के बिना अन्ध बन कर किसी भी विषय का ग्रहण कर लेना जिस वृत्ति के अन्यतम अनुग्रह से सम्भव हो जाता है, उसी मूढ़-वृत्ति का नाम 'अज्ञान' है। अमुक कर्म्म का क्या परिणाम होगा ? अमुक कार्य्य का मूल कारण क्या है ? ऐसा ही क्यों करें ? ऐसा क्यों न करें ? इन प्रश्नों के विवेक की जिसमें योग्यता नहीं है, वही अज्ञान का सत्पात्र कहा जाता है। अज्ञानाक्रमण से बुद्धि में रहने वाला स्वाभाविक सदसद्विवेक-धर्म्म आवृत हो जाता है, भले बुरे की पहिचान जाती रहती है, कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक नष्ट हो जाता है। ऐसे मूढ़-जन ही पर-प्रत्ययों के अनुगामी बनते हैं - **'मूढः पर-प्रत्ययनेयबुद्धिः'** ।

किसी ने मिथ्या कारणों का वाग्जाल आगे करते हुए कह दिया कि, अस्पृश्यता कल्पित है, बस मूढ मनुष्य उधर ही झुक पड़े। किसी ने कह दिया 'मृतपितृश्राद्धकर्म्म' अवैदिक है, लीजिए उसी के पीछे दौड़ने लगे। हानि-लाभ की तुलना नहीं, सदसद्विवेक नहीं, जिसने जैसा, जो कुछ कह दिया, भावावेश में आकर प्रवाह मे पड़ते हुए उसी का पीछा करने लगे, ये सब अज्ञान के ही कटुफल हैं। अज्ञानाक्रमण से बुद्धि तमोगुण से आवृत होती हुई अपना ज्योति धर्म्म खो बैठती है।

३—**राग-द्वेष**—विषय-प्रवृत्ति का मूल कारण, कामानुगामी 'स्नेह' ही राग है। एवं विषयनिवृत्ति का मूल कारण, क्रोधानुगामी 'वैराग्य' ही द्वेष है। आसक्तिपूर्विका विषय प्रवृति 'राग' है, आसक्तिपूर्विका विषयनिवृत्ति 'द्वेष' है। दोनों ही वृत्तियों में बन्धन का साम्राज्य है। रागबन्धन ग्रहणात्मक बनता हुआ 'अनुकूलबन्धन' है, द्वेषबन्धन परित्यागात्मक बनता हुआ 'प्रतिकूलबन्धन' है। राग में तो ग्रहण स्पष्ट है ही,

परन्तु जिस द्वेष को परित्यागवृत्तिलक्षण माना जाता है, उसमें राग की अपेक्षा भी कहीं अधिक दृढ़ बन्धन है। मित्र से स्नेह करते हैं, शत्रु से द्वेष रखते हैं। शत्रु के नाम-स्मरण से, नाम-श्रवण से भी उपेक्षामिश्रित घृणा का उदय हो जाता है। परन्तु आश्चर्य है कि, स्नेहानुबन्धी मित्र जहां यदा कदा विस्मृत हो जाता है, वहां द्वेषानुबन्धी शत्रु आठों याम बुद्धि पर सवार रहता है। इसी प्रत्यक्षानुभूति के आधार पर हम द्वेषबन्धन को रागबन्धन की अपेक्षा अधिक दृढ़ बन्धन कह सकते हैं। रागवृत्ति हमारे प्रज्ञान (मन) को पीछे खींचती है, द्वेषवृत्ति आगे खदेड़ती है। इस रस्से-कशी से स्वस्थान पर समरूप से स्थित प्रज्ञान मन की स्वाभाविक समता उखड़ जाती है, चाञ्चल्य का उदय हो जाता है, विषमता घर कर लेती है। समता का ही नाम 'शान्ति' है, विषमता ही क्षोभ है, क्षोभ ही आकुलता का जनक है। परिणामतः राग-द्वेष दोषों के संक्रमण से मन विषम बनता हुआ, अपने ऊपर प्रतिष्ठित बुद्धि को भी आकुल कर देता है, और यह भी आत्मविकास का एक महाप्रतिबन्धक धर्म्म है।

४—अस्मिता—प्रज्ञान मन की मुकुलित वृत्ति (संकुचित-वृत्ति) ही 'अस्मिता' है। एक अबोध बालक थोड़ी-सी भी विभीषिका से कांप उठता है। भूतावेश से मनुष्य अपना स्वरूप भूल जाता है। ग्रामीण मनुष्य के लिए शहर का एक साधारण सिपाही भी महाजटिल समस्या है। इन विविध भयस्थानों की प्रवृत्ति का एकमात्र कारण 'अस्मिता' ही है। प्रज्ञात्मक प्राण आत्मा के 'अर्क' (रश्मियां) हैं। इनके तिरोभाव (अविकास) से प्रज्ञान मन उस उक्थ (बिम्ब) रूप आत्मा के अभयबल से वञ्चित हो जाता है। इसी निर्बलता के कारण सर्वथा अविकसित रहता हुआ प्रज्ञान मन पदे पदे भयत्रस्त होता रहता है, सर्वत्र अल्पता का अनुभव किया करता है। "हम निर्धन हैं, गरीब हैं, मजदूर हैं, भूखे हैं, मूर्ख हैं" दु ख मूलक इन अल्पभावों का समावेश इसी अस्मिता से होता है।

उक्त अभिनिवेशादि चारों दोष बुद्धि के स्वाभाविक विद्याभाव को आवृत कर देते हैं, अतएव इन चारों की समष्टि को 'अविद्या' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। ऐसी अविद्या के योग से (अविद्याबुद्धियोग से) जो कर्म्म किया जायगा, जो उपासना की जायगी, एवं जिस ज्ञान का अनुगमन किया जायगा, वे तीनों ही आत्मपतन के कारण बनेंगे। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए प्रत्येक दशा में तीनों योगों के साथ विद्याबुद्धि का योग आवश्यक रूप से अपेक्षित है।

पूर्वप्रदर्शित धर्म्मादि-लक्षणा विद्याबुद्धिचतुष्टयी के योग से अविद्याबुद्धिचतुष्टयी पलायित हो जाती है। धर्म्म से अभिनिवेश की, ज्ञान से अज्ञान की, वैराग्य (अनासक्ति) से राग-द्वेष (आसक्ति) की, एवं ऐश्वर्य्य से अस्मिता की निवृत्ति हो जाती है। आत्मा (कर्म्मात्मा) आगन्तुक तमोभाव से विमुक्त होता हुआ अपने स्वाभाविक ज्योतिर्भाव में आ जाता है, मृत्यु से अमृतभाव में आ जाता है, असत् से सत् की ओर आकर्षित हो जाता है, एवं यही आत्मा की 'स्व-स्थता' (अपने आप मे, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहना) है।

उक्त स्वस्थता एकमात्र बुद्धियोग पर ही निर्भर है, ऐसी दशा में कर्म्म-भक्ति-ज्ञान, तीनों योगों को बुद्धियोग-विभूति से युक्त करके ही इन का अनुगमन करना चाहिए। इसी उद्देश्य को लेकर 'गीताशास्त्र' प्रवृत्त हुआ है। गीता 'कर्म्मयोगग्रन्थ' है, गीता 'भक्तियोगग्रन्थ' है, एवं गीता 'ज्ञानयोगग्रन्थ' है, क्योंकि तीनों ही योग वेदशास्त्र सिद्ध हैं, एवं वेदशास्त्रसिद्ध पथ का ही गीता निर्देश कर रही है। गीता इस सम्बन्ध में अपना केवल यही संशोधन रखती है कि, तीनों वैदिक योग यदि बुद्धियोगानुगामी हैं, तो उपादेय हैं, अन्यथा हेय हैं। लोकसंग्राहक भगवान् ने बुद्धियोग द्वारा तीनों वैदिक योगों का समादर करते हुए, संग्रह करते हुए ही, एकमात्र राजर्षि-सम्प्रदाय में ही परम्परया प्रचलित, स्वाभिमत, वैराग्य-बुद्धि-योगलक्षण बुद्धियोग का (स्वसिद्धान्तरूप) प्रतिपादन किया है। इसी आधार पर विज्ञान भाषा में गीता 'बुद्धियोगशास्त्र' ही कहलाया है।

वैराग्यबुद्धियोग के समावेश से वैदिकयोगत्रयी 'योगचतुष्टयी' रूप में परिणत हो जाती है, यह पूर्व से गतार्थ है। इसी दृष्टि से कर्त्तव्य प्रपञ्च को हम

प्रकरणोपसहार—

'१—बुद्धियोग, २—कर्म्मयोग, ३—भक्तियोग, ४—ज्ञानयोग'

इन चार भागों में विभक्त मान सकते हैं। इन चारों में बुद्धियोग चूंकि सिद्धान्त पक्ष है, अतः इसका विवेचन **'बुद्धियोगपरीक्षा'** नामक अन्तिम प्रकरण में होगा। इस से पहिले कर्त्तव्य-प्रतिपादकात्मक वेद के 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' भागों से क्रमशः सम्बद्ध कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगों का ही निरूपण किया जायगा। इन तीनों में से सर्वप्रथम क्रमप्राप्त **'कर्म्मयोग-परीक्षा'** ही कर्म्मठ ब्राह्मणों के सम्मुख उपस्थित हो रही है।

इति—योगसङ्गतिः।

३--वैदिक-कर्म्मयोग

पूर्व के 'योगसङ्गति' प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, भारतीय प्रजा के लिए कर्म्म निर्णय के सम्बन्ध में एकमात्र "शब्दशास्त्र" ही मुख्य प्रमाण है। शास्त्रप्रमाण के आधार पर ही 'किं कर्त्तव्यं, किं न कर्त्तव्यम्' का निर्णय होता है। कर्त्तव्य-कर्म्म के सम्बन्ध में हमारी मानुष, अतएव सर्वथा अनृत कल्पना के समावेश का अणुमात्र भी अवसर नहीं है। शास्त्रसिद्ध इस कर्म्म-कलाप को हम 'वैदिक-लौकिक' भेद से दो भागों में विभक्त करते हैं। पारमार्थिक कर्म्म वैदिक कर्म्म कहलाएंगे, एवं व्यावहारिक कर्म्म लौकिक कर्म्म कहलाएंगे। वैदिककर्म्म 'धर्म्म' शब्द से सम्बोधित होंगे, एवं लौकिक कर्म्म 'नीति' शब्द से सम्बोधित होंगे। धार्मिक कर्म्म, एवं नैतिक कर्म्मों का समुचितरूप ही भारतीय कर्म्म-कलाप का वास्तविकरूप होगा।

धर्म्म और नीति—

भारतवर्षेतर-देशों में धर्म्म, एवं नीति, दोनों का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है। इस पराधिकार चर्चा की आवश्यकता यह हुई कि, आज पुण्यभूमि-भारतवर्ष की आस्तिक प्रजा भी सहवास-दोष के अनुग्रह से धर्म्म, तथा नीति के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण की उपेक्षा करती हुई इतर देशों के दृष्टि-पथ का अनुसरण कर रही है। इसी दृष्टिपथ की कृपा का यह फल है कि, आज हमनें भी उन्हीं के अनुसार धर्म्म और रिलीजन (Religion), दोनों शब्दों को समानार्थक मानने की भूल कर रक्खी है। इस भूल-सुधार के लिए ही अप्रसाङ्गिक पर-चर्चा को यहां स्थान देना पड़ा है।

अन्य देशों में प्रचलित धर्म्म शब्द विशुद्ध मतवाद' का वाचक समझना चाहिए। चूंकि मतवाद का मानवीय-कल्पना से सम्बन्ध है, एवं मानवीय कल्पना अनृत-भाव से युक्त रहती हुई परिवर्त्तन-शीला है, अतएव मतवाद-लक्षण वहां के धर्म्म समय समय पर बदलते रहते हैं। मानुषी-सृष्टि पार्थिवी है, पृथिवी भूत-प्रधाना है। अतएव पार्थिव प्रजा में भूत-वर्ग का विशेष प्राधान्य स्वतःसिद्ध बन जाता है। इसी भूतप्रधानता के कारण पार्थिव प्रजा स्वभावतः भौतिक-स्थूल अर्थों की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहती है। इस आकर्षण का परिणाम यह होता है कि, इसकी मानस-कल्पना से सम्बन्ध रखनेवाला मतवादलक्षण धर्म्म (बाह्यदृष्टि से सम्बन्ध रखनेवाले) भौतिक-अर्थ-प्रपञ्च का अनुगामी बन जाता है।

फलत धर्म्ममार्ग नीतिमार्ग का पोषक बन जाता है। नीतिमार्ग जहां हमारे बाह्यजगत् (शरीर) का सञ्चालक है, धर्म्ममार्ग वहा हमारे अन्तर्जगत् (आत्मा) का सञ्चालक बना हुआ है। यदि धर्म्ममार्ग का प्रादुर्भाव केवल हमारी कल्पना के आधार पर ही हुआ है, तब तो उसका बाह्यजगत् के आकर्षण से आकर्षित रहना आवश्यक बन ही जाता है। क्योंकि हमारी कल्पना पूर्वकथनानुसार अनृतभावोपेता बनती हुई भूतानुगामिनी ही रहती है।

उक्त नीर-क्षीरविवेक से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, अन्यदेशों का 'रिलीजन' केवल यही अर्थ रखता है कि, समय समय पर उसे नीति-मार्ग का पोषक बनाया जाय। यही कारण है कि, वहां दुर्भाग्य से यदि कभी रिलीजन और नीति में संघर्ष का अवसर आ जाता है, तो अविलम्ब रिलीजन की उपेक्षा कर दी जाती है। अर्थसंग्रहमूला नीति किस बेदर्दी से मानवता-संस्कृति साहित्य का संहार कर डालती है ? यह आज स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं रही। अतीत युगों में भी वहां धर्म्म के नाम पर जो जो अत्याचार हुए हैं, शिक्षित जनता उनसे भलीभांति परिचित है। राजनीति-विशारदों ने 'सुकरात' जैसे धार्म्मिक व्यक्ति को भी विषपान कराने मे संकोच का अनुभव न किया। दिव्यप्रेमी 'मन्सूर' को वध करते हुए भी लज्जा का अनुभव न किया। धर्म्म की ओट मे असंख्यप्राणी मौत के घाट उतार दिए गए। इस प्रकार जो धर्म्मतत्व तत्त्वत परम-शान्ति की प्रतिष्ठा माना गया है, वही धर्म्म एक विशुद्ध मतवाद बनता हुआ उन देशों की राजनीति की प्रतिद्वन्द्विता मे पडकर परम-अशान्ति का ही कारण बना, एव आज भी बन रहा है।

अवश्य ही धर्म्म, तथा नीति के इस भेद का कोई मूल होना चाहिये। पाठकों का याद दिलाया जाता है कि, पूर्वप्रतिपादित 'आत्मपरीक्षा' प्रकरण के 'दार्शनिक-आत्मपरीक्षा' नामक अवान्तर प्रकरण मे धर्म्म, एवं मतवाद का स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया था कि, मतवाद मनुष्य की सामयिक कल्पना है, एव धर्म्म प्रकृति सिद्ध शाश्वत पदार्थ है। मतवाद की प्रवृत्ति (प्रचार-उद्भव) तत्कालीन समर्थ पुरुष के द्वारा होती है। एव धर्म्म का प्रवर्त्तक ईश्वर प्रजापति, किंवा ईश्वरप्रेरणा से नित्ययुक्त नित्यप्रकृति है। दूसरे शब्दों मे धर्म्म का 'विश्वप्रकृति' से सम्बन्ध है एव मतवाद का मानवीय कल्पना से सम्बन्ध है।

शासन-व्यवस्थाओं के परिवर्त्तन के साथ साथ राष्ट्रीय प्रजा के मनोभावों का परिवर्त्तन भी अवश्यंभावी है। 'इति ते संशयो माभूत्, राजा कालस्य कारणम्' (महाभारत भारतीय राजनीति का यह सिद्धान्त भी इसी आधार पर प्रतिष्ठित है। शासन-प्रणाली के परिवर्त्तन से प्रजावर्ग की राष्ट्रीय-सामाजिक कौटुम्बिक-तथा वैय्यक्तिक, सभी व्यवस्थाओं में

परिवर्त्तन हो जाता है। विजेता शासक की नीति-संस्कृति-सभ्यता के संघर्ष में पड़कर विजित शासक की नीति-संस्कृति-सभ्यता पलायित हो जाती है। इस प्रकार शासनमूला राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाला यह सामयिक परिवर्त्तन 'यथा राजा तथा प्रजा' इस सूक्ति को सर्वात्मना चरितार्थ करता रहता है।

शासनव्यवस्था के इस सामयिक परिवर्त्तन का प्रभाव तत्कालीन सामाजिक-जीवन-व्यवस्थाओं पर भी पड़े विना नहीं रह सकता। साथ ही,में यह भी निर्विवाद है कि, इस नवीन व्यवस्था से प्रजा के सामाजिक जीवन में कुछ दिनों के लिए एक प्रकार की उच्छृङ्खलता-अस्तव्यस्तता भी उत्पन्न हो जाती है। इसी अस्तव्यस्तता को दूर करने के लिए, सामाजिक जीवन को पुनः व्यवस्थासूत्र से नियन्त्रित करने के लिए तत्कालीन मानव समाज में ही कोई व्यक्ति अपनी योग्यता-विशेष से समाज का मुखिया बन बैठता है, एवं वही अपने बुद्धिवल के आधार पर समयगति को लक्ष्य में रखता हुआ समाज-सञ्चालन के लिए कुछ एक विशेष नियमों की सृष्टि कर डालता है। इस प्रकार समाज के सामयिक नेता द्वारा आविष्कृत सामयिक इन नियमोपनियमों की समष्टि ही "मतवाद" नाम धारण कर लेती है। और यही मतवाद वहां की परिभाषा में "रिलीजन" कहलाया है।

शाश्वत प्रकृति-सूत्र से सञ्चालित धर्म्म जहां सर्वथा अपरिवर्त्तन-शील है, प्रकृतिसिद्ध है, अनाद्यनन्त है, वहां मतवाद-लक्षण रिलीजन मानवीयकल्पनासूत्र से (सामयिक दृष्टिकोण को मुख्य बनाता हुआ) सञ्चालित होता हुआ शासनव्यवस्था-परिवर्त्तन के साथ साथ, राजनीति के परिवर्तन के साथ साथ बदलता रहता है। मतवादलक्षणा, अतएव एकान्ततः परिवर्त्तनशीला ऐसी धर्म्मनीति के साथ यदि राजनीति का संघर्ष उपस्थित होता रहे, एवं इस संघर्ष में यदि राजनीति का पलड़ा ऊंचा रहे, तो कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा 'रिलीजन' राजनीति का अञ्चल पकड़ कर ही पनपा करता है। फलतः विरोध उपस्थित हो जाने पर राजनीति द्वारा इसका कुचला जाना सहज सिद्ध बन जाता है।

अब क्रमप्राप्त भारतीय धर्म्म की भी मीमांसा कर लीजिए। नियति-साम्राज्य के गुप्त रहस्यों के आधार पर लोककल्याण की भावना रखने वाले तपःपूत महर्षियों नें शब्दों द्वारा भारतीय प्रजा के कल्याण के लिए जो सनातन नियम हमारे सामने रक्खे हैं, उन नियमों का संघ ही "धर्म्म" है, जो कि धर्म्म शाश्वत-प्रकृति से सम्बद्ध रहता हुआ शाश्वत है, सनातन है। धर्म्मप्रधान भारतवर्ष में राजनीति के आधार पर धर्म्म (रिलीजन) की प्रतिष्ठा नहीं की जाती, अपितु यहां धर्म्मनीति के आधार पर राजनीति-प्रासाद खड़ा किया जाता

है। प्रकृतिदेवी के गुप्त रहस्यों का अपनी दिव्यदृष्टि से साक्षात्कार करने वाले महर्षियों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि, बाह्य-भौतिक शान्ति तभी सुरक्षित रह सकती है, जब कि उसके मूल मे आत्मशान्ति प्रतिष्ठित कर दी जाती है। अन्तःशान्ति ही बाह्यशान्ति की मूल प्रतिष्ठा है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने अन्तर्जगत् (आत्मा-प्रकृतिविशिष्ट चेतन पुरुष) से सम्बन्ध रखने वाले धर्म्म को तो आधार-शिला बनाया, एवं उस पर बाह्यजगत् (शरीर और शरीरानुबन्धी भौतिक साधन) की प्राणप्रतिष्ठा की। परिणाम इसका यह हुआ कि, भारतीय धर्म्म, एवं भारतीय राजनीति में कभी संघर्ष का अवसर उपस्थित न हुआ। यदि किसी मूढ़ शासक ने शाश्वत-धर्म्म की उपेक्षा कर कभी राजनीति को प्रधान बनाना चाहा भी, तो वेन, कंस, रावण, शिशुपाल, आदि की तरह उस अधर्म्मरत शासक का ही मूलोच्छेद कर डाला गया। शासक के दोष से उपस्थित होने वाले संघर्षों मे सदा धर्म्मनीति की रक्षा की गई, एवं राजनीति का सर्वात्मना तिरस्कार किया गया।

भारतीय राजनीति के सम्बन्ध में हमे तो यह कहने, एवं मानने में भी कोई संकोच नहीं होता कि, यहां की राजनीति धर्म्मनीति का ही बाह्यरूप है। भारतीय राजनीति को धर्म्मनीति के अनुकूल ही अपना दृष्टिकोण बनाए रखना पड़ता है। धर्म्मदण्ड को आलम्बन बना कर ही भारतीय राजा राजदण्ड का सञ्चालन कर सकता है। हमारा शासक न राजा है, न नेता है, न शिक्षित है, अपितु धर्म्म ही भारतीय प्रजा का अन्यतम शासक है। यदि एक निर्बल मनुष्य भी धर्म्मदण्ड लेकर किसी बलवान् के सामने उपस्थित होता है, तो उसे उस निर्बल के सामने नतमस्तक होना पड़ता है। धर्म्मदण्ड के इसी सर्वातिशय का स्पष्टीकरण करते हुए वेदभगवान् कहते हैं—

"ब्रह्म[1] वाऽइदमग्र आसीत्-एकमेव। तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत-क्षत्रम्। स नैव व्यभवत्-स विशमसृजत। स नैव व्यभवत्-स शौद्रं

---

१ "पहिले केवल ब्रह्म ही एकाकी था। वह एकाकी वैभवशाली न बन सका। अतः उसने अपने से भी उत्कृष्ट क्षत्रवर्ण उत्पन्न किया। फिर भी वह वैभवशाली न बन सका। अतः उसने विट्-वर्ण उत्पन्न किया। फिर भी वह वैभवशाली न बन सका। अत उसने 'पूषा' नामक शूद्र-वर्ण उत्पन्न किया। (इस प्रकार वैभवकामुक ब्रह्म चारवर्णों के रूप में परिणत होकर भी) पूर्ण वैभवशाली न बन सका। इसी कमी की

वर्णमसृजत-पूषणम् । स नैव-व्यभवत्-तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत-धर्म्मम् । तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म्मः । तस्मात् धर्म्मात् परं नास्ति । अथोऽअबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्म्मेण-यथा राज्ञा एवम् ।"

—शतपथब्रा० १४।४।२ ।

श्रुतिपथानुसारिणी स्मृति ने भी धर्म्मदण्ड का ही वैशिष्ट्य स्वीकार किया है । स्मृति ने राजा को धर्म्मरक्षक मानते हुए उसे धर्म्म का ही प्रतिनिधि स्वीकार किया है । राजनीति के प्राङ्गण में विचरण करने वाले, शास्ता राजा को स्मृतियों की ओर से पदे पदे ये आदेश मिले हैं कि, तुम्हें धर्म्मपूर्वक ही राजदण्ड का प्रसार करना चाहिए, वर्णधर्म्मों की रक्षा, धार्म्मिक प्रजा का अभ्युदय, अधर्म्मियों पर दण्ड प्रहार, लोकनीति-धर्म्म का सामञ्जस्य बनाए रखते हुए ही शासन करना चाहिए । यदि तुम्हारा शासन अर्थलिप्सा के प्रभाव से धर्म्म की उपेक्षा, एवं अधर्म्म का आदर करने वाला सिद्ध होगा, तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा, प्रजा विद्रोह कर बैठेगी, राष्ट्र का नैतिक, आर्थिक, सामाजिक, कौटुम्बिक, वैय्यक्तिक जीवन अस्तव्यस्त हो जायगा, शान्ति का उच्छेद हो जायगा । निम्न लिखित स्मार्त्त-वचन इसी धर्म्मनीति का पोषण कर रहे हैं—

१—ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥

—मनुः ७।२।

२—तस्माद्धर्म्मं यमिष्टेषु स व्यवसेन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्म्मं न विचालयेत् ॥

—मनुः ७।१३।

पूर्ति के लिए उसने सर्वोत्कृष्ट धर्म्म का प्रादुर्भाव किया । क्षत्र का क्षत्रत्त्व ही धर्म्म है । इसी वैशिष्ट्य के कारण धर्म्म से कोई भी बड़ा नहीं है । एक निर्बल मनुष्य भी धर्म्म के द्वारा एक बलवान् का उसी प्रकार नियन्त्रण कर डालता है, जैसे कि एक राजा अपने राजदण्ड से नियन्त्रण किया करता है" । इस श्रुति का विशद वैज्ञानिक विवेचन आगे आने वाले 'वर्णव्यवस्थाविज्ञान' में किया जायगा ।

३—तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्म्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥

—मनुः ७।१४।

४—तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्म्मान्न चलन्ति च ॥

—मनुः ७।१५।

५—स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्म्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥

—मनुः ७।१७।

६—दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्म्मं विदुर्बुधाः ॥

—मनुः ७।१८।

७—यत्र धर्म्मो ह्यधर्म्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥

—मनुः ८।१४

८—धर्म्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्म्मो न हन्तव्यो मा नो धर्म्मो हतोऽवधीत् ॥

—मनुः ८।१५।

९—वृषो हि भगवान् धर्म्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्म्मं न लोपयेत् ॥

—मनुः ८।१६।

१०—धर्म्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्य्यदर्शनमारभेत् ॥

—मनुः ८।२३।

११—यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ।
विनश्यत्याशु तत् कृत्स्नं दुर्भिक्ष-व्याधिपीडितम् ॥
—मनुः ८।२२।

१२—अधर्म्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात् तत्परिवर्जयेत् ॥
—मनुः ८।१२७।

१३—यस्त्वधर्म्मेण कार्य्याणि मोहात् कुर्य्यान्नराधिपः ।
अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥
—मनुः ८।१७५।

१४—बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे ॥
—मनु ७।४०।

१५—वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥
—मनुः ७।४१।

१६—पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ।
कुबेरश्च धनैश्वर्य्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥
—मनुः ७।४१।

१७—एवं सर्वानिमान्राजा व्यवहारान् समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥
—मनुः ८।४२०।

१—"ब्रह्म (वेद) प्राप्ति के लिए गर्भाधानादि श्रौत-स्मार्त्त संस्कारों से सुसंस्कृत, (अतएव वेदतत्त्ववित) क्षत्रिय को धर्म्मशास्त्रानुसार यथावत् प्रजावर्ग (के धर्म्म) की रक्षा करनी चाहिए"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, जो राजा संस्कारपूर्वक शास्त्रों का मर्म्मज्ञ होता है, वही

प्रजापालन कर सकता है। बिना शास्त्रावलम्ब के वह कभी रक्षा-कर्म्म में समर्थ नहीं हो सकता।

२—"शास्ता राजा का यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह इष्ट-अनिष्ट की व्यवस्था समझ कर यथाशास्त्र धर्म्मनीति का सञ्चालन करे। कभी भूल कर भी धर्म्मनीति को विचलित न करे।" तात्पर्य्य यही हुआ कि, शास्ता राजा अपनी इच्छा से शासन नहीं कर सकता। अपितु उसे अपने शासन कर्म्म में शास्त्रोक्त धर्म्ममार्ग के अनुसार ही अनुगमन करना पड़ेगा।

३—"शास्ता राजा की शासनसिद्धि के लिए ईश्वर प्रजापति ने सम्पूर्ण भूतों के अन्यतम रक्षक, ब्रह्मतेजोमय धर्म्मदण्ड को ही पुत्रत्वेन उत्पन्न किया है"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, स्वयं राजा प्रजा का रक्षक नहीं है, एवं न स्वयं राजा केवल पशुबल के आधार पर प्रजा की रक्षा कर ही सकता। अपितु अपने इस रक्षाकर्म्म मे इसे धर्म्मदण्ड का ही आश्रय लेना पड़ेगा, जो कि धर्म्मदण्ड ईश्वर के द्वारा प्रादुर्भूत है।

४—"एकमात्र धर्म्मदण्ड के भय से ही स्थावर-जङ्गम वर्ग अपने अपने स्वरूप की रक्षा के लिए भोग ग्रहण मे समर्थ होता है। इसी धर्म्मदण्ड के भय से कोई भी अपने अपने नियत धर्म्म (स्वधर्म्म-अधिकृत कर्म्म) से विचलित नहीं होता"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, धर्म्म ही धर्म्मी पदार्थों का रक्षक है। इसी धर्म्मपरिज्ञान से धर्म्म का अनुगमन होता है। 'धर्म्म छोड़ देंगे, तो स्वरूप ही नष्ट हो जायगा' इसी भय से पदार्थवर्ग धर्म्म मे आरूढ़ रहता है।

५—"न राजा राजा है, न पुरुष पुरुष है, न दण्ड दण्ड है, न नेता नेता है, न शासिता शासिता है। अपितु राजा वह राजा है, पुरुष वह पुरुष है, दण्ड वह दण्ड है, नेता वह नेता है, शासिता वह शासिता है, जो कि चारों वर्णों, तथा चारों आश्रमों के धर्म्म का प्रतिभू है"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, भारतीय प्रजा उसे ही राजा, पुरुष, दण्ड, नेता, शासिता कहेगी, जो कि धर्म्म का प्रतिनिधि रहेगा। धर्म्ममार्ग पर आरूढ़, धर्म्ममार्ग का रक्षक, धर्म्ममार्ग का प्रचारक ही हमारा अभिभावक बन सकेगा।

६—"दण्ड ही प्रजा का शासन कर रहा है, दण्ड ही प्रजा की रक्षा कर रहा है, दण्ड ही सोने वालों में जग रहा है, और दण्ड ही धर्म्म का रक्षक बनता हुआ धर्म्म कहा जा रहा है"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, यदि प्रजावर्ग धर्म्ममार्ग की उपेक्षा करने लगे, तो राजा का कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह दण्ड के बल से उनकी धर्म्मनिष्ठा सुरक्षित रक्खे।

७—"जहां देखते देखते धर्म्म अधर्म्म से, सत्य मिथ्या से आक्रान्त कर दिया जाय, वहां का अधर्म्ममण्डल अपने पाप से स्वयं ही नष्ट हो जाता है"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, जो सभाएं, जो संस्थाएं, जो मण्डलियां, जो कमेटियां अधर्म्म और असत्यमार्ग को ही धर्म्म एवं सत्य कहने लगतीं हैं, उनका सर्वनाश अवश्यंभावी है।

८—यदि हम धर्म्म की उपेक्षा कर देते हैं, तो वही धर्म्म हमारे नाश का कारण बन जाता है, यदि हम धर्म्ममार्ग का अनुगमन करते हैं तो वही धर्म्म हमारा रक्षक बन जाता है। चूंकि धर्म्मानुष्ठान हमारा रक्षक है, अतएव हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए कि, हम धर्म्म का परित्याग न करें। "हमारी ओर से उपेक्षित धर्म्म हमारा नाश न कर बैठे" इस बात को लक्ष्य में रखते हुए हमें सदा धर्म्म-रक्षा में प्रवृत्त रहना चाहिए।

९—"ऐहिक-आमुष्मिक, सर्वविध फलकामनाओं की वर्षा करने के कारण ही (अभिलषित-फलप्रद होने से ही) भगवान् धर्म्म 'वृष' (वर्षतीति-वृषः) नाम से प्रसिद्ध है। जो मूर्ख इस वृष धर्म्म का परित्याग कर देता है, विद्वान् लोग उसे 'वृषल' कहा करते हैं, जोकि वृषल शब्द वर्णसङ्करता का सूचक बनता हुआ उसके गौरव को नष्ट करनेवाला बनता है। हम 'वृषल' न कहलावें, इसी हेतु से हमें कभी धर्म्म का परित्याग नहीं करना चाहिए"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, धर्म्म-परित्याग से हमारी अध्यात्मसंस्था का स्वाभाविक विकास दब जाता है, एवं परिणाम में हम हीन वीर्य्य वर्णसङ्करों की भांति प्रतिभाशून्य बन जाते हैं, आत्मवीर्य्य हतप्रभ हो जाता है। इस महाहानि से बचने का एक मात्र उपाय है—'धर्म्मानुगमन'।

१०—"शास्ता राजा को चाहिए कि, वह लोकाकर्षक वेशभूषा से सुसज्जित होकर, संयतात्मा बन कर धर्म्मासन (राजसिंहासन) पर बैठें। एवं लोकपालों को प्रणाम कर राजकार्य्य आरम्भ करें।" यहां राजसिंहासन को धर्म्मासन कहना ही यह सिद्ध कर रहा है कि, राजा की राजनीति धर्म्मनीति पर ही प्रतिष्ठित है।

११—"जिस राष्ट्र में शूद्रों, एवं नास्तिकों का प्रभुत्व हो जाता है, जहां ब्राह्मणवर्ग प्रभुताशून्य बन जाता है, वह समूचा राष्ट्र अकाल-रोगाक्रान्त बनता हुआ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है"। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, शूद्रवर्ण केवल पशुबल का अनुगामी है, उधर नास्तिक समाज ईश्वरसत्ता का विरोधी बनता हुआ मृत्युलक्षण क्षणवाद का समर्थक है। जिस राष्ट्र में इन दोनों भावों के हाथों में सत्ता चली जाती है, वह राष्ट्र अवश्य ही नष्ट हो जाता है। शूद्र द्वारा पशुबल की वृद्धि होती है, नास्तिकों का दुराचार प्रकृति के शान्त वातावरण को क्षुब्ध

करने में हाथ बटाता है। प्रकृतिक्षोभ से समय पर वर्षा नहीं होती, फलतः दुष्काल पड़ने लगते हैं, राष्ट्र का विनाश हो जाता है।

१२—अधर्म्म से नीतितन्त्र का सञ्चालन करने वाले राजा का जीवित दशा में यश नष्ट हो जाता है, मरे बाद अपकीर्त्ति होती है, इस लोक के इन दो पुरस्कारों के अतिरिक्त इसका परलोक भी विगड़ जाता है। अतएव राजा को अधर्म्मदण्ड का परित्याग कर देना चाहिए।

१३—जो राजा वित्त-मोह में पड़ कर अधर्म्म से शासन करता है, ऐसे दुरात्मा (पापी) राजा पर उसके शत्रु लोग शीघ्र ही अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं। अधर्म्मपथानुगामी राजा अपने राज्य से हाथ धो बैठता है, यही तात्पर्य्य है।

१४—इतिहास इस बात का साक्षी है कि, अपनी अधर्म्मानुगता अविवेकता से कितनें हीं राजा लोग सवंश जहां नष्ट हो गये हैं, वहां धर्म्मपथानुगत अपने विनयभाव से कितनों हीं नें नवीन साम्राज्यों का निर्म्माण कर डाला है।

१५—महाराज 'वेन', महाराज 'नहुष' पिजवन के पुत्र, अतएव 'पैजवन' नाम से प्रसिद्ध महाराज 'सुदा', महाराज सुमुख, महाराज 'निमि' आदि कितनें हीं सार्वभौम राजा अधर्म्म-अविनय-पापाचारों की कृपा से नष्ट हो गए हैं।

१६—ठीक इसके विपरीत महाराज 'पृथु', महाराज 'मनु', आदि ने धर्म्मपथानुगमन से अपने साम्राज्य का पूरा पूरा लाभ उठाया है। इसी धर्म्माचरण के प्रभाव से देवमण्डली में कुबेर अतिशय ऐश्वर्य्य के अधिष्ठाता बन गए हैं। इसी धर्म्म की कृपा से राजर्षि विश्वामित्र कालान्तर में ब्रह्मर्षि बन गए हैं।

१७—इस प्रकार पूर्वप्रतिपादित उच्चावचभावों का नीर-क्षीर विवेक करते हुए, धर्म्माधर्म्म के परिणामों का तुलन करते हुए जो राजा धर्म्मपूर्वक शासन करता है, वह अपने सम्पूर्ण पापों को भस्मसात् करता हुआ उत्तमगति-प्राप्त करता है।

न केवल राजनीति ही, अपितु हमारा सामाजिक-कौटुम्बिक-तथा वैयक्तिक जीवन भी इसी धर्म्मनीति को मूलाधार बनाए हुए हैं। वर्त्तमान युग के राजनीति विशारद, एवं समाजनेता यह कहते सुने जाते हैं कि, "खान-पान-विवाहादि केवल सामाजिक कर्म्म हैं। इनके साथ धर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।" जो महानुभाव सामाजिक जीवन को इस प्रकार धर्म्म से पृथक् कर रहे हैं, कहना पड़ेगा कि, अभी वे धर्म्म के रहस्य-ज्ञान से कोसों दूर हैं। अथवा तो यह मानना पड़ेगा कि, उन्होंनें भारतीयधर्म्म का वही स्वरूप समझ रक्खा है, जो कि अन्य देशों के 'रिलीजन' का स्वरूप है। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि,

भारतीय प्रजा जिस दिन गर्भाशय में आती है, तबसे आरम्भ कर, जिस दिन श्मशानाग्नि में आरूढ होती है, तबतक के लिए इसका सर्वस्व धर्म्मश्रृङ्खला से बद्ध है[1]। इसका प्रत्येक कर्म्मकलाप, चाहे वह राजनीति से सम्बद्ध हो, समाजनीति से युक्त हो, अथवा कौटुम्बिक तथा वैय्यक्तिक जीवन से सम्बद्ध हो, धर्म्मनीति को ही आगे रक्खेगा। धर्म्म ही भारतीय प्रजा का मौलिक जीवन, एवं मौलिक आदर्श रहेगा। जिस दिन भारतवर्ष अर्थगर्हा की विभीषिका के प्रलोभन में पड़ कर देखादेखी धर्म्म को 'रिलीजन' मानने की भूल करता हुआ अपनी इतर नीतियों को धर्म्मनीति से पृथक् कर डालेगा, उस दिन यह अपना स्वरूप ही खो बैठेगा, जिसका कि आज हमारे दुर्भाग्य से उपक्रम हो चुका है। इस उपक्रम को निःशेष बनाने के लिए प्रत्येक धर्म्मप्राण-भारतीय का आज यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह भ्रान्तपथिकों की भ्रान्ति दूर करे, उनके सामने धर्म्म का मौलिक रहस्य रक्खे। और उन्हें बतलावे कि, भारतीयधर्म्म, तथा नीति का स्वरूप दूसरा है, एवं अन्य देशों के 'रिलीजन' और नीति का आदर्श भिन्न है। वहां धर्म्म-राजनीति का अनुगामी है, यहां राजनीति धर्म्म की अनुगामिनी है। वहां धर्म्म साधन है, नीति साध्य है, यहां नीति साधन है, धर्म्म साध्य है। वहां आत्मा शरीर के लिए है, यहां शरीर आत्मा के लिए है। वहां हमारे लिए विश्व है, यहां विश्व हमारे लिए है। वहां जीवन भोजन के लिए है, यहां भोजन जीवन के लिए है। वहां अन्तर्जगत् बाह्यजगत् के विकास का साधन है, यहां बाह्यजगत् अन्तर्जगत् का अनुगामी है। वे नानाभावोपेत मृत्युतत्त्व के उपासक बनते हुए 'मृत्यु के पुत्र' हैं, हम एकत्वलक्षण अमृत के पुत्र हैं। बस जिस दिन एतद्देशीय भ्रान्त पथिकों की दृष्टि में यहां-वहां का यह तात्त्विक भेद आ जायगा, जिस दिन ये महानुभाव चिरकाल से भुलाए हुए अपने—'श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये **धामानि दिव्यानि तस्थुः**' (ऋक् सं० ७।१३।१) अपने इस मधुरस का एकबार स्वाद चख लेंगे, तत्काल 'धर्म्म-नीति' का समन्वितरूप सिद्धान्तरूप से स्वीकृत हो जायगा, और भुला दिया जायगा वर्त्तमानकाल में प्रवाहित अधर्म्म-पथ।

---

१ निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥

—मनुः २।१६।

सनातनधर्म्मावलम्वी जगत् के सम्मुख, स्वयं को सनातनधर्म्मावलम्वी मानते हुए भी आज हमे एक ऐसा कटुसत्य उपस्थित करना पड़ रहा है, जिसे देख कर अधिकाश मे वे हमारे सहयोगी अप्रसन्न-से होंगे। परन्तु विना स्थिति का स्पष्टीकरण किए सनातन-धर्म्म की मूलप्रतिष्ठा अचल नहीं रक्खी जा सकती। यही सोच-समझकर आर्षधर्म्म, एवं सन्तमत से सम्बन्ध रखनेवाले अप्रिय सत्य का आश्रय लेना पड़ रहा है।

आर्षधर्म्म एव सन्तमत—

शङ्कर-वाह्लभ-रामानुज-माध्व-निम्बार्क-चैतन्य शैव-कापालिक-शाक्त-गाणपत्य वैष्णव, आदि आदि जितनें भी मतवाद, जितनी भी सम्प्रदाएं आज भारतवर्ष में देखीं सुनीं जातीं हैं, उन सब सम्प्रदायवादों को हम 'सन्तमत' नाम से अलंकृत करेंगे। साथ ही में कबीर, सुन्दरदास, रैदास, नानक, पीपा, सहजोबाई, मीराबाई, सूरदास आदि आदि सन्तों नें अपनी वाणी से जनता का जो उद्बोधन किया है, उनके इस वाणी-संग्रह (सन्तवाणी) का भी हम इसी 'सन्तमत' मे अन्तर्भाव मानेंगे। और इसी सम्बन्ध मे यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि, यह सन्तमत महाभारतकाल से इधर ही अपना पुष्पित-पल्लवित रूप जनता के सामने उपस्थित करता है। महाभारत से पहिले, दूसरे शब्दों में आज से ५ सहस्र वर्ष पहिले के युगों में 'सन्तमत' स्मृतिगर्भ में हीं विलीन रहा होगा, यह स्वीकार कर लेने मे कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। साथ ही यह मान लेने में भी कोई ऊहापोह नहीं किया जा सकता कि, जिस दिन से भारतीय-प्रजा सन्तमत की अनुगामिनी बनी, उसी दिन से इसका मूलधन 'आर्षधर्म्म' इस के कोश से विलीन हो गया।

वर्णाश्रमधर्म्म की उपेक्षा करनेवाले सर्वथा अर्वाचीन सन्तों की वाणी का विचार थोडी देर के लिए छोडते हुए सन्तमत की मीमांसा कीजिए। नि सन्देह शङ्कर-रामानुजादि सन्तमत सनातनशास्त्र (वेदशास्त्र) के अनुगामी बनते हुए प्रामाणिक हैं, अतएव उपादेय हैं। इन सन्त-आचार्यों की वाग्धारा से तत्कालीन पथभ्रष्ट जनता को सन्मार्ग मिला, लुप्त वर्णाश्रम-धर्म्म का पुन प्राकट्य हुआ, धर्म्मवृषभ की रक्षा हुई, अधर्म्मपथ का तिरस्कार हुआ। और इसी प्रामाणिकता के नाते भारतीय प्रजा ने इन सम्प्रदायवादों को सामयिक 'मतवाद' होने पर भी शाश्वत 'सनातन-धर्म्म' का अङ्ग स्वीकार कर लिया।

जो महानुभाव अपने स्वाभाविक दोषों पर पर्दा डालने के अभिप्राय से भारतीय नाना मतवाद पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप करते दिखलाई देते हैं, उनका कथन तो भारतीय की दृष्टि मे कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, अन्य देशों की तरह भारतवर्ष

मे भी राज्यक्रान्तियों, समाजक्रान्तियों, तथा धर्म्म-क्रान्तियों के अवसर पर समय समय में नवीन सामयिक मतवादों का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु इन सब मतवादों का एकमात्र लक्ष्य चूकि "आर्षधर्म्म" (सनातनधर्म्म) की रक्षा करना था, अतएव सभी मतवादों ने सनातन शास्त्र के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए ही सामयिकदृष्टि से अपने अपने मत स्थापित किए। अतएव च ये सभी मतवाद परस्पर मे समयभेदमूलक दृष्टिभेद रखते हुए भी सनातनशास्त्र की दृष्टि से एक ही लक्ष्य के अनुगामी बने रहे। एवं इसी सम लक्ष्य के कारण अनेक मतवादों के रहने पर भी अन्य देशों की तरह कभी इनमें परस्पर संघर्ष का अवसर न आया।

आज शैव-वैष्णव मतवादों में जो कलह देखा जाता है, उसका एकमात्र कारण है— मूल प्रतिष्ठा का परित्याग। सभी मतवादों को वेदशास्त्र सिद्ध होने से प्रमाणभूत मान लेने के साथ ही हमें यह भी मान ही लेना चाहिए कि, कुछ एक शताब्दियों से हम मतवाद के अभिनिवेश में पड कर वैदिक-तत्त्ववाद की उपेक्षा कर पारस्परिक संघर्ष के कारण अवश्य बन गए हैं। इसी संघर्ष की कृपा से अपने मूलोद्देश्य से वञ्चित रहते हुए आज ये ही मतवाद लाभ के स्थान में हानिप्रद बन रहे है। जिस आर्षधर्म्म की रक्षा के लिए इन मतवादों का जन्म हुआ था, वह आर्षधर्म्म आज सर्वथा आवृत बन गया है, यह स्वीकार कर लेने पर भी यह दोष मतवाद पर नहीं लगाया जा सकता। कारण स्पष्ट है। यदि कोई मन्दबुद्धि अपने बुद्धिदोष से एक उपयोगी-सत् पदार्थ का दुरुपयोग कर उसे असत्-सा बना देता है, तो इसमें उस सत् पदार्थ का कोई दोष नहीं माना जा सकता।

भारतवर्ष के सभी मतवाद वेदभक्ति का डिण्डिमघोष करते हुए भी आज वेदस्वाध्याय से विमुख हैं। सभी सम्प्रदायों का एकमात्र लक्ष्य है—केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थों को विपुलोदर बनाना। वेदशास्त्र सब का अभिन्न धरातल है। एक नायक की उपेक्षा, एवं अनेक नायकों का समादर ही विनाश का कारण माना गया है। इसी कारण के अनुग्रह से वेदशास्त्रसिद्ध आर्षधर्म्म की उपेक्षा करतीं हुई, सभी सम्प्रदाएं आज सचमुच इतर देशों के मतवाद-लक्षण 'रिलीजन' का आसन ग्रहण कर भारत-वैभव नाश का कारण बन रहीं हैं। विभिन्न सम्प्रदायवादियों के विभिन्न दृष्टिकोण जहां वेदधर्म्म के नाते एक सूत्र में बद्ध रह कर संघटन शक्ति बनाए रखते थे, आज वह संघटन टूट चुका है। और अगली पीढ़ियों में उत्पन्न होने वाले साम्प्रदायिक व्याख्याताओं नें तो अपनी अभिनिष्ट व्याख्याओं से और भी अधिक मालिन्य उत्पन्न कर दिया है।

इसी अभिनिवेश के अनुग्रह से महापूजा का स्थान अल्पपूजा ने ग्रहण कर लिया है। ईश्वरीय, आनन्दलक्षण, भूमाभाव का स्थान जीवानुबन्धी, दुःखलक्षणा, अल्पता ने छीन लिया है। समष्टिपूजा के स्थान पर व्यक्तिपूजा ने आक्रमण कर लिया है। हम यह जानते हुए भी कि, अमुक सन्त, अमुक सम्प्रदायाचार्य निरक्षर-मूर्द्धन्य है, देवानां प्रिय है, विलासी है, फिर भी उसके चरणों में सर्वस्व समर्पण करते हुए हम लज्जा का अनुभव नहीं करते। धर्म्म-रक्षा के व्याज से श्रद्धालु देश की विपुल धनराशि को अपने कोशों में प्रतिष्ठित रखते हुए भी धर्म्मरक्षक इस ओर से सर्वथा उदासीन हैं। इन्हीं ताण्डवनृत्यों से तटस्थ जनता शनैः शनैः धर्म्मपथ से च्युत होती जा रही है। सामान्य जनता की बात छोड़ दीजिए क्योंकि उनके लिए तो 'मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' सिद्धान्त ही सन्तोष की भूमि बन रहा है। परन्तु वर्त्तमान युग के शिक्षित-समाज के सामने धर्म्म के नाम पर जब ऐसी सम्प्रदाय-विभीषिका उपस्थित होती है, धर्म्म का जब ऐसा विकृत रूप उपस्थित होता है, जब वह धर्म्मानुयायियों में ही परस्पर संघर्ष देखता है, तो ऐसी दशा में उसका धर्म्म की ओर से विमुख हो जाना स्वाभाविक है। और आज यही हो रहा है। अस्तु. कब हमारे मतवाद पुनः अपने उस अभिन्न धरातल (वेदशास्त्र) का आश्रय लेंगे, कब साम्प्रदायिक कलह से हमारा पीछा छूटेगा, कब स्वार्थियों के वैय्यक्तिक स्वार्थ देश का रक्तशोषण बंद करेंगे, यह कथान्तर है। यहां तो इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि, भारतीय मतवाद वेदधर्म्म को आलम्बन बनाने के कारण अवश्य ही प्रामाणिक, एवं उपादेय हैं।

सन्तमत का दूसरा दृष्टिकोण है, प्रजा को लोकवैभवों के आकर्षण से मुक्त करना। कोई सन्त[1] संसार को मिथ्या बतला कर लोकवैभव का तिरस्कार कर रहा है, कोई सन्त[2] जगत् प्रपञ्च को बन्धन का कारण घोषित करता हुआ ईश्वरभक्ति का यशोगान कर रहा है, तो कोई अर्वाचीन सन्त[3] लोकभाषामय सूक्तियों के द्वारा जनता में ऐसे निराशा के भाव भर रहा है, जिनके सामने आते ही हम अपने आप को, एवं लोक समुन्नति को एक रद्दी चीज समझने लगते हैं। 'भोजन जो कुछ मिले, सो खावे, प्राणन का पालन हो जावे'— 'चामड़ा की पूतली भजन कर ए'—'सब जग झूंठी माया साधो, सबजग०' 'देख कबीरा रोया'—'दास मलूका यों कहैं, सब के दाता राम'—'तुम बिन कौन सहाई'

---

१ अद्वैतसम्प्रदाय के सन्त। २ वैष्णवसम्प्रदाय के सन्त। ३ कबीर, दादू आदि अर्वाचीन सन्त।

ऐसे ऐसे निर्वीर्य्य पद जब हमारी श्रोत्रेन्द्रिय में प्रविष्ट होते हैं, तो हमारी आत्मनिर्भरता विलुप्त हो जाती है। हम अपने आपको नगण्य, कायर, हतश्री मानने लगते हैं। लोकसमुन्नति का द्वार अवरुद्ध हो जाता है, कर्त्तव्य-परायणता शिथिल हो जाती है, स्फूर्त्ति विलीन हो जाती है। यही हमारे इस सन्तमत का एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिसके अनुगमन से भारतवर्ष केवल परलोक के स्वप्न देखता हुआ अपने ऐहलौकिक वैभवों को खो बैठा है, और आज भी उसी मत के अभिनिवेश में पड़ता हुआ खोता जा रहा है।

सन्तमत में रहनेवाली आर्षधर्म्म-दृष्टि आज सर्वथा विलुप्त हो चुकी है। किसी विशेष, एवं सामयिक उद्देश्य को लेकर पनपनेवाली उक्त सन्तभावनाओं ने आज सदा के लिए देश में घर कर लिया है। जिसे देखिए, वही परमात्मा का निकट सम्बन्धी बनने का दम भर रहा है। जिसके मुख से सुनिए, वही जीवन की अनित्यता का यशोगान कर रहा है। लोक-वैभव पदे पदे तिरस्कृत है, अल्पता पदे पदे संगृहीत है। आत्मनिर्भरता पलायित है, पराव-लम्ब सापेक्ष है। इस प्रकार हमारे इस सन्तमत ने हमें मनुष्य से एकदम 'देवता' बना डाला है। हम को 'हम' न रखकर कुछ दूसरा ही बना डाला है। तत्वान्वेषण, लोकसंघठन, राष्ट्रोन्नति, लोकवैभवप्राप्ति, साम्राज्य सुखोपभोग, आदि ऐहलौकिक विकासों को यहां प्रवेश करने का भी अधिकार नहीं रह गया है। और यही सन्तमत का दुःखपूर्ण संक्षिप्त इतिवृत्त है।

आर्षधर्म्म क्या चाहता है ? उत्तर स्पष्ट है। अपने अन्तर्जगत् के पूर्ण विकाश के साथ साथ लोकवैभवों का भी पूर्ण विकास। व्यक्ति-कुटुम्ब-समाज-राष्ट्र की प्रत्येक भौतिक आव-श्यकताओं की पूर्त्ति के साथ साथ अध्यात्मसंस्था का पूर्ण विकास, "अजितं जेतुमनुचिन्त-येत्, न क्वचिदप्यलं बुद्धिमादध्यात्' मन्त्र का मनसा-वाचा-कर्म्मणा अनन्यभावात्मक अनुष्ठान। कायरता का परित्याग, वीरता का आह्वान, तत्वों का सतत अन्वेषण, निःश्रेयस-गर्भित अभ्युदय की सतत वाञ्छा, आत्मनिर्भरता का अनुगमन, अभयपद की अनन्यो-पासना, अमृतभावों का चिन्तन, शाश्वत प्रत्ययों में दृढनिष्ठा, ये ही कुछ एक ऐसे मूलमन्त्र हैं, जिनका सन्देश मिलता है हमें एकमात्र आर्षधर्म्म से, एवं तत्प्रतिपादक वेदशास्त्र से। यद्यपि

---

१ *"तुम्हारे पास जो वस्तु नहीं है, उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते रहो। कभी अल (सन्तोष) मत करो। बढ़े चलो, भूमा की उपासना करते रहो"।*

आर्षधर्म्म यह समझता है कि, लोकवैभव, भौतिक प्रपञ्च बन्धनमूला अशान्ति के कारण हैं, परन्तु सन्तमत की तरह वह यहीं पर विश्राम नहीं कर लेता। वह कहता है कि, भूतवैभव तभी तक अशान्ति का प्रवर्त्तक बना रहता है, जबतक कि उसके मूल में 'अध्यात्म-साधना' प्रतिष्ठित नहीं कर दी जाती। व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग करते हुए राष्ट्रकल्याण की सामूहिक भावना को आगे करते हुए, 'लोककल्याण हेतवे' को मूलमन्त्र बनाते हुए, आत्ममूल का आश्रय लेते हुए जो वैभव कामना की जाती है, वह कभी अशान्ति का कारण नहीं बन सकती। यही नहीं, अपितु आत्मसाधनामूला यह लोक-सम्पत् लोकशान्ति का ही कारण बनती है। और यही आर्षधर्म्म का सर्वोत्कर्ष है। अन्य मतवाद जहां आत्मस्वरूप को विकृत करते हुए अशान्तिमूलक-लोकवैभवों के समर्थक हैं, आधुनिक भारतीय सन्तमत जहां कायक्लेश का समर्थक बनता हुआ कहने भर को केवल आत्मोदय का कारण बन रहा है, वहां हमारा आर्षधर्म्म आत्मलक्षण निःश्रेयस आनन्द, एवं विश्वलक्षण अभ्युदय सुख, दोनों का संग्राहक बनता हुआ सर्वमूर्द्धन्य बन रहा है। आज के जिस युग में सन्तमत, रिलीजन प्रवृद्ध अर्थतृष्णा आदि सांघातिक शस्त्रास्त्र पनप रहे हैं, मानव समाज की रक्षा के लिए इन सब की प्रतिद्वन्द्विता को निरर्थक सिद्ध करने के लिए पुनः हमें उसी आर्षधर्म्म की प्रतिष्ठा करनी होगी, जो कि आर्षधर्म्म शताब्दियों से नहीं, अपितु सहस्राब्दियों से विलुप्त हो रहा है।

निरूपणीय आर्षधर्म्म के प्रसंग से सन्तमत का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब आर्षधर्म्म के सुप्रसिद्ध दो विभागों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। आर्षधर्म्म का ही दूसरा नाम

आर्षधर्म्म के दो विभाग—

"वैदिकधर्म्म" है, जिसके लिए, 'एष धर्म्मः सनातनः'—'धर्म्मं हन्युः सनातनम्' (मनुः ८।६४) इत्यादि रूप से 'सनातन धर्म्म' नाम प्रयुक्त हुआ है। सुविधा, एवं लोकदृष्टि से आगे हम भी इसे इसी नाम से व्यवहृत करेंगे। सनातनधर्म्म के 'अन्तःसंस्था, बहिःसंस्था' भेद से आगे जाकर दो विभाग हो जाते हैं। अन्तःसंस्थानुगामी धर्म्म का पर्व "पारमार्थिक-धर्म्म" कहलाता है। एवं बहिःसंस्थानुगामी धर्म्म-पर्व "व्यावहारिक-धर्म्म" कहलाता है। पारमार्थिकधर्म्म का आत्मसंस्था से सम्बन्ध है, एवं व्यावहारिकधर्म्म का विश्व-संस्था से सम्बन्ध है। पारमार्थिकधर्म्म का सञ्चालक नीतिसूत्र 'धर्म्मनीति' नाम से एवं व्यावहारिकधर्म्म का सञ्चालक नीतिसूत्र 'राजनीति' नाम से व्यवहृत होता है। दोनों सर्वथा विभिन्न दो पृथक् पृथक् मार्ग होते हुए भी एक दूसरे के सहायक हैं। परमार्थमार्ग

व्यवहारमार्ग का सहायक है, एवं व्यवहारमार्ग परमार्थमार्ग का उपोद्बलक है। धर्म्मनीति, राजनीति की प्रतिष्ठा है, एवं राजनीति धर्म्मनीति का समर्थन करनेवाली है। दोनों का परस्पर में वही अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध है, जो कि सम्बन्ध अन्तःसंस्थालक्षण आत्मा, एवं बहिःसंस्थालक्षण शरीर में है। भारतीय सनातनधर्म्म की दृष्टि में विशुद्ध व्यवहारमार्ग भी स्वार्थमार्ग है, एवं विशुद्ध परमार्थमार्ग भी स्वार्थमार्ग है। दोनों से केवल व्यक्ति का ही उपकार होता है। 'आत्मपचनलक्षण, इस वैय्यक्तिक स्वार्थभाव के कारण दोनों हीं मार्ग स्वतन्त्र रहते हुए पापजनक है। पारमार्थिक, रमणीय वैदिक कर्म्म, एवं व्यावहारिक, यथाधिकारसिद्ध लौकिक कर्म्म, दोनों का सामञ्जस्य ही वास्तविक 'कर्म्मयोग' है। एवं प्रस्तुत "वैदिक-कर्म्मयोग" प्रकरण में हमें इसी समन्वित कर्म्मयोग की मीमांसा करना है।

साधन, एवं फलरूप से उभयथा जो कर्म्म ऐहलौकिक भौतिक अर्थों की अपेक्षा रखते हैं, जिन कर्म्मों का स्वरूपनिर्म्माण (इतिकर्त्तव्यता-सम्पत्ति) भी आधिभौतिक अर्थों से ही होता है, एवं आधिभौतिक पदार्थों के समन्वय से सिद्ध होनेवाले जिन कर्म्मों का फल भी आधिभौतिक ही है, ऐसे यच्चयावत् कर्म्मों का समुचित रूप ही **'कर्म्मयोग'** है। एवं ऐसे कर्म्मों का अनुशासन करनेवाला, आदेश देनेवाला ग्रन्थ ही **'कर्म्मकाण्ड'** है। चूंकि कर्त्तव्यात्मक वेद का **'विधि'** भाग इन्हीं कर्म्मों का अनुशासन करता है, अतः इसमें प्रतिपादित कर्म्मों के समुच्चय को हम 'कर्म्मयोग' कहेंगे, एवं इस ग्रन्थ को 'कर्म्मकाण्ड' कहेंगे।

विज्ञानभाषा के अनुसार विधि-भाग द्वारा प्रतिपादित कर्म्मयोग को कर्म्मयोग न कह कर 'यज्ञ' कहा जायगा। यज्ञकर्म्म एक वैज्ञानिक कर्म्म है, जो कि अधिकारी भेद से सर्वथा नियत है। भारतवर्ष किसे 'कर्म्मयोग' कहता है, ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—"यज्ञ"। यज्ञकर्म्म की विस्तृत व्याख्या स्वयं 'गीतामूलभाष्य' के—'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' इत्यादि श्लोक-विवरण में हीं की जायगी।, यहां इस सम्बन्ध में केवल यही कहना है कि, यज्ञकर्म्म में साधन, तथा फल, दोनों हीं चूंकि पूर्वलक्षण के अनुसार आधिभौतिक हैं, अतएव यज्ञ को 'कर्म्मयोग' कहा जायगा।

'समित्-आज्य-वेदि-वर्हि-पुरोडाश-सोमरस-ऋत्विक्-यजमान-दक्षिणा-गार्हपत्यादि कुण्ड' इत्यादि आधिभौतिक पदार्थों के समन्वय से ही यज्ञेतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होती है, इन्हीं के

---

१ "भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" (गीता ३।१३।)।

समन्वय से यज्ञ का स्वरूप बनता है। और समन्वित होनेवाले ये सब साधन आधिभौतिक हैं। "शत्रुनाश-अन्न-यशः-श्री-लक्ष्मी-प्रजा-पशु" आदि ही यज्ञ के फल हैं, एवं ये सभी फल आधिभौतिक हैं। इस प्रकार साधन-फलरूप से उभयथा आधिभौतिक बनता हुआ 'यज्ञ' वास्तव मे उक्त लक्षणानुसार 'कर्म्मयोग' है।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। जो कर्म्म साधनरूप से भी आधिदैविक, तथा आधिभौतिक, दोनों अर्थों की अपेक्षा रखते है, एवं जिन सम्पन्न कर्म्मों के फल भी आधिदैविक-आधिभौतिक दोनों हैं, ऐसे कर्म्मों का संग्रह ही 'कर्म्मयोग' है। प्रस्तुत लक्षण पूर्वलक्षण से सर्वथा भिन्न रहता हुआ भी उसी यज्ञकर्म्म को अपना उदाहरण बना रहा है। पार्थिव[1] संस्था भूतप्रधान बनती हुई 'आधिभौतिक' है, एवं सौरसंस्था[2] देवप्रधान बनती हुई "आधिदैविक" है। यज्ञ में दोनों का साधन रूप से समन्वय हो रहा है। समित् आज्यादि पूर्वोक्त द्रव्य पृथिवी से सम्बन्ध रखते हुए आधिभौतिक साधन हैं, ऋत्विजों का आत्मा, यजमान-यजमानपत्नी का आत्मा, एवं उदात्त-अनुदात्तादि स्वरों से सीमित वेदमन्त्र, ये सब साधर्न सौरसंस्था से सम्बन्ध रखते हुए आधिदैविक साधन मानें जायंगे। 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः सं० ७।४२।) इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार आत्मभाग सौर है, एवं 'स्वरहर्देवाः सूर्य्यः' (शत० ब्रा० १।१।२।२१) इत्यादि ब्राह्मणवर्णन के अनुसार मन्त्रगत स्वरतत्व सूर्य्य की वस्तु है। इस प्रकार यज्ञ के साधनों में भौतिक-दैविक, दोनों तरह के साधनों का समावेश हो रहा है। इन दोनों में से भौतिक साधन को हम 'ऐहलौकिक' साधन कहेंगे, एवं दैविक साधन को 'पारलौकिक' साधन कहेगे। क्योंकि पार्थिवसंस्था 'इहलोक'—(यह लोक-अयं लोकः) कहलाता है, एवं सौरसंस्था 'परलोक'—(वह लोक-असौलोकः) कहलाता है।

— यही अवस्था फलांश में समझिए। यज्ञकर्म्म से सम्पत्ति, यश, अन्न, प्रजा, आदि की वृद्धि होती है, शत्रुक्षय होता है, एवं ये सब फल पार्थिवसंस्था से सम्बन्ध रखते हुए आधिभौतिक, किंवा ऐहलौकिक हैं। यज्ञ—द्वारा यजमान के कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा में (जो कि कर्म्मात्मा यज्ञपरिभाषा में 'मानुषात्मा' कहलाया है) एक दिव्य संस्कार उत्पन्न होता है, जो

---

१ "एषां वै भूतानां पृथिवीरसः" (शत०ब्रा० १४।९।४।१।)।

२ "चित्रं देवानामुदगात्"। (यजुः सं० ७।४२।)।

कि—'यज्ञातिशय' नाम से प्रसिद्ध है। इसी सांस्कारिक दैवभाव को 'दैवात्मा' कहा जाता है। यह दैवात्मा सौरसंस्था से सम्बन्ध रखनेवाले 'त्रिणाचिकेत' नाम से प्रसिद्ध, सप्तदशस्तोमावच्छिन्न, प्राणमूर्त्ति स्वर्ग्य अग्नि के आकर्षण से आकर्षित रहता है। इधर यजमान का मानुषात्मा सांस्कारिक दैवात्मा से बद्ध रहता है। यावदायुर्भोगपर्य्यन्त पृथिवी में रह कर शरीरत्यागान्तर यज्ञकर्त्ता यजमान का मानुषात्मा उसी दैवात्मा के आकर्षण से (नियमित काल तक के लिए) उसी सप्तदशस्वर्ग में प्रतिष्ठित हो जाता है। चूंकि यह स्थान सूर्य्यसंस्था से सम्बन्ध रखता हुआ आधिदैविक है, अतएव इस यज्ञफल को हम आधिदैविक, किंवा पारलौकिक फल कहेंगे। इस प्रकार कर्म्मजनित फल में भी भौतिक, दैविक, दोनों भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

अब सिद्धान्तदृष्टि से विचार कीजिए। उक्त दोनों लक्षणों में से पहिला लक्षण ही कर्म्मयोग का सिद्धान्तलक्षण माना जायगा। दूसरे लक्षण में यजमानादि का आत्मा, स्वरयुक्त मन्त्रवाक् आदि जिन यज्ञ-साधनों को आधिदैविक कहा गया है, एवं सप्तदश स्वर्गरूप जिस यज्ञफल को आधिदैविक बतलाया गया है, परमार्थतः इन आधिदैविक भावों का भी आधिभौतिक प्रपञ्च में ही अन्तर्भाव मानना पड़ेगा। पृथिवी भूतप्रधाना है, सूर्य्य देवप्रधान है, एतावता ही पार्थिव साधन फलों को आधिभौतिक, एवं सौर साधन-फलों को आधिदैविक मान लेना विज्ञान दृष्टि से उचित नहीं। क्योंकि विज्ञानशास्त्र ने इन की परिभाषा और ही कुछ मानी है।

ईश्वर प्रजापति के 'आत्मा-तथा-विश्व' इन दो विवर्त्तों को लक्ष्य में रख कर ही कर्म्म-ज्ञान-उपासना के साधन-फलों का विचार करना चाहिए। आत्मा और विश्व, इन दोनों प्राजापत्यपर्वों में आत्मपर्व 'ईश्वर-जीव' भेद से दो भावों में परिणत रहता है। फलतः आत्मा-विश्व, इन प्राजापत्यपर्वों के स्थान में 'ईश्वर-जीव-जगत्' ये तीन पर्व हो जाते हैं। इनमें से ईश्वर का आधिदैविक प्रपञ्च से, जीव का आध्यात्मिक प्रपञ्च से, एवं जगत् का आधिभौतिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में ईश्वर आधिदैविक तत्त्व है, जीव आध्यात्मिक तत्त्व है, एवं जगत् आधिभौतिक तत्त्व है। ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः ज्ञान-उपासना-कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा बनते हैं। यद्यपि त्रिवृद्भाव के कारण तीनों ही प्राजापत्यपर्वों में (प्रत्येक में भी) आधिदैविकादि तीनों पर्वों का समन्वय है, जैसा कि पूर्व के आत्मपरीक्षा-खण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है—(देखिए गीताभूमिका २ खण्ड ४६ पृ०)। तथापि चूंकि प्रधानता तीनों में क्रमशः दैविक-आत्मिक-भौतिक भावों की ही है, अतः तीनों

क्रमशः तत्तत्संस्थाओं के ही स्वरूपसमर्पक मानें जाते हैं। तीनों में से चूंकि 'कर्म्मयोग' का विश्वानुबन्धी आधिभौतिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है, अतः कर्म्म के पूर्वोक्त साधन, एवं फल, दोनों को हम आधिभौतिक ही कहेंगे।

ईश्वर-जीव-जगत्, तीनों के क्रमिक संस्थान में जीवात्मा मध्यस्थ है। इस मध्यस्थ जीवात्मा के गमन के लिए उस ओर ईश्वर, एवं इस ओर जगत्, ये दो ही प्राकृतिक स्थान हैं। ईश्वर स्थान 'वह स्थान' कहलाता है, जगत्-स्थान 'यह स्थान' कहलाता है, जैसा कि 'इमं च लोकममुञ्च विज्ञानेनैव विजानाति' (छान्दोग्य उप० ७।७।१।)—'अयं च लोकः, परश्च लोकः' (वृहदा० उप० ३।७।१।)—'इमं च लोकं, परं च लोकम्' (वृ० उप०) इत्यादि उपनिषद्वचनों से प्रमाणित है। उस ओर ईश्वरस्थानीय परलोक है, इस ओर जगत्स्थानीय इहलोक है। ईश्वर चूंकि अव्ययप्रधान है, एवं अव्ययतत्त्व 'पर' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव ईश्वरलोक को अवश्य ही परलोक (अव्ययलोक) कहा जा सकता है। यदि मध्यस्थ जीव ईश्वरानुगत है, तब तो पारलौकिक निःश्रेयस सुख है, शान्त आनन्द है। एवं विश्व में ही संसक्त रहकर समृद्धि-लक्षण विश्वानन्द का अनुभव करना ऐहलौकिक सुख है। विश्वगति का 'प्रेयोभाव' से सम्बन्ध है, ईश्वरगति का 'श्रेयोभाव' से सम्बन्ध है। निःश्रेयस सुख ईश्वरानुगति पर ही निर्भर है। यह शान्त आनन्द—'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' (मुण्डकोपनिषत् १।२।७।) के अनुसार कर्म्मकाण्ड से अतीत है। कर्म्मकाण्ड तो केवल ऐहलौकिक, आधिभौतिक, अशाश्वत सुख का ही साधन बनता है।

ऐहलौकिक-फलप्रदाता कर्म्मकाण्ड ही 'यज्ञकाण्ड' है। जितनें भी यज्ञ हैं, सब आधिभौतिक, ऐहलौकिक साधनों की अपेक्षा रखते हुए आधिभौतिक फलों के ही जनक बनते हैं। आत्मसुख का, मोक्ष का, अमृतत्त्व का, शाश्वतपद का यज्ञकर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। हां यज्ञकर्म्मों में ही 'चयनयज्ञ' (अग्निचयन) अवश्य एक ऐसा यज्ञकर्म है, जिस के अनुष्ठान से चिदात्म-प्राप्तिलक्षण अमृतत्त्व की प्राप्ति सम्भव है, जैसा कि,—'नामृतत्त्वस्य तु-आशास्ति, ऋते चयनात्' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। चयनयज्ञातिरिक्त अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, ज्योतिष्टोम, राजसूय, वाजपेय, गोमेध, धर्म्म, आदि आदि सब यज्ञकर्म्म साधनतः, एवं फलतः उभयथा ऐहलौकिक सुख के ही प्रवर्त्तक हैं।

हमनें कर्म्मयोग का दूसरा लक्षण बतलाते हुए यजमानात्मा, एवं मन्त्रवाक् को तो यज्ञ-कर्म्म का आधिदैविक साधन बतलाया था, एवं सप्तदशस्थानीय नाचिकेत स्वर्गसुख को

आधिदैविक फल कहा था। परन्तु वास्तव में उक्त परिभाषा के अनुसार ये साधन-फल भी आधिभौतिक ही मानें जायंगे। कारण स्पष्ट है। सौर-संस्था से सम्बन्ध रखने वाला यजमानादि का आत्मा भी भूतात्मक है, स्वयं मन्त्रवाक् और नाचिकेत स्वर्ग भी भूतप्रधान ही है। भौतिकविश्व का तीसरा पर्व स्वयं सूर्य्य है। सूर्य्य स्वयं भौतिक है। सौर देवता भी भूतविशेष ही हैं। अतः केवल देवशब्द से ही इस संस्था को 'आधिदैविक' संस्था मान बैठना विज्ञान विरुद्ध है। इन्हीं सब परिस्थितियों के सामने आने से कर्म्मयोग के निम्न लिखित लक्षण में कोई विरोध नहीं रह जाता—

'जिन कर्म्मों का स्वरूप-इतिकर्त्तव्यता-भी आधिभौतिक (ऐहलौकिक) पदार्थों से हीं सम्पन्न होता हो, एवं जिन कर्म्मों का फल भी आधिभौतिक ही हो, उन कर्म्मों की समष्टि ही कर्म्मयोग है'।

साधनतः, एवं फलतः, जिन कर्म्मों का केवल विश्व-पदार्थों के साथ ही सम्बन्ध था, अभ्युदयजनक उन सब कर्म्मों का संग्रह कर महर्षियों नें (कर्म्मेतिकर्त्तव्यता प्रतिपादक) जो अनुशासन ग्रन्थ हमारे सामने रक्खा, 'विधि' नामापरपर्य्यायक वही वेदग्रन्थ—'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसके कि शाखाभेद भिन्न शतपथ-तैत्तिरीय-ऐतरेय-गोपथ-ताण्ड्य-आदि ११३१ अवान्तर भेद हैं।

आधिभौतिक साधन-फलानुगामी, ब्राह्मणभागोक्त यह कर्म्मकलाप एक वैज्ञानिकर्म्म बनता हुआ अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित माना गया है, जो कि अधिकारीभेद-चातुर्वर्ण्य, एवं चातुराश्रम्य से सम्बन्ध रखता है। सभी मनुष्य सभी कर्म्मों के अधिकारी नहीं बन सकते। अपितु जो मनुष्य जिस वर्ण में जन्म लेता है, जिसके बीजीभूत शुक्र-शोणित में अधिकारस्वरूपसमर्पक जो बीज प्रतिष्ठित रहता है, वह मनुष्य उसी बीजानुबन्धी कर्म्म में अपना अधिकार रखता है। यथाधिकारसिद्ध, स्व-धर्म्मलक्षण, स्व-स्व कर्म्मों में रत रहनेवाला पुरुष ही सच्चा कर्म्मयोगी है।

विवेचनीय वैदिक कर्म्मयोग के जिन व्यावहारिक, तथा पारमार्थिक नाम के दो भेदों का उपक्रम किया गया था, उनके सम्बन्ध में आज एक तीसरे 'प्रातिभासिक' कर्म्म का सम्बन्ध और जोड़ा जाता है। इस दृष्टि से दो के स्थान में 'प्रातिभासिक-व्यावहारिक-पारमार्थिक' ये तीन कर्म्म-विभाग हो जाते हैं। 'कर्म्माभास' ही प्रातिभासिक कर्म्म हैं। प्रतीति कर्म्म जैसी हो, परन्तु वास्तव में वह कर्म्म कर्म्म-मर्य्यादा से वञ्चित हो, ऐसे कर्म्मों को ही प्रातिभासिक-

कर्म्म (दिखावटी-बनावटी कर्म्म) कहा जायगा। कर्म्म का कर्म्मत्त्व 'अभ्युदय' है। जो कर्म्म अभ्युदय का जनक होगा, वही कर्म्मत्त्व से सुरक्षित रहता हुआ 'कर्म्म' कहलाएगा। एवं विपरीत कर्म्म कर्म्माभास ही माना जायगा।

घर से बाहिर निकल कर निरुद्देश्य इधर उधर घूमते रहना, घर मे आए तो निरर्थक गप-शप लडाते रहना, पादारविन्द से मुखारविन्द मे समय-असमय में कुछ न कुछ आहुत करते रहना, लम्बे पैर करके असमय में निद्राक्रोड का आश्रय ले लेना, पैर हिलाना, सीटी बजाना, चुटकी बजाना, अङ्गताडन करना, तृणच्छेद करते रहना, ऐसे ऐसे जितने भी निरर्थक कर्म्म हैं, इनसे न तो शरीर का ही कोई उपकार होता, एव न आत्मा में हीं किसी विशिष्ट अतिशय का आधान होता। यही नहीं, कालान्तर में ये निरर्थक कर्म्म हीं शरीरस्वास्थ्य के प्रतिबन्धक बनते हुए आत्मपतन के कारण बन जाते हैं। इन्हीं निष्प्रयोजन-निरर्थक कर्म्मों को 'अकर्म्म' कहा जाता है। न इनका शास्त्र में विधान है, न निषेध है, अतएव इन अकर्म्मों को 'अविहिता-प्रतिषिद्ध' नाम से सम्बोधित किया गया है। और यही प्रातिभासिक-कर्म्मों का एक स्वतन्त्र विभाग है।

मद्यपान, मासभक्षण, अगम्यागमन, मिथ्याभाषण, धूर्त्तता, वकवृत्ति, हिंसा, देव-द्विज-गुरु-वृद्ध-पूज्य-शास्त्र-निन्दा, अस्पृश्य-स्पर्श, आदि शास्त्रनिषिद्ध जितने भी कर्म्म हैं, वे सब भी प्रत्यवाय के जनक बनते हुए अभ्युदयरूपा कर्म्म-संपत्ति से वञ्चित होकर एक प्रकार से 'प्रातिभासिक' कर्म्म हीं हैं। ऐसे शास्त्रनिषिद्ध, शास्त्रविरुद्ध कर्म्मों को 'विकर्म्म' कहा जाता है। जोकि अविहिताप्रतिषिद्ध-अकर्म्मों की तरह अतिशय से वञ्चित रहते हुए, एवं प्रत्यवाय के जनक बनते हुए कर्म्माभास ही कहे जायगे। इस प्रकार प्रातिभासिक कर्म्मों के 'अकर्म्म-विकर्म्म' नाम के दो भेद हो जायंगे।

प्रातिभासिक कर्म्मों के अनन्तर क्रमप्राप्त दूसरा व्यावहारिक-कर्म्म विभाग सामने आता है। पूर्वप्रतिपादित लौकिक-वैदिक कर्म्म हीं व्यावहारिक कर्म्म मानें गए हैं। राजनीति, तथा समाजनीति से सम्बन्ध रखनेवाले (किन्तु धर्म्मनीति को अपना आलम्बन बनानेवाले) पार्थिव कर्म्म 'लौकिक कर्म्म' कहलाएंगे, एवं धर्म्मनीतिप्रधान, वर्णाश्रम के नियन्त्रण से नियन्त्रित, अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित यज्ञ-तपो-दान-लक्षण सौरकर्म्म 'वैदिक कर्म्म' (प्रवृत्तिलक्षण वैदिक कर्म्म) कहे जायगे। एवं इन दोनों हीं कर्म्मों को 'व्यावहारिक कर्म्म' माना जायगा। निष्कर्षतः जिन लौकिक-वैदिक कर्म्मों से ऐहलौकिक सुख-समृद्धिलक्षण अभ्युदय होगा, वे सब शास्त्रीय कर्म्म व्यावहारिक कर्म्म कहे जायंगे।

तीसरा विभाग 'पारमार्थिक कर्म्म' है। यही 'ज्ञानयोगलक्षण' निवृत्त-कर्म्म है। **'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म्म वैदिकम्'** (मनुः १२।८८) इस मानव सिद्धान्त के अनुसार उपरिनिर्दिष्ट (यज्ञादिलक्षण) व्यावहारिक कर्म्म भी वैदिक कर्म्म ही हैं, एवं प्रस्तुत निवृत्ति-लक्षण पारमार्थिक कर्म्म भी वैदिक ही हैं। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, प्रवृत्तिलक्षण व्यावहारिक वैदिक कर्म्म का वेद के ब्राह्मण-भाग से सम्बन्ध है, एवं निवृत्ति-लक्षण पारमार्थिक वैदिक कर्म्म का वेद के (आरण्यक भाग से युक्त) उपनिषद् भाग से सम्बन्ध है। ब्राह्मणोक्त, प्रवृत्तिलक्षण वैदिक कर्म्म कर्म्मयोग है, एवं उपनिषदुक्त, निवृत्तिलक्षण वैदिककर्म्म 'ज्ञानयोग' है। पहिला अभ्युदय-साधक है, दूसरा निःश्रेयससाधक है। इन तीनों में अकर्म्म-विकर्म्मलक्षण प्रातिभासिक कर्म्म प्रत्येक दशा में त्याज्य हैं, एवं धर्म्मानुबन्धी व्यावहारिक लौकिक कर्म्म, व्यावहारिक वैदिक प्रवृत्ति कर्म्म, एवं पारमार्थिक वैदिक निवृत्ति-कर्म्म यथासमय, यथाधिकार ग्राह्य हैं।

कर्मतालिकापरिलेख :—

अकर्म्म	१—अविहिताप्रतिषिद्धानि कर्म्माणि—अकर्म्म	—प्रातिभासिक-कर्म्माणि
विकर्म्म	२—शास्त्रविरुद्धकर्म्माणि—विकर्म्म	
कर्म्म	१—धर्म्मानुबन्धीनि, लौकिक-कर्म्माणि—कर्म्म	—व्यावहारिक-कर्म्माणि
	२—यज्ञादीनि वैदिकप्रवृत्तकर्म्माणि—श्रेष्ठकर्म्म	
	१—उपासनादीनि वैदिकनिवृत्तकर्म्माणि—ज्ञानात्मककर्म्म	—पारमार्थिक-कर्म्माणि

लौकिक-वैदिक भेदभिन्न दोनों व्यावहारिक कर्म्म, एवं वैदिक पारमार्थिक कर्म्म, इन तीन ग्राह्यकर्म्मों में से हमारे प्रस्तुत कर्म्मयोग-प्रकरण के साथ लौकिक एवं वैदिक व्यावहारिक-कर्म्मों का ही प्रधान सम्बन्ध समझना चाहिए। वैदिक यज्ञ-तपो-दानलक्षण प्रवृत्ति कर्म्म,

---

१ कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्म्मणः।
अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्म्मणो गतिः॥
—गीता ४।१७।

राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाले राष्ट्रीय कर्म्म, समाजव्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले सामाजिक कर्म्म, एवं व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले स्थूलशरीरानुबन्धी शारीरक कर्म्म, प्रवृत्तिमूलक ये सब कर्म्म विशुद्ध व्यावहारिक कर्म्म ही मानें जायंगे। इनका परमार्थ (आत्मबोधलक्षणा मुक्ति) से कोई सम्बन्ध न रहेगा। दूसरे शब्दों में विश्व एवं विश्वात्मा, इन दो प्राजापत्य पर्वों से कर्म्मयोग की प्रतिष्ठाभूमि कर्म्मप्रधान विश्व ही माना जायगा।

विश्वसम्बन्धी (ऐहलौकिक सम्बन्धी) व्यावहारिक लौकिक-वैदिक कर्म्मों का स्वरूप, अनुष्ठान, अधिकार-मर्य्यादा से सम्बन्ध रखता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न होनेवाला पाञ्चभौतिक विश्व भी त्रिगुणमूर्त्ति ही है। इस त्रिगुणात्मक विश्व के प्रत्यंशों से उत्पन्न हो कर, त्रिगुणात्मक विश्व के गर्भ में प्रतिष्ठित रहनेवाला प्रजावर्ग भी त्रिगुणाभाव से नित्य आक्रान्त है। 'लोकरुचिर्हि भिन्ना'—'भिन्नरुचिर्हि लोकः'—'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्'—'मुण्डे मुण्डे रुचिर्भिन्ना' इत्यादि आभाणकों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव, गुण, मानस प्रवृत्ति परस्पर में सर्वथा नियत हैं। सबकी योग्यता में पार्थक्य विद्यमान है। अतएव सब मनुष्य सब कर्म्मों के अधिकारी नहीं बन सकते। जिसमें जिस कर्मानुष्ठान की स्वाभाविक योग्यता है, जिसमें जिस कर्म्मानुष्ठान की शक्ति (रजो-वीर्य्य के सम्बन्ध से) परम्परा से चली आ रही है, दूसरे शब्दों में जिसके रजो-वीर्य्य में जन्मकाल से ही जिस कर्म्मानुष्ठान की शक्ति प्रतिष्ठित है, वही उसका अधिकारी है, एवं उसे विवश होकर वही स्वाभाविक कर्म्म करना पड़ेगा—'करिष्यस्यवशोऽपि तत्' —(गीता १८।६०।)।

यदि कोई मनुष्य दुराग्रह में पड़ कर अधिकार विरुद्ध कर्म्म करेगा, तो वह अपनी आधिकारिक-प्रकृति से विरुद्ध जाता हुआ पथभ्रष्ट हो जायगा, स्वस्वरूप को खो बैठेगा। फलतः अपने अपने आधिकारिक कर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ ही पुरुष पुरुषार्थ साधन में समर्थ होता है। बात बड़ी सुन्दर है। यह ठीक है कि, मनुष्य स्वाधिकार-सिद्ध कर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ ही वैय्यक्तिक-कौटुम्बिक-सामाजिक-तथा राष्ट्रीय अभ्युदय का कारण बन सके, तो इस से और उत्तम क्या होगा। परन्तु एक विप्रतिपत्ति इस सम्बन्ध में हमारे सामने ऐसी है कि, जबतक उसके निराकरण का कोई व्यवस्थित उपाय नहीं कर दिया जाता, तब तक मनुष्य केवल मनुष्य रहता हुआ कभी स्वाधिकार-सिद्ध कर्म्मों में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। और उस महाविप्रतिपत्ति का नाम है—"मनुष्य का अनृत स्वभाव"। जिसका कि अगले परिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

"मनुष्य अपने स्वभाव-सिद्ध आधिकारिक कर्म्म में विवश होकर प्रवृत्त होता है" यह सिद्धान्त इस मनुष्य-प्रजा के लिए इसलिए अपवादरूप बन जाता है कि, इसके स्वरूप का निर्म्माण करने वाला उपादान द्रव्य सर्वथा 'ऋत' है। ईश्वर-प्रजापति का यह रचना-वैचित्र्य ही मानना पड़ेगा कि, जहां उसने पार्थिव-प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य-प्रजा को ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों में अग्रेसर बनाया, वहां उसने इस के उपादानद्रव्य (शुक्र) में ऋतभाव का समावेश कर इसे सत्यमर्य्यादा से च्युत कर दिया। देवसृष्टि यदि सत्यसंहित है, तो मनुष्यसृष्टि इसी ऋत-भाव के कारण 'अनृतसंहित' है। इसी ऋतात्मक अनृतभाव की कृपा से मनुष्य अपने स्वाभाविक, आधिकारिक कर्म्म से वञ्चित हो जाता है। इसी वञ्चना के निरोध के लिए इस के लिए शास्त्रोपदेश की आवश्यकता होती है। 'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति' (शत० २।४।२।६) के अनुसार 'देवता-पितर-मनुष्य-पशु-असुर', प्रजापति की इन पांच सन्तानों में से देवता-पितर-पशु-असुर, ये चार प्रजा तो कभी स्वाभाविक नियमों का उल्लंघन नहीं करतीं, उल्लंघन करती है एकमात्र मनुष्य-प्रजा, और इस उत्पथगमन का एकमात्र कारण है, इस का अनृतभाव। अनृतभावमूलक इसी मर्य्यादा-अतिक्रमण का स्वरूप बतलाने के लिए एक वैदिक आख्यान हमारे सामने आता है।

सत्यानृत-विवेक—

'एकोऽहं बहु स्याम्' अपनी इस बहुत्वमूला भूमा-कामना से प्रेरित होकर प्रजापति (सम्वत्सर प्रजापति) ने असुर-देवता-पितर-मनुष्य-पशु नाम की पांच प्रजा उत्पन्न की। उत्पन्न होते ही प्रजा ने पिता प्रजापति के सामने अपनी यह मांग रक्खी कि, आपने हीं हमें उत्पन्न किया है, अब आप ही हमारे लिये जीवन-साधन (भोजनादि) का प्रबन्ध कीजिए। असुरप्रजा सब से ज्येष्ठ प्रजा थी, अतएव इसका कर्त्तव्य था कि, यह उस समय प्रजापति के सामने अपनी मांग रखती, जब कि इस से कनिष्ठ देवादि प्रजाएं जीवन साधन प्राप्त कर लौट जातीं। परन्तु अपनी स्वाभाविक आसुरभावमूला अर्थलिप्सा के कारण सब से पहिले ये ही प्रजापति के सामने पहुंचे। प्रजापति ने यही कहते हुए कि, 'तुम सबसे बड़े हो, तुम्हें सन्तोष रखना चाहिए' इन्हें लौटा दिया। अनन्तर देवता लोग यज्ञोपवीती बनकर 'नः-विधेहि, यथा जीवामः' यह कहते हुए प्रजापति के सामने नम्रभाव से उपस्थित हुए। प्रजापति ने इन के लिए यह व्यवस्था की कि, 'यज्ञ तुम्हारा अन्न बनेगा, तुम नीरोग रहोगे, ऊर्क् तुम्हारा बल होगा, एवं सूर्य्य तुम्हारी ज्योति होगी।' देवता सन्तुष्ट होकर लौट आए।

देवताओं के अनन्तर पितर लोग प्राचीनावीति बन कर पहुँचे। इन्हें यह आदेश मिला कि, 'प्रतिमास की अमावास्या में तुम्हें भोजन मिलेगा, उस भोजन का साधन 'स्वधा' होगा। मनोजव तुम्हारा बल होगा, एवं चन्द्रमा तुम्हारी ज्योति होगी।' पितर भी सन्तुष्ट होकर लौट गए। अनन्तर प्रावृत बन कर उसी कामना को आगे करते हुए मनुष्य पहुँचे। इनके सम्बन्ध में प्रजापति ने यह व्यवस्था की कि, 'प्रातः सायं दिन में दो बार तुम्हें भोजन करना पड़ेगा, प्रजावर्ग तुम्हारा बल होगा, मृत्यु तुम्हारा स्वाभाविक धर्म्म होगा, एवं अग्नि तुम्हारी ज्योति रहेगी।' मनुष्य भी सन्तुष्ट होकर लौट गए। मनुष्यप्रजा के अनन्तर उसी कामना को लेकर पशु पहुँचे। इन्हें यह आदेश मिला कि, 'तुम सदा स्वतन्त्र रहोगे। तुम्हारे लिए समय का कोई नियन्त्रण न रहेगा। तुम जब, जहां जो कुछ मिलेगा, समय असमय का कोई ध्यान न रखते हुए खाने लगोगे। तुम्हारी यह अमर्य्यादित वृत्ति ही तुम्हारे जीवन का साधन बनेगी।' पशु भी सन्तुष्ट होकर लौट गए।

अब उस असुरप्रजा को अवसर मिला, जो कि अपने आसुरभाव की प्रेरणा से देवताओं से भी पहिले पहुँची थी, साथ ही में पितर-मनुष्य-पशुओं की व्यवस्था के अवसरों पर भी पहुँचे बिना न रही थी, और प्रजापति की "अभी तुम ठहर जाओ" इस प्रतारणा से हर एक बार वापस लौट आती थी। सर्वान्त में ही प्रजापति ने इस असुरप्रजा के लिए व्यवस्था की। इसे आदेश मिला कि, 'तम (तमोगुण-अन्धकार) और माया (धूर्त्तता, छल, वकवृत्ति, नास्तिक्य, अगम्यागमन आदि मायिक साधन) हीं तुम्हारी जीविका के साधक बनेंगे'। असुरप्रजा भी मनचाही माग मिलने से सन्तुष्ट होकर लौट गई।"

इस प्रकार प्रकृतिसिद्ध दायविभाग का क्रमिक निरूपण कर मनुष्यप्रजा के अनृतभाव का स्पष्टीकरण करने के लिए आगे जाकर श्रुति कहती है कि—

'ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति, यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति। तस्माद्यो मनुष्याणां मेद्यति, अशुभे मेद्यति, विहूर्छति हि, न ह्ययनाय च न भवति, अनृतं हि कृत्वा मेद्यति'।

—शतपथ ब्रा० ४।२।१ से ६ पर्य्यन्त

"देवादि प्रजाएं उन्हीं नियमों के अनुसार जीविका-निर्वाह कर रहीं हैं, जैसा कि प्रजापति ने आरम्भ में इनके लिए व्यवस्था नियत की थी। न देवता उस प्राजापत्य मर्य्यादा का अतिक्रमण करते, न पितर अतिक्रमण करते, एवं न पशु ही अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्र-वृत्ति का परित्याग करते। केवल मनुष्य ही उन नियमों का अतिक्रमण करते है। यह विश्वास करने की बात है कि, मनुष्य समुदाय में जो मनुष्य शरीर से अत्यधिक विपुलोदर बन जाता है, जिसका उदर शरीरयष्टि की सीमा से बाहर निकल आता है, निश्चयेन उसने अशुभ कर्म्म किए हैं, पाप कर्म्म द्वारा अर्थसंचय किया है। ऐसा मनुष्य मनुष्यता से गिर गया है, उसके अभ्युत्थान का मार्ग अवरुद्ध है। क्योंकि वह अनृत करके (झूठ बोल कर, छल करके) ही विपुलोदर बना है"।

उक्त आख्यान से प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि, मनुष्यप्रजा ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करती हुई स्वाधिकार से वञ्चित हो जाया करती है। इसे अपने कर्त्तव्य-कर्म्म का ध्यान नहीं रहता। जब तक इसे शास्त्रोपदेश, गुरुसेवा, वृद्धसेवा, आदि के नियन्त्रण से नियन्त्रित नहीं कर दिया जाता, तब तक यह अपने आप से कभी स्वाभाविक-कर्त्तव्य का अनुष्ठान करने में प्रवृत्त नहीं होती। मनुष्यप्रजा क्यों नहीं स्वाभाविक नियमों पर अपने आप से प्रतिष्ठित रह सकती ? क्यों यह नियम छोड़ बैठती है ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिये-'सत्यसंहिता वै देवाः'—'अनृतसंहिता मनुष्याः' (शत० ब्रा० १।१।३।) इन श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित 'सत्य-अनृत' भावों का ही विवेक करना पड़ेगा।

अपने प्रत्येक कार्य्य में सत्य एवं अहिंसा का सम्पुट लगाने वाले हमनें क्या कभी यह भी प्रयास किया है कि, सत्य क्या पदार्थ है ? अहिंसा की क्या परिभाषा है ?। अहिंसा के सम्बन्ध में पूर्व के 'योग-सङ्गति' प्रकरण में कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। उसके आधार पर जैसे हमें हमारी काल्पनिक अहिंसा का दृष्टिकोण बदलना आवश्यक हो जाता है, एवमेव आगे बतलाए जाने वाले 'सत्य' स्वरूप का मर्म्म समझ लेने पर हमें अपने कल्पित सत्य का भी दृष्टिकोण अवश्य ही बदलना पड़ेगा। जिसे हम अभिनिवेश के साथ 'सत्य-सत्य' कह कर पुकार रहे हैं, क्या ऐसे सत्य का ऐसा आग्रह हमारा कल्याण कर सकता है ? सचमुच यह एक जटिल समस्या है।

हां, तो विचार यह करना है कि यह सत्य क्या पदार्थ है ? एवं उसका आग्रह हम किस आधार पर करते हैं ? एवं मनुष्य अनृतसंहित कैसे है ?। सर्वसाधारण ने सत्य शब्द की व्याप्ति 'सत्यभाषण' (सच बोलना) पर समाप्त समझ रक्खी है, और सत्यभाषण का अर्थ

यह समझ रक्खा है कि, वस्तुतत्व का जैसा स्वरूप हो, अपने शब्दों से उसका उसी रूप से अभिनय कर डालना। कहना न होगा कि, वैदिक-विज्ञान की दृष्टि से 'सत्य' तत्व की यह परिभाषा सर्वथा अशुद्ध है। 'मनुष्य' नामक प्राणी कभी सत्य नहीं बोल सकता। मनुष्य जब भी कभी, जो भी कुछ भी अपने श्रीमुख से बोलेगा, मिथ्या ही बोलेगा। मनुष्य मनुष्य होकर सत्य बोले, यह नितान्त असम्भव है। पारमार्थिक सत्य को तो थोड़ी देर के लिए एक ओर रख दीजिए। अभी केवल इन्द्रियानुबन्धी व्यावहारिक सत्यभाषण का ही उदाहरण रूप से विचार कीजिए।

एक तटस्थ व्यक्ति किसी व्यक्ति से पूछता है, महोदय! इस समय क्या बजा होगा? महोदयजी भित्ति में खचित, पुरोऽवस्थित घटिका यन्त्र पर, अथवा मणिबन्ध में बद्ध घटिका पर दृष्टि डालते हुए बड़ी सावधानी से बोल पड़ते हैं—"इस समय ठीक दस बजे हैं"। सत्य की पूर्वोक्त परिभाषा पर ही विश्राम करने वाला कोई भी व्यक्ति इस उत्तर को असत्य न कहेगा। सभी की दृष्टि में 'ठीक दस बजे हैं' यह सत्यभाषण माना जायगा। परन्तु क्या वास्तव में यह कथन सत्यमर्य्यादा से युक्त है? असम्भव। दृष्टि और वाणी, दोनों का जब तक एक ही क्षण में समन्वय नहीं हो जाता, तब तक ठीक (सत्य) समय नहीं बतलाया जा सकता, एवं दृष्टि और वाणी का क्षण समन्वय सर्वथा असम्भव है। पहिले घटिकायन्त्र पर दृष्टि डाली जाती है, अनन्तर दृष्ट अर्थ का शब्द द्वारा मुख से अभिनय किया जाता है। उधर घटिकायन्त्र क्षणभर के लिए भी स्थिर नहीं है। जिस क्षण में महोदयजी की दृष्टि दस के अङ्क पर जाती है, उस क्षण में अवश्य ही दस बजे हैं, साथ ही इस सत्य समय का अनुभव भी इनके अन्तर्जगत् (आत्मा) में हो पड़ता है। परन्तु यह दृष्टिकाल क्षण-काल से भी कहीं सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम है। जिस समय इनके मुख से 'ठीक दस बजे हैं' यह वाक्य निकलता है, इस भाषण समय के, और दृष्टि समय के बीच में तो बहुत सा समय निकल जाता है। भाषण काल तक कई सेकेण्ड निकल जाते हैं, यह सभी को मानना पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में इस दृष्ट सत्य का कभी वाणी से ठीक-ठीक अभिनय नहीं किया जा सकता। अब बतलाइए! सत्यभाषण कैसे सत्यभाषण रहा?

बात यथार्थ में यह है कि, 'ठीक' शब्द सत्यभाव का सूचक है, एवं सत्यभाव का केवल अन्तर्य्यामी आत्मदेवता के साथ सम्बन्ध है। सत्यमूर्त्ति आत्मा ही सत्य का ग्राहक बना करता है। इधर यह सत्यमूर्त्ति आत्मा गर्भ में प्रतिष्ठित रहता हुआ इन्द्रिय-धर्म्मों से अतीत है, परोक्ष है। अतएव परोक्ष, इन्द्रियातीत, आत्मा, एवं आत्मानुगामी सत्यभाव

दोनों हीं इन्द्रियों के विषय नहीं बन सकते। वहाँ वाणी की गति अवरुद्ध है, जैसा कि—
'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, सत्य आत्मानुगामी बनता हुआ केवल भावना की वस्तु है, सत्य की अन्तर्जगत् मे भावनामात्र की जा सकती है, उसका वाणी से अभिनय करना सर्वथा असम्भव है आत्मा[1] हृदय मे निगूढ (प्रच्छन्न) है। उधर–

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति, नान्तरात्मन्'

—कठोपनिषत् १।४।१।

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सभी इन्द्रियाँ पराङ्मुख है। अतएव कहना पड़ेगा कि सत्य न कहने की वस्तु, न सुनने की, न सुनाने की, न स्वाद लेने की, न सूघने की। फिर हम वाणी द्वारा कैसे सत्यभाषण का आग्रह रख सकते हैं। सत्य आग्रह करने की वस्तु नहीं, अपितु अन्तर्जगत् मे भावना रखने की वस्तु है।

"सत्य हमारी प्रतिष्ठा है"—"हम सत्य पर खड़े हैं"—"हम सदा सत्य ही बोलते हैं" इन तीनों हीं सत्याग्रहों से हम सर्वनाश को निमन्त्रित कर रहे हैं। कारण, तीनों हीं आग्रह मूल-प्रतिष्ठा से विच्युत होते हुए हमारे नाश के कारण बन जाते है। अन्तर्य्यामी आत्मदेवता सत्यमूर्त्ति बतलाया गया है। साथ ही में गर्भीभूत होने से इसे परोक्ष कहा गया है। जिस तत्त्व का धर्म्म परोक्ष रहता है, उसे प्रत्यक्ष करने से उसका वह धर्म्म निर्वीर्य्य बन जाता है। यदि हम आत्मसत्य से सम्बन्ध रखने वाली सत्यभावनाओं का वाणी से अभिनय करते रहेंगे, तो कालान्तर मे निश्चयेन परोक्ष आत्मा का परोक्ष सत्य बल निर्वीर्य्य बन जायगा। आत्मा मे शैथिल्य आ जायगा, कर्त्तव्य-शक्ति क्षीण हो जायगी। निर्वीर्य्य आत्मा इन्द्रियों की निर्बलता का कारण बनता हुआ हमे बाह्य-वैभव से भी वञ्चित कर देगा। सत्य का आचरण जहा वीर्य्यरक्षा का साधन है, वहा सत्य का वाणी द्वारा होने वाला अभिनय सत्यमर्य्यादा

---

१ "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि.॥"
(१।३।१२)।
"नाहं प्रकाश' सर्वस्य योगमाया समावृत्त" (गीता ७।२५।)।

से च्युत्य होता हुआ असत्य है। इस असत्य-भाव से परिगृहीत ऐन्द्रियक विषय भी अप्रतिष्ठित हैं। इसी आधार पर महर्षियों नें कर्त्तव्य-कर्म्म की सफलता के सम्बन्ध मे "मौनवृत्ति" को मुख्य स्थान दिया है। वक्तव्याश यही है कि, सत्य का बखान सत्य को असत्यरूप में परिणत कर देता है। कारण, जब तक सत्य आत्मा का धन है, तभी तक वह सत्य सत्य है, एवं तभी तक उस सत्य में बल है। आत्मस्थान से हट कर वाणी पर आते ही वह अपना स्वरूप और बल दोनों खो बैठता है। यही सत्य-आग्रह मे पहिला दोष है।

किसी भी वस्तु में अभिनिवेशपूर्वक प्रवृत्त होना ही 'आसक्ति' है। चाहे वह आसक्ति रागात्मिका हो, अथवा द्वेषात्मिका, दोनों हीं तरह से आसक्ति बन्धन का कारण है, आत्मा के स्वाभाविक विकास को आवृत्त करनेवाली है, जैसा कि, पूर्व के 'योग सङ्गति' नामक प्रकरण के उपसहार में स्पष्ट कर दिया गया है। "हमें सत्य बडा प्रिय है, इसलिए हम तो सदा सत्य ही बोलेंगे" इस प्रकार यदि रागपूर्वक हम सत्य में प्रवृत्त होते हैं, तो यह आसक्ति-सत्य (सत्य का अभिनिवेश) आसक्ति दोष का जनक बनता हुआ बुद्धि को अविद्याभाव से युक्त कर देता है। गीतासिद्धान्त के अनुसार तो 'आसक्ति' दोष आत्मविकास का सबसे प्रबल शत्रु है। यही इस सत्य-आग्रह मे दूसरा दोष है। सुनते हैं—इसी सत्याग्रह की कृपा से सत्यासक्त देवता एकबार असुरों से परास्त हो गए थे। और वह घटना यों घटित हुई थी—

"देवता और असुर दोनों हीं प्रजापति के पुत्र थे, अत न्यायत. दोनों हीं प्रजापति की सम्पत्ति के हकदार थे। फलत. दोनों प्रजापति के पास पहुँचे, और निवेदन किया कि, आपके पास जो कुछ सम्पत्ति है, उसे हम दोनों वर्गों मे समरूप से बाट दीजिए। प्रजापति के पास अमृतलक्षण सत्य, मृत्युलक्षण अनृत नाम की दो सम्पत्तिया थीं। उन्होंने समतुलन की दृष्टि से आधा सत्य, तथा आधा अनृत तो देवताओं को दे दिया, एवं आधा सत्य, तथा आधा अनृत असुरों को सौप दिया। दोनों अपना अपना दायभाग लेकर लौट आए।

देवता स्वभावत सत्यप्रिय थे, अतएव इन्हें दायभाग में जो आधा अनृत मिला था, उसे तो इन्होंनें उपेक्षा करते हुए एक ओर रख दिया, एवं बचे हुए आधे सत्य को पूर्णसत्य बनाने की कामना से सत्य की खोज करने लगे। इधर असुर स्वभावतः अनृतप्रिय थे, अतएव इन्हें दायविभाग में जो आधा सत्य मिला था, उसे तो इन्होंनें उपेक्षा करते हुए एक ओर रख दिया, एवं शेप आधे अनृत को पूर्ण अनृत बनाने की कामना से अनृत की खोज करने लगे। असुरों से उपेक्षित सत्य ने विचार किया कि, असुरों मे जो मेरा

(सत्य का) भाग था, देवतालोग अपने हिस्से के अनृतभाग को छोड़ कर उसे ढूंढते फिर रहे हैं। इससे अच्छा तो यही है कि, मैं स्वयं ही देवताओं के पास पहुँच जाऊं। यह विचार कर असुरों द्वारा उपेक्षित आधा सत्य देवताओं की ओर आ गया। उधर देवताओं से उपेक्षित अनृत ने भी सोचा कि, देवताओं में जो मेरा (अनृत का) भाग था, असुरलोग अपने हिस्से के सत्यभाग को छोड़ कर उसे ही ढूंढ रहे हैं, क्यों नहीं मैं स्वयं ही असुरों के पास पहुंच जाऊँ। यह संकल्प कर देवताओं द्वारा उपेक्षित आधा अनृत असुरों की ओर आ गया। फलतः देवता केवल सत्य के अनुगामी बन गए, असुर केवल अनृत के अनुगामी रह गए।

परिणाम इस सत्यासक्ति का यह हुआ कि, व्यवहार-जगत् की दृष्टि से सत्यासक्त देवता सारा लोकवैभव खो बैठे, एवं अनृतासक्त असुर सुसमृद्ध बन गए। देवता लोग सत्य के अनुग्रह से अन्त में मुक्त हो गए, एवं असुरवर्ग अन्त में अधोलोकों के अधिकारी बने"। (शतपथ ब्रा० ९।५।१)

उक्त वैज्ञानिक आख्यान से श्रुति बतलाना यह चाहती है कि, पारमार्थिक कर्म्म में भले ही विशुद्ध सत्यासक्ति का कुछ उपयोग हो, परन्तु व्यावहारिक कर्म्मयोग के सम्बन्ध में विशुद्ध सत्य भी अनुपयुक्त है, एवं विशुद्ध अनृत भी अनुपादेय है। विशुद्ध सत्य आत्मा है। इसकी आसक्ति से लोकवैभव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उधर विशुद्ध अनृत विश्व है, एवं इसकी आसक्ति से आत्मशान्ति का एकान्ततः उच्छेद हो जाता है। हमें आत्मशान्ति पूर्वक लोक-वैभव प्राप्त करना है। आत्मस्वरूप को सुरक्षित रखते हुए साम्राज्य सुख का उपभोग करना है। यह तभी सम्भव है, जब कि हम प्रजापति द्वारा प्रदत्त 'सत्य-अनृत' दोनों दायभागों का समादर करते हुए दोनों के समन्वितरूप से व्यावहारिक-कर्म्मों का अनुगमन करें। दूसरे शब्दों में सत्य को अनृतगर्भित बना कर ही उसका अनुष्ठान करें। सत्य-असत्य के समन्वय से सम्पन्न, उभयलक्षण, उभयधर्म्मावच्छिन्न बुद्धियोग ही उक्त अभ्युदय-निःश्रेयसभाव प्राप्ति में मुख्य साधन है, जैसा कि पूर्व के 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

सत्य वही उपयोगी होगा, जिसमें आसक्ति तो रहेगी नहीं, एवं जिसके गर्भ में अनृत अवश्य रहेगा। मुक्ति से सम्बन्ध रखनेवाले परलोक (आत्मलोक) की बात छोड़ दीजिए। भुक्ति से सम्बन्ध रखने वाले इहलोक में तो अनृतगर्भित-सत्य ही हमारा उपकारक बनता है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, विशुद्ध सत्य से सम्बन्ध रखने वाली विशुद्ध

धर्म्मनीति का ही अनुगमन करने से अनृत सम्बन्धी विश्ववैभव कथमपि प्राप्त नहीं हो सकता। व्यवहारकाण्ड मे अनृतमूला राजनीति को धर्म्मनीति के गर्भ में प्रतिष्ठित रखना पड़ेगा। "जैसे के साथ तैसा" को अपना आराध्य मन्त्र बनाना पड़ेगा, एव प्रत्येक परिस्थिति में भगवान् के--'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता० ४।११।) इस आदर्श को सामने रखकर ही कर्तव्य-पथ का आश्रय लेना पड़ेगा, जिसे कि भुला कर, कल्पित सत्य-के आग्रह मे पड कर हम अपने बचे-खुचे लोकवैभव का भी सर्वनाश कर रहे हैं।

लोकवैभव-रक्षापूर्वक धर्म्मरक्षा करनेवाले स्वय अवतारपुरुषो नें भी सत्य के अनृतगर्भत्व का ही समर्थन किया है। धर्म्मत्राता भगवान् कृष्ण ने महाभारत युद्ध मे स्वय किसी प्रकार के शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी। परन्तु भीष्म द्वारा पाण्डव-सेना का सर्वनाश होता देख कर भगवान् को धर्म्मनीति के साथ राजनीति का सम्पुट लगाना पडा, परिणामस्वरूप सामयिक विशेपधर्म्म उस प्रतिज्ञालक्षण-सामान्य धर्म्म का बाधक बन गया, सुदर्शनचक्र हाथों में आ ही गया। कर्णार्जुन-युद्धप्रसङ्ग मे नि शस्त्र कर्ण पर प्रहार करने के लिए भगवान् की ओर से जिस समय अर्जुन को प्रोत्साहन मिला, उस समय कर्ण ने धर्म्म की दुहाई दी, परन्तु भगवान् ने अपनी 'ये यथा मां' नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कर्ण को निरुत्तर कर दिया। 'कटि प्रदेश से नीचे गदा प्रहार करना धर्म्मयुद्ध मे वर्जित है' यह जानते हुए भी भगवान् ने भीम-दुर्योधन के पारस्परिक गदायुद्ध-प्रसङ्ग पर दुर्योधन के जङ्घा प्रदेश पर गदा प्रहार करने के लिए भीम को गुप्त रूप से सङ्केत किया। हलधर के अप्रसन्न होने पर उसी सत्य-महत्व को आगे रख कर उन्हें शान्त कर दिया। इन कुछ एक परिस्थितियों के आधार पर क्या हमें इस निश्चय पर नहीं पहुचना चाहिए कि, सत्य (धर्म्म) वही उपयोगी है, जिस के गर्भ मे अनृत (राजनीति) प्रतिष्ठित रहता है। धर्म्मनीति का आश्रय लेकर ही राजनीति का अनुगमन करना चाहिए, एव राजनीति को गर्भ में रख कर ही हमें धर्म्मनीति से लोकसंग्रह की रक्षा करनी चाहिए। सत्य सदा परोक्ष रहे, वह आत्मा की वस्तु बना रहे, यही अभ्युदय का अन्यतम साधन है। इसी आधार पर श्रुति का—'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विपः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

यह तो हुई सत्यशब्द की बाह्य व्याख्या। अब स्वयं सत्य-शब्द से पूछ देखिए, वह अपना क्या अर्थ रखता है ? क्योंकि भारतीय साहित्य में ऐसे ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो स्वयं ही अपना तात्विक अर्थ प्रकट कर रहे हैं। सत्य शब्द के इसी तात्विक अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई वाजसनेय-श्रुति कहती है—

'आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान्। ते देवाः सत्यमित्युपासते। तदेतत्-त्र्यक्षरं-'सत्य' मिति। 'स'-इत्येकमक्षरं, 'ती'-त्येकमक्षरं, 'अम्'-इत्येकमक्षरम्। प्रथमोत्तमेऽक्षरे सत्यं, मध्यतोऽनृतम्। तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति, नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति'

—शतपथ ब्रा० १४।८।५।

"सप्तपुरुषपुरुषात्मक, सप्तप्राणात्मक, प्राणमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति ने अपने ब्रह्मनिःश्वसित नाम के अपौरुषेय त्रयीवेद के यजुर्म्मय वाक् भाग से जो अप्-तत्व उत्पन्न किया था, हमारे इस सौर ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पहिले उसी आपोमय समुद्र का साम्राज्य था। इसी परिस्थिति को लक्ष्य में रख कर 'आप एवेदमग्र आसुः' कहा गया है। आपोमय समुद्रगर्भ में प्रविष्ट प्रजापति ने कामना की कि, मैं इस अप्तत्व से सत्य उत्पन्न करूं। फलतः प्रजापति की इस कामना के द्वारा पानी बना, एवं पानी ने सत्य (अङ्गिरातत्व) उत्पन्न कर दिया। आपोमय समुद्र में भृतरूप से इतस्ततः अव्यवस्थित घूमनेवाले उत्तप्त अङ्गिरा-कण शनैःशनैः केन्द्र में सञ्चित होने लगे। कालान्तर में पुञ्जीभूत बन कर यह अङ्गिराकण-समूह सहृदय-शरीरी बनता हुआ सत्यभाव में परिणत हो गया, जो कि सत्यपिण्ड—'तद्यत् तत् सत्यं, असौ स आदित्यः' (शत० १४।८।५) के अनुसार सूर्य्य नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इस सत्य-सूर्य्य ने 'गायत्रीमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध ब्रह्म (वेदत्रयी) उत्पन्न किया, जिसका कि दिग्दर्शन पूर्व के योग-सङ्गति-प्रकरण में कराया जा चुका है। ब्रह्म-लक्षण त्रयीवेद के प्रसार से प्राजापत्यसंस्था का उदय हुआ, जोकि प्राजापत्यसंस्था "सौर सम्वत्सर" नाम से प्रसिद्ध है। सौर सम्वत्सर ही रोदसी-त्रैलोक्य की देव-भूतप्रजा का उत्पादक बनता है, अतः इसे 'प्रजापति' कहना अन्वर्थ बन जाता है। इस सम्वत्सर प्रजापति के गर्भ में इसी प्राजापत्य साम्वत्सरिक प्राणाग्नि से ३३ सौर-प्राणदेवताओं का आविर्भाव हुआ, जिनके कि सम्बन्ध से सत्य सूर्य्य देवताओं का अनीक कहलाता है। सम्वत्सर प्रजापति से उत्पन्न ये सौर प्राणदेवता सत्य (सत्यात्मक सूर्य्य) की ही उपासना किया करते हैं। अर्थात् सत्यसूर्य्य ही इनकी प्रतिष्ठाभूमि है।

जिस सत्य ने ब्रह्म (वेद) उत्पन्न किया है, जो सत्य देवताओं की प्रतिष्ठाभूमि है, वह त्र्यक्षर[1] (तीन अक्षरों की समष्टिरूप) माना गया है। 'स' यह एक अक्षर है, 'ति' यह एक अक्षर है, एवं 'अम्' यह एक अक्षर है। इकार को यणादेश होने से 'स-ति-अम्'—'स-त्-य्-अम्' रूप मे परिणत होता हुआ 'सत्यम्' रूप मे परिणत हो रहा है, यही 'सत्यम्' का त्र्यक्षरभाव है। स-ति-अम् इन तीन अक्षरों मे आदि का सकार, एवं अन्त का अम्-कार ये प्रथम-उपोत्तम दो अक्षर तो सत्य हैं, एवं मध्य का (अस्पष्टरूप से केवल उच्चारण मे उपश्रुत) इकार अनृत है। दोनों ओर से सत्य से परिगृहीत होने से मध्य का अनृतभाव भी (अनृत विश्व भी) सत्यरूप में ही परिणत हो रहा है। जो मनुष्य सत्य के इस तात्त्विक स्वरूप को जान कर अपने अनृतभाव को चारों ओर से सत्य से वेष्टित करके प्रकट करता है, अनृतभाव उसका कुछ नहीं बिगाड सकता" ।

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण ने आरम्भ में 'सत्य' का 'सत्यम्' रूप मानते हुए उसकी व्याख्या में—'स-ति-अम्' रूप से सत्य का अनृतगर्भत्व सिद्ध किया। इधर तैत्तिरीय ने तो इस रहस्य का और भी अधिक स्पष्ट भाषा में निरूपण किया है। वहां 'सत्यम्' न बुल कर 'सतियम्' ही बुलता है। जिस प्रकार तैत्तिरीय सम्प्रदाय में 'स्वर्ग' शब्द का उच्चारण 'सुवर्ग' रूप से होता है, एवमेव 'सत्यं' का उच्चारण 'सतियम्' रूप से हुआ है। वस्तुतः शब्द है—'सत्-यम्'—(सत्यम्)। परन्तु ब्राह्मणश्रुति इस को 'सतियम्' रूप से उद्धृत करती हुई यह बतलाना चाहती है कि, 'सत्य' शब्द में 'इकार' नहीं है, परन्तु सुना जाता है, एवं यह इकार अनृतविश्व का सूचक है। विश्व असद्रूप होने से अनृत है, वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता।

---

[1] यद्यपि 'स्वरोऽक्षरम्' इस प्रातिशाख्य-सिद्धान्त के अनुसार 'सत्यम्' शब्द में 'सत्-यम्' ये दो ही अक्षर हैं, ऐसी परिस्थिति में 'सत्यम्' को त्र्यक्षर न कह कर द्व्यक्षर कहना चाहिए था। परन्तु सत्य कभी विशुद्ध नहीं रहता। उसके गर्भ में एक अनृत अक्षर और रहता है, जोकि 'सत्यम्' इस शब्द में प्रत्यक्षरूप से न रहता हुआ भी 'इ' कार रूप से प्रतीति का विषय अवश्य बनता है। 'सत्य' शब्द के उच्चारण में एक अस्पष्ट इकार की ध्वनि निकलती है। अनृत विश्व चारों ओर से सत्य से परिगृहीत रहता है, अतएव वह स्पष्ट नहीं है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए विश्वविशिष्ट सत्य के वाचक 'सत्य' शब्द में अनृत विश्व के वाचक इकार का प्रत्यक्षरूप से समावेश नहीं किया गया। परन्तु अक्षरगणना में उसकी भी गणना होगी, और इस दृष्टि से 'सत्यम्' शब्द त्र्यक्षर ही माना जायगा, जैसा कि स्वयं श्रुति ने ही स्पष्ट कर दिया है।

अपितु सत्तालक्षण सत्यात्मा के गर्भ में प्रविष्ट होने से ही यह सद्रूप बन रहा है। सत्यात्मा-'सत्-यम्-रूप' से अवारपारीण है, व्यापक है। इस के गर्भ में सत्-इ-यम्-रूप से इकारात्मना वह प्रतिष्ठित हो रहा है। यही विश्वोपाधिक, व्यावहारिक, सत्यं का सतियंपना है।

सत्य तत्व की उक्त मौलिक व्याख्या का तात्पर्य्य यही है कि, विश्वलक्षण व्यवहारकाण्ड में विशुद्ध सत्य का प्रयोग न कर अनृतगर्भित सत्य का ही प्रयोग करना चाहिए। दूसरे शब्दों में विश्वमूला राजनीति को आगे करके ही धर्म्मनीति का प्रसार करना चाहिए। क्योंकि विश्वसीमा के भीतर विशुद्ध सत्य की उपलब्धि सर्वथा असम्भव है। अपनी व्यावहारिक दृष्टि की अपेक्षा से इसी श्रौत आदेश का हम यों समन्वय कर सकते हैं कि, यदि हमारे अनृत-व्यवहार से सत्य तत्व की रक्षा सम्भव हो, तो उस समय हमें निःसंकोच अनृतभाव का आश्रय ले लेना चाहिए। इसी आधार पर स्मृति का—'वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साऽप्यनृतं वदेत्' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। अनृतभाव वह बुरा है, जिस से अनृतभाव का ही समर्थन होता हो। विश्व-वैभव वह त्याज्य है, जो सत्य आत्मा को बन्धन में डालता हो। अवश्य ही आर्षधर्म्म उस अनृत-विश्ववैभव का समादर करेगा, जो सत्य आत्मा का पोषक होगा। इसीलिए तो भारतीय आर्षधर्म्म ने सत्य आत्मा को आधार बना कर ही विश्ववैभव का संग्रह करना उचित माना है। सत्य आत्मा के आश्रय से विश्ववैभव की अनृतता भी सत्यरूप में परिणत हो जाती है। फलतः अनृतविश्वजनित आसक्ति-लक्षण बन्धन तो होता नहीं, एवं तज्जनित वैभव से हम वञ्चित रहते नहीं। एकमात्र इसी आधार पर हमनें विशुद्ध आत्ममूला, विशुद्ध सत्यासक्ति को दोषावह माना है।

अब प्रश्न हमारे सामने 'अनृत' शब्द का उपस्थित होता है। सर्वसाधारण ने जैसे सत्य-शब्द की परिभाषा 'सत्यभाषण' बना रक्खी है, एवमेव 'अनृत' शब्द का अर्थ 'मिथ्या' समझ रक्खा है, एवं इसी आधार पर उन की दृष्टि में अनृतविश्व अभावलक्षण एक मिथ्याभाव है। इस सम्बन्ध मे हमें जो कुछ वक्तव्य था, पूर्व के ब्रह्म-कर्म्म परीक्षा प्रकरण में विस्तार से कह दिया गया है। अतः यहा पिष्टपेषण अनपेक्षित है। प्रकरण-सङ्गति की दृष्टि से यहां केवल यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, ईश्वरप्रजापति के 'सत्-असत्' लक्षण, सुप्रसिद्ध 'अमृत-मृत्यु' नामक दो पर्व ही क्रमशः 'सत्य-अनृत' नामों से व्यवहृत हुए हैं। सत्य सत्-अमृत है, अनृत असत्-मृत्यु है। वस्तुतः शब्द है—'ऋत'। परन्तु आगे बतलाए जाने वाले किसी विशेष कारण से 'ऋत' शब्द को उसी प्रकार 'अनृत' शब्द से व्यवहृत किया गया है, जैसे कि, सत्-अमृत को उसी कारण की दृष्टि से 'असत्' कह कर व्याख्या में—'सदेवेदमग्रे सोम्य

असदासीत्' यह कहा गया है। आत्मा अमृतलक्षण (अमृत प्रधान) है, विश्व मृत्युलक्षण (मृत्यु प्रधान) है। आत्मा सत् है, विश्व असत् है। आत्मा सत्य है, विश्व 'ऋत' है, और ऋत विश्व ही 'सामान्ये सामान्याभावः' के अनुसार 'अनृत' कहलाया है, जो कि ऋतरूप अनृतभाव एक वस्तुतत्त्व है, न कि अभावरूप मिथ्याभाव। हां तो अव यह कहने में कोई संकोच नहीं किया जा सकता कि, न तो सत्यभाषण का अर्थ सत्य ही है, न विशुद्ध सत्य वाणी का विषय ही बन सकता। जो महानुभाव इसे वाणी का विषय बनाते हैं, वे आत्मा को निर्बल बनाते हैं, यही आसक्तिसत्य में पहिला दोष है। स्वयं आसक्ति दूसरा दोष है। एवं सत्यवाणी का विषय बन नहीं सकता, परन्तु बनाया जाता है, यही 'मिथ्याभाषण' रूप तीसरा दोष है। सत्य का डिण्डिमघोष ही सत्य-नाश का कारण है। डिण्डिमघोष शब्दात्मक बनता हुआ अनृत-विश्व का अनृतपदार्थ बन जाता है। फलतः वह सत्य सत्य न रह कर आसमन्तात् स्वस्वरूप से च्युत होता हुआ क्षणिक अनृत-विश्व के अनृतभाव में परिणत होता हुआ अप्रतिष्ठित बन जाता है। सत्य की इसी स्वरूपहानि के लिए लोकभाषा में 'सत्यानाश' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'सत्य—आ-नाश' की समष्टि ही 'सत्यानाश' है। मध्यस्थ आकार 'आसमन्तात्' भाव का सूचक है। इस आसमन्तात् होने वाले सत्य-नाश से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि हम अपने सत्य कामों को अनृत के ढक्कन से ढक कर, उसे परोक्ष बना कर, विशुद्ध सत्य को अनृतलक्षण मृत्युभाव से युक्त करके ही व्यवहार मार्ग का सञ्चालन करें। तभी हमारा अभ्युदय सम्भव है। इसी अनृतापिधानत्व का दिग्दर्शन कराती हुई छान्दोग्य-श्रुति कहती है—

'तस्य वा एतस्य ब्रह्मणो नाम—'सत्य' मिति। तानि वा एतानि त्रीण्य-क्षराणि-'सतिय' मिति। तद्यत्-'सत्'-तदमृतम्। अत्र यत्-'ति'-तन्मर्त्यम्। अथ यत्-'यं'-तेनोभे यच्छति। यदेनेनोभे यच्छति, तस्मात्-यं-अहरहर्वा एवं वित् स्वर्ग लोकमेति'।

—छान्दोग्य उप० ८।३।५। ।

श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, जो व्यक्ति सत्य-अनृत लक्षण आत्मा, एवं अनृत-मृत्युलक्षण विश्व, दोनों का एक सूत्र में समन्वय कर लोकयात्रा का निर्वाह करता है, वह दिन दिन समृद्ध बनता जाता है। जीवितदशा में भी वह स्वर्गसदृश अभ्युदय का अधिकारी बन जाता है। कोई भी सांसारिक आपत्ति उस पर आक्रमण नहीं कर सकती।

अब एक दूसरी दृष्टि से 'सत्या-नृत' की परिभाषा का· विचार कीजिए। अनृतरूप विश्व को तो पूर्व में 'ऋृत' कहा गया है, एवं विश्वाधिष्ठाता आत्मा को 'सत्य' बतलाया गया है। विज्ञान दृष्टि से सत्य का **'सहृदयं सशरीरं सत्यम्'** यह लक्षण है, एवं ऋृत का **'अहृदयं, अशरीरं ऋतम्'** यह लक्षण है। हृदय (केन्द्र) युक्त सशरीरीभाव ही 'सत्य' है, एवं हृदयशून्य, शरीरविरहितभाव ही 'ऋृत' है। और ये सत्य-ऋृत' नाम के दो ही तत्त्व सृष्टिप्रपञ्च के मूलकारण हैं, जैसा कि-**'ऋृतं च सत्यं चाभीधात्तपसोऽध्यजायत'** (ऋक्सं० १०।१६०।१) इत्यादि मन्त्रवर्णन से सिद्ध है। सत्यतत्त्व सत्तारूप होता हुआ 'सत्' है, ऋृततत्त्व स्वप्रतिष्ठा के लिए सत्तात्मक सत्ताभाव की अपेक्षा रखता हुआ 'असत्' है। असल्लक्षण ऋृत में सल्लक्षण सत् के समन्वय होने से, ऋृत-सत्यात्मक समन्वितरूप से ही ऋृतसत्यमूर्त्ति विश्वप्रपञ्च का विकास हुआ है। सत्य तथा ऋृत, इन दोनों में विश्व की दृष्टि से यद्यपि सत्य ही सब की प्रतिष्ठा माना गया है, और इसी आधार पर अथर्वश्रुति का— **'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित भी है। तथापि मौलिक-तात्विक दृष्टि से विचार करने पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि, सापेक्ष, तथा सहृदय-शरीरी सत्य का विकास अहृदय-अशरीरी ऋृत से ही हुआ है। दूसरे शब्दों में ऋृत (श्लथपरमाणुओं) से ही सत्य (पिण्ड) का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। सूर्य्य, पृथिवी, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि जितने भी पिण्ड है, सब सहृदय-सशरीरी बनते हुए सत्यात्मक हैं, सत्यमूर्ति हैं। इन यच्चयावत् पिण्डों की स्वरूप—निष्पत्ति ऋृत द्रव्य से ही हुई है, जैसा कि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है। स्वायम्भुव यजुर्वाक्भाव से उत्पन्न, व्याप्ति-जनन-धृति-धर्म्मों से युक्त 'अप्तत्त्व' ही ऋृत का मुख्य रूप माना गया है। **'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः'** (कौषीतकि ब्रा० १८।२।) के अनुसार द्युलोक नामक तीसरे लोक से उपलक्षित सूर्य्यसंस्था के चारों ओर अब्-लक्षण इसी ऋृततत्त्व का साम्राज्य है। चूंकि यह ऋृतलक्षण अप्-तत्त्व सूर्य्य से भी पर (बाहिर के) स्थान में अपना मुख्य निवास बनाता है, अतएव— **'सूर्य्यादपि परमस्थाने-पारस्थाने वा तिष्ठन्ति'** इस निर्वचन से इस ऋृतअप्-तत्त्व को **'परमेष्ठी'** कहा गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

"ताभ्यामिष्ट्वा-अकामयत–'अहमेवेदं सर्वं स्याम्' इति। स आपोऽभवत्। आपो वा इदं सर्वम्। ता यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति, परमाद्वाऽएतत्स्थानात्–वर्षति यद्दिवः, तस्मात्–'परमेष्ठी' नाम"।

—शतपथ ब्रा० ११।१।६।१६।

उक्त श्रुति के—'अहमेवेदं सर्वं स्याम्'—'आपो वा इदं सर्वम्' इन वाक्यों से स्पष्ट ही यह सिद्ध हो रहा है कि, ऋत-अप् तत्त्व ही त्रैलोक्य का स्वरूप सम्पादक बनता हुआ त्रैलोक्य सत्य का निष्पादक है। आपोमय ऋत-परमेष्ठी की इसी सर्वव्याप्ति का और भी स्पष्ट शब्दों में निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

ऋतमेव परमेष्ठी, ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता॥

इस ऋत-अप्-तत्त्व के 'तेजः-स्नेह' नामक दो विवर्त्त माने गए हैं। तेजोमयी आप 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं स्नेहमयी आप 'भृगु' नाम से व्यवहृत हुई हैं। सावित्राग्निमयी सौर रश्मियों के आकर्षण से आकर्षित होकर वाष्परूप मे परिणत होता हुआ जो पानी अन्तरिक्ष की ओर जा रहा है, वही अङ्गिरारूप तेजोमय पानी है। एवं अन्तरिक्ष लोक में रहनेवाले, जलवर्षक, पर्जन्य वायु के आघात से आहत होकर मेघखण्डों से द्रुत हो कर जो पानी वर्षारूप से पृथिवी की ओर आ रहा है, वही भृगुरूप स्नेहमय पानी है। लोग समझते हैं, वृष्टि पृथिवी पर ही होती है। परन्तु वेद कहता है, वर्षणकर्म्म पृथिवीवत् द्युलोक मे भी हो रहा है। दोनों पानियों मे अन्तर यही है कि, यहाँ से (पृथिवी से) चल कर द्युलोक मे बरसने वाला पानी आङ्गिरस है, आग्नेय है। एवं वहां से (द्युलोक से) चल कर पृथिवी लोक मे बरसने वाला पानी भार्गव है, सौम्य है[1]।

भृगु तथा अङ्गिरामय अप्-तत्त्व ही स्वयम्भू ब्रह्म का स्वेद स्थानीय 'सुवेद-वेद' है, जो कि सुवेद 'अथर्ववेद' नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए—गोपथ ब्रा० १।१।१) अथर्ववेद रूप भृग्वङ्गिरोमय इस ऋत परमेष्ठी के गर्भ में सत्यसूर्य्यात्मक गायत्रीमात्रिक त्रयी वेद नित्य प्रतिष्ठित रहता है। 'सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्' (तै० ब्रा० ३।१२।६।१) के अनुसार ऋतमूर्ति इसी आपोमय अथर्वब्रह्म से सौरसत्यसंस्था का जन्म हुआ है, इसी के आधार पर यह

---

१ समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभि.।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नय,॥

—ऋक् सं० १।१६४।५१।

प्रतिष्ठित है, एवं प्रतिसंचरकाल में इसी आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र में सौरब्रह्माण्ड विलीन हो जायगा। भृग्वङ्गिरोमय इसी अप्तत्त्व के सत्यगर्भत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयोवेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥ —गोपथ ब्रा० पू० १।३९

तेजोमय अङ्गिरा, तथा स्नेहमय भृगु, दोनों की (प्रत्येक की) आगे जाकर घन-तरल-विरल भेद से तीन तीन अवस्था हो जातीं हैं। घन अङ्गिरा 'अग्नि' है, तरल अङ्गिरा 'यम' (रुद्रवायु-आग्नेय सन्तप्त वायु) है, एवं विरल अङ्गिरा 'आदित्य' है। घन भृगु—'आपः' है, तरल भृगु 'वायु' (शिववायु, सौम्य शान्त वायु) है, एवं विरल भृगु 'सोम' है। 'अग्निः-यमः-आदित्यः' की समष्टि अङ्गिरात्रयी है, एवं 'आपः-वायुः-सोमः' की समष्टि भृगुत्रयी[1] है। इन दोनों में अङ्गिरात्रयी ही उस गर्भीभूत सत्यवेद को आगे कर सत्यरूप में परिणत होती है, एवं अङ्गिरात्रयी से निर्म्मित सत्यभावों का भृगुत्रयी ही चारों ओर से वेष्टन करती है। इस प्रकार भृग्वङ्गिरोमय वही ऋततत्त्व अपने एकभाग से (अङ्गिराभाग से) तो सत्य बन जाता है, एवं एक भाग से (भृगुभाग से) सत्य के चारों ओर ऋतरूप से व्याप्त होकर सत्यपिण्डों का स्वरूप-रक्षक बन जाता है। तभी तो—'ऋतं नात्येति किञ्चन' कहना अन्वर्थ बनता है। हृदयभावावच्छिन्न, सशरीरी जितनें भी पिण्ड हैं, वे सब अङ्गिरा-मूर्त्ति हैं, अतएव उन सबको हम 'सत्य' कहने के लिए तैयार हैं। यह सत्यतत्त्व हृदयभाव के कारण सदा 'ऋजु' रहता है। उदाहरण के लिए सत्य-सूर्य्य को ही लीजिए। सूर्य्यपिण्ड शरीरभाव है, एवं सूर्य्यशरीर (सूर्य्यपिण्ड) का एक नियत केन्द्र है। अतएव 'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' इस उक्त लक्षण के अनुसार सूर्य्य सत्यमूर्त्ति माना गया है, जैसाकि—'तद्यत् तत् सत्यं, असौ स आदित्यः' (शत० १४।८।३) इत्यादि रूप से पूर्व की सत्यसृष्टि में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी सत्यभाव के कारण सौर-सत्यरश्मियां सर्वथा ऋजु-मार्ग

---

१ "वायुरापश्चन्द्रमा (सोमः) इत्येते भृगवः"।
—गोपथ ब्रा० पू० २।८।९

का आश्रय लेकर हीं चारों ओर वितत हैं। यदि सौररश्मि के आगे आप एक तिल भी रख देंगे, तो रश्मि अपने ऋजु-भाव के कारण इतस्ततः न जाकर ठीक उसी मार्ग से वापस लौट जायगी, जिस मार्ग से कि वह आई थी। यही ऋजुता सत्यभाव के प्रत्यक्षदर्शन हैं।

ठीक इसके विपरीत ऋततत्त्व का कोई व्यवस्थित मार्ग नहीं है। अप् (पानी)-वायु-सोम तीनों को ऋत कहा गया है। पानी बह कर आ रहा है। आप उसके आगे अपना हाथ लगा दीजिए। रश्मि की तरह पानी आपके हाथ से टकरावेगा तो अवश्य, परन्तु जैसे तिल से टकरा कर रश्मि वापस लौट जाती है, वैसे पानी हाथ से टकरा कर वापस न लौटेगा, अपितु पार्श्व-भागों से इधर उधर निकल जायगा। कारण यही है कि, सत्य जहां हृदयबन्धन के कारण नियतमार्गानुगामी है, वहां ऋतभाव हृदयशून्य बनता हुआ अनियतमार्गावलम्बी बना रहता है, और सत्य-ऋतभावों की यही वैज्ञानिक व्याख्या है।

उक्त सत्य-ऋतभावों का वागिन्द्रिय के साथ समन्वय देखिए। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा सत्य है। यदि आत्मा के ये तीनों पर्व समानपथ के अनुगामी हैं, तो सत्यभाव है। "जैसी भावना (मानस व्यापार), वैसा ही कर्म्म (प्राणव्यापार), एवं वैसी ही वाणी (वाग्व्यापार)" यही सत्यभाव है। ऐसी वाणी हृदयानुगता बनती हुई सत्य है। यदि भावना अन्य, कर्म्म विपरीत, कथन कुछ और ही, तो ऋतभाव है। यही ऋतभाषण अनृतभाषण है। हृदयावच्छिन्न, सत्यात्म-मर्य्यादा से च्युत यह ऋतवाणी, अतएव अनृतवाणी अलल है, असम्बद्ध है, अव्यवस्थित है। यहाँ ऋतभाव सत्यभाव से पृथक् रहता हुआ अनृत बन रहा है। यदि इसी ऋत को (अनृत को) सत्य से युक्त कर दिया जाता है, तो यह सत्य बन जाता है। आत्मसत्य अग्नि है, ऋतावाणी सोम है। ऋत-सोममयी वाणी यदि सत्याग्नि (आत्मा) से युक्त है, तो जिस प्रकार सोमाहुति से यज्ञाग्नि उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रज्वलित रहता है, एवमेव आत्मसत्य उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है। सत्यानुगता ऋतावाक् भी सत्य है, एवं ऐसी वाक् आत्मविकास का मुख्य हेतु है। ठीक इसके विपरीत सत्यवञ्चिता ऋतावाक् अनृता बनती हुई आत्मपतन का कारण बन जाती है। वाक् के इन्हीं सत्य-अनृतभावों का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

'स यः सत्यं वदति–यथाग्नि समिद्धन्तं घृतेनाभिषिञ्चेत्, एवं हैनं स उद्दीपयति, तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति, श्वः श्वः श्रेयान् भवति। अथ योऽनृतं वदति–

यथाग्निं समिद्धन्तमुदकेनाभिषिञ्चेत्, एवं हैनं स जासयति, तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति, श्वः श्वः पापीयान् भवति, तस्माद् सत्यमेव वदेत्' ।

—शतपथ ब्रा० २।२।२।१९।

सत्य-अनृत प्रकरण के उपक्रम में यह कहा गया था कि, "सत्य चूंकि अन्तर्य्यामी आत्मा का धर्म्म है, एवं यह परोक्ष है, अतएव सत्य केवल भावना की वस्तु है, बोलने की नहीं। इसके अतिरिक्त अनृतसहित मनुष्य सत्य बोल भी नहीं सकता। अतएव सत्य का आग्रह सर्वथा कल्पित, तथा अनिष्टकर है"। परन्तु देखते हैं कि, उक्त शातपथी श्रुति- 'तस्माद् सत्यमेव वदेत्' कहती हुई, पूर्वसिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध जाती हुई सत्यभाषण का दृढ़तम आदेश दे रही है। न केवल इसी श्रुति ने, अपितु अन्यत्र भी पदेपदे श्रुतियों द्वारा हमें सत्यभाषण का ही आदेश मिल रहा है, जैसा कि निम्न लिखित कुछ एक वचनों से स्पष्ट है—

१—'एवं ह वाऽअस्य जितमनपजय्यं, एवं यशो भवति, य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति' ।

—शत० ब्रा० ३।४।२।८

२—'तस्मै हैतां श्रोकतरां व्याहृतिमुवाच यत् सत्यम् । तस्माद् सत्यमेव वदेत्' ।

—शत० ब्रा० ११।५।३।१३

३—'समूलो वा एष परिशुष्यति, योऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्' ।

—प्रश्नोपनिषत् ६।१

४—'एकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति, यत् सत्यम् । तस्माद् सत्यमेव वदेत्' ।

—शत० ब्रा० १४।१।१।३३

५—'तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म' ।

—शत० ब्रा० २।१।४।१०

इसके अतिरिक्त सत्यभाषण शिष्ट-व्यवहार में कैसा सम्मान्य है, यह भी स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं। स्मृतिशास्त्र नें भी सामान्य धर्म्मों की गणना में सत्यभाषण को प्रमुख स्थान दिया है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर प्रभृति आर्य्यराजा इसी सत्य के अनुग्रह से अमरकीर्त्ति बने हुए हैं। इन सब श्रौत-स्मार्त्त-ऐतिह्य प्रमाणों के विद्यमान रहते हुए सत्य-

भाषण का विरोध करना, 'मनुष्य सत्य बोल नहीं सकता' यह सिद्धान्त स्थापित करना, सत्य-आग्रह को दोषावह बतला देना कैसे न्याय सङ्गत माना जा सकता है ?

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। परन्तु जो श्रुति एक स्थान पर सत्यभाषण का आदेश दे रही है, उसी ने अन्यत्र सत्यासक्ति को लोकवैभव-नाश का भी कारण बतलाया है, जैसा कि पूर्व के 'सत्यानृतदायविभागाख्यान' से स्पष्ट किया जा चुका है। मनुष्य अनृतसंहित है, यह तो सिद्ध विषय है, और इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि, अनृतसंहित मनुष्य कभी सत्य बोल नहीं सकता। स्वय श्रुति ने भी इस परिस्थिति की पर्य्याप्त मीमासा की है।

यज्ञकर्म्म मे प्रविष्ट होने वाले यजमान को यज्ञाधिकार प्राप्ति के लिए सबसे पहिले 'दीक्षा-कर्म्म' करना पडता है। जब यजमान 'दीक्षणीयेष्टि' कर्म्म के द्वारा यज्ञ मे दीक्षित हो जाता है, तो इस दीक्षा-कर्म्म से उत्पन्न होने वाले अतिशय को (यज्ञसमाप्ति पर्य्यन्त) सुरक्षित रखने के लिए इसे सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य्य, पयोव्रत, अध शयन, आदि कतिपय विशेष नियमों का पालन करना पडता है। दीक्षातिशय-रक्षक इस नियम संघ-परिपालन कर्म्म को ही "व्रतकर्म्म" कहा गया है। इन व्रतकर्म्मों मे सत्यभाषण कर्म्म सबसे उत्कृष्ट व्रत माना गया है। इसी लिए दीक्षित यजमान का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित करती हुई श्रुति कहती है—

'ऋतं वाव दीक्षा, सत्यं दीक्षा। तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्'।

—ऐतरेय ब्रा० १।६

'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति—सत्यं चैव, अनृतञ्च। सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः। 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि' इति-तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति-यत् सत्यम्। तस्मात्ते यशः। यशो ह वै भवति, य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति'।

—शतपथ ब्रा० १।१।४-५

"ऋत ही दीक्षा है, सत्य ही दीक्षा है। इसलिए दीक्षित को सत्य बोलना चाहिए। इस विश्व में सत्य, तथा अनृत (ऋत) ये दो ही तत्त्व हैं, तीसरा तत्त्व नहीं हैं। देवता सत्यानुगामी हैं, मनुष्य अनृतानुगामी हैं। "मैं अनृतभाव से सत्यभाव प्राप्त कर रहा हूं" इस कथन का तात्पर्य्य यही है कि यज्ञकर्त्ता यजमान अनृतसंहित मनुष्यों के सम्प्रदाय से निकल कर आज सत्यसंहित देवताओं के सम्प्रदाय मे प्रवेश कर रहा है। इसलिए यजमान

को चाहिए कि, वह (यज्ञसमाप्ति पर्य्यन्त) सत्यभाषण ही करे। सत्यसंहिता देवता एक-मात्र इसी व्रत (नियम) का पालन करते हैं, जो कि सत्य है। इसी सत्य के प्रभाव से वे यशस्वी बन रहे हैं। वह यजमान भी (देवताओं की ही तरह) यशस्वी बन जाता है, जो कि यजमान इस व्रत रहस्य को जानता हुआ सत्यभाषण करता है"।

श्रुति ने दीक्षित यजमान को सत्यभाषण का आदेश तो दे डाला। परन्तु इसके सामने मनुष्य का स्वाभाविक अनृतभाव जिस समय उपस्थित हुआ, तत्काल स्वयं अपनी ओर से इसने यह भी विप्रतिपत्ति कर डाली कि—

'अथो खल्वाहुः—कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यम् वदितुम्। (यतो हि-) सत्यसंहिता वै देवाः, अनृत संहिता मनुष्याः'।

—ऐतरेय ब्रा० १।६

बड़ी जटिल समस्या उपस्थित हो गई। मनुष्य अपने स्वाभाविक अनृतभाव के कारण सत्य बोल नहीं सकता, एक ओर श्रुति का यह सिद्धान्त। दूसरी ओर श्रुति के द्वारा इसे सत्य-भाषण का आदेश। कैसे दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय किया जाय ? स्वयं श्रुति ही इस कार्य्य को अपने हाथ में लेती हुई व्यवस्था करती है—

'विचक्षणवतीं वाचं वदेत्। चक्षुर्वै विचक्षणम्। वि ह्येनेन पश्यति। एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं, यच्चक्षुः। तस्मादाचक्षाणमाहुः—'अद्राक्' इति। स यदि-'अदर्शम्'-इत्याह, अथ श्रद्दधति। यद्यु वै स्वयं पश्यति, न बहूनां च, नान्येषां श्रद्दधति। तस्माद्विचक्षणवतीमेव वाचं वदेत्। सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति'।

—ऐतरेय ब्रा० १।६

श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, मनुष्य को विचक्षणवती (आँखों देखी) बात ही बोलनी चाहिए। हमारी अध्यात्मसंस्था में चक्षु ही विचक्षण (सत्यद्रष्टा) है। चक्षु द्वारा ही वस्तु के विशेषभाव (सत्यभाव) का साक्षात्कार होता है, किंवा स्वयं चक्षु ही विशेषभाव का द्रष्टा है। अतएव चक्षु को ही 'विचक्षण' कह दिया गया है। ईश्वर प्रजापति ने मनुष्य की अध्यात्म-संस्था में यह सत्य ही प्रतिष्ठित किया है, जो कि चक्षु है। चक्षु सत्यमूर्त्ति है,

इस सम्बन्ध में वृद्धव्यवहारमूलक लोक-व्यवहार ही प्रमाण है। जब एक व्यक्ति किसी विषय के सम्बन्ध में हमसे कोई समाचार कहता है, तो उस वक्ता से हम पूंछ बैठते हैं कि, 'क्यों भाई! तुम जो कुछ कह रहे हो, क्या उस स्थिति को तुमने अपनी आंखों से देखा है?' उत्तर में यदि वक्ता-'हां महोदय! मैंने अपनी आंखों से ऐसा होता देखा है' यह कह देता है, तो हम उसके कथन पर विश्वास कर लेते हैं। यदि हम स्वयं ही किसी वस्तु का अपने चर्म्म-चक्षुओं से साक्षात्कार कर लेते हैं, तो उस सम्बन्ध में हमसे भी प्रतिष्ठित एक, अथवा अनेक व्यक्तियों का भी विपरीत कथन कोई महत्त्व नहीं रखता। इस विश्वास का एकमात्र कारण है 'सत्यात्मक चक्षु'। इसलिए यजमान को चाहिए कि, वह अपने यज्ञकर्म्म में विचक्षणवती-वाक् का ही प्रयोग करे। इस नियम के अनुगमन से उसकी वागिन्द्रिय उत्तरोत्तर सत्यभाव से युक्त बनती जायगी, और कालान्तर में इस सत्यबल का फल यह होगा कि, यह अपने मुख से जिसके लिए जो भी कुछ कह देगा, वैसा ही घटित हो जायगा।

सत्यसृष्टि का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में हमने सूर्य्य को 'सत्यमूर्ति' कहा था। यह सत्यसूर्य्य ही हमारी चक्षुरिन्द्रिय का उपादान बनता है। इसी आधार पर चक्षु को सत्य कहा गया है। यदि मृत (अनृत) वाणी को सत्य चक्षु के साथ युक्त कर दिया जाता है, तो अपने रूप से अनृत रहती हुई भी वाणी सत्य बन जाती है। और ऐसी चक्षु-युक्ता वाणी व्यावहारिक सत्य में प्रामाणिक बन जाती है। यह सब कुछ ठीक होने पर भी, ठीक मान लेने पर भी, कहना पड़ेगा कि, वाणी से मौलिक सत्य कभी नहीं पकड़ा जा सकता, क्योंकि वहां जैसे पराङ्मुखवाणी की गति अवरुद्ध है, वैसे ही पराङ्मुख सत्य चक्षु की भी वहां गति नहीं। यही क्यों, इन्द्रियसञ्चालक मन[1], तत्सञ्चालिका बुद्धि आदि सब का व्यापार वहां अवरुद्ध है। हां, व्यवहार काण्ड में अवश्य ही सत्यचक्षु के सहारे हम अनृत-वाणी को सत्य बना सकते हैं। एवं एकमात्र इसी अभिप्राय से श्रुति-स्मृतियों ने सत्यभाषण का समर्थन किया है।

---

१ "न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनः, न विद्मः,
न विजानीमः। यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो-
अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां येनस्तद्व्याचचक्षिरे"

—केनोपनिषत् १।३।

चक्षुरिन्द्रिय बाह्यजगत का अनुगामी है। बाह्यजगत् को हमने 'अनृत' बतलाया है, मृत्युलक्षण कहा है, असद्रूप कहा है। जो जैसा हो, उसे उसी रूप से देखना चूंकि सत्य कहलाता है, अतएव चक्षुद्वारा यथानुरूप दृष्ट अनृतविश्व का तदनुरूप ही वाणी से अभिनय करना सत्य भाषण बन जाता है। इसी आधार पर धर्म्माचार्य्यों नें यह व्यवस्था की है कि, यदि मनुष्य किसी सम्बन्ध में झूंठ बोल कर उसे स्वीकार कर लेता है, तो उस की यह झूंठ सत्यपूत बन कर विशेष प्रत्यवाय का कारण नहीं बनती।

उक्त व्यावहारिक सत्यभाषण जहां प्रत्येक दशा में ग्राह्य, तथा उपकारक है, वहां पारमार्थिक सत्य वाणी से सर्वथा अतीत है। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक सत्यभाषण भी जब तक वाणी के अभिनय का विषय नहीं बनता, तभी तक यह कल्याणप्रद है। यदि हम अपने सत्यभाषण के साथ 'हम सत्य बोलते हैं, सत्य अहिंसा हमारे साथ है, हम सत्य पर खड़े हैं' ऐसे आग्रह-वाक्यों का सम्बन्ध कर देते हैं, तो आग्रहयुक्त ऐसा सत्यभाषण परोक्ष-आत्मा की परोक्ष सत्य शक्ति से वञ्चित होता हुआ 'अतिमान' कोटि में प्रविष्ट हो जाता है, और यही अतिमान सत्य-नाश का कारण बन जाता है, जिसका कि हम अबतक विरोध करते आए हैं। सत्यभाषण कीजिए, किन्तु 'हम सत्यभाषण करते हैं' यह डिण्डिमघोष न कीजिए। सत्यमार्ग का चुपचाप अनुगमन करते जाइए, किन्तु सत्य का आग्रह न कीजिए। आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि, आप अनृतसंहित है। सम्भव है—आप आग्रह में सफल न हो सकें। इन्हीं सब परिस्थितियों को लक्ष्य में रख कर हमनें सत्यासक्ति को पतन का कारण माना है। देवता अभिमान रखते हैं, अतिमान नहीं करते। सत्य का अभिमान रखना अच्छा है, किन्तु सत्य का अतिमान करना प्रत्येक दशा में अवनति का कारण है। अभिमान रखनेवाले देवता विजयी बन गए थे, एवं अतिमान करनेवाले असुर पराभूत हो गये थे। प्रसङ्गोपात्त अभिमान-अतिमानभावों का पार्थक्य भी जान लेना चाहिए। अपने आप को, अपने आत्मा को ब्रह्म का साक्षात् अंश समझते हुए, अपने आप को (अन्तर्जगत् में) महाशक्तिशाली अनुभव करते हुए, शास्त्रसिद्ध, यथाधिकारसिद्ध कर्म्म मार्ग पर गुप्तरूप से आरूढ रहना ही 'आत्माभिमान' है। अपने को कभी छोटा न समझिए, कभी आत्मग्लानि का प्रवेश न होने दीजिए, यही आत्माभिमान है। एवं ऐसे आत्माभिमान का स्वयं भगवान् ने भी समर्थन किया है। देखिए!

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनोबन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

—गीता ६।५-६

ठीक इस के विपरीत —'हम साक्षात् ब्रह्म के अंश हैं, हम शिक्षित हैं, ईश्वर ने हमें बुद्धि दी है, सत्य-अहिंसा हमारे साथ है, हमें सत्य-अहिंसा पर पूर्ण विश्वास है, कोई भी शक्ति सत्य-अहिंसा के सामने नहीं ठहर सकती, हमारा व्यवहार सत्य है, हम सच बोलते हैं, हमारी वाणी ईश्वर की प्रेरणा है, सत्य-अहिंसाधर्म्मों से हमें कोई नहीं डिगा सकता' ऐसे ऐसे वाक्यों के प्रयोग से अपने श्रीमुख को अलंकृत रखना ही 'अतिमान' है। दूसरे शब्दों में अपने अन्तर्जगत में उदात्त भावनाओं की चर्वणा करते रहना 'अभिमान' है, एवं उन अन्तर्भावनाओं को वाणी से प्रकट कर देना 'अतिमान' है। ऐसे अतिमान का फल है—'पराभव'-वैभवनाश—

"देवाश्च वाऽअसुराश्च-उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा अतिमानेनैव-'कस्मिन्नु वयं जुहुयाम' इति (वदन्तः) स्वेस्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः। तेऽतिमानेनैव पराबभूवुः। तस्मान्नातिमन्येत। पराभवस्य हैतन्मुखं, यदतिमानः"।

—शत० ब्रा० ५।१।१।१।

सत्या-नृतभावों के इन्हीं सब गुप्त रहस्यों को लक्ष्य में रख कर हमनें अनृतसंहित मनुष्यों के लिए सत्य के आग्रह को दोषावह बतलाया। इस सम्पूर्ण परिस्थिति का निष्कर्ष यही हुआ कि, "अभिमानात्मक सत्याग्रह आवश्यक, एवं उपादेय। किन्तु अतिमानात्मक सत्याग्रह अनावश्यक, दोषावह, अतएव एकान्ततः त्याज्य"।

अब एक प्रश्न इस सम्बन्ध में बच रहता है—अनृतभाव सम्बन्धी। मनुष्य क्यों, किस कारण से अनृतसंहित कहलाया, यह और विजिज्ञास्य है। ऋत-सत्य का वैज्ञानिक स्वरूप बतलाते हुए पूर्व में 'अङ्गिरा' के साथ सत्य का, एवं 'भृगु' के साथ 'ऋत' का सम्बन्ध बतलाया गया था। जिन मनुष्यों के आत्मा में (शारीरक कर्म्मात्मा में) सत्-कर्म्मजनित सत् संस्कारों के अतिशयाधान से अङ्गिरातत्व की प्रधानता रहती है, वे सामान्य मनुष्य न होकर

'देवता' हैं एवं जिनका आत्मा दिव्य संस्कारों से शून्य हैं, यथाजात वे मनुष्य केवल भृत-भृगु प्रधान बनते हुए अनृतसंहित 'मनुष्य' है। उत्पत्तिकाल में सभी मनुष्य अनृतसंहित हैं। कारण स्पष्ट है। आपः-वायुः-सोम, तीनों की समष्टि भृगु है, एवं भृगु ही भृत है। इन भृत-तत्त्वों में से मध्यस्थ भृत-वायु ही मनुष्यप्रजा की चेतना का आधार बनता है। अतएव इसे 'ऋतस्य प्रथमजा' कहा गया है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम।

—सामसं० पू० ६।१०।९।

मनुष्य वर्ग की अपेक्षा सौरमण्डल में रहने वाले प्राणदेवता सत्य-अङ्गिरोऽग्नि के प्राधान्य से सत्य संहित हैं। 'सत्यसंहिता वै देवाः' इस श्रुति से इन सौर प्राण देवताओं का ग्रहण तो है ही, साथ साथ दिव्य संस्कार युक्त भौममनुष्य देवता, एवं यज्ञातिशययुक्त याज्ञिक द्विजाति-वर्ग का भी ग्रहण है। वक्तव्य यही है कि, अपने स्वाभाविक भृतवायु के आधार के कारण ही भृतसंहित मनुष्य अनृतसंहित है। अपिच जिस शुक्राहुति से इसका स्वरूप-निर्माण होता है, वह शुक्र ओपधि (अन्न) के शारीराग्नि में आहुत होने से उत्पन्न हुआ है। ओषधि वृष्टि का फल है, वृष्टि सोम का रूपान्तर है, सोम श्रद्धा नामक चान्द्रपानी का रूपान्तर है, एवं अप्तत्त्व को ही भृत कहा गया है। इस दृष्टि से भी—'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छान्दोग्य उप० ५।९।१।) इस छन्दोग सिद्धान्त के अनुसार भृत-सौम्य शुक्र से उत्पन्न भृतसंहित मनुष्य अनृतसंहित ही माना जायगा। चूंकि भृतभाव सत्यमर्य्यादा से स्वभावतः वञ्चित है, इधर इन्द्रियसञ्चालक मनुष्य का अन्नमय प्रज्ञान-मन भी सौम्य बनता हुआ भृत ही है। अपनें इन्हीं स्वाभाविक भृतरूप अनृतभावों के कारण मनुष्य प्रजा आत्मसत्य का, एवं आत्मसत्यानुगृहीत प्राकृतिक स्वाधिकार सिद्ध कर्म्म का उल्लंघन कर डालती है। भृत प्रज्ञा के अपराध से इसका सत्य आत्मा अविद्यादि अनृत दोषों से युक्त हो जाता है। आत्मा का स्वाभाविक विकास दब जाता है। फलतः मानवीप्रजा प्राकृतिक कर्म्मों का उल्लंघन करने लगती है, जैसा कि पूर्व के आख्यान में 'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति' इत्यादि रूप से स्पष्ट किया जा चुका है।

चूंकि मनुष्य अनृतसंहित है, अतएव प्रज्ञापराध के अनुग्रह से स्वाभाविक, प्राकृतिक, आधिकारिक कर्त्तव्य-कर्म्मों से विमुख हो जाना इसके लिए कोई विशेष बात नहीं है। इसी अनृतभाव का नियन्त्रण करने के लिए, अनृतभाव का नियन्त्रण करते हुए इसे अधिकार-सिद्ध कर्म्मों में प्रवृत रखने के लिए, इसका मन, इस की बुद्धि स्वधर्म्म से कभी च्युत न हो, इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए इसका किसी प्राकृतिक-मर्य्यादा सूत्र से नियन्त्रण करना आवश्यक रूप से अपेक्षित हो जाता है। इसी आधार पर आप्त-महर्षियों नें इसके लिए प्रकृत्य-नुसार भिन्न-भिन्न मर्य्यादाओं का एक सुदृढ़ दुर्ग बनाया है। इस दुर्ग के भिन्न-भिन्न द्वारों पर नियमरूप भिन्न-भिन्न प्रहरी बैठाए गए हैं, जो कि इन कर्म्मठ मनुष्यों का नियन्त्रण करते रहते हैं। उदाहरण के लिए ब्राह्मणवर्ण को ही लीजिए। ब्राह्मण के आधिकारिक कर्म्म हैं—व्यक्ति-समाज-राष्ट्र में प्रवेश करने वाले आध्यात्मिक दोषों को ज्ञानोपदेश द्वारा दूर करते रहना, एवं दिव्यसंस्कारों के अनुष्ठान से समाज में नवजीवन का संचार करते रहना, यज्ञकर्म्मों के द्वारा प्राकृतिक आधिदैविक मण्डल को शान्त बनाए रखना, उत्पथगामी शास्ता क्षत्रिय राजाओं का तपोयुक्त ज्ञानशक्ति से दमन करते हुए उन्हें सत्पथ पर प्रतिष्ठित रखना। इन सब कर्म्मों का 'उपदेशभाव' के साथ सम्बन्ध है। उपदेश की मूलभित्ति ज्ञान शक्ति है। ज्ञान-शक्ति का प्रधान आलम्बन 'शिरोयन्त्र' (मस्तिष्क) है।

विश्व में कितनें एक सात्विक पदार्थ शिरोयन्त्र-सम्बन्धिनी ज्ञानशक्ति के उपकारक हैं, एवं कितनें एक राजस-तामस पदार्थ ज्ञानशक्ति के आवरक हैं। ऐसी परिस्थिति में ज्ञाना-धिष्ठाता ब्राह्मणवर्ग यदि अपनें उक्त आधिकारिक कर्म्मों पर आरूढ रहने का इच्छुक होगा, तो उसे सात्विक नियमों, सात्विक-ज्ञानवर्द्धक, तथा ज्ञान रक्षक पदार्थों का सेवन करना पड़ेगा, एवं विपरीत तामसादि भावों का परित्याग करना पड़ेगा। उपदेश शक्तिशाली, ज्ञानाधिष्ठाता ब्राह्मणवर्ण के लिए ज्ञानशक्ति प्रवर्द्धक-रक्षक सात्विक आचार-व्यवहार-नियमोपनियम-पदार्थ ही उपयुक्त मानें जायँगे। इसी आधार पर मन्वादि-स्मृतियों नें ज्ञानशक्ति-विघातक, राजस-तामस भावयुक्त लशुन-गृञ्जन-पलाण्डु-मद्य-मांसादि पदार्थों को इस वर्ण के लिये निषिद्ध माना है। इन पदार्थों से उत्पन्न होनेवाले राजस-तामस-संस्कार लेप से ब्राह्मण का बीजरूप ब्राह्मण्य उसी प्रकार निर्वीर्य्य बन जाता है, जैसे कि धूम के स्पर्श से जौ-गेहूं आदि बीजों की प्रजनन शक्ति नष्ट हो जाती है। यही व्यवस्था क्षत्रिय, वैश्यादि इतर वर्णों के सम्बन्ध में समझिए। चारों वर्णों के आधिकारिक कर्म्म भिन्न, चारों को स्वस्व कर्म्मों में नियन्त्रित

रखनें वाले धर्म्म भी भिन्न भिन्न। वर्णकर्म्म-वर्णधर्म्मों की समष्टिरूप यही व्यवस्था 'चातुर्वर्ण्य' नाम से प्रसिद्ध है, जिस की कि मूलभित्ति 'समाज' है।

समाज-सापेक्ष वर्णव्यवस्था के अतिरिक्त व्यक्ति के प्रातिस्विक कल्याण के लिए एक व्यवस्था और व्यवस्थित हुई है। व्यक्त्यनुबन्धिनी यही व्यवस्था 'चातुराश्रम्य' नाम से प्रसिद्ध है। वर्णव्यवस्था, एवं आश्रमव्यवस्था, इन दो दुर्गों से सुरक्षित भारतीय वर्णप्रजा कभी स्वाधिकार सिद्ध कर्म्म से विमुख नहीं हो सकती। भारतवर्ष का भारतपना, जगद्गुरुत्व, सर्वमूर्द्धन्यत्व, इन्हीं दोनों व्यवस्थाओं पर निर्भर है। जिस दिन भारतवर्ष इनकी उपेक्षा कर देगा, समझ लीजिए, उस दिन 'भा-रत' भारत आहत बनता हुआ अपना सर्वस्व खो बैठेगा, जिसकी कि आशङ्का मात्र से भी भारतीय आस्तिक प्रजा का हृदय कम्पित हो पड़ता है।

इति—वैदिककर्म्मयोगः।

* *

*

४—वर्णव्यवस्था-विज्ञान

जिज्ञासु वर्ग का क्षोभ—

"वैदिक-कर्म्मयोग ही वास्तव में 'कर्म्मयोग' है, क्योंकि अभ्युदय-निःश्रेयस लक्षण 'कर्म्मत्व' इसी कर्म्मयोग से सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दों में 'शास्त्र' हमारे लिए जिन कर्त्तव्य कर्म्मों का (वर्णधर्म्मानुसार) विधान कर रहा है, वे ही कर्त्तव्य-कर्म्म लोक, तथा परलोक-हित के साधक बनते हुए ग्राह्य हैं, एवं शास्त्र जिन कर्म्मों का निषेध करता है, वे सब अशास्त्रीय कर्म्म लोक-परलोक के वास्तविक सुख के प्रतिबन्धक बनते हुए सर्वथा हेय हैं। अतः जिस भारतीय की यह आकांक्षा है कि, वह इस लोक में, इस जीवन में भौतिक-वैभवों का सुखोपभोग करता हुआ परलोक में सद्गति प्राप्त करे, तो उसे शास्त्रसिद्ध, वैध, कर्त्तव्य-कर्म्मों का ही अनुगमन करना चाहिए" पूर्व के 'वैदिक-कर्म्मयोग'—प्रकरण में यही स्पष्ट किया गया है। इस अनुष्ठेय वैदिक-कर्म्मयोग का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न का समाधान तो आगे आनेवाले **'कर्म्मतन्त्र का वर्गीकरण'** नामक प्रकरण में किया जायगा। प्रकृत में तो हमें उस क्षोभ की शान्ति के उपाय का अन्वेषण करना है, जो कि **'वर्णाश्रमव्यवस्था'** को लेकर आज अधिकांश में हमारी मौलिक श्रद्धा का विघातक बनता जा रहा है।

अनृत-संहित मनुष्यों के अनृत-भाव के नियन्त्रण के लिए वर्णाश्रमव्यवस्था-दुर्ग का निर्म्माण हुआ है, यह पूर्व-प्रकरणोपसंहार में स्पष्ट किया जा चुका है। यह निर्विवाद है कि, शास्त्रसिद्ध कर्म्ममार्ग में मानवसमाज को प्रवृत्त रखने का एकमात्र साधन वर्णाश्रम मार्ग का अनुगमन ही है। जबतक वर्णाश्रम मर्य्यादा का अनुगमन है, तभी तक कर्त्तव्य-कर्म्म की रक्षा है। दोनों का अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध है। यही नहीं, तत्त्वतः वर्णाश्रमधर्म्म ही का नाम वैदिक-कर्म्मयोग है। वेदस्वाध्याय के परित्याग से, आचार त्याग से, आलस्य से, अन्नदोष से, पश्चिमी देशों के संसर्ग से, भौतिक-जड़वाद की उन्नति से, शासनप्रणाली के गुप्त·········चक्र से, और और भी कई एक अदृष्ट कारणों से आर्य्य सन्तान आज अपने धर्म्म का, कर्त्तव्य-कर्म्म का, वर्णाश्रम-पथ का मौलिक स्वरूप, उदात्त आदर्श भूल गई है, किंवा क्रमशः भुलाती जा रही है, यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। सचमुच प्रकृति-सिद्ध भारतीय आर्षधर्म्म ने सन्तमतमूलक, अनार्ष मतवादों का आश्रय

लेते हुए आज अपने इस धर्म्म-क्षेत्र मे विप्लव युग का दृश्य उपस्थित कर दिया है। इसके अतिरिक्त पश्चिम की वैज्ञानिक-शिक्षा ने भारतीय नवयुवकों के मस्तिष्क मे भारतीय सस्कृति से विरुद्ध सर्वथा नवीन विचारों का स्रोत बहा दिया है। वर्त्तमान युग से सम्बन्ध रखनेवाले वैज्ञानिक-विविध आविष्कारों नें इन नवयुवकों के बौद्ध-जगत् मे 'हेतुवाद' का बीजारोपण कर दिया है। इसी हेतुवाद के अनुग्रह से आज इनके लिए—"शास्त्र की आज्ञा है, इसलिए मान लो" इस श्रद्धामय आदेश वाक्य का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। इनकी तर्कबुद्धि आज इन्हें इसके लिए निवश बनाए हुए है कि, ये उसी शास्त्र वचन पर विश्वास करें, उसी धर्म्मादेश का अनुगमन करें, उसी कर्म्म का अनुष्ठान करें, जिसका तात्त्विक विज्ञान से सम्बन्ध हो, जिसका सफल, तथा सुफल कारण हो। यदि तर्क-विज्ञान-हेतुवादादि का आश्रय लिए बिना, केवल शास्त्र के डिण्डिम घोष के आधार पर धर्म्म-कर्म्म का इनके आगे यशोगान किया जाता है, तो वह सर्वथा अरण्य-रोदन ही सिद्ध होता है। सिद्ध हो भी क्यों नहीं, जब कि, इस सिद्धि के प्रवर्त्तक मतवादों नें आर्यधर्म्म, एवं तत्प्रतिपादक वेदशास्त्र को उपेक्षा के गर्त्त मे डाल रक्खा है।

जिन मतवादों के कन्धों पर धर्म्मरक्षा का भार है, जो सनातनधर्म्मी विद्वान् धर्म्म के उपदेशक हैं, उनकी उदासीनता ही धर्म्म-शैथिल्य का मुख्य कारण है। धर्म्म की मौलिकता के सम्बन्ध में नवीनशिक्षा-दीक्षित हमारा नवयुवक समाज जिस कारणता की जिज्ञासा रखता है, उसका पूरा होना तो दूर रहा, अपितु हमारे आचार्य, तथा विद्वत्समाज ने पहिले से ही इनके सम्बन्ध में अपनी यह धारणा बना रक्खी है कि, ये लोग तो विदेशी शिक्षा आचार व्यवहार का अनुगमन करने से नास्तिक बन गए। धर्म्मशास्त्रों पर इनकी श्रद्धा न रही। बात ठीक है अवश्य ही नवयुवक समाज धर्म्म के नाममात्र से भी घृणा करता है। परन्तु ऐसा हुआ क्यों ? क्या भारतीयधर्म्म, तथा भारतीय साहित्य की तुलना में पश्चिमी धर्म्म, पश्चिमी साहित्य उन्हे तात्त्विक प्रतीत हुआ ? यदि हा तो तबतक आप इन पर कोई लाछन नहीं लगा सकते, जबतक कि उन्हें यह न समझा दें कि, आपके घर का साहित्य विदेशी साहित्य की अपेक्षा अधिक मौलिकता रखता है। मौलिकता आप सिद्ध करते नहीं, उनके तर्कों का समाधान करते नहीं, फिर उन शिक्षितो का ध्यान इस ओर आकर्षित हो, तो क्यों हो। केवल प्रमाणभक्ति का युग आज नहीं रहा, यह आपको इसलिए स्वीकार करना पडेगा कि, उनके मस्तिष्क आज वैज्ञानिकी शिक्षा के चाकचिक्य मे पड कर हेतुवाद के अनुगामी बन गए हैं। उन्हें वहा झू ठा-सचा जो भी कुछ सिखलाया गया है, हेतुपुरस्सर,

तर्क के आधार पर। अब आप इनकी चिरम्यस्त इस मनोवृत्ति के सर्वथा विपरीत केवल वचनों के आधार पर कैसे उन्हें धर्म्म-सीमा में सीमित रख सकते हैं। अवश्य ही आपको विज्ञान सम्मत तर्क-युक्ति-कारणों को आगे रखते हुए ही धर्म्म का मौलिक स्वरूप उनके सामने रखना पड़ेगा। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे, तो परिणाम यह होगा कि, दिन-दिन द्रुतवेग से प्रवृद्ध इनका वातावरण उस सामान्य प्रजा की भी स्वाभाविक धर्म्म-निष्ठा को शिथिल बना देगा, जोकि प्रजा इनके संसर्ग से अपने आपको नहीं बचा सकती। और आज यही हो रहा है। हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि, जिन्हें हम सुधारक कहते हैं, जिन्हें धर्म्म से विपरीतपथानुगामी मान रहे हैं, जिन्हें पश्चिमी शिक्षा-सम्बन्धमात्र से नास्तिक मानने की भयङ्कर भूल कर रहे हैं, उनके आगे यदि आप तात्त्विक दृष्टि से धर्म्म का स्वरूप रख देंगें, तो आप उन्हें अतिशय श्रद्धालु देख लेंगे। वे शिक्षित हैं, समझदार हैं, भला-बुरा समझने का विवेक उनमें है। आवश्यकता है, केवल दृष्टिकोण बदलने की।

यह कब सम्भव है, और कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है, विज्ञान दृष्टि से वैदिक-साहित्य का अध्ययनाध्यापन, वैदिक तत्वों का प्रचार-प्रसार, लोकसंग्रह दृष्टि से प्रचलित सन्तमत पर कोई आघात-प्रत्याघात न करते हुए भी वेदसिद्ध, सम्प्रदायभाव विरहित, आर्षधर्म्म का विस्तार। देश की मनोवृत्ति देखते हुए यद्यपि कार्य्य सरल प्रतीत नहीं होता, परन्तु चिन्ता का अवसर इसलिये नहीं है कि, जब जब समाज के सामने कोई नवीन दृष्टि आती है, तब तब अपने रूढिवाद के अभ्यास के अनुग्रह समाज इसी प्रकार विरोध-प्रदर्शन किया करता हैं। उधर अपने प्रयास को विज्ञानानुमोदित, प्रकृतिसूत्र से सम्बद्ध, वेदशास्त्र द्वारा प्रमाणित, अतएव अभ्युदय-निःश्रेयस का अनन्य साधक समझने वाला सन्देश-वाहक किसी विरोध का भय न करता हुआ, एकमात्र ईश्वरीय प्रेरणा का बल *अपने सामने रखता हुआ, समाज के न-न करते रहने पर भी अपने लक्ष्य पर स्थिर बना* रहता है। और कालान्तर में वही विरोधी समाज उसकी सेवाओं पर कृपादृष्टि कर डालता है।

आज हम एक ऐसे ही अप्रिय-सत्य का स्वरूप अपने वर्त्तमान समाज के सामने रखना चाहते हैं, जिस के नाम श्रवण में भी कटुता का अनुभव किया जा रहा है, और वह अप्रिय-सत्य है—"भारतीय-चातुर्वर्ण्यव्यवस्था"। यह सनातन-व्यवस्था आज अनेक तर्क-कुतर्कों की आश्रयभूमि बन रही है। किसी क्षणिकवादी की दृष्टि में यह व्यवस्था विशुद्ध गुणकर्म्म-मूला है, तो कोई नित्य-विज्ञानवादी इसे प्रकृतिविशिष्ट मानता हुआ 'जन्ममूला' कह रहा है।

किसी राष्ट्रवादी की दृष्टि में भारतीय वर्णविभाग, तथा तन्मूलक प्रकृतिसिद्ध जाति-उपजाति विभाग राष्ट्रोन्नति का विघातक है, तो कोई विद्वान् इसे उभयलोक-कल्याणकारिणी बतला रहा है। कोई परिवर्त्तनवादी इसे 'सादि' मानता हुआ इस के सनातन-स्वरूप में परिवर्त्तन चाहता है, तो कोई विवेकी 'अनादि' सिद्ध करता हुआ इसे सदा एकरूपा ही देखना चाहता है। किसी बुद्धिवादी का बुद्धि-वैभव इसे केवल ब्राह्मणों की स्वार्थलीला कह रहा है, तो कोई बुद्धियोगी—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' (गी० ४।१३।) इस भगवद्वचन के आधार पर इसे ईश्वरीय-व्यवस्था मान रहा है। इन्हीं कुछ एक पारस्परिक विसंवादों के कारण एक तटस्थ, किन्तु जिज्ञासु व्यक्ति का अन्तर्जगत् क्षुब्ध हो पड़ता है। उस के इस क्षोभ की शान्ति के लिए, साथ ही में 'वर्णाश्रमव्यवस्था' ही एकमात्र भारतीय 'कर्म्मयोग' की मूल प्रतिष्ठा है, यह सिद्ध करने के लिए प्रकृत-प्रकरण का उपक्रम किया जाता है। हमें विश्वास है कि, दोषदृष्टि से भी देखा गया यह प्रकरण हमारे भ्रान्त जगत् को भ्रान्ति से निर्मुक्त कर वर्णाश्रम की उपयोगिता की ओर हम श्रान्त पथिकों का ध्यान आकर्षित करेगा।

भारतीय 'वर्णाश्रमव्यवस्था' आर्ष-महर्षियों की दृष्टि में जहां **'कर्म्म-विभाग'** की मूलप्रतिष्ठा है, वहाँ वर्णाश्रममूलक कर्म्मविभाग की मूल प्रतिष्ठा **'कर्तृ-विभाग'** माना गया है। कर्त्ता के विभाग से कर्म्म विभाग हुआ है, एवं वर्ण-विभाग के अनुसार कर्म्मविभाग हुआ है, यही तात्पर्य्य है। पूर्व के 'योग-सङ्गति' प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, त्रिगुणात्मक-विश्व में रहने वाले, (अतएव) त्रिगुणभावापन्न मनुष्यों की प्रकृति कभी समान नहीं हो सकती। फलतः भिन्न-भिन्न प्रकृति रखने वाले मनुष्य कभी समान (एक) कर्म्म के अधिकारी नहीं बन सकते। चूंकि कर्म्मकर्त्ता-मनुष्यों की प्रकृतियां भिन्न भिन्न हैं, अतएव इन का कर्म्म भी पृथक् पृथक् ही मानना पड़ेगा। कर्तृ-सम्प्रदाय का भिन्नप्रकृतित्व ही कर्म्मभेद का मूल कारण बना है। प्रकृतिसिद्ध इन भिन्न भिन्न कर्म्मों में तत्तत्प्रकृतिविशिष्ट तत्तत् कर्त्ता नियमशः प्रतिष्ठित रहें, एकमात्र इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही, दूसरे शब्दों में कर्तृ-भेदसिद्ध कर्म्मविभाग को सुव्यवस्थित बनाने के लिए ही वर्णा-श्रमव्यवस्थाओं का ब्रह्म-प्रजापति द्वारा आविर्भाव हुआ है।

ब्रह्मा के द्वारा वर्णव्यवस्था का आविर्भाव—

जब हम मानव समाज के कर्म्मों की मीमांसा करने आगे बढ़ते हैं, तो इनके सम्बन्ध में पदे पदे विरुद्ध भावों का साम्मुख्य होने लगता है। प्रकृतिभेद, तथा शक्तिभेद-सापेक्ष शिशुकर्म्म-बालकर्म्म-तरुणकर्म्म-युवाकर्म्म-प्रौढकर्म्म-वृद्धकर्म्मादि भेद भिन्न वैय्यक्तिक कर्म्म, मनुष्यकर्म्म,

स्त्रीकर्म्म, पितृ-भ्रातृ-कर्म्म, मातृ-भगिनी-कर्म्म, पतिकर्म्म, पत्नीकर्म्म, विवाहकर्म्म, सामाजिककर्म्म, स्वामीकर्म्म, भृत्यकर्म्म, राजकर्म्म, आदि आदि सभी कर्म्म परस्पर में सर्वथा विरुद्ध हैं, सब की इतिकर्त्तव्यता एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। साथ ही में यह भी निर्विवाद है कि, इन सब विरुद्ध-कर्म्मों के समन्वय से ही उस 'महाकर्म्म' का स्वरूप सम्पादन होता है, जो कि, 'महाकर्म्म' मानवसमाज के वैय्यक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, तथा राष्ट्रीय जीवन का मुख्य आधार बना हुआ है। 'महाकर्म्म' मानव समाज का मुख्य उद्देश्य है। चूंकि इस महाकर्म्म के गर्भ में, इस के स्वरूप सम्पादक असंख्य अवान्तर-विरुद्धकर्म्म समा रहे हैं, अतएव हमें मानना पड़ेगा कि, इन स्वरूप-सम्पादक परस्पर विरुद्ध यच्चयावत् अवान्तर कर्म्मों का अधिकारी एक ही व्यक्ति नहीं हो सकता। अवश्य ही अवान्तर-कर्म्म भेद के आधार पर हमें मानवसमाज को विभक्त कर तत्तत्-कर्म्मविशेषों से नियन्त्रित करना पड़ेगा।

इस प्रकार महाकर्म्म के स्वरूप सम्पादक, उन गर्भीभूत, परस्परात्यन्त विरुद्ध, अवान्तर यच्चयावत् कर्म्मों को अधिकारी कर्त्ता के विभाग से विभक्त कर के, एक ही समय में उन समस्त, आवश्यक कर्म्मों का सञ्चालन करने वाला ही मानवसमाज अपने मुख्योद्देश्यरूप महाकर्म्म की संसिद्धि में सफल हो सकता है। और यही समाजसापेक्षा, समाजानुबन्धिनी पहिली 'वर्णव्यवस्था' है। **"एक ही समय में अनेक व्यक्ति अपना अपना आधिकारिक कर्म्म करते हुए, उस 'महाकर्म्म', किंवा 'विश्वकर्म्म' के स्वरूप सम्पादन में जिस व्यवस्था से समर्थ होते हैं, वही व्यवस्था 'चातुर्वर्ण्यव्यवस्था' है"** यही निष्कर्ष है।

विश्वकर्म्म ही विश्व की प्रतिष्ठा है, एवं कर्म्मप्रतिष्ठा ही मानव समाज की प्रतिष्ठा है। अवान्तर कर्म्मों को अपनी अपनी स्वाभाविक जन्मजात योग्यता के अनुसार अपने अपने हिस्से में लेते हुए मनुष्य एक ही काल में सहज में ही प्रतिष्ठा-लक्षण उस 'महाकर्म्म का भार उठाने में समर्थ हो जाते हैं। यदि इस सम्बन्ध में—"सब मनुष्य सब कर्म्मों के अधिकारी है, अतः सब को सब कर्म्म करने चाहियें।" इस अप्राकृतिक, उच्छृंखल वृत्ति का आश्रय लिया जायगा, तो किसी भी अवान्तर कर्म्म की सिद्धि न होगी। कारण इस का यही है कि, गुणत्रय के समन्वय से उन अवान्तर कर्म्मों के प्रथम-मध्यम-उत्तमादि अनेक श्रेणी-विभाग हैं। अधिकार-मर्य्यादा की उपेक्षा से सभी व्यक्ति योग्यता न रहने पर भी उत्तम श्रेणी के कर्म्मों में ही प्रवृत्त होना चाहेंगे। परिणाम इस अव्यवस्था का यह होगा कि, अयोग्य मनुष्य तो उत्तमश्रेणी के कर्म्मों पर अधिकार जमा लेगें, एवं विशेष योग्यता रखने-

वालों के लिए प्रथमश्रेणी के कर्म्म शेष रह जायँगे। दोनों वर्ग दोनों में अयोग्य ठहरते हुए दोनों ही कर्म्मों की स्वरूप-सिद्धि में असमर्थ रह जायँगे। अवान्तर कर्म्मों का स्वरूप एकान्ततः विकृत बन जायगा। और इसका कुफल भोगना पड़ेगा, उस 'महाकर्म्म' को, जो कि हमारा मुख्य उद्देश्य बना हुआ है। ऐसी दशा में समाज के शिष्ट पुरुषों का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वे मानवसमाज की स्वरूप रक्षा के लिए, दूसरे शब्दों में विश्वशान्ति की मङ्गल कामना के लिए 'महाकर्म्म' की रक्षा करें, और इस प्रयत्न-साफल्य के लिए अवान्तर कर्म्मों का अधिकारी की योग्यता के अनुसार ही नियन्त्रण करें। विश्वशान्ति के लिए इससे बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता, जैसा कि पाठक अगले परिच्छेदों में देखेंगे।

सामाजिक-कर्त्तव्यों के अतिरिक्त मनुष्य के लिए कुछ एक प्रातिस्विक (वैय्यत्तिक) कर्म्म और बच रहते हैं। इन वैय्यक्तिक कर्म्मों को सम्पन्न कर लेना ही व्यक्ति का वैय्यक्तिक पुरुषार्थ कहलाता है, एवं यह पुरुषार्थ ही इसकी अपनी 'आयु' का 'महाकर्म्म' है। जिस प्रकार विश्वकर्म्म-लक्षण महाकर्म्म के गर्भ में अत्यन्त-विरुद्ध अवान्तर कर्म्मों का समावेश है, एवमेव व्यक्ति के वैय्यत्तिक पुरुषार्थ रूप इस महाकर्म्म के गर्भ में भी अनेक विरुद्धकर्म्मों का समावेश रहता है। क्योंकि अनेक मत्वर्थ कर्म्मों के एकत्र समन्वय से ही एक पुरुषार्थ कर्म्म का स्वरूप-निर्म्माण होता है। एक ही व्यक्ति एक ही समय में उन विरुद्ध कर्म्मों का सम्पादन करने में असमर्थ है। भोजन-शयन-भ्रमण-पठन-पाठन-ईश्वरचिन्तन-आदि विभिन्न कर्म्मों के लिए अवश्य ही इसे 'कालविभाग' करना पड़ेगा। और कालविभाग-सापेक्ष वही व्यवस्था **'आश्रम-व्यवस्था'** कहलाएगी, जिसका कि विशद वैज्ञानिक विवेचन वर्णव्यवस्था के अन्त मे होनेवाला है।

प्रकृत मे केवल यही कहना है कि, व्यक्तिभेद वर्णव्यवस्था का मूलाधार है, एवं व्यक्ति के जीवन का समय-भेद आश्रम-व्यवस्था का मूलाधार है। वर्णव्यवस्था समाज का कल्याण करती है, आश्रमव्यवस्था व्यक्ति का कल्याण करती है। वर्णव्यवस्था समाज की प्रतिष्ठा है, आश्रमव्यवस्था व्यक्ति की प्रतिष्ठा है। आश्रमव्यवस्था में व्यवस्थित व्यक्ति ही वर्णव्यवस्था का अनुगामी बन सकता है। क्योंकि व्यक्ति-प्रतिष्ठा ही समाजप्रतिष्ठा की मूलभित्ति है। जिस समाज के व्यक्ति अप्रतिष्ठित हैं, निर्बल हैं, अयोग्य हैं, कर्त्तव्यविमुख्य हैं, ऐसे अर्बुद-सर्बुद-न्यर्बुद व्यक्तियों का समूह भी कोई अर्थ नहीं रखता। इसी आधार पर व्यक्तिप्रतिष्ठा-मूला इस आश्रम-व्यवस्था को हम समाजप्रतिष्ठामूला वर्णव्यवस्था की भी प्रतिष्ठा कह सकते हैं। इस प्रकार आश्रमधर्म्मानुकूल अपने वैय्यक्तिक जीवन को सफल बनाते हुए पुरुष

पुङ्गव वर्णधर्म्मानुसार अधिकारसिद्ध। सामाजिक कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए अपने वैय्यक्तिक पुरुषार्थ को भी सफल कर लेते हैं, एवं समाज व्यवस्था को भी सुपरिष्कृत-तथा अभ्युदय-निःश्रेयस जननी बना लेते हैं।

वर्णाश्रमव्यवस्थाओं के उक्त स्वरूप-निदर्शन से थोड़ी देर के लिए हमें इस निश्चय पर पहुंचना पड़ता है कि, भारतीय-समाज शास्त्रियों नें अपने समाज को व्यष्टिरूप (व्यक्तिरूप) से, तथा समष्टिरूप से, उभयथा पूर्ण समृद्ध रखने के लिए ही दोनों व्यवस्थाओं का आविष्कार किया है। एवं ये दोनों हीं व्यवस्थाएं केवल बुद्धि की कल्पना का फल है। परन्तु जब हम इस कल्पना के तथ्यांश का अन्वेषण करने चलते है, तो हमें अपना यह निश्चय बदलना पड़ता है, और स्वीकार करना पड़ता है कि, इन दोनों व्यवस्थाओं का मूलस्रोत आधिदैविक-प्राकृतिक क्षेत्र से ही प्रवाहित है। भारतीय वर्णाश्रमव्यवस्थाएं अनादिनिधना, निला प्रकृति की शाश्वत-नियमधारा है। प्रकृतिसिद्ध, नित्य वर्णव्यवस्था के आधार पर ही प्रकृति-रहस्य वेत्ता महर्षियों नें इस व्यवस्था का आविष्कार किया है। एवं इन महर्षियों मे यह आविष्कार आदिमनु भगवान् स्वयम्भू-ब्रह्मा की कृपा से ही प्रस्फुटित हुआ है।

गीताभूमिका-प्रथमखण्ड के 'गीताकालमीमांसा' नामक अवान्तर प्रकरण में युगधर्म्मों की मीमांसा करते हुए 'देवयुग' नामक युग का स्वरूप बतलाया गया है—(देखिए गी० भू० १ खण्ड पृष्ठ सं० २६ से ३१ पर्य्यन्त)। वहा यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, देवयुग के आदि प्रवर्त्तक, वैदिक-आर्षधर्म्म के मूलप्रतिष्ठापक, 'वेद-लोक-प्रजा-धर्म्म' भेदभिन्न सृष्टिचतुष्टयी के व्यवस्थापक भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा ने हीं भारतवर्ष को जगद्गुरुत्व प्रदान किया है। इन्हीं ब्रह्म-प्रजापति के द्वारा प्रकृतिसिद्ध, नित्य, वर्णव्यवस्था के अनुसार हमारी मानव-वर्णव्यवस्था का आविर्भाव हुआ है। ब्रह्मा ही (वेदवत्) इस व्यवस्था के प्रथम सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक हैं। दूरदर्शी, सर्वद्रष्टा आदिदेव ब्रह्मा यह जानते थे कि, मानवसमाज का कल्याण प्रकृति-सिद्ध नियमों के आधार पर चलने से ही सम्भव है। जो समाज अपने अनृत-भाव को आगे करता हुआ अपनी काल्पनिक व्यवस्थाओं के आधार पर आगे बढ़ने का प्रयास करता है, वह कभी चिरस्थायी नहीं बन सकता। इसे अपनी स्थिरता के लिए स्थिर-प्राकृतिक-धर्म्मों के अनुसार ही अनुगमन करना चाहिए। बस एकमात्र इसी भावना से प्रेरित होकर ब्रह्मा ने प्राकृतिक, अपौरुषेय, सत्यवाङ्मय वेदतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य वर्णधर्म्म के अनुसार ही वेदमन्त्रों का सम्प्रदाय प्रचलित किया, एवं इसी वर्णधर्म्म के आधार पर अपनी

दिव्य-प्रजा के लिए वर्णव्यवस्था व्यवस्थित की। चूंकि भारतीय वर्णव्यवस्था उस नित्य प्राकृतिक वर्णव्यवस्था की प्रतिकृति है, अतएव इसे भी नित्य, एवं जन्मसिद्ध ही माना गया।

वर्णव्यवस्था के प्रवर्त्तक यही स्वयम्भू ब्रह्मा यत्र तत्र 'आदिमनु' नाम से भी प्रसिद्ध हुए हैं। देवयुगकालीन 'देवता-असुर-पितर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-मनुष्य-पञ्चजन-पञ्चचर्षणी-पञ्चक्षिति-पञ्चकृष्टि, आदि जितने भी समाज थे, वे सब इन्हीं आदि मनु के अनुशासन से अनुशासित थे। धर्म्मसम्राट्, सर्वशास्ता मनु ने वर्णव्यवस्था की आवश्यकता क्यों समझी ? इस प्रश्न का जो उत्तर पूर्व में दिया गया है, उसी का एक दूसरी दृष्टि से दृष्टान्त-पुरःसर समन्वय कीजिए।

यज्ञकर्म्म के साथ वर्ण-व्यवस्था का समतुलन—

हमारा आध्यात्मिक कर्म्म—'मानस-वाचिक-प्राणकर्म्म' भेद से तीन भागों में विभक्त है। मानसकर्म्म 'कामना' (काम, इच्छा) नाम से, वाचिककर्म्म 'शब्द' नाम से, एवं प्राणकर्म्म 'चेष्टा' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों कर्म्मों की प्रतिष्ठाभूमि कायिकबल (शारीरिक बल) है। पाञ्चभौतिक, चित्य, शरीरपिण्ड में रहनेवाला अग्नि-बल ही कायिक बल है। जितनी अधिक मात्रा में शारीराग्नि प्रबल रहता है, शरीर उतना ही अधिक स्वस्थ, तथा सबल रहता है। एवं शरीर की यह स्वस्थता-सबलता ही उक्त तीनों कर्म्मों की उद्बोधिका, तथा सञ्चालिका है। इसी आधार पर अग्नि को ही आध्यात्मिककर्म्म की प्रतिष्ठा मान लिया जाता है[1]। न केवल आध्यात्मिक जगत् की ही, अपितु 'अधिभूत-अधिदैवत-अधियज्ञ' नाम की इतर तीनों संस्थाओं की प्रतिष्ठा भी अग्नितत्त्व ही माना गया है। अधिकरणभेद से एक ही अग्नि के—'आध्यात्मिकअग्नि—आधिदैविकअग्नि—आधिभौतिकअग्नि—आधियाज्ञिकअग्नि'—भेद से चार स्वरूप हो जाते हैं, जैसा कि— 'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास' (शत० १।२।३।१) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। यज्ञकर्त्ता यजमान को अपने 'यज्ञकर्म्म' की इतिकर्त्तव्यता सम्पादन करने के लिए, दूसरे शब्दों में यज्ञातिशय उत्पन्न करने के लिए इन चारों अग्नियों का परस्पर सम्मिश्रण करना पड़ता है। 'यज्ञवेदि' के पूर्वभाग में प्रतिष्ठित चतुष्कोण आहवनीय कुण्ड में 'अग्निमन्थनप्रक्रिया' से समुद्भूत, यज्ञिय, प्रज्वलित 'आहवनीय'

---

[1] इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथ-हिन्दी-विज्ञानभाष्य' के 'आप्त्याग्राह्मणविज्ञान' नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

नामक अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। चूंकि इसी में पुरोडाशादि यज्ञियद्रव्यों की (मन्त्रपूर्वक) तत्तद्देवताओं के लिए आहुति दी जाती है, अतएव इसे 'आहवनीय' कहना अन्वर्थ बनता है। यही अग्नि "वैधअग्नि" कहलाता है, एवं यही पहिला 'आधियाज्ञिक अग्नि' है। इस वैध यज्ञाग्नि में यजमान के शारीराग्नि का 'अग्न्याधान' कर्म्म से संधान (मेल) कराया जाता है। वैध अग्नि के साथ संहित होनेवाला यजमान का यह शारीराग्नि ही दूसरा 'आध्यात्मिक अग्नि' है। प्रादेशमित समित्[1], हविर्द्रव्य, आज्य, दर्भ, पवित्रीकृत-आप, वेदि, कुण्ड, जुहू, उपभृत्, आदि सब पार्थिव यज्ञिय द्रव्यों की समष्टि ही तीसरा 'आधिभौतिक अग्नि' है। सौर-दिव्य-गायत्रीमात्रिक वेदत्रयी की प्रतिकृतिरूप ऋक्-साम-यजुर्म्मन्त्रसमष्टि ही वागग्निरूप चौथा 'आधिदैविक अग्नि' है। अग्न्याधान द्वारा यजमान के आध्यात्मिक अग्नि का वैध-आधियाज्ञिक अग्नि में सन्धान कराने के अनन्तर, इसी में समिदादि लक्षण आधिभौतिक अग्नि का सन्धान कराते हुए, यजमान के मनःप्राणवाङ्मय कर्म्मात्मा को मन्त्ररूप आधिदैविक अग्नि से युक्त कर दिया जाता है। यही इस यज्ञकर्म्म की स्वरूप-निष्पत्ति है। चारों अग्नियों का समन्वय हो जाने से ही यज्ञकर्म्म का स्वरूप बन जाता है। अग्निचतुष्टयमूर्त्ति इस यज्ञकर्म्म के साथ यजमानात्मा के मानस-वाचिक-प्राण नाम के तीनों भावों का योग कराना है, इसी योग से यज्ञकर्म्म यजमानात्मा की सीमा में आता हुआ 'यावद्वित्तं तावदात्मा' के अनुसार यजमान का वित्त (भोग्यसम्पत्ति) बनेगा। अब प्रश्न यह है कि, कैसे यज्ञकर्म्म के साथ यजमानात्मा के उक्त तीनों भावों का योग कराया जाय ?

यज्ञकर्म्म के उक्त चारों अग्निपर्व (प्रत्येक) मनः-प्राण-वाङ्मय हैं। 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' (शत० ब्रा० १०।५।१।१) के अनुसार स्वयं अग्नि वाङ्मय है। जहां जहां वाक् है, वहां वहां प्राण, एवं तदनुगत श्वोवसीयस मन भी नित्य विद्यमान है। इसीलिए वाङ्मय इन चारों अग्नियों को अवश्य ही 'मनः-प्राण-वाङ्मय' कहा जा सकता है। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा की इसी व्यापकता के आधार पर 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (ईशोप-

---

१ शारीराग्निलक्षण (यजमान का) प्राणाग्नि प्रादेशमित (१०॥ अंगुल) स्थान में अपनी व्याप्ति रखता है। चूंकि समित् (लकड़ी) की आहुति से यजमान के प्रादेशमित प्राणाग्नि को ही प्रज्वलित किया जाता है, अतएव समित् भी प्रादेशमित ही ली जाती है।

निषत् (१) इत्यादि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं[1]। हां, तो कहना यही है कि, मनःप्राणवाङ्मय चारों अग्नियों के साथ यजमान के मनः-प्राण-वाक् भावों का समन्वय कराना है। इसी समन्वय से 'महाकर्म्म' रूप यज्ञकर्म्म की स्वरूप-निष्पत्ति होगी। समन्वय भी कैसा? सजातीयानुबन्धसापेक्ष। उक्त चारों अग्नि-प्रपञ्चों के मनः-प्राण-वाग्-भावों के साथ यजमान के मनः-प्राण-वाग्भावों का सजातीयानुबन्ध-सापेक्षलक्षण समन्वय कर्म्म हो जाना कोई साधारण कर्म्म नहीं है। स्वयं यजमान ही इस महाकर्म्म को सम्पन्न कर डाले, यह सर्वथा असम्भव है।

इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए यजमान को दक्षिणा-साधन द्वारा अपने इस यज्ञ कर्म्म में ऋत्विक् सम्पत्ति का सहारा लेना पड़ता है। अपने आध्यात्मिक मनः-प्राण-वाक् को आधियाज्ञिक मनः-प्राण-वाक् में प्रतिष्ठित करने के लिए, तद्द्वारा आधिभौतिक मनः-प्राण-वाक् का आधिदैविक मनः-प्राण-वाक् में सन्धान करने के लिए यज्ञकर्त्ता यजमान को **'ब्रह्मा-अध्वर्यु-होता-उद्गाता'** इन चार ऋत्विजों का वरण करना पड़ता है। यज्ञकर्त्ता यजमान 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विक् के द्वारा चारों अग्निविवर्त्तों की मनः कला के समन्वय में, 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् के द्वारा चारों की प्राणकला के समन्वय में, एवं अध्वर्यु-होता-उद्गाता नामक तीनों ऋत्विजों के कर्म्मों से चारों की वाक्कला के समन्वय में समर्थ होता है। अध्वर्यु यजुर्वेद द्वारा, होता ऋङ्मन्त्रों द्वारा, उद्गाता साममन्त्रों द्वारा, एवं ब्रह्मा अपने मानस व्यापार द्वारा आधिदैविक तत्वों का संग्रह करते हुए, उन संगृहीत तत्त्वों के साथ यजमान के आध्यात्मिक तत्त्वों का ग्रन्थिबन्धन कर देते हैं। यही इस यजमान के महारम्भ यज्ञकर्म्म की सिद्धि है। यज्ञकर्म्म एक है, यज्ञ से जो फल उत्पन्न होगा, उसका भोक्ता भी स्वयं एकाकी यजमान ही है। परन्तु इस एक ही कर्म्म की सिद्धि के लिए कर्तृविभाग द्वारा अनेक कर्त्ताओं का सहयोग अपेक्षित रहता है।

ठीक यही परिस्थिति वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में समझिए। कर्त्ताओं के विभाग से कर्म्म-विभागों को व्यवस्थित करने वाले भगवान् मनु ने समाज रक्षा के लिए ही इस प्राकृ-

---

[1] विज्ञानदृष्टि से इन्द्रियसत्ता, एवं इन्द्रियाभाव ही चेतन-जड़भावों के विभाजक माने गए हैं। मन-प्राण-वाङ्मय आत्मा तो जड़-चेतन यच्चयावत् पदार्थों में अविशेषरूप से प्रतिष्ठित है। इसी आधार पर—'शृणोतु ग्रावाणः'—'ओषधे ! त्रायस्व'—'स्वधिते ! मैनं हिंसीः' इत्यादि श्रौत-व्यवहार प्रतिष्ठित हैं।

तिक व्यवस्था का बीजारोपण किया है। मानव-समाज को 'एक' व्यक्ति मानते हुए इसके मुख-बाहू-उदर-पाद भेद की कल्पना के आधार पर ही उक्त व्यवस्था व्यवस्थित की है। इस प्रकार चारों वर्ण व्यवस्थित किए गए, चारों में जन्मानुगत ब्रह्म-क्षत्रादि चार वीर्यों का क्रमशः आधान किया गया, तत्तद्वर्ण के तत्तद्वीर्य्यों की रक्षा के लिए तत्तन्नियमविशेषों का विधान किया गया, एवं नियमोल्लंघन-दशा में दृढ़तम दण्ड-पाश का नियन्त्रण लगाया गया। वर्ण-व्यवस्थारूप महाकर्म्म से न किसी वर्णविशेष का ही उपकार है, न व्यक्ति विशेष का ही। अपितु सम्पूर्ण समाजरूप एक महा आत्मा ही इससे उपकृत होता है। सहयोग सब का, व्यक्तिगत कामभाव किसी का नहीं। समाज का जो लाभ, उसी से सब वर्ण सन्तुष्ट। जैसे यज्ञसञ्चालक ऋत्विक् अपने पारिश्रमिक रूप दक्षिणाद्रव्य से कृतकृत्य हो जाते हैं, वैसे ही समाज-कर्म्म सञ्चालक इन वर्णों में भी समाज के अधिकार में आने वाला लोकवैभव आंशिकरूप से विभक्त हो जाता है, और यही इनकी कृतकृत्यता है।

कहना न होगा कि, प्रजापति द्वारा उद्भावित इस प्रकृतिसिद्ध वर्ण-व्यवस्था ने भारतीय समाज को अभ्युदय के उस उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर दिया, उस 'अश्माखण' (पाषाणमय) दुर्ग से वेष्टित कर दिया, जिसमें प्रतिष्ठित-सुरक्षित रहता हुआ भारतीय समाज, भारतीय साहित्य, भारतीय कला-कौशल, भारतीय वाणिज्य, भारतीय संस्कृति, भारतीय सभ्यता, एतद्देशीय, तथा अन्यदेशीय तत्तद्राजशासनानुशासनों का प्रबल आक्रमण सहते हुए भी आजतक येनकेन रूपेण अपना स्वरूप प्रतिष्ठित किए हुए है। सचमुच आर्य्यजाति के लिए यह अतिशय दुर्भाग्य घटना है कि, पश्चिमी सभ्यता के झञ्झावात में पड़ कर आज हमारे ही देश के कतिपय शिक्षित-शिष्ट-संभ्रान्त-महानुभाव, एवं तदनुगामी मुग्ध जन इस व्यवस्था को अनुपादेय, अप्राकृतिक, अतएव त्याज कहने की धृष्टता करते हुए आर्षसभ्यता का सर्वनाश करने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं। इन अभिनिविष्ट-दुराग्रही बुद्धिवादियों को कौन कैसे समझावे ? इस प्रश्न का उत्तर तो वर्णधर्म्मोपपादक जगदीश्वर के नियति-दण्ड-प्रहार पर ही निर्भर है।

जैसा कि प्रकरणारम्भ में कहा गया है, इस सामाजिक वर्णव्यवस्था का मूल प्रकृति-सिद्ध नित्य वर्णव्यवस्था है, अतएव यह सामाजिक व्यवस्था भी प्रकृतिसिद्ध, अतएव जन्मसिद्ध, अतएव च सर्वथा नित्य है। इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि,-'उस वर्ण-व्यवस्था का क्या स्वरूप है ? प्राकृतिक, आधिदैविक मण्डल में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्र

निपत् १।) इत्यादि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं'। हां, तो कहना यही है कि, मनःप्राणवाङ्मय चारों अग्नियों के साथ यजमान के मनः-प्राण-वाक् भावों का समन्वय कराना है। इसी समन्वय से 'महाकर्म्म' रूप यज्ञकर्म्म की स्वरूप-निष्पत्ति होगी। समन्वय भी कैसा? सजातीयानुबन्धसापेक्ष। उक्त चारों अग्नि-प्रपञ्चों के मनः-प्राण-वाग्-भावों के साथ यजमान के मनः-प्राण-वाग्भावों का सजातीयानुबन्ध-सापेक्षलक्षण समन्वय कर्म्म हो जाना कोई साधारण कर्म्म नहीं है। स्वयं यजमान ही इस महाकर्म्म को सम्पन्न कर डाले, यह सर्वथा असम्भव है।

इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए यजमान को दक्षिणा-साधन द्वारा अपने इस यज्ञ कर्म्म में ऋत्विक् सम्पत्ति का सहारा लेना पड़ता है। अपने आध्यात्मिक मनः–प्राण-वाक् को आधियाज्ञिक मनः–प्राण-वाक् में प्रतिष्ठित करने के लिए, तद्द्वारा आधिभौतिक मनः-प्राण-वाक् का आधिदैविक मनः-प्राण-वाक् में सन्धान करने के लिए यज्ञकर्त्ता यजमान को 'ब्रह्मा-अध्वर्यु-होता-उद्गाता' इन चार ऋत्विजों का वरण करना पड़ता है। यज्ञकर्त्ता यजमान 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विक् के द्वारा चारों अग्निविवर्त्तों की मनः कला के समन्वय में, 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् के द्वारा चारों की प्राणकला के समन्वय में, एवं अध्वर्यु-होता-उद्गाता नामक तीनों ऋत्विजों के कर्म्मों से चारों की वाक्कला के समन्वय मे समर्थ होता है। अध्वर्यु यजुर्वेद द्वारा, होता ऋङ्मन्त्रों द्वारा, उद्गाता साममन्त्रों द्वारा, एवं ब्रह्मा अपने मानस व्यापार द्वारा आधिदैविक तत्वों का संग्रह करते हुए, उन संगृहीत तत्त्वों के साथ यजमान के आध्यात्मिक तत्त्वों का ग्रन्थिबन्धन कर देते हैं। यही इस 'यजमान के महारम्भ यज्ञकर्म्म की सिद्धि है। यज्ञकर्म्म एक है, यज्ञ से जो फल उत्पन्न होगा, उसका भोक्ता भी स्वयं एकाकी यजमान ही है। परन्तु इस एक ही कर्म्म की सिद्धि के लिए कर्तृविभाग द्वारा अनेक कर्त्ताओं का सहयोग अपेक्षित रहता है।

ठीक यही परिस्थिति वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में समझिए। कर्त्ताओं के विभाग से कर्म्म-विभागों को व्यवस्थित करने वाले भगवान् मनु ने समाज रक्षा के लिए ही इस प्राकृ-

---

१ विज्ञानदृष्टि से इन्द्रियसत्ता, एवं इन्द्रियाभाव ही चेतन-जड़भावों के विभाजक माने गए हैं। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा तो जड़-चेतन यथायावत् पदार्थों में अविशेषरूप से प्रतिष्ठित है। इसी आधार पर— 'शृणोतु ग्रावाणः'—'ओषधे! त्रायस्व'—'स्वधिते! मैनं हिंसीः' इत्यादि श्रौत-व्यवहार प्रतिष्ठित हैं।

तिक व्यवस्था का बीजारोपण किया है। मानव-समाज को 'एक' व्यक्ति मानते हुए इसके मुख-बाहू-उदर-पाद भेद की कल्पना के आधार पर ही उक्त व्यवस्था व्यवस्थित की है। इस प्रकार चारों वर्ण व्यवस्थित किए गए, चारों में जन्मानुगत ब्रह्म-क्षत्रादि चार वीर्य्यों का क्रमशः आधान किया गया, तत्तद्वर्ण के तत्तद्वीर्य्यों की रक्षा के लिए तत्तन्नियमविशेषों का विधान किया गया, एवं नियमोल्लंघन-दशा मे दृढ़तम दण्ड-पाश का नियन्त्रण लगाया गया। वर्ण-व्यवस्थारूप महाकर्म्म से न किसी वर्णविशेष का ही उपकार है, न व्यक्ति विशेष का ही। अपितु सम्पूर्ण समाजरूप एक महा आत्मा ही इससे उपकृत होता है। सहयोग सब का, व्यक्तिगत कामभाव किसी का नहीं। समाज का जो लाभ, उसी से सब वर्ण सन्तुष्ट। जैसे यज्ञसञ्चालक ऋत्विक् अपने पारिश्रमिक रूप दक्षिणाद्रव्य से कृतकृत्य हो जाते हैं, वैसे ही समाज-कर्म्म सञ्चालक इन वर्णों में भी समाज के अधिकार में आने वाला लोकवैभव आंशिकरूप से विभक्त हो जाता है, और यही इनकी कृतकृत्यता है।

कहना न होगा कि, प्रजापति द्वारा उद्भावित इस प्रकृतिसिद्ध वर्ण-व्यवस्था ने भारतीय समाज को अभ्युदय के उस उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर दिया, उस 'अश्माखण' (पाषाणमय) दुर्ग से वेष्टित कर दिया, जिसमें प्रतिष्ठित-सुरक्षित रहता हुआ भारतीय समाज, भारतीय साहित्य, भारतीय कला-कौशल, भारतीय वाणिज्य, भारतीय संस्कृति, भारतीय सभ्यता, एतद्देशीय, तथा अन्यदेशीय तत्तद्राजशासनानुशासनों का प्रबल आक्रमण सहते हुए भी आजतक येनकेन रूपेण अपना स्वरूप प्रतिष्ठित किए हुए है। सचमुच आर्य्यजाति के लिए यह अतिशय दुर्भाग्य घटना है कि, पश्चिमी सभ्यता के झञ्झावात में पड़ कर आज हमारे ही देश के कतिपय शिक्षित-शिष्ट-संभ्रान्त-महानुभाव, एवं तदनुगामी मुग्ध जन इस व्यवस्था को अनुपादेय, अप्राकृतिक, अतएव त्याज कहने की धृष्टता करते हुए आर्षसभ्यता का सर्वनाश करने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं। इन अभिनिविष्ट-दुराग्रही बुद्धिवादियों को कौन कैसे समझावे? इस प्रश्न का उत्तर तो वर्णधर्म्मोपपादक जगदीश्वर के नियति-दण्ड-प्रहार पर ही निर्भर है।

जैसा कि प्रकरणारम्भ में कहा गया है, इस सामाजिक वर्णव्यवस्था का मूल प्रकृति-सिद्ध नित्य वर्णव्यवस्था है, अतएव यह सामाजिक व्यवस्था भी प्रकृतिसिद्ध, अतएव जन्मसिद्ध, अतएव च सर्वथा नित्य है। इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि,-'उस वर्ण-व्यवस्था का क्या स्वरूप है? प्राकृतिक, आधिदैविक मण्डल में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्र

कौन-कौन हैं ? एवं उन प्राकृतिक, नित्य वर्णों के क्या क्या कर्म्म हैं ?'। आगे के परिच्छेद इन्हीं जिज्ञासा भावों को शान्त करते हुए पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं।

वर्ण-निरुक्ति—

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे, तत् प्रमाणं बादरायणस्य, अनपेक्षत्वात्' (पूर्वमी० १।१।५) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार शब्द एवं अर्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध है। अर्थ (पदार्थ) वाच्य है, शब्द (नाम) वाचक है। वाचक शब्द का वाच्य अर्थ के साथ पार्वती-परमेश्वरवत् तादात्म्य सम्बन्ध है। घट-पदार्थ के उत्पत्तिकाल में तद्वाचक 'घट' शब्द घटपदार्थ के साथ सम्बद्ध रहता है। "पहिले पदार्थ उत्पन्न होते हैं, एवं पीछे इन उत्पन्न पदार्थों के साथ तत्तन्नामों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है" यह बात नहीं है। शब्द-अर्थ का तो सदा सम-कालिक ही सम्बन्ध रहता है। शब्द-अर्थप्रपञ्च के इस तादात्म्य-भाव का मूल रहस्य यही है कि, दोनों का मूलस्रोत एक ही वाक्-तत्व से प्रवाहित हुआ है, जो कि मौलिक वाक् अपने 'आम्भृणीवाक्'–'सरस्वतीवाक्' इन दो विवर्त्तों में परिणत होकर क्रमशः अर्थ-शब्दसृष्टियों की मूलप्रवर्त्तिका बनी हुई है। उसी वाक् के 'आम्भृणी' विवर्त्त से अर्थ-ब्रह्मलक्षण 'परब्रह्म' का विकास हुआ है, एवं उसी वाक् के 'सरस्वती' विवर्त्त से 'शब्द-ब्रह्म' का विकास हुआ है। यही कारण है कि, जो कलाविभाग, जैसा संस्थाक्रम परब्रह्म-विवर्त्त का है, ठीक वही कलाविभाग, वैसा ही संस्थाक्रम अर्थब्रह्मविवर्त्त का है। एक के सम्यक् बोध से दूसरा विवर्त्त गतार्थ है [१]।

परब्रह्मविवर्त्त को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, एवं पहिले शब्दब्रह्म-विवर्त्त का विचार कीजिए। आनन्दविज्ञानघनमनोमयप्राणगर्भिता-वाक् ही सृष्टि (शब्दसृष्टि, एवं अर्थसृष्टि) का मूल है। सृष्टिमूला वाक् में आनन्द-विज्ञान गर्भ में है, मनः-प्राण-वाक्-भावों की प्रधानता है। इसी लिए सृष्टिसाक्षी प्रजापति को 'मन-प्राण-वाङ्मय' कहा गया है। मनः-प्राण-वाक्, ये तीनों आत्मविवर्त्त एक प्राणतत्व के ही तीन विकसित रूप माने गए हैं। सृष्टि-दशा में केवल प्राण ही तीन रूपों में परिणत हो जाता है। कारणात्मक यही प्राणतत्व 'ऋषि'

---

१ द्वे विद्ये वेदितव्ये शब्दब्रह्म, परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

—ब्रह्मबिन्दूपनिषत् १७।

नाम से प्रसिद्ध है। इस मौलिक ऋषिप्राण से 'पितरप्राण' का, पितरप्राण के भृगुभाग से (भार्गव आपः भाग से,) 'असुरप्राण' का, भार्गव वायु भाग से 'गन्धर्वप्राण' का,' एवं पितरप्राण के अङ्गिराभाग से 'देवप्राण' का विकास हुआ है। इन्हीं देवासुर प्राणों के समन्वय से चर-अचर विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है।

यद्यपि—'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्' (छान्दोग्य उप० ६।४।४) इत्यादि श्रुति ने "मनः-प्राण-वाक्" इन तीन आत्मकलाओं के क्रमशः "अन्न-आपः-तेज" ये पृथक् पृथक् तीन उपादान कारण मानें हैं। ऐसी दशा मे मन एवं वाक् की प्राण से उत्पत्ति मानना असङ्गत प्रतीत होता है। फलतः "मनः-प्राण-वाक् तीनों एक प्राण के ही विवर्त्त हैं" इस पूर्व कथन मे कोई तथ्य प्रतीत नहीं होता। तथापि एक विशेष कारण से प्राणतत्त्व की सर्वारम्भकता में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। तेज-अप्-अन्न, तीनों हीं 'भूतमात्रा' किंवा 'भूतदेवता' हैं। इन तीनों भूतमात्राओं का विकास प्राण से ही माना गया है। वही असत्-प्राण (ऋषिप्राण) तेजोमय बन कर 'वाक्' कहलाने लगता है, आपोमय बनकर 'प्राण' कहलाने लगता है, एवं अन्नमय बन कर 'मन' कहलाने लगता है, जैसा कि अन्यत्र सृष्टिविज्ञान-प्रतिपादक निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है। इस दृष्टि से हम अवश्य ही उस मूलऋषि-प्राण को तूलरूप मनः-प्राण-वाक्, इन तीनों का आरम्भक मान सकते हैं।

यह मूलप्राण (जिसे कि हम 'मुख्यप्राण'—'उद्गीथप्राण'—'आत्मप्राण'—'आत्मा' इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत कर सकते हैं) तेजोमय बनकर "वाक्" नाम से व्यवहृत होने लगता है, यह कहा जा चुका है। वागवस्था मे परिणत होने पर इस प्राण की सात अवस्था हो जातीं हैं। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, प्राणावस्था से आरम्भ कर प्राण के वागवस्था में परिणत होने तक उस एक ही प्राण के अवान्तर सात स्वरूप हो जाते हैं। प्राण के वे ही सात विवर्त्त आध्यात्मिक जगत् की अपेक्षा से क्रमशः—'तैजसप्राण—वायु—श्वास नाद—श्रुति—स्वर—वर्ण—' इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं।

पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड में "वस्तिगुहा" से संलग्न एक 'त्रिकास्थिप्राण' है। इसे ही चयनयज्ञ-परिभाषा में 'पुच्छं प्रतिष्ठा' कहा गया है। इस प्रतिष्ठा-प्राण के ग्रन्थिबन्धन से शरीरपिण्ड सीधा तना रहता है। चूंकि वृद्धावस्था में यह त्रिकास्थिप्राण मूर्च्छित-सा हो जाता है, अतएव इस अवस्था मे शरीरयष्टि प्रतिष्ठा-शून्य-सी हो जाती है। कमर झुक जाती

है, शरीर का तनाव नत हो जाता है, परप्रतिष्ठा (लकड़ी आदि के आलम्बन) की अपेक्षा हो जाती है। इस प्रतिष्ठा प्राण का वितान मेरुदण्ड के द्वारा होता है। 'ब्रह्मग्रन्थि'-'अपान'-'पुच्छं प्रतिष्ठा'-'त्रिकास्थि' इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध प्रतिष्ठालक्षण यह मूलप्राण जबतक ब्रह्मग्रन्थि-स्थान में बिना किसी व्यापार के स्वप्रकृति मे प्रतिष्ठित रहता है, तबतक इसे 'प्राण', किंवा 'तैजसप्राण' कहा जाता है, एवं उक्त सात अवस्थाओं में से यही इस प्राण की पहिली अवस्था है।

मन से कामना का उदय होता है, एवं उत्थित कामना की पूर्त्ति व्यापार पर निर्भर है। व्यापार का मूलाधार 'कायाग्नि' है। फलतः मानस कामना का सर्वप्रथम इस कायाग्नि पर ही आघात होता है। आघात से कायाग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है। कायाग्नि भी तेजोमय है, इधर ब्रह्मग्रन्थिलक्षण त्रिकास्थिप्राण भी तेजोमय है। इसी सजातीयता के कारण तेजोमय-कायाग्नि के क्षोभ से तत्सजातीय स्वप्रकृतिस्थ त्रिकास्थिप्राण भी क्षुब्ध होकर ऊर्ध्व संचरण करने लगता है। इस ऊर्ध्व-संचारावस्था में वही तैजसप्राण 'वायु' कहलाने लगता है, एवं यही उक्त सात अवस्थाओं में से प्राण की दूसरी अवस्था है।

व्यापार तबतक उपरत नहीं होता, जबतक कि, कामना फलसंग्रहद्वारा शान्त नहीं हो जाती। आफलप्राप्ति व्यापार सञ्चालित रहता है। व्यापार-नैरन्तर्य्य से कायाग्नि अधिकाधिक क्षुब्ध होता रहता है। कायाग्नि के इस प्रवृद्ध क्षोभ का असर इस 'वायु' पर पड़े बिना नहीं रह सकता। अतिशय आक्रमण-आघात-प्रत्याघात से वायु मूर्छित हो जाता है। वायु की यह मूर्छित-अवस्था ही प्राण की तीसरी 'श्वास' नामक अवस्था कहलाई है। इस अवस्था मे धारावाहिक वायु सन्तानधारा से विच्युत होकर त्रुटित अवस्था मे परिणत होता हुआ एक विशेष प्रकार के 'रव' में परिणत हो जाता है। यही 'रव' भाव 'श्वास' कहलाने लगता है। जो ध्वनि 'भस्त्रा' (धोंकनी) से निकला करती है, वही स्वरूप 'श्वास' का माना गया है।

रवात्मक श्वास ऊपर चढ़ते चढते शिरोगुहा मे जा पहुंचता है। जिस प्रकार मुख से निकला हुआ शब्द आवृतगुहा-आदि स्थानों मे टकरा कर गूज उठता है, प्रतिध्वनित हो पडता है, ठीक इसी तरह श्वासात्मक वायु शिरोगुहारूप आवृत आकाश में पहुच कर वहां आहत होता हुआ एक विशेष प्रकार की गूज मे परिणत हो जाता है। श्वासवायु की यह प्रतिध्वनित-अवस्था ही चौथी 'नाँद' अवस्था कहलाई है।

नादात्मक श्वासवायु शिरोगुहा में उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है, जैसे कि सिंहादिवन्य-पशुओं का नाद पर्वत कन्दराओं में चारों ओर फैल जाता है। नाद की इस व्याप्तिअवस्था का ही नाम पांचवीं 'श्रुति' अवस्था है, जोकि श्रुति आगे जाकर स्वरद्वारा वर्णों की प्रतिष्ठा बनती है। नाद का आभ्यन्तररूप ही 'श्रुति' है। एक संगीतज्ञ स्वरसंधान से पहिले अपने मन ही मन में (अन्तर्जगत् में) अस्फुटरूप से कुछ कुछ गुन-गुनाने लगता है। इसका यह गुनगुनाना नाद का ही दूसरा रूप है, एवं यही 'श्रुति' है। इसी श्रुति के आधार पर 'स्वर' का वितान होता है।

शिरोगुहा में चारों ओर व्याप्त रहने वाला श्रुतिभाव आगे जाकर उसी प्रकार बाह्य-आकाश में वितत हो जाता है, जैसे कि पर्वतकन्दराओं में फैला हुआ निनाद कालान्तर में बाह्य आकाश में व्याप्त हो जाता है। यही इस प्राण की छठी 'स्वर' अवस्था है। इसे ही सङ्गीतज्ञ 'आलाप' कहा करते हैं। श्रुति के अनन्तर ही संगीतज्ञ के मुख से 'आलाप' का उत्थान होने लगता है।

आलापलक्षण स्वर की 'उरः-कण्ठ-शिरः' (छाती-गला-मस्तक) इन तीन स्थानों के साथ टक्कर होती है, जो कि तीन स्थान शिक्षाचार्य्यों की परिभाषा में क्रमशः (वाग्यज्ञ के) 'प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन' नामों से प्रसिद्ध हैं। इसी स्थानत्रयी के आघात-प्रत्याघात में पड़ने से कायाग्नि-मिश्रित वही प्राणतत्त्व 'वर्ण' रूप में परिणत हो जाता है, जिसे कि हम इस प्राण की सातवीं अवस्था कहेंगे। प्राण की स्वरावस्था ही वर्णप्रतिष्ठा, तथा वर्णस्वरूपनिष्पत्ति का कारण बनती है। इस प्रकार उक्त रूप से त्रिकास्थिगत, तेजोमय प्रतिष्ठा-प्राण की सात अवस्था हो जाती हैं। इसी 'प्राणसप्तकविज्ञान' का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं—

'अथ[1] वाचो वृत्तिं व्याख्यास्यामः। 'वायुं' प्रकृतिमाचार्य्याः। वायुर्मूर्च्छन् 'श्वासो' भवति। श्वासो 'नाद' इति शाकटायनः। वायुरस्मिन् काये मूर्च्छति। स

---

[1] लगभग इसी कवतन्त्र-सिद्धान्त से मिलता-जुलता वर्णोत्पत्ति-क्रम शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित शिक्षा-वचनों से स्पष्ट है—

१—आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्॥

खलु स्व-विशेषं प्रतिपन्नः 'श्वसिति' भवति। स श्वसितिः शिरः प्रतिपन्न आकाश-मद्वारकं 'नदति' भवति। तस्येदानीं नदतेर्जिह्वाग्रेणेर्य्यमाणस्य व्यक्तयः प्रादुर्भवन्ति वर्णानाम्'।

—ऋक्तन्त्र

स्वयं प्राणतत्व एक 'शक्ति' विशेषरूप होने से 'अमूर्त्त' बनता हुआ अपने आप व्यापार करने में तब तक असमर्थ है, जब तक कि किसी 'मूर्त्त' द्रव्य का आश्रय न ले ले। वाक्-नामक मूर्त्तभाव को अपना आलम्बन बनाकर ही अमूर्त्त-प्राण उक्त सात अवस्थाओं में परिणत होता है। अतएव ऋक्तन्त्र ने प्राण की इस सप्तवृत्ति के लिए 'अथ वाचो वृत्ति व्याख्यास्यामः' यह कह दिया है। इसी आधार पर हम इस सप्तक को 'वाग्विवर्त्त' भी कह सकते हैं, एवं 'प्राणविवर्त्त' भी कह सकते हैं। इन सात वाग्विवर्त्तों, किंवा प्राणविवर्त्तों में से प्रकृत में सबसे पहिले के प्राणविवर्त्त की ओर, अन्त के स्वरविवर्त्त, तथा वर्णविर्त्त की ओर ही पाठकों का विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया जाता है। क्योंकि हमारी इस प्रस्तुत 'वर्णव्यवस्था' का सातों में से 'प्राण-स्वर-वर्ण' इन तीन अवस्थाओं के साथ ही प्रधान सम्बन्ध है।

वाक्प्रयोग (शब्दप्रयोग)—'वर्ण—अक्षर—पद—वाक्य' इन चार संस्थाओं में विभक्त माना गया है। इन चारों संस्थाओं में पूर्व-पूर्वसंस्था से उत्तर-उत्तरसंस्था का

२—मारुतस्तूरसिचरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
(प्रातः सवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्॥
३—कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्॥)
४—सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते, तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥
५—स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत॥

—पाणिनीय-शिक्षा।

स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। अक्षर 'वर्णघटित' है, पद 'अक्षरघटित' है, एवं वाक्य 'पदघटित' है। वर्णसमुच्चय अक्षरस्वरूप का, अक्षरसमुच्चय पदस्वरूप का, एवं पदसमुच्चय वाक्यस्वरूप का संग्राहक बना हुआ है। यद्यपि एक एक वर्ण भी अक्षर माना गया है। 'अ—इ—उ—' ये स्वरात्मक वर्ण अक्षर भी कहलाए हैं, एवं वर्ण भी कहलाए है। विशुद्ध एक अक्षर भी पद कहलाए हैं। 'च—वा—ह्—हि—न—' इत्यादि को अक्षर भी कहा गया है, एवं इन्हें पद भी माना गया है। एवमेव विशुद्ध एक पद भी वाक्य कहलाया है। 'किं—कथं—कोऽहं—' इन्हें पद के साथ साथ वाक्य भी माना गया है। तथापि इन सब सङ्कर-व्यवहारों का तत्तत् प्रस्थानान्तरों की अपेक्षा से ही समन्वय करना न्यायसङ्गत होगा। एवं पूर्वोक्त नियम-व्यवस्था को ही सामान्य व्यवस्था मानना उचित होगा।

'वर्णाक्षरपदवाक्य'—चतुष्टयी मे से पहिले वर्ण का ही विचार कीजिए। वर्णतत्त्व को हम—**'स्वर—व्यञ्जन'** भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। इन दोनों में 'अक्षर' स्वरात्मक वर्ण ही माना जायगा। यदि स्वरात्मक वर्ण के साथ व्यञ्जनात्मक वर्ण का सम्बन्ध रहेगा, तो व्यञ्जनविशिष्ट स्वरात्मकवर्ण को ही 'अक्षर' कहा जायगा, जैसा कि **'स्वरोऽक्षरम्—' सहाद्यैर्व्यञ्जनैः—उत्तरैश्चावसितैः'** (शुक्लयजु.प्रातिशाख्य, १ अ०। ९९-१००—१०१ सू०) इत्यादि प्रातिशाख्य सिद्धान्त से स्पष्ट है। इसी भेद के आधार पर वर्ण, तथा अक्षर को भिन्न-भिन्न वस्तुतत्त्व माना जायगा। यदि वर्ण और अक्षर एक ही वस्तु होती, तो व्यञ्जन को भी अक्षर कहा जाता, क्योंकि व्यञ्जन भी वर्ण है। साथ ही में उस दशा में व्यञ्जनविशिष्ट स्वर कभी 'एकाक्षर' न कहलाता। फलतः अक्षर और वर्ण का पार्थक्य भलीभांति सिद्ध हो जाता है। **'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तः'** इत्यादि आप्त वचन भी स्वर एवं वर्ण का पार्थक्य ही बतला रहा है। यहां स्पष्ट ही वर्णशब्द व्यञ्जन का अभिप्राय व्यक्त कर रहा है। **'वागित्येकमक्षरम्'—अक्षरमिति त्र्यक्षरम्' 'एकाक्षरा वै वाक्'** (ताण्ड्य ब्रा० ४।४।१३) इत्यादि श्रौत वचन भी इसी भेद का स्पष्टीकरण कर रहे है। 'वाक्' शब्द मे यद्यपि—'व्-अ-अ-क्' इस रूप से वर्ण चार है, परन्तु अक्षर एक ही ('आ' कार ही) माना जाता है। इसी प्रकार 'अक्षरम्' शब्द में—'अ-क्-श्-अ-र्-अ-म्' इस रूप से वर्ण यद्यपि सात हैं, परन्तु अक्षर तीन हीं (अ क्ष—रम्) माने गए हैं। इन्हीं सब परिस्थितियों के आधार पर हमे इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि, वर्णशब्द व्यञ्जन की तरह स्वर का वाचक बनता हुआ भी प्रधानरूप से व्यञ्जन का ही द्योतक है।

व्यञ्जन को वर्ण कहा जायगा, स्वर को अक्षर कहा जायगा।' इस वर्ण और स्वर के अतिरिक्त एक तीसरा 'स्फोट' तत्त्व और है। वर्ण (व्यञ्जन) का आलम्बन 'स्वर' है, सर्वालम्बन 'स्फोट' है। स्फोट मनोमूर्त्ति अव्यय का प्रतिनिधि है, स्वर प्राणमूर्त्ति अक्षर का प्रतिनिधि है, एवं वर्ण वाड्मूर्त्ति क्षर का प्रतिनिधि है। परब्रह्म के 'अव्यय अक्षर—क्षर' नामक तीन विवर्त्त ही शब्दब्रह्म के 'स्फोट—स्वर—वर्ण' नामक तीन विवर्त्त हैं। दोनों विवर्त्त समानधारा से प्रवाहित हैं।

अव्ययपुरुष मनोमूर्त्ति होने से 'ज्ञानप्रधान' है, अक्षरपुरुष प्राणमय होने से 'क्रियाप्रधान' है, एवं क्षरपुरुष वाड्मय बनता हुआ 'अर्थप्रधान' है। मन.प्राणगर्भित (अव्यय-अक्षर-गर्भित) वाक् तत्त्व ही अव्ययाक्षर-क्षरसमष्टिलक्षण 'परब्रह्म' के विकास का कारण बना है, एव यही वाक्तत्व स्फोट-स्वर-वर्णसमष्टिलक्षण 'शब्द ब्रह्म' के विकास का कारण बना है। परब्रह्म, तथा शब्दब्रह्म दोनों एक ही (मनः प्राणगर्भित-) वाक्तत्व के विवर्त्त हैं, और शब्दार्थ के तादात्म्य का यही मौलिक रहस्य है। अव्यय अमृतप्रधान है, तो तत्सम स्फोट भी अमृतप्रधान है। अक्षर अपने व्यक्तिगतरूप से अमृतप्रधान, तथा क्षर को अपने गर्भ में लेता हुआ मृत्युमय है, तो तत्सम स्वर (अ-आ-आदि) अपने व्यक्तिगतरूप से अमृत-प्रधान, तथा क्षरस्थानीय वर्णों (क-च-ट त पादि व्यञ्जनों) को अपने गर्भ में रखता हुआ मृत्युमय है। क्षर मत्युप्रधान है, तो तत्सम वर्ण भी मृत्युप्रधान ही है। अव्ययपुरुष सर्वालम्बन है, तो तत्सम स्फोट भी सर्वालम्बन बना हुआ है। अक्षरपुरुष भौतिक क्षरप्रपञ्च का आधार बना हुआ है, तो स्वरप्रपञ्च वर्ण-(व्यञ्जन) प्रपञ्च की आधारभूमि बन रहा है। विना अक्षर का सहारा लिए यदि क्षरतत्व विकास मे असमर्थ है, तो बिना स्वर का सहारा लिए वर्णों (व्यञ्जनों) का भी उच्चारण असम्भव है।

वही अव्ययपुरुष अपने 'हृद्यभाव' के कारण 'अक्षर' बना हुआ है, एवं वही अक्षर अपने बलप्रधान मृत्युभाग से 'क्षर' बना हुआ है। इस तरह परम्परया अव्यय की ही सर्वता सिद्ध हो रही है। अपने ही क्षररूप की दृष्टि से अव्ययेश्वर जहा वर्णसृष्टि के कर्त्ता कहे जा सकते हैं, वहां अपने विशुद्ध अव्ययरूप की दृष्टि से उन्हे अकर्त्ता भी माना जा सकता है। इन्हीं क्षरविशिष्ट-विशुद्ध, दोनों रूपों से सम्बन्ध रखनेवाले कर्तृत्व-अकर्तृत्व दोनों विरुद्ध भावों का स्पष्टी करण करते हुए भगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धि, अकर्त्तारमव्ययम् ॥
—गीता ४।१३।

"अव्ययेश्वर ने गुण-कर्म्म विभाग के आधार पर 'चातुर्वर्ण्य' उत्पन्न किया" इस वाक्य के गुण-कर्म्म भावों की मीमांसा तो आगे चल कर होगी। अभी हमें 'वर्ण' शब्द की निरुक्ति का विचार करना है, जो कि 'वर्णनिरुक्ति' इस परिच्छेद का मुख्य विषय है। 'वर्ण शब्द वरणार्थक 'वृञ्' धातु ('वृञ्'-वरणे, स्वा० उ० से०) से भी सम्पन्न होता है, एवं प्रेरणार्थक 'वर्ण' धातु ('वर्ण'-प्रेरणे, प० से०) से भी निष्पन्न होता है। हमारी इस वर्णव्यवस्था के साथ दोनों ही अर्थों का समन्वय किया जा सकता है। कारण वर्णसृष्टि संवरण भी करती है, एवं यही वर्णसृष्टि आत्मप्रेरणा की भी आलम्बन बनती है। पहिले संवरण-दृष्टि से ही विचार कीजिए। आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान-विकास को आवृत करनेवाला आत्मा का 'सृष्ट' रूप माना गया है। मायोपाधि के सम्बन्ध से एक ही आत्मतत्व के, किंवा ब्रह्मतत्व के 'सृष्ट-प्रविष्ट-प्रविविक्त' ये तीन रूप हो जाते हैं। प्रत्यक्ष दृष्ट पाञ्चभौतिक विश्व उस का 'सृष्ट' रूप है। इस पाञ्चभौतिक विश्व के हृदय में 'हृ-द-य' रूप से प्रतिष्ठित रह कर अपनी नित्यनियति से विश्वधर्म्मों का सञ्चालन करनेवाला, विश्वसृष्टि का निमित्त कारण बना हुआ, अन्तर्य्यामी उसी ब्रह्म का 'प्रविष्ट' रूप है। एवं विश्वसीमा के भीतर-बाहर सब ओर असङ्गरूप से केवल आलम्बनरूप से रहता हुआ, विश्व-कार्य्य-कारणभावों से उन्मुक्त रहता हुआ व्यापकतत्व उसी ब्रह्म का 'प्रविविक्त' रूप है। इस प्रकार एक ही विश्वात्मा तीन भावों में परिणत हो रहा है, जिसे कि हम 'परब्रह्म' नाम से अबतक व्यवहृत करते आए हैं।

उक्त तीनों रूपों का क्रमशः 'अव्यय-अक्षर-क्षर' भावों के साथ सम्बन्ध है। आत्मा का क्षररूप भौतिक विश्व का 'उपादान' बनता हुआ 'सृष्टब्रह्म' है, अक्षररूप विश्व का नियन्ता बनता हुआ 'प्रविष्टब्रह्म' है, एवं अव्ययरूप असङ्ग रहता हुआ 'प्रविविक्तब्रह्म' है। इन तीनों में अव्ययब्रह्म ज्ञानज्योतिप्रधान, अक्षरब्रह्म क्रियाशक्तिप्रधान, एवं क्षरब्रह्म अर्थशक्तिप्रधान बतलाया गया है। अर्थतत्व ही ज्ञान-क्रिया का संवरण करता हुआ सृष्टरूप में परिणत हो रहा है। इसी सृष्टरूप से—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' (गी० ७।२५।) इस गीतासिद्धान्त के अनुसार आत्मविकास आवृत हो रहा है। और अपने आवरणलक्षण इसी संवरणभाव से सृष्टात्मक क्षरपुरुष को हम 'वर्ण' कहने के लिए तय्यार हैं, जो कि

क्षरात्मक, संवरणधर्म्मा वर्ण आगे जाकर चार भागों में विभक्त होता हुआ 'चातुर्वर्ण्य' भाव का प्रेरक बनता है। जहां यह अपने संवरणधर्म्म के कारण वरणार्थक 'वृञ्' धातु से अपने वाचक 'वर्ण' शब्द का स्वरूप सम्पादक बनता है, वहां यह अपने इस वर्णसृष्टिप्रेरणा-भाव के कारण प्रेरणार्थक 'वर्ण' धातु से अपने वाचक वर्ण शब्द की स्वरूप निष्पत्ति का भी हेतु बना हुआ है। परब्रह्मविवर्त्त में जिस प्रकार सृष्ट-क्षरप्रपञ्च अपने संवरण, तथा प्रेरणा-धर्म्म से वर्ण बना हुआ है, एवमेव शब्दब्रह्मविवर्त्त में क्षरस्थानीय व्यञ्जन-प्रपञ्च ने अपने वाह्यरूप से शब्दप्रपञ्च का संवरण, तथा प्रेरणा करते हुए 'वर्ण' नाम धारण कर रक्खा है। परब्रह्म का सृष्टरूप क्षर है, तो शब्द ब्रह्म का सृष्टरूप 'वर्ण' (व्यञ्जन) है। परब्रह्म में जैसे अव्ययाक्षरक्षर तीनों में से केवल सृष्ट क्षरब्रह्म ही दृष्टि का विषय बनता है, अव्ययाक्षर निगूढ बनें रहते हैं, एवमेव शब्दब्रह्मविवर्त्त में स्फोट-स्वर निगूढ बने रहते हैं, एवं वर्णसमाम्नाय ही दृष्टि का आलम्बन बनता है। कहने का तात्पर्य्य यही हुआ कि, संवरण और प्रेरणाधर्म्मों से ही परब्रह्म का क्षरभाग, एवं शब्दब्रह्म का व्यञ्जन भाग 'वर्ण' कहलाया है, एवं यही वर्णशब्द की सामान्य निरुक्ति है, जिसका कि विशेष विस्तार पाठक अगले परिच्छेद में देखेंगे।

ब्रह्ममूला, किंवा वर्णमूला-वर्णव्यवस्था—

सम्पूर्ण विश्व 'शब्द-अर्थ' भेद से दो भागों में विभक्त है, एवं—'क्षरः सर्वाणि भूतानि' (गी० १५।१६) इस गीतासिद्धान्त के अनुसार शब्द-अर्थ, दोनों ही क्षरप्रधान बनते हुए वर्णात्मक हैं। और इसी दृष्टि से विश्व एक "वर्णात्मक" वस्तुतत्त्व ही माना जायगा। जब तक विश्व में वर्णकृता (क्षरकृता, एवं व्यञ्जनकृता) वर्णव्यवस्था व्यवस्थित है, तभीतक शब्दार्थ-समष्टिरूप विश्व की स्वरूपरक्षा है। जो वर्ण जिस गुण-कर्म्म के द्वारा जिस स्थान पर प्रतिष्ठित है, उस स्थान-गुण-कर्म्म से युक्त रहता ही वह वर्ण अपने स्वरूप-विकास का कारण बना हुआ है। जिनके वर्ण-स्थान भ्रष्ट हो जाते हैं, अपनी स्थान-करण-प्रयत्नादि व्यवस्थाओं को छोड़ देते हैं, उनका वाग्ब्रह्म अपना वास्तविक स्वरूप खो बैठता है। इसी प्रकार अर्थब्रह्मविवर्त्त से सम्बन्ध रखनेवाले वर्ण भी स्व-स्व-वर्णधर्म्मों का परित्याग करते हुए अपना स्वरूप खो बैठते हैं। वर्णतत्त्व ही पदार्थ का संग्राहक है, इसी ने पदार्थस्वरूप का रक्षादुर्ग की भांति संवरण कर रक्खा है। संवरणभाव एक प्रकार की सीमा है, छन्द है। यह छन्दोरूप वर्ण ही तत्तद्वर्णों का स्वरूपरक्षक माना गया है। छन्दोवर्णात्मिका अपनी अपनी सीमा में प्रतिष्ठित रहता हुआ वर्णी स्वस्वरूप से सुरक्षित, तथा प्रतिष्ठित रहता है। जिस पदार्थ ने

अपना संवरणलक्षण यह वर्णधर्म्म खो दिया, समझ लीजिए, उसका अस्तित्व ही संसार से उठ गया। क्योंकि—**'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गी० १८।४५) की मूलप्रतिष्ठा—**'स्वे स्वे वर्णेऽभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** यही सिद्धान्त बनता है।

शब्दात्मिका वर्णनिरुक्ति को थोड़ी देर के लिए यहीं विश्राम देकर अर्थात्मक वर्णभाव का विचार कीजिए। पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने क्षरपुरुष को ही वर्ण की मूलप्रतिष्ठा बतलाया था, एवं साथ ही उसे वाङ्मय कहा था। अन्त में यह भी स्पष्ट किया गया था कि, अव्ययपुरुष ही परम्परया क्षरमूला इस वर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। अव्ययपुरुष सदसल्लक्षण बनता हुआ ब्रह्म-कर्म्ममय (ज्ञान-क्रियामय) है, जैसा कि, 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। आनन्द-विज्ञान-मनोमय (अन्तर्म्मनोमय) अव्यय 'ब्रह्माव्यय' है, एवं मनः-(बहिर्मनः) प्राण-वाङ्मय वही अव्यय 'कर्म्माव्यय' है। ब्रह्मात्मक वही अव्यय मुमुक्षावृत्ति से 'मुक्तिसाक्षी' बना हुआ है, एवं कर्म्मात्मक वही अव्यय सिसृक्षावृत्ति से 'सृष्टिसाक्षी' बना हुआ है। ब्रह्ममय अव्ययमन ज्ञानघन है। इस ज्ञान का स्रोत कर्म्माव्ययभागस्थ मन में प्रवाहित होता है। इस ज्ञानधर्म्म के समावेश से ज्ञानमय बने हुए सृष्टिसाक्षी कर्म्ममय अव्यय मन में सृष्टि-कामना उदित होती है। कामना से प्राण में क्षोभ का सञ्चार होता है, जोकि विक्षेपात्मक प्राणक्षोभ 'तपःकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। इस तपःकर्म्म से तीसरा वाक्तत्त्व क्षुब्ध हो पड़ता है, जोकि वाक्-क्षोभ 'श्रमकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। काम-तपः-श्रम के समन्वय से सृष्टिधारा चल पड़ती है। इन तीनों व्यापारों में क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षरपुरुष निमित्त बनते हैं। काम का विकास मनःप्रधान स्वयं अव्यय से, तप का सञ्चालन प्राणप्रधान अक्षर से, एवं श्रमव्यापार वाक्प्रधान क्षर से होता है। कारण इसका यही है कि, कर्म्माव्यय का ज्ञानमय मनोभाग स्वयं कर्म्माव्यय की प्रतिष्ठा बनता है, क्रियामय प्राणभाग अक्षर की प्रतिष्ठा बनता है, एवं अर्थमय वाग्भाग क्षर की प्रतिष्ठा बनता है। स्फोट स्थानीय, मनोमय, कामसमुद्र, अव्यय सृष्टि का आलम्बन कारण है, स्वरस्थानीय, प्राणमय, तपोमूर्त्ति, अक्षर सृष्टि का निमित्त कारण है, एवं वर्णस्थानीय, वाङ्मय, श्रमप्रवर्त्तक, क्षर सृष्टि का उपादान कारण है। उपादान कारण की सत्ता से कार्यसत्ता का उदय होता है, अतएव उपादानकारण, और तदुत्पन्नकार्य्य, दोनों अभिन्नसत्तात्मक माने गए हैं। इसी दृष्टि से वाङ्मय क्षररूप उपादान कारण से उत्पन्न होनेवाले इस कार्य्यरूप विश्व को भी हम वाङ्मय, किंवा क्षररूप ही कहने के लिए तय्यार हैं।

सृष्टिसाक्षी मनः-प्राण-वाङ्मय कर्म्मात्मा अपने मनोरूप की अपेक्षा से भारूप है, सत्य-संकल्प है। प्राणरूप की अपेक्षा से वही सर्वकर्म्मा है, एवं वाक्भाग की अपेक्षा से आकाशात्मा है। आकाश ही 'वाक्' कहलाता है। वाक् इन्द्रतत्त्व है, एवं इन्द्रतत्त्व ही विकास लक्षण आकाश है, जैसा कि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है। कर्म्मात्मा के इसी त्रिकल स्वरूप को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

'मनोमयः, प्राणशरीरो, भारूपः, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्म्मा, सर्वकामः'।
—छान्दोग्यउप० ३।१४।२।

अर्थप्रपञ्च रूप-प्रधान है, एवं शब्दप्रपञ्च नाम-प्रधान है। दोनों की मूलप्रतिष्ठा वाग्रूप आकाश ही माना गया है, जैसा कि—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० उ० ८।१४।१) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। 'आकाश एव सर्वेषां भूतानामेकायतनम्' (बृ० आ० ३।६।१०) इत्यादि श्रुति के अनुसार आकाशात्मिका वाक् ही सम्पूर्ण भूतों का महाआलम्बन है। यही आलम्बनरूपा वाक् विश्वरूप में परिणत होती हुई अर्थब्रह्म-लक्षण 'महापुरुष' का, एवं शब्द ब्रह्मलक्षण 'छन्द:पुरुष' का आयतन (शरीर) है।

भूतजननी, किंवा विश्वजननी वाग्देवी मनः-प्राण से नित्य युक्त बतलाई गई है। मन पर प्रतिष्ठित प्राण 'हित' कहलाया है, एवं प्राण पर प्रतिष्ठित वाक् 'उपहिता' कहलाई है—(देखिए, शत० ६।१।२।१५)। हितप्राण अपनी मूलभूता क्षर नाम की बहिरङ्गप्रकृति के अन्न-अन्नाद-भावों से युक्त होता हुआ 'सौम्य-आग्नेय' भेद से दो भागों मे विभक्त हो जाता है। इस हित-प्राण के द्वैविध्य से इस पर उपहिता वाक् के भी सौम्य-आग्नेय, दो भेद हो जाते हैं। साथ ही में दोनों के पारस्परिक गर्भभाव से दो विभिन्नरूप हो जाते हैं। आग्नेयीवाक्गर्भिता 'सौम्यावाक्' 'सरस्वती' नाम से, एवं सौम्यावाक्गर्भिता 'आग्नेयीवाक्' 'आम्भृणी' नाम से व्यवहृत हुई है। सरस्वतीवाक् से शब्दब्रह्म का, एवं आम्भृणीवाक् से परब्रह्मलक्षण अर्थब्रह्म का विकास हुआ है, यह पूर्व की 'वर्णनिरुक्ति' मे कहा ही जा चुका है।

आग्नेयी वाक् 'अमृताकाश' है, यही 'इन्द्र' है, एवं इसीसे 'देवसृष्टि' हुई है। सौम्यावाक् 'मर्त्याकाश' है, यही 'इन्द्रपत्नी' है, एवं इसी से 'भूतसृष्टि' हुई है। आत्मप्रजापति अपनी वाक्-द्वयी से देव-भूत भिन्ना इसी प्रजाद्वयी से प्रजापति बन रहे हैं। यद्यपि-देवसृष्टि की प्रवृत्ति अमृतावाक्-लक्षण इन्द्र से ही हुई है, परन्तु भौतिक-मर्त्य-जगत् में इस देवसृष्टि की प्रतिष्ठा

मर्त्यावाक् लक्षण इन्द्रपत्नी ही बनती है। न केवल देवसृष्टि की ही, अपितु भूतसृष्टि के गर्भ में रहने वाली गन्धर्व-पशु-मनुष्यादि जितनी भी सृष्टियाँ हैं, सब की प्रतिष्ठाभूमि यही इन्द्रपत्नी है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

> वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो, मनुष्याः ।
> वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
>
> —तै० ब्रा० २।८।८।

निष्कर्ष यही हुआ कि, सृष्टिसञ्चालिका वाक् अग्नि-सोम, दोनों धर्म्मों से नित्य युक्त है। अग्नितत्त्व 'ऊष्माप्रधान' है, सोमतत्त्व 'स्पर्शप्रधान' है। विकास ऊष्मा से सम्बन्ध रखता है, यही तेज का स्वाभाविक धर्म्म है, एवं यही अग्नि की प्रतिष्ठा है। संकोच स्पर्श से सम्बन्ध रखता है, यही 'स्नेह' का स्वाभाविक धर्म्म है, एवं यही सोम की प्रतिष्ठा है। वागूदेवी के स्पर्श-ऊष्मालक्षण (संकोच-विकास लक्षण) सौम्य-आग्नेय धर्म्मों के सम्बन्ध तारतम्य से एक ही अकार से वैदिक-'पथ्यास्वस्ति' (वर्णमात्रिका) से सम्बन्ध रखने वाले २८८ वर्ण विकसित हुए हैं, जैसा कि महीदास कहते हैं—

> 'अकारो वै सर्वा वाक्—
> सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' ।
>
> —ऐतरेय आरण्यक २।३।६।

यही स्पर्श-ऊष्माभाव अर्थसृष्टि का विभाजक बना हुआ है। मर्त्यावाक्-रूप मर्त्याकाश बल-ग्रन्थियों से सर्वप्रथम 'वायु' रूप में (अविकृतपरिणामवाद को लक्ष्य में रखता हुआ) परिणत होता है। वायु से 'तेज' (अग्नि), तेज से जल, जल से 'पृथिवी' (मिट्टी) उत्पन्न होती है। आकाश की स्थूलावस्था 'वाक्' है। वाक् की स्थूलावस्था अग्नि है, अग्नि की स्थूलावस्था जल है, एवं जल की स्थूलावस्था मिट्टी है। सर्वारम्भ में स्थूलतम मिट्टी, इससे ऊपर जल, जल से ऊपर तेज, तेज से ऊपर वायु, वायु से ऊपर आकाश (वाक्) है। आकाशात्मिका वाक् की अपेक्षा 'हित' नामक प्राणतत्त्व सूक्ष्म है, प्राणापेक्षया मन सूक्ष्म है। मन की स्थूलावस्था प्राण है, प्राण की स्थूलावस्था वाक् है, वाक् की स्थूलावस्था पञ्चमहाभूत-वर्ग है। सुसूक्ष्म मन, एवं सूक्ष्म प्राण, दोनों की समष्टि मूलकारणलक्षण अविकृत आत्मा है, स्थूलवाक्

प्रपञ्च इस कारण आत्मा का कार्य्य है। निष्कर्ष यही हुआ कि, आत्मा से (मनोमय सौम्य प्राण से) सर्व प्रथम 'वाक्' का विकास होता है, एवं वाक् से बलग्रन्थियों के तारतम्य से भूतवर्ग विकसित होता है। इसी क्रमिक सृष्टिधारा का दिग्दर्शन कराते हुए श्रुति कहते हैं—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः

आकाशाद्वायुः

वायोरग्निः

अग्नेरापः

अद्भ्यः पृथिवी'

—तै० उपनिषत् २।१।

मन ज्ञानशक्तियुत है, प्राण क्रियाशक्तियुत है, पञ्चभूतात्मिका वाक् अर्थशक्तियुत है तीनों की समष्टि ही विश्व है, एवं तीनों की समष्टि ही विश्वगर्भ में रहनेवाली प्रजा है। प्रजा का स्वरूप चूंकि इन्हीं तीनों विवर्त्तों से सम्पन्न हुआ है, अतएव प्रजावर्ग को अपनी स्वरूप-रक्षा के लिए इन तीनों की सतत अपेक्षा बनी रहती है, जैसा कि 'यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता' (बृ० आ० १।५।१) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। प्रत्येक मनुष्य निरन्तर कुछ न कुछ जानने की चेष्टा किया करता है, एवं यथाशक्ति चेष्टानुसार कुछ न कुछ जाना करता है। यही पहिला मानस-'ज्ञानान्न' है। निरन्तर कुछ न कुछ करते रहना भी प्रजा जीवन का स्वाभाविक हेतु बना हुआ है, यही दूसरा प्राणरूप-'क्रियान्न' है। तीसरा वागूरूप अर्थान्न पाच भूतों के कारण पाच भागों मे विभक्त है। शब्द 'आकाशान्न' है, श्वास-प्रश्वास 'वाय्वन्न' है, प्रकाश 'तेजोऽन्न' है, 'जलान्न' एवं मृण्मय गोधूमादिलक्षण 'ओषधि-वनस्पत्यन्न' प्रसिद्ध ही हैं। इन सात प्राकृतिक अन्नों मे से ज्ञान-क्रिया-शब्द-श्वासप्रश्वास-तेज, ये पांच अन्न तो प्रजापति की ओर से मिलते रहते हैं, एवं शेष दो (पानी-मिट्टी) के लिए प्रजा को अपनी ओर से भी थोड़ा प्रयास करना पड़ता है। इस सम्पूर्ण वाक्-प्रपञ्च से बतलाना हमे केवल यही है कि, विश्वविवर्त्त-अव्ययपुरुष के मनःप्राण वाङ्मय कर्म्मभाव का ही विकास है।

विद्या-कर्म्ममय अव्ययात्मा का मनःप्राण-वाङ्मय यह कर्म्मरूप ही अपनी शुद्धावस्था में 'सत्ता' नाम से प्रसिद्ध है। 'सत्ता' में तीनों कलाओं का समावेश है, किंवा तीनों के समन्वितरूप का ही नाम सत्ता है। 'मनः-प्राण-वाचां सङ्घातः सत्ता' ही सत्ताभाव का निर्वचन है। सत्ता से परे तदभिन्न चित् है, यही विज्ञान है। एवं सर्वान्तरतम आनन्द है। आनन्द 'आनन्द' है, विज्ञान 'चित्' है, मनः-प्राणवाक्-भावों की समष्टिरूपा सत्ता 'सत' है, सब का समुच्चय 'सच्चिदानन्दब्रह्म' है। इन तीनों रूपों में (सत्-चित्-आनन्द-रूपों में) ब्रह्म का सत्यलक्षण 'सत्ता' रूप ही विश्वप्रजा का प्रधान उपास्य बनता है। सत्तोपासना से चित् की प्राप्ति होती है, चित्-विकास से आनन्द विकसित हो पड़ता है। अतएव 'आनन्द-चित्-सत्' इस प्राकृतिक क्रम को बदल कर उपासना-क्रम की दृष्टि से ब्रह्म का 'सत्-चित्-आनन्द' यह क्रम रक्खा गया है। सत्ता-ग्रहण से तीनों गृहीत हैं। सर्वानुभूत 'अस्ति' तत्त्व ही ब्रह्म के साक्षात् दर्शन हैं। इसी सत्तोपलब्धि का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

१—नैव वाचा, न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
'अस्तीति' ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥

—कठोपनिषत् ६।१२

२—असन्नेव स भवति, 'असद् ब्रह्मे' ति वेद चेत्।
'अस्ति ब्रह्मे' ति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥

३—अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥

—कठोपनिषत् ६।१३

सत्ताब्रह्म के 'मनः-प्राण-वाक्' ये तीन रूप कहने भर के लिए तीन रूप हैं। वस्तुतः तीनों तीन न होकर 'एकतत्त्व' है। भाति तीन हैं, परन्तु सत्तारस एक है। वह एक ही सत्तारस चलचिति के तारतम्य से इन तीन भातियों में परिणत दिखलाई पड़ रहा है। इसी प्रकार 'आनन्द-चित्-सत्' भी परमार्थकोटि में एक ही तत्त्व है। जो 'है', वही तो जाना जाता है, उपलब्धि ही तो ज्ञान है, ज्ञान ही तो चित् है, 'घटोऽस्ति' यह सत्तोपलब्धि ही तो ज्ञान, किंवा

चित् है, सत्ता का ही तो ज्ञान होता है, ज्ञान ही तो एक प्रकार की तृप्ति है, तृप्ति ही तो रस है, और रस ही तो आनन्द है। फलतः तीनों का एकतत्त्वभाव भलीभांति सिद्ध हो जाता है।

सृष्टिप्रपञ्च से पहिले ब्रह्म सर्वथा एकाकी था। वह अपने इस एकाकी रूप से वैभवशाली न बन सका। इसी वैभव की कामना से उसे अपने ब्रह्मरूप को 'ब्रह्म-कर्म्म' भेद से दो भागों में परिणत करना पड़ा। आनन्द-विज्ञान-मनोरूप से वह ब्रह्म 'ब्रह्ममूर्त्ति' बन गया, एवं 'मनः-प्राण-वाग्' रूप से वह ब्रह्म 'कर्म्ममूर्त्ति' बन गया। परन्तु अभी वैभवप्राप्ति न हो सकी। क्योंकि विना ब्रह्म-कर्म्म (ज्ञान-क्रिया) की संसृष्टि के सृष्टि-वैभव सम्भव नहीं है। फलतः ब्रह्म ने अपने ब्रह्मभाग को आधार बना कर कर्म्मभाग से सृष्टिवितान की कामना प्रकट कर डाली। इस इच्छापूर्ति के लिए उसे ब्रह्माधार पर (आनन्द-विज्ञान अन्तर्म्मनोमय ब्रह्म भाग पर) प्रतिष्ठित अपने कर्म्मभाग को ज्ञान (मन), क्रिया (प्राण), अर्थ (वाक्) इन तीन भागों में विभक्त करना पड़ा। जब ज्ञान-क्रिया-अर्थभावों से भी कामना-पूर्ति न हुई, तो एक चौथा 'मृतभाव' उत्पन्न किया। इन चारों से भी काम न चला, तो सर्वान्त में 'धर्म्म' तत्त्व का आविर्भाव हुआ। ज्ञानमय मन, किंवा मनोमय ज्ञानभाव 'दिव्यभाव' कहलाया। क्रियामय प्राण, किंवा प्राणमय क्रियाभाव 'वीरभाव' कहलाया। अर्थमयी वाक्, किंवा वाङ्मय अर्थभाव 'पशुभाव' कहलाया। अर्थोच्छिष्ट भाग 'मृतभाव' कहलाया। ये ही चारों भाव क्रमशः—'ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र' भावों के प्रवर्त्तक बने, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

ज्ञानशक्ति 'दिव्यभाव' है, यही 'ब्रह्मवीर्य्य' है, एवं इसी से प्राकृतिक 'ब्राह्मणवर्ण' का विकास हुआ है। क्रियाशक्ति 'वीरभाव' है, यही 'क्षत्रवीर्य्य' है, एवं इसी से प्राकृतिक 'क्षत्रियवर्ण' का विकास हुआ है। अर्थशक्ति 'पशुभाव' है, यही 'विड्वीर्य्य' है, एवं इसी से प्राकृतिक 'वैश्य-वर्ण' का विकास हुआ है। उच्छिष्ट भाग 'मृतभाव' है, यही 'शूद्रवीर्य्य' है, एवं इसी से प्राकृतिक 'शूद्रवर्ण' का विकास हुआ है। इन चारों प्राकृतिक वर्णों की स्वरूप-रक्षा उसी पांचवें धर्म्मतत्व से हो रही है, जिसे कि वैभव-कामुक प्रजापति ने सर्वान्त में उत्पन्न किया था।

पूर्व की 'वर्णनिरुक्ति' में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, परब्रह्म का क्षर विवर्त्त अपने सृष्टरूप के कारण संवरण करता हुआ, एवं प्रेरक बनता हुआ 'वर्ण' कहलाया है। चूंकि उक्त वर्णसृष्टि इसी (मन.प्राणगर्भित) वाङ्मय क्षर-वर्ण से हुई है, अतएव इस चातुर्वर्ण्य को हम 'वर्णकृता-वर्णसृष्टि' (क्षरकृता वर्णसृष्टि) कह सकते हैं। वर्ण (क्षर) से उत्पन्न होने वाली

वर्णसृष्टि ने ही प्रजावर्ग के स्वरूपों का संवरण कर रक्खा है। जो धर्म्म क्षरात्मक 'वर्ण' में था, वही (संवरण) धर्म्म इस वर्णसृष्टि का है। अतएव इस व्यवस्था को भी 'वर्णव्यवस्था' कहना अन्वर्थ बन जाता है। इसी वर्णकृता-वर्णसृष्टि का स्पष्टीकरण करते हुए योगी-'याज्ञवल्क्य' कहते हैं—

१—'ब्रह्म वाऽइदमग्र आसीत्-एकमेव। तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं—यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि—इन्द्रो, वरुणः, सोमो, रुद्रः, पर्जन्यो, यमो, मृत्यु, रीशान—इति। तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति। तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये। क्षत्रऽएव तद्यशो दधाति। सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एनं हिनस्ति, स्वां स योनिमृच्छति। स पापीयान् भवति, यथा श्रेयांसं हिंसित्वा।'

२—'स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत—यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते—वसवो, रुद्रा, आदित्या, विश्वेदेवा, मरुत, इति'।

३—'स नैव व्यवभवत्। स शौद्रं वर्णमसृजत—पूषणम्। इयं वै पूषा। इयं हीदं सर्वं पुष्यति, यदिदं किञ्च'।

४—'स नैव व्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमसृजत-धर्म्मम्। तदेतत्-क्षत्रस्य क्षत्रं-यद्धर्म्मः। तस्मात् धर्म्मात् परं नास्ति। अथोऽअबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्म्मेण, यथा राज्ञा-एवम्। यो वै-स धर्म्मः, सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः—'धर्म्मं वदति' इति। धर्म्मं वा वदन्तं-'सत्यं वदति' इति। एतद्ध्येवैतदुभयं भवति'।

५—'तदेतत्-ब्रह्म, क्षत्रं, विट्, शूद्रः। तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवत्, ब्राह्मणो मनुष्येषु। क्षत्रियेण क्षत्रियो, वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः। तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते, ब्राह्मणे मनुष्येषु। एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माऽभवत्'।

६—'अथ यो ह वाऽअस्माल्लोकात् स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति, स एनमविदितो न भुनक्ति। यथा वेदो वाननूक्तोऽन्यद्वा कर्म्माकृतं, यदि ह वाऽअप्यनेवंविन्महत् पुण्यं कर्म्म करोति, तद्धास्यान्ततः क्षीयतऽएव। आत्मानमेव लोकमुपासीत। स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते, न हास्य कर्म्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत् कामयते, तत्तत् सृजते' + + + + + + 'तद्वाऽएतद्विदितं मीमांसितम्'।

—शतपथ ब्रा० १४ कां० ४ अ० २ ब्रा०

—बृ० आ० उप० १।४।११

(१)—"यह (प्रत्यक्षदृष्ट वर्णप्रपञ्च, किंवा चातुर्वर्ण्य) पहिले (सृष्टि से पूर्वावस्था में) एक 'ब्रह्म' रूप ही था। अर्थात् आज जो हम विश्व में ब्राह्मण-क्षत्रियादि भेद भिन्न ब्रह्म के नानारूप देख रहे हैं, सृष्टि से पहिले ब्रह्म के ये नाना रूप न थे, अपितु उस समय स्वयं ब्रह्म ही, एकाकी ही था। वह एकाकी रहता हुआ (स्वसृष्टिकर्म्म के लिए) समर्थ न हो सका। (इस कमी को दूर करने के लिए उस ब्रह्म ने) अपने से भी अधिकश्रेष्ठ 'क्षत्र' रूप उत्पन्न किया, जो कि क्षत्रदेवता (आज लोक-वेद में) इन्द्र-वरुण-सोम-रुद्र-पर्ज्जन्य-यम-मृत्यु-ईशान, नामों से प्रसिद्ध हैं। चूंकि ब्रह्म का यह अष्टविध 'क्षत्ररूप' स्वयं ब्रह्म से भी उत्कृष्ट था, (श्रेष्ठ था) अतएव (लोक में) क्षत्र से बढ़ कर दूसरा कोई उत्कृष्ट रूप नहीं है। इसी (वैशिष्ट्य के) कारण (राजसूययज्ञ में सिंहासनासीन) क्षत्रिय (राजा) की (सिंहासन से नीचे खड़ा हुआ) ब्राह्मण (आशीर्वचन रूप) उपासना किया करता है। (ऐसा करता हुआ) ब्राह्मण (मूर्द्धाभिषिक्त इस) क्षत्रिय राजा में यशोरूप 'वीर्य्य' का ही आधान करता है। यह ब्रह्म (ब्राह्मण) क्षत्र (क्षत्रिय) की योनि (उत्पत्ति स्थान, निर्गमनद्वार) है। यही कारण है कि, क्षत्रियराजा (अपने क्षत्र-वीर्य्य के अतिशय से, एवं ब्राह्मण प्रदत्त वीर्य्य के प्रभाव से) भले ही

वन सकता। मान लीजिए, एक ब्राह्मण ने अर्थलालसा में पड़ कर वेदस्वाध्याय का तो परित्याग कर दिया, एवं अपने वर्णधर्म्म से सर्वथा विपरीत वाणिज्यधर्म्म का अनुगमन किया, तो ऐसा व्यक्ति विपरीतपथ का अनुगामी वनता हुआ आत्मस्वरूप से वञ्चित रह जायगा। एवं ऐसे उत्पथ-गामी को अवश्य ही-'अनेवंवित्' (जैसा समझना चाहिए, जैसा कहना चाहिए, ठीक उस से उलटा समझने, तथा करनेवाला) कहा जायगा। शास्त्रसिद्ध-कर्म्म-शून्य ऐसा व्यक्ति यदि अपने वर्णधर्म्म के विपरीत (लोकदृष्टि की अपेक्षा से समाज सुधार, देशसेवा, दान, दया, इत्यादि) महापुण्य कर्म्मों का भी अनुगमन करता रहता है, तव भी अन्ततः उनका परिणाम (वर्णधर्म्म विरोध भाव के सम्मिश्रण से) बुरा ही होता है। इस लिए (हम—श्रुति-आदेश करते हैं कि, यदि तुम आत्मा का अभ्युदय चाहते हो, संसार में शान्ति वनाए रखना चाहते हो तो) आत्मलोक (वर्णधर्म्मानुकूल स्वकर्म्म) की ही उपासना करो। जो व्यक्ति (अनन्यनिष्ठा से अपने इस सर्वथा नियत, जन्मसिद्ध) आत्मलोक की ही उपासना करता है, उसका कर्म्म कभी निन्दनीय नहीं वन सकता। वह अपने इस आत्म-सम्मत (शास्त्रसम्मत) कर्म्म के वल पर अपनी सारी आवश्यकताएं पूरी कर लेता है" ++++++। "मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है? इस प्रश्न की वहुत सोची समझी हुई, (अतएव सर्वथा प्रामाणिक) यही संक्षिप्त मीमांसा है"।

इस प्रकार 'याज्ञवल्क्य' ने स्पष्ट शब्दों में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि, वर्णसृष्टि के प्राकृतिक, एवं वैकृतिक भेद से दो संस्थान हैं। प्राकृतिक सृष्टि में भी (देवसृष्टि में भी) 'चातुर्वर्ण्य' है, एवं-'देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरंस्थाण्वनुपूर्वशः' (मनु० ३।२०१।) इस मानव सिद्धान्त के अनुसार वर्णधर्म्मानुगामी प्राकृतिक प्राणदेवताओं से समुत्पन्न वैकृतिक प्रजावर्ग में भी 'चातुर्वर्ण्य' व्यवस्थित है। एवं इस चातुर्वर्ण्य का नियामक सत्यात्मक 'धर्म्म' सूत्र है। इसके साथ ही पूर्वश्रुति से यह भी प्रमाणित हो रहा है कि, वर्णविभागमूला इस वर्ण-सृष्टि का, तथा वर्णों को स्व-स्व कर्म्म में नियन्त्रित रखनेवाले सत्यात्मक धर्म्मसूत्र का, आनन्दविज्ञानगर्भित-मनः-प्राणमय-वाङ्मूर्त्ति 'ब्रह्म' के साथ ही सम्वन्ध है। न मनुष्य वर्ण-सृष्टि का कारण है, न वर्णानुगत धर्म्मसृष्टि का ही मानवीय कल्पना से कोई सम्वन्ध है। और यही भारतीय वर्णव्यवस्था, तथा वर्णधर्म्म की प्राकृतता, नित्यता, शाश्वतता में मुख्य हेतु है, जिस हेतु का कि श्रुति-स्मृति शास्त्र उपवृंहण कर रहे हैं। श्रुति ने वर्णसृष्टि का जो तात्त्विक स्वरूप वतलाया है, उसका केवल अक्षरार्थ जान लेने से समन्वय नहीं हो सकता। अतः संक्षेप से उसके तात्त्विक अर्थ का दिग्दर्शन करा देना भी अप्रासङ्गिक न होगा।

एक ऐसे सबल मनुष्य की भी भर्त्सना कर डालता है, जोकि सबल मनुष्य अधर्मपथ का अनुगमन करता है। अर्थात् धर्म्मसूत्र को आगे कर एक छोटी श्रेणी का मनुष्य बड़ी श्रेणी के मनुष्य का भी तिरस्कार कर देता है। जो यह धर्म्म है, वह 'सत्य' ही है। सत्य का ही नाम धर्म्म है। (इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जो मनुष्य सत्य-सत्य बात कहता है उस) सत्य कहनेवाले के लिए (लोक में)—'यह धर्म्म की बात कह रहा है' यह कहा जाता है। एवं धर्म्मपूर्वक निर्णय करनेवाले के लिए—'यह सच सच कह रहा है' यह कहा जाता है। वास्तव में सत्य ही धर्म्म है, धर्म्म ही सत्य है। दोनों दोनों हैं, एकरूप हैं।"

(५)—"(ब्रह्मद्वारा प्रादुर्भूत उक्त देवता ही क्रमशः प्राकृतिक, नित्य) 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र' नामक चार वर्ण हैं। (जिस ब्रह्म ने इतर तीन वर्णों का विकास किया, वह स्वयं देववर्ण-समुदाय में (प्राकृतिक देव-वर्णों में) 'अग्नि' रूप से ब्राह्मण बना, एवं मनुष्यवर्ग में (अपने इसी अग्निरूप से) ब्राह्मण बना। अर्थात् प्रकृति में अग्निजातीय प्राणदेवता 'ब्राह्मण' कहलाते हैं, एवं विकृतिरूप मनुष्यसम्प्रदाय में वे मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं, जिन मनुष्यों के उपादान द्रव्यरूप शुक्र-शोणित में जन्मकाल से ही अग्निब्रह्म की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार क्षत्र-इन्द्रादि देवताओं के प्रवेश से वह ब्रह्म मनुष्यों में 'क्षत्रिय' बना, विट्देवताओं के प्राधान्य से मनुष्यों में वह ब्रह्म 'वैश्य' बना, एवं 'पूषा' नामक शूद्रदेवता के समावेश से मनुष्यों में वह ब्रह्म 'शूद्र' बना। इस तरह प्रकृति के चार वर्ण ही मनुष्यों के जन्मकाल से ही मनुष्यों के शुक्र में क्रमशः प्रतिष्ठित होते हुए मनुष्य-सम्बन्धी 'चातुर्वर्ण्य' के कारण बने। चूंकि अग्नि ही देवसम्प्रदाय में 'ब्रह्म' है, एवं अग्नि-वीर्य्यप्रधान मनुष्य ही मनुष्य सम्प्रदाय में ब्राह्मण है, अतएव देवलोक (स्वर्गलोक) के इच्छुक मनुष्य देवताओं में से (देवलोकाधिष्ठाता) अग्निदेवता में ही अपनी भक्ति प्रकट करते हैं, एवं मनुष्यों में से (अग्निसम, अतएव देवलोक प्राप्ति का उपाय बतलानेवाले) ब्राह्मणवर्ण के मनुष्यों में ही आत्मसमर्पण करते देखे गए हैं। कारण यही है कि, देवताओं में अग्निरूप से, मनुष्यों में ब्राह्मणरूप से ही साक्षात् 'ब्रह्म' प्रतिष्ठित है—(जो कि उभयरूप ब्रह्म देवलोक का एकमात्र अधिष्ठाता है)"।

(६)—ऐसी दशा में (प्राकृतिक-वर्णव्यवस्थामूलक, उक्त वर्णधर्म्म की उपेक्षा करता हुआ) जो मन्दबुद्धि (अपने बुद्धिवाद के अभिमान में आकर) अपने 'आत्मलोक' (वर्णानुकूल आत्मधर्म्म, तथा आत्मकर्म्म) को बिना पहिचाने (वर्णानुगत स्वधर्म्म का अनुष्ठान किए बिना, साथ ही वर्णधर्म्म से विपरीत अशास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ) परलोक गमन करता है, वह वर्णधर्म्म के अविज्ञान से, एवं अनुष्ठान से पारलौकिक सुख का भोक्ता नहीं

बन सकता। मान लीजिए, एक ब्राह्मण ने अर्थलालसा में पड कर वेदस्वाध्याय का तो परित्याग कर दिया, एवं अपने वर्णधर्म्म से सर्वथा विपरीत वाणिज्यधर्म्म का अनुगमन किया, तो ऐसा व्यक्ति विपरीतपथ का अनुगामी बनता हुआ आत्मस्वरूप से वञ्चित रह जायगा। एवं ऐसे उत्पथ-गामी को अवश्य ही-'अनेवंवित्' (जैसा समझना चाहिए, जैसा कहना चाहिए, ठीक उस से उलटा समझने, तथा करनेवाला) कहा जायगा। शास्त्रसिद्ध-कर्म्म-शून्य ऐसा व्यक्ति यदि अपने वर्णधर्म्म के विपरीत (लोकदृष्टि की अपेक्षा से समाज सुधार, देशसेवा, दान, दया, इत्यादि) महापुण्य कर्म्मों का भी अनुगमन करता रहता है, तब भी अन्ततः उनका परिणाम (वर्णधर्म्म विरोध भाव के सम्मिश्रण से) बुरा ही होता है। इस लिए (हम—श्रुति-आदेश करते हैं कि, यदि तुम आत्मा का अभ्युदय चाहते हो, संसार में शान्ति बनाए रखना चाहते हो तो) आत्मलोक (वर्णधर्म्मानुकूल स्वकर्म्म) की ही उपासना करो। जो व्यक्ति (अनन्यनिष्ठा से अपने इस सर्वथा नियत, जन्मसिद्ध) आत्मलोक की ही उपासना करता है, उसका कर्म्म कभी निन्दनीय नहीं बन सकता। वह अपने इस आत्म-सम्मत (शास्त्रसम्मत) कर्म्म के बल पर अपनी सारी आवश्यकताएं पूरी कर लेता है" ++++++। "मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है? इस प्रश्न की बहुत सोची समझी हुई, (अतएव सर्वथा प्रामाणिक) यही संक्षिप्त मीमांसा है"।

इस प्रकार 'याज्ञवल्क्य' ने स्पष्ट शब्दों में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि, वर्णसृष्टि के प्राकृतिक, एवं वैकृतिक भेद से दो संस्थान हैं। प्राकृतिक सृष्टि मे भी (देवसृष्टि में भी) 'चातुर्वर्ण्य' है, एवं-'देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरंस्थाण्वनुपूर्वशः' (मनु० ३।२०१।) इस मानव सिद्धान्त के अनुसार वर्णधर्म्मानुगामी प्राकृतिक प्राणदेवताओं से समुत्पन्न वैकृतिक प्रजावर्ग में भी 'चातुर्वर्ण्य' व्यवस्थित है। एवं इस चातुर्वर्ण्य का नियामक सत्यात्मक 'धर्म्म' सूत्र है। इसके साथ ही पूर्वश्रुति से यह भी प्रमाणित हो रहा है कि, वर्णविभागमूला इस वर्ण-सृष्टि का, तथा वर्णों को स्व-स्व कर्म्म में नियन्त्रित रखनेवाले सत्यात्मक धर्म्मसूत्र का, आनन्दविज्ञानगर्भित-मनः-प्राणमय-वाङ्मूर्त्ति 'ब्रह्म' के साथ ही सम्बन्ध है। न मनुष्य वर्ण-सृष्टि का कारण है, न वर्णानुगत धर्म्मसृष्टि का ही मानवीय कल्पना से कोई सम्बन्ध है। और यही भारतीय वर्णव्यवस्था, तथा वर्णधर्म्म की प्राकृतता, नित्यता, शाश्वतता में मुख्य हेतु है, जिस हेतु का कि श्रुति-स्मृति शास्त्र उपबृंहण कर रहे हैं। श्रुति ने वर्णसृष्टि का जो तात्त्विक स्वरूप बतलाया है, उसका केवल अक्षरार्थ जान लेने से समन्वय नहीं हो सकता। अतः संक्षेप से उसके तात्त्विक अर्थ का दिग्दर्शन करा देना भी अप्रासङ्गिक न होगा।

(१)—"सब से पहिले तो हमें यह विचार करना है कि, पूर्वश्रुति ने (१-श्रुति ने) जिस 'ब्रह्म' तत्त्व को सृष्टिदशा से पहिले एकाकी मानते हुए, दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण नाना प्रपञ्च को केवल 'ब्रह्ममय' मानते हुए उससे इतर तीन वर्णों का विकास बतलाया है, वह 'ब्रह्म' कौन है ? उसका तात्त्विक स्वरूप क्या है ? एवं उससे आरम्भ मे क्षत्र की योनिरूप किस ब्रह्मवर्ण (ब्राह्मणवर्णात्मक देवताओं) का विकास हुआ है ? । उक्त श्रुतिवचनों मे केवल क्षत्र-विट्-शूद्र देवताओं की ही गणना हुई है । ब्राह्मणदेवता अभी तक अश्रुत हैं, अत. एतत् सम्बन्धिनी जिज्ञासा अभी तक सुरक्षित है । ब्रह्मानुगता, ब्राह्मणवर्णसम्बन्धिनी इस देवजिज्ञासा की शान्ति के लिए 'वाग्ब्रह्म' की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

उक्त श्रुति-वचनों के पौर्वापर्य्य का विचार करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि, वर्णसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक 'ब्रह्म' पदार्थ 'वागग्नि' ही है, जो कि वागग्नि 'सत्याग्नि' 'ब्रह्माग्नि' 'सार्वयाजुषअग्नि' इत्यादि विविध नामों से यत्र-तत्र उपवर्णित है। वर्णमूलभूत ब्रह्म सत्यमूर्त्ति 'अग्नि' ही है, इसी रहस्य को संकेतदृष्टि से व्यक्त करने के लिए श्रुति ने 'तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माऽभवत्' यह कहा है। और इस मूलाग्नि की उपनिषत् (मूलप्रतिष्ठा) चूंकि 'वाक्' [१] तत्त्व है, अतएव हम अवश्य ही वाग्ब्रह्म को 'वागग्नि' कह सकते हैं। यह वाक्तत्त्व पाठकों का सुपरिचित वही मनः-प्राण-गर्भित वाङ्मय कर्म्मात्मा,' किंवा कर्म्माव्यय है। मनोमय अव्यय पुरुष ही प्राणमय अक्षर को निमित्त कारण बनाकर, वाङ्मय क्षर ब्रह्म को उपादान कारण बनाता हुआ वर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, यह पूर्व मे स्पष्ट किया ही जा चुका है। चूंकि क्षरतत्त्व कर्म्माव्यय के वाग्-भाग से अनुगृहीत है, अतः हम क्षर को अवश्य ही 'वाङ्मय' कहने के लिए तय्यार हैं। इस वाक् का विकास ही 'अग्निब्रह्म' है, अतएव अग्निब्रह्म को 'वाग्ब्रह्म' कहा जा सकता है। निष्कर्ष यही निकला कि, श्रुत्युक्त ब्रह्मशब्द 'क्षरब्रह्म' का वाचक है।

गीताभूमिका द्वितीय खण्ड मे प्रतिपादित 'आत्मपरीक्षा' मे यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि, बिना किसी विशेषण के प्रयुक्त विशुद्ध 'ब्रह्म' शब्द (कुछ एक अपवादरूप विशेष स्थलों को छोड़ कर) सर्वत्र 'अक्षरपुरुष' का ही वाचक माना गया है। 'ब्रह्मणो हि

---

१ "तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"

—शत० ब्रा० १०।५।१।१ ।

प्रतिष्ठाहम्' (गी० १४।२७) 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गी० ३।१५) इत्यादि गीतावचनों में पठित निरुपाधिक 'ब्रह्म' शब्द इसी परिभाषा के अनुसार क्षरपरक माना गया है। अक्षर से क्षरब्रह्म का ही समुद्भव हुआ है। ऐसी दशा मे बिना किसी विशेषण के विशुद्धरूप से प्रयुक्त प्रकृत श्रुति के ब्रह्मशब्द को भी हम 'क्षरपरक' ही मानेंगे। क्षरब्रह्म ही व्यञ्जनस्थानीया वर्णसृष्टि का प्रभव बनता है। अव्यय, और अक्षरपुरुष तो क्रमशः स्फोट, तथा स्वरस्थानीय बनते हुए वर्णसृष्टि-मर्य्यादा से बहिर्भूत हैं। चूंकि क्षरपुरुष कर्म्माव्यय के वाग्-भाग को लेकर ही वर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, इस दृष्टि से तो अव्यय को वर्णसृष्टि का कर्त्ता कह दिया जाता है। साथ ही अव्यय चूंकि मनप्रधान है, इधर वर्णसृष्टि वाक्प्रधाना बनती हुई क्षर से ही प्रधान सम्बन्ध रखती है, अतएव अव्यय को वर्णसृष्टि का अकर्त्ता कहना भी अन्वर्थ बन जाता है। तात्पर्य्य इस उहापोह से यह निकला कि, प्रकृतश्रुति वर्णसृष्टि का प्रतिपादन कर रही है। वर्णसृष्टि का मूल कारण 'ब्रह्म' को मान रही है। चूंकि वर्णसृष्टि का मूलकारण वर्णधर्म्मावच्छिन्न 'क्षर' ही बन सकता है, अतएव इस श्रुति के ब्रह्म शब्द से हम वाङ्मय 'क्षरपुरुष' का ही ग्रहण करेंगे।

अव्यय अक्षर-क्षरमूर्त्ति षोडशीपुरुष का विचार करते हुए ज्ञानमय अव्यय, तथा क्रियामय अक्षर, दोनों की अपेक्षा से क्षरतत्त्व अर्थमय ही माना जायगा। परन्तु जब भौतिक विश्व को आगे करते हुए क्षरब्रह्म के स्वरूप का विचार किया जायगा, तो उस दशा मे अर्थमय क्षर को हम 'ज्ञानमय' कहने लगेंगे। कारण स्पष्ट है। अव्ययपुरुष का आनन्द-विज्ञान-मनोमय विद्याभाग 'ज्ञानात्मा' है, एव मनः प्राण-वाङ्मय कर्म्मभाग 'कर्म्मात्मा' है। ज्ञानात्मा मे 'रस' की प्रधानता है, कर्म्मात्मा मे बल की प्रधानता है। स्वयं कर्म्मात्मा मे मनोभाग प्राण-वाक् की अपेक्षा से रसप्रधान है, अतएव कर्म्मात्मा के कर्म्मरूप इस मनोमय अव्यय को ज्ञानप्रधान कह दिया जाता है। इसी अपेक्षाभाव की कृपा से प्राणमय अक्षर क्रियाप्रधान, तथा वाङ्मय क्षर अर्थप्रधान बन जाता है। परन्तु पाञ्चभौतिक, सर्वथा बलप्रधान विश्व की अपेक्षा से तन्मूलभूत वाङ्मयक्षरब्रह्म 'ब्रह्म' (ज्ञान) बना हुआ है। और इसी दृष्टि से हम अर्थमूर्त्ति क्षर को ज्ञानप्रधान मान लेते हैं। विश्व में जो ज्ञानधारा प्रवाहित हुई है, उसका निमित्त क्षरब्रह्म ही बना है, अतः विश्वदृष्टि से, विश्व के लिए तो ज्ञानात्मा 'क्षरब्रह्म' ही कहलाएगा।

अब अव्ययाक्षरविवर्तों को छोड़ते हुए केवल ज्ञानमूर्त्ति क्षरब्रह्म को आधार मान कर वर्णसृष्टि का विचार करना है। वागग्निमूर्त्ति क्षरब्रह्म ब्रह्म है, और विश्वसृष्टि से पहिले

ज्ञानलक्षण यह क्षरब्रह्म 'एकाकी' है। यही आगे जाकर अपनी बहुत्त्व-कामना को सफल बनाने के लिए विश्व की योनि बननेवाला है। परन्तु बिना क्रिया, तथा अर्थ-सहयोग के यह 'विश्वयोनि' बनने मे असमर्थ है। विश्ववैभव केवल ज्ञान से ही तो प्राप्त नहीं हो जाता। देखिए न! यदि कोई व्यक्ति पूर्ण ज्ञानी है, साथ ही मे वह यदि समृद्धि की भी इच्छा रखता है, तो केवल ज्ञान ही उसकी यह इच्छा पूरी नहीं कर सकता। अवश्य ही उसे स्व-ज्ञानवैभव के प्रसारार्थ क्रिया, एवं अर्थ का आश्रय लेना पड़ेगा, साथ ही में भूतभाव, और अपने ज्ञानक्रिया-अर्थ-भूतभावों को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए नियति लक्षण धर्म्म का भी अनुगमन करना पड़ेगा। ज्ञानमय ब्रह्म, क्रियामय क्षत्र, अर्थमयविट्, भूतरूप शूद्र, नियतिरूप धर्म्म, इन पाचों कारणों के एकत्र समन्वय से ही वह ज्ञानी पूर्ण समृद्ध बन सकेगा। हम उसी के तो अश हैं, उसी कारण के तो कार्य्य हैं। कार्य्य-धर्मों से ही तो कारणधर्म्मों का अनुमान किया जाता है। जब कार्य्यरूप प्रजावर्ग में उक्त पाँचों साधनों की नित्य अपेक्षा है, तो मानना पड़ेगा कि प्रजावर्ग के मूलकारणरूप ज्ञानमूर्त्ति वह क्षरब्रह्म भी पाच साधनों से युक्त होकर ही वर्णसृष्टिलक्षणा समृद्धि का उपभोक्ता बनता है।

ब्रह्म का क्या स्वरूप? इस प्रश्न के समाधान की चेष्टा की गई। अब ब्राह्मणवर्ण-सम्बन्धिनी जिज्ञासा सामने उपस्थित हुई। ब्रह्म किन किन शक्तियों का सहयोग प्राप्त कर के वर्ण-सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है? इस प्रश्न का समाधान ही प्रस्तुत जिज्ञासा की शान्ति का उपाय है। वागग्निलक्षण ब्रह्म को स्वविकास लक्षण 'ब्राह्मणवर्ण' की स्वरूप-निष्पत्ति के लिए—"सोम सविता, मित्र, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, सरस्वती," इन ६ प्राणदेवताओं का सहयोग और प्राप्त करना पड़ता है। इस प्रकार इन ६ के योग से सप्तमूर्त्ति बनता हुआ वह वाग्ब्रह्म 'ब्राह्मणवर्ण' की मूलप्रतिष्ठा बन जाता है। इन सातों मे वागग्नि मुख्य है, शेष ६ प्राण गौण हैं। ये सातों देवता प्रकृति के 'ब्राह्मणदेवता' कहलाए हैं। इन सातों के क्या क्या धर्म्म हैं, यह भी प्रसङ्गात् जान लेना चाहिए।

१-वागग्निः—प्रतिष्ठावत्त्व इस वागग्नि का मुख्य धर्म्म है। इसके रहने से धृति क्षमा-आदि गुणों का विकास रहता है। इसके अतिरिक्त सासारिक विपत्तियों को सहने की शक्ति, आसुरभाव विनाश की शक्ति, नियमपरिपालन की दृढ़ता, अनन्यभाव से कर्म्म मे प्रवृत्ति, आयु की स्वरूप रक्षा, यज्ञकर्म्म की ओर प्रवृत्ति रखना, ये सब इसी 'ब्राणाग्नि' के धर्म्म हैं। जिसमे यह प्राणाग्नि प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहेगा, उसमे जन्म से ही इन अग्निधर्म्मों का समावेश रहेगा। इन सब धर्म्मों के अतिरिक्त 'वर्च' नाम का तपोलक्षण 'तेज' इसी ब्रह्माग्नि का मुख्य धर्म्म है।

देखने में सर्वथा शान्त, किन्तु अन्तर्जगत् मे महाप्रदीप्त बलवत्तर वीर्य्य ही 'वर्च्च' नाम का तेज है, और यही ब्राह्मणवर्ण का मुख्य धन है। अग्रधर्म्मावच्छिन्न, प्राणाग्नि के इन्हीं कुछ एक धर्म्मों का निम्न लिखित वचनो से स्पष्टीकरण हो रहा है।

"वीर्य्यं वा अग्नि" (गो० ब्रा० ६।७)—"अग्निरु सर्वेषा पाप्मानामपहन्ता" (शत० ७।३।२।१६)—"अग्निर्वै देवाना व्रतपति" (शत० १।१।१।२)—"अग्निरेव ब्रह्म" (शत० १०।४।१।५)—"तपो वा अग्नि." (शत० ३।४।३।२)—"अग्निर्वाऽआयुष्मानायुष ईष्टे" (शत० १३।८।४।८)।

२—सोमः—आचार-व्यवहार को सर्वथा निर्म्मल रखनेवाला, शरीरगत दूषित मलभागों का अपने पवित्रधर्म्म से विशोधन करनेवाला, 'मति' को दिव्यभाव की ओर प्रणत रखनेवाला, श्रोत्रेन्द्रिय, तथा मन की स्वरूप रक्षा करनेवाला, ब्राह्मण्य-वृत्ति को प्रतिष्ठित रखनेवाला, वृत्ति को शान्त बनाए रखनेवाला, ब्राह्मणप्रतिष्ठामूलक 'वर्च' भाव को सुदृढ रखनेवाला, सञ्चित यश प्राण का उपोद्वलक, इत्यादि धर्म्मों का प्रेरक प्राणविशेष ही 'सोमदेवता' है। जिसमें जन्मत इस सौम्यप्राण का प्राधान्य रहता है, उसमें उक्त धर्म्म स्वभावत विकसित रहते हैं। निम्न लिखित वचन प्राणात्मक सोमदेवता के इन्हीं धर्म्मों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

"सोमो वै पवमान." (शत० २।२।३।२२)—"सोम. पवते" (ऋक् सं० ९।९६।५)—'जनिता मतीनाम्" (ऋक स० ९।९६।५)—"दिश श्रोत्रे"—' मनश्चन्द्रेण"—"सोमो वै ब्राह्मण" (ताण्ड्यब्रा० २३।१६।५)—"सौम्यो हि ब्राह्मण" (तै० ब्रा० २।७।३।१)—' एष वै ब्राह्मणाना सभासाह सखा, यत् सोमो राजा" (ऐ० ब्रा० १।१३)—"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" (यजु स०)—"यशो वै सोमो राजा" (ऐ० ब्रा० १।१३)

३—सविता—आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियवर्ग, आदि को तत्तत् कर्म्मों की ओर प्रेरित करनेवाला, अपने विद्युद्रूप से इन सब आध्यात्मिक पर्वों मे विद्युत् सम स्फूर्ति रखने वाला, मन-बुद्धि को दानशक्ति की ओर प्रेरित रखनेवाला, वेदधर्म्म की ओर हमारी प्रवृत्ति बनाए रखनेवाला, हमारी मनबुद्धि को अपनी स्वाभाविक प्रेरणा से सदा प्रकाश मे रखनेवाला, यज्ञ की स्वरूपरक्षा करनेवाला राष्ट्रसञ्चालक राजा पर प्रभुत्त्व बनाए रखनेवाली घृत्ति का प्रदाता, यज्ञप्रवृत्ति मे प्रेरित करनेवाला, इत्यादि धर्म्मों का प्रेरक, आदित्यमण्डलस्थ, प्राणविशेष ही 'सवितादेवता' है। जिसमें सवितादेवता जन्मत प्रधान रहेगा, उसमें

स्वभावतः उक्त धर्म्मों का विकास रहेगा। निम्न लिखित वचन इन्हीं धर्म्मों का दिग्दर्शन करा रहे हैं—

"सविता वै देवानां प्रसविता" (शत० १।१।२।१७)—"विद्युदेव सविता" (गो० पू० १।३३)—"दातास्मध सविता विदेय, यो नो हस्ताय प्रसुवाति यज्ञम्" (तै० ब्रा० ३।१।१।६)—"वेदा एव सविता" (गो० पू० १।३३)—"अहरेव सविता" (गो० पू० १।३३)—"यज्ञ सविता" (शत० १२।६।१।१५)—"सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः" (तै० ब्रा० २।५।७।४)—"यज्ञ एव सविता" (तै० उ० ४।२७।७)।

४—मित्रः—आध्यात्मिक प्राणाग्नि के उग्रभाव को शान्त रखनेवाला, आध्यात्मिक घोरवृत्तियों का उपशमन करनेवाला, इष्ट-श्रेय भावों की ओर मन-बुद्धियों को अनुगत रखनेवाला, सत्यनियति का सञ्चालन करनेवाला, भूतमात्र के साथ निष्कारण सौहार्द रखनेवाला, अपने आधिदैविकरूप से पूर्वकपाल को अपना आवासस्थान बनानेवाला, एवं आध्यात्मिक रूप से शरीर के आग्नेय दक्षिण भाग में प्रतिष्ठित रहनेवाला प्राणविशेष ही 'मित्रदेवता' है। जिस के शुक्र में जन्मतः इस प्राण का प्राधान्य रहेगा, वह स्वभावतः उक्तवृत्तियों का अधिकारी रहेगा। मित्रदेवता के ये ही धर्म्म निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो रहे हैं—

"सर्वस्य ह्येव मित्रो मित्रम्" (शत० ५।३।२।७)—"अथ यत्रैतत् प्रवितरामिव तिरश्चीवार्चिः सशाम्यतो भवति, तर्हि हैष भवति मित्रः" (शत० २।३।२।१२)—"तं यद् घोरसंस्पर्शं सन्तं मित्रकृत्येवोपासते, तदस्य मैत्रं रूपम्" (ऐ० ब्रा० ३।४)—"मित्रेणैव यज्ञस्य स्विष्टं शमयति" (तै० ब्रा० १।२।५।३)—"मित्रः सत्यानां सुवते" (तै० ब्रा० १।७।४।१)—"मैत्रो वै दक्षिण" (तै० ब्रा० १।७।१०।१)।

५—बृहस्पतिः—वाणी में ओजबल का आधान करते हुए वाणी को सबल बनाए रखनेवाला, विज्ञानचक्षु को अपने दिव्यबल से दिव्यदृष्टियुक्त बनाए रखनेवाला, शरीरकान्तिलक्षण 'द्युम्न' नामक तेज की स्वरूप रक्षा करनेवाला अपनी स्वाभाविक ब्रह्मशक्ति से आध्यात्मिक बुद्धि-मन-इन्द्रियादि परिकरों पर शासन रखनेवाला, शरीरगत 'अङ्गिरा' तत्त्व की रक्षा करनेवाला, ब्रह्मरन्ध्र को अपनी प्रतिष्ठाभूमि बनानेवाला, 'ब्रह्मवर्च' का आदान करनेवाला प्राणविशेष ही 'बृहस्पतिदेवता' है। जिस के शुक्र में जन्म से इस प्राण की प्रधानता रहती है, उस में उक्त धर्म्म, विशेषतः वाग्बल स्वभावतः विकसित रहता है। निम्न लिखित वचनों से बृहस्पति के इन्हीं धर्म्मों का स्पष्टीकरण हो रहा है—

"वाग्वै बृहती, तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः" (शत० ६।३।१६।)—बृहस्पतिः—(एवैनां) ऋचा (सुवते)" (तै० ब्रा० १।७।४।१।)—"यच्चक्षुः (विज्ञानं), स बृहस्पतिः" (गो० उ० ४।११।)-"द्युम्नं हि बृहस्पतिः" (शत० ३।२।४।१६।)-"ब्रह्म वै देवाना बृहस्पतिः" (तै० ब्रा०, १।३।८।४।)-"बृहस्पतिर्वाआङ्गिरसो देवाना ब्रह्मा" (गो० उ० १।१।)-'स (बृहस्पतिः प्रजापतिं) अब्रवीत्, क्रोश्च साम्नो वृणे 'ब्रह्मवर्चसम्' इति" (जै० उ० १।५१।१२।)-"एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्" (शत० ५।५।१।१२।)।

६-ब्रह्मणस्पतिः—ब्रह्मणस्पति उस बृहस्पति की मूलप्रतिष्ठा माना गया है, जो कि वाक्-पति बृहस्पति सूर्य्यसस्था से तो ऊपर, एवं पारमेष्ठ्य जगत् से नीचे, दोनो की सन्धि मे प्रतिष्ठित माना गया है। 'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः' के अनुसार सत्य-तप-जन-मह इन चार पूर्वलोकों के अन्त मे बृहस्पति की सत्ता मानी गई है, एव स्व.-भुव -भूः इन तीन उत्तरलोकों के आरम्भ मे इन्द्र (स्वर्लोकाधिष्ठता, 'मघवा' नामक सौर इन्द्र) की सत्ता मानी गई है। इस परिस्थिति से बतलाना यही है कि, बृहस्पतिदेवता (जोकि सुप्रसिद्ध बृहस्पतिग्रह एव 'लुब्धक बन्धु' नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति, इन दोनों से सर्वथा पृथक् तत्त्व है) सूर्य्य से ऊपर, महर्लोक की अन्तिम सीमा मे प्रतिष्ठित रहनेवाला वाङ्मय प्राण है। इसी के सम्बन्ध से प्राकृतिक, नित्य, आधिदैविक 'वाजपेय' यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। अतएव वाजपेय यज्ञ 'बृहस्पतिसव' कहलाया है। इस बृहस्पति से ऊपर परमेष्ठ्य जनल्लोक मे सौम्यप्राण-मूर्त्ति 'ब्रह्मणस्पति' प्रतिष्ठित है। इस के सौम्य-धर्म्म को लेकर ही बृहस्पति की स्वरूप रक्षा हो रही है। अतएव—बृहस्पते ब्रह्मणस्ते' (तै० ब्रा० ३।११।४।२) इत्यादि रूप से दोनो को अभिन्न भी मान लिया गया है। परन्तु तत्त्वतः दोनो पृथक् हैं। 'ब्रह्मणस्पति' नामक सौम्यप्राण से ही 'गङ्गातोय' का आविर्भाव हुआ है, जैसा कि अन्यत्र निरूपित है। इस प्राण का मुख्य काम है, शारीर दूषित भावों को नष्ट कर शरीरसंस्था को सर्वथा निर्म्मल रखना। अन्तरात्मा के पवित्रविचार इसी ब्रह्मणस्पति के अनुग्रह पर निर्भर हैं। जैसा कि निम्न लिखित ऋङ्मंत्र से स्पष्ट है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥

—ऋक् स० १३।१।

७–सरस्वती—वाणी में माधुर्य्य की प्रतिष्ठा करने वाला, वाणी में ऐसा ओज डालने वाला, जिसके कि समावेश से वाणी गम्भीर निनाद करती हुई, श्रोताजनों को प्रभावित करती हुई बाहर निकलती है, वाणी में वज्रसम प्रभावशक्ति उत्पन्न करनेवाला, सर्वथा वाक्-तत्त्व का उपकार करनेवाला प्राणविशेष ही 'सरस्वतीदेवता' नाम से प्रसिद्ध है। जिस के शुक्र में जन्म से इस वाग्देवी का प्राधान्य है, वह स्वभावतः वाणी का प्रभु है। निम्न लिखित कुछ एक वचन इन्हीं वाग्धर्म्मों का प्रदर्शन कर रहे हैं—

"वाग्वै सरस्वती पावीरवी" (ऐ० ब्रा० ३।३७)—"सरस्वती वाचमदधात्" (तै० ब्रा० १।६।२।२)—"अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति, तदस्य सारस्वतं रूपम्" (ऐ० ब्रा० ३।४)—"सा (वाक्) ऊर्ध्वोदातनोद्यथापांधारा संतता-एवं (सरस्वती-वाक्)" (ताण्ड्य ब्रा० २०।१४।२)—"सरस्वतीति, तद् द्वितीयं वज्ररूपम्" (कौ० ब्रा० १२।२)।

संक्षेपतः प्रतिष्ठासमर्पक प्राण ही 'अग्नि' है, आचार-व्यवहार की पवित्रता सम्पादन करनेवाला प्राण ही 'सोम' है, बुद्धि-मन-इन्द्रियादि को दिव्यभावों की ओर प्रेरित करनेवाला प्राण ही 'सविता' है, भूतमात्र के साथ निष्कारण सौहार्द बनाए रखनेवाला प्राण ही 'मित्र' है, वाक्तत्त्व को परिमार्जित रखनेवाला प्राण ही 'बृहस्पति' है, अन्तर्जगत् को पूत रखनेवाला प्राण ही 'ब्रह्मणस्पति' है, एवं वाक् में ब्रह्मवीर्य्य का आधान करनेवाला प्राण ही 'सरस्वती' है। अग्निगर्भित, अग्नि से परिगृहीत, इस प्राणसप्तक की समष्टि ही श्रुत्युक्त 'ब्रह्म' पदार्थ है। दूसरे शब्दों में 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' के ब्रह्म शब्द को सातों प्राणों का उपलक्षण समझना चाहिए। क्योंकि सातों ही ब्रह्मवीर्य्य के प्रवर्त्तक बनते हुए ब्राह्मणवर्ण की प्रतिष्ठा बनते हैं। सप्तप्राणकृतमूर्त्ति-ब्राह्मणवर्णसम्पादक इसी ब्रह्म ने वैभव-प्रसार के लिए अपने से भी श्रेष्ठ क्षत्रदेवता उत्पन्न किए।

ब्रह्मवीर्य्यसम्पादक इस क्षररूप वागग्नि को हमनें 'सार्वयाजुष' कहा है। यजुर्वेद-सम्बन्ध से ही इसे सार्वयाजुष कहा गया है। यजु में 'यत्—जू' दो भाग हैं। यत् 'प्राणतत्त्व' है, जू 'वाक्तत्त्व' है। वाक् आकाश है, यही इन्द्र है, प्राण वायु है। आकाशवाय्वात्मक-वाक्प्राण की समष्टि ही 'यज्जू' है, एवं यही यज्जू परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजुः' है—(देखिए-शत० १०।३।५।२)। यह यजु 'वय' है, पुरुष है। ऋक्-साम, दोनों वयोनाध हैं, छन्द हैं। इन्हीं दोनों को वाग्रूप इन्द्र के हरी (अश्व-छन्द) कहा गया है—'ऋक्-सामे वै इन्द्रस्य हरी' (ऐ० ब्रा० २।२४) यही त्रयीवाक् सत्यावाक् है, यही क्षरब्रह्म है

एवं सत्यावाङ्मूर्त्ति यही क्षरब्रह्म वर्णत्रयी का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। ऋक् पार्थिव अग्नि-प्रधान है, यही 'वैश्यवर्ण' का जनक है। यजु आन्तरिक्ष्य वायु-प्रधान है, यही क्षत्रियवर्ण का जनक है। साम दिव्य आदित्य-प्रधान है, एवं यही 'ब्राह्मणवर्ण' की प्रतिष्ठा है। अग्निमय ऋग्वेद अर्थशक्ति का सञ्चालक बनता हुआ अर्थशक्तिप्रधान वैश्यवर्ण की प्रतिष्ठा बन रहा है, वायुमय यजुर्वेद क्रियाशक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ क्रियाशक्तिप्रधान क्षत्रियवर्ण की प्रतिष्ठा बन रहा है, एवं आदित्यमय सामवेद ज्ञानशक्ति का सञ्चालक बनता हुआ ज्ञानशक्तिप्रधान ब्राह्मणवर्ण की प्रतिष्ठा बन रहा है। इसी प्राकृतिक, वेदवाङ्मूलक वर्णरहस्य का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि 'तित्तिरि' कहते हैं—

ऋग्भ्यो जातं वैश्यवर्णमाहुः—
यजुर्वेदं क्षत्रियस्याऽऽहुर्योनिम् ।
सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः—
पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः ॥

—तै० ब्रा० ३।१२।९।२।

'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्' इस वाक्य के 'श्रेयोरूपम्' अंश पर इस लिए आपत्ति उठाई जा सकती है कि,—'तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं कः'—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'—'सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते'—'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि' 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'—'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः'—'नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः' 'उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्त्तिर्धर्म्मस्य शाश्वती'—'ईश्वरः सर्वभूतानां धर्म्मकोशस्य गुप्तये' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त वचन ज्ञान-क्रिया-अर्थ भावों में से ज्ञान की, एवं ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्ति-प्रधान ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में से ज्ञानशक्ति-प्रधान ब्राह्मणवर्ण की श्रेष्ठता, तथा ज्येष्ठता का जब समर्थन कर रहे हैं, तो श्रुति ने—"ब्रह्म (ब्राह्मण) ने अपने से भी श्रेष्ठ रूप क्षत्रिय देवता उत्पन्न किए" यह किस आधार पर कहा ? श्रुति ने क्यों क्षत्रिय वर्ण को ब्राह्मवर्ण से श्रेष्ठ बतलाया ?

आपत्ति यथार्थ है। यद्यपि चारों वर्णों में एकमात्र ब्राह्मणवर्ण ही सर्वज्येष्ठ एवं सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु एक विशेष हेतु से श्रुति ने ब्रह्म की अपेक्षा क्षत्र को श्रेष्ठ बतलाना आवश्यक समझा है। ब्रह्म

की श्रेष्ठ ज्येष्ठता क्षत्रवीर्य्य पर ही अवलम्बित है। क्षत्र के आधार पर ब्रह्म का विकास होता है। विश्व की स्वरूप सत्ता कर्म्मप्रधान है। कर्म्म क्रियातत्त्व है, क्रियातत्त्व ही क्षत्र है। इस क्रियारूप के सहयोग से ही ज्ञान का विश्व में विकास हुआ है। यदि क्रियामय क्षत्र न हो, तो ज्ञानमय ब्रह्म निर्विकल्पक बनता हुआ सर्वथा तिरोहित हो जाय। दूसरे शब्दों में क्रियाविरहित विशुद्ध ज्ञान निर्विकल्पक बनता हुआ विश्वसीमा से बाहर की वस्तु है। इस दृष्टि से हम अपने व्यावहारिक जगत् में ज्ञानप्रधान ब्रह्म के विकासभूत क्रियाप्रधान क्षत्र को ही ब्रह्म की अपेक्षा श्रेयोरूप कह सकते हैं। 'इन्द्र-वरुण-सोम-रुद्र-पर्जन्य-यम-मृत्यु ईशान'—इन प्राणदेवताओं की समष्टि ही क्षत्रतत्त्व है। इन्हीं आठ प्राणदेवताओं से (पूर्वोक्त ब्रह्मसप्तक के आधार पर) विश्वकर्म्म का सञ्चालन, विश्वकर्म्म की स्वरूपरक्षा, तथा विश्वज्ञान का विकास हो रहा है। इन्द्रात्मक—'विकास', वरुणात्मक 'संकोच', सोमात्मिका 'पवित्रता', रुद्रात्मक 'दण्डविधान', पर्जन्यात्मक 'वर्षणकर्म्म', यमात्मक—'नियमन', मृत्युलक्षण 'अवमान', ईशानात्मक 'प्रभुत्व', ये आठ क्षात्रधर्म्म ही विश्व के स्वरूपरक्षक हैं, एवं इन आठों धर्म्मों के प्रवर्त्तक इन्द्रादि अष्ट प्राणदेवता ही प्रकृति के क्षत्रियदेवता हैं। जिसके वीर्य्य में जन्मतः इन आठों प्राणदेवताओं का प्राधान्य रहता है, मनुष्यप्रजा में वही 'क्षत्रिय' कहलाता है। चूंकि कर्म्ममय विश्व में ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय श्रेयोरूप है, अतएव राजसूय यज्ञ में सिंहासीन क्षत्रिय राजा को नीचे खड़ा हुआ ब्राह्मण आशीर्वाद दिया करता है। सचमुच कर्म्ममय विश्व में क्षत्र से उत्कृष्ट अन्य वर्ण नहीं है।

श्रुति ने इस प्रकार ब्रह्म की अपेक्षा क्षत्र को श्रेयोरूप बतला तो दिया, परन्तु अपने मूल लक्ष्य का परित्याग न किया। 'तत्त्वतः ब्राह्मण ही श्रेष्ठ ज्येष्ठ है' इसी सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए आगे जाकर श्रुति को कहना पड़ा कि, "यद्यपि यह ठीक है कि, राजा सिंहासनासीन है, ब्राह्मण नीचे खड़ा उसे आशीर्वाद दे रहा है। परन्तु तत्त्वतः ब्राह्मण ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है। ब्राह्मण नीचे खड़ा खड़ा भी राजा में यशःप्राण का आधान कर रहा है। ब्राह्मणप्रदत्त इस यशोबल से ही राजा साम्राज्य सञ्चालन में समर्थ बनता है। ब्राह्मण ही क्षत्रिय की योनि है। योनि यद्यपि निगूढभाव है, बीजात्मिका है, अतएव उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्यक्ष होता है वृक्ष का। परन्तु वृक्षस्थानीय क्षत्रिय को अन्ततोगत्वा योनि-स्थानीय ब्रह्म का ही आश्रय लेना पड़ता है। बिना ज्ञान (ब्रह्म) के क्रिया (क्षत्र) की प्रवृत्ति सर्वथा असम्भव है। विश्व की भौतिक समृद्धि के चरम शिखर पर पहुँचे हुए क्षत्रिय

राजा को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, उसकी अपनी योनि, अपनी मूलप्रतिष्ठा, अपने स्वरूप रक्षा का साधन एकमात्र ब्राह्मण ही है, और इसकी रक्षा में, इसके अनुगमन में ही क्षत्रियराजा की समृद्धि है, जैसा कि 'मैत्रावरुणग्रह' प्रतिपादिका अन्यश्रुति से स्पष्ट है।

क्रतु[1] 'मित्र' है, दक्ष 'वरुण' है। इरादा (इच्छा-संकल्प-कामना) क्रतु है, इच्छा का कार्य्यरूप 'दक्ष' है। 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' के अनुसार इच्छा का ज्ञान से सम्बन्ध है। इच्छा के अव्यवहितोत्तरकाल में ही 'कृति' (यत्न) का विकास हो पड़ता है, कृति से कर्म्म होता है, कर्म्मसिद्धि ही दक्षता है। इच्छा का अधिष्ठान 'मित्रब्रह्म' है, कर्म्म का आरम्भक 'वरुण क्षत्र' है। ब्रह्म 'अभिगन्ता' है, क्षत्र 'कर्त्ता' है। पथप्रदर्शक ब्रह्म 'पुरोधा' है, पथानुगामी क्षत्र 'राजा' है। राजा कर्म्ममूर्त्ति है, ब्रह्म ज्ञानमूर्ति है। दोनों बल (ब्रह्म तथा क्षत्रबल) पृथक् पृथक् रहते हुए समृद्धि से वञ्चित हैं। क्षत्र को अपनी स्वरूपरक्षा के लिए ब्रह्म की अपेक्षा है, तो ब्रह्म को अपने विकास के लिए क्षत्र का आश्रय अपेक्षित है।

आगे जाकर श्रुति कहती है कि, "यदि ब्रह्म क्षत्र का अनुगामी न बनेगा, तो उसका विकास अवश्य ही रुक जायगा, परन्तु उसके स्वरूप की कोई हानि न होगी। इधर यदि क्षत्र ब्रह्म-सहयोग की उपेक्षा कर देगा, तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। अतएव प्रत्येक क्षत्रिय का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि, वह ब्राह्मण पुरोधा को आगे कर, उसकी अनुमति से ही राष्ट्र का सञ्चालन करे" (देखिए, शतपथ ब्रा० ४ कां० ।१।४।)।

ब्रह्म की इस प्राकृतिक व्याप्ति का कौन विरोध कर सकता है। यह बड़े ही खेद का विषय है कि, आज हमारा राष्ट्र 'ब्रह्म-क्षत्र' दोनों शासकबलों से वञ्चित होता हुआ शासित विड्-वीर्य्य का अनुगामी बन कर सर्वथा अरक्षित बन रहा है। विड्-वीर्य्य को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जब तक वह कर्त्ता क्षत्रवीर्य्य, एवं अभिगन्ता 'ब्रह्मवीर्य्य', दोनों का आश्रय न ले लेगा, तब तक वह अपनी स्वाभाविक अर्थनीति में कभी सफल न बन सकेगा। प्रकृत में इस सन्दर्भ का उपसंहार यही है कि, सप्तप्राणात्मक दिव्यभाव प्रधान ब्रह्म ने स्वविकास को लिए वीरभाव प्रधान अष्टप्राणात्मक क्षत्रतत्त्व उत्पन्न किया। सप्तप्राण समष्टि प्रकृति का

---

1 क्रतु-दक्षात्मक ब्रह्म-क्षत्र भावों का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' द्वितीय खण्ड के 'विज्ञानात्माधिकरण' में, एवं 'उपनिषद्विज्ञानभाष्य भूमिका' प्रथम खण्ड के 'प्रकीर्णकवेदनिरुक्ति' प्रकरण में देखना चाहिए।

की श्रेष्ठ-ज्येष्ठता क्षत्रवीर्य्य पर ही अवलम्बित है। क्षत्र के आधार पर ब्रह्म का विकास होता है। विश्व की स्वरूप सत्ता कर्म्मप्रधान है। कर्म्म क्रियातत्त्व है, क्रियातत्त्व ही क्षत्र है। इस क्रियारूप के सहयोग से ही ज्ञान का विश्व में विकास हुआ है। यदि क्रियामय क्षत्र न हो, तो ज्ञानमय ब्रह्म निर्विकल्पक बनता हुआ सर्वथा तिरोहित हो जाय। दूसरे शब्दों में क्रियाविरहित विशुद्ध-ज्ञान निर्विकल्पक बनता हुआ विश्वसीमा से बाहर की वस्तु है। इस दृष्टि से हम अपने व्यावहारिक जगत् में ज्ञानप्रधान ब्रह्म के विकासभूत क्रियाप्रधान क्षत्र को ही ब्रह्म की अपेक्षा श्रेयोरूप कह सकते हैं। 'इन्द्र-वरुण-सोम-रुद्र-पर्जन्य-यम-मृत्यु-ईशान'—इन प्राणदेवताओं की समष्टि ही क्षत्रतत्त्व है। इन्हीं आठ प्राणदेवताओं से (पूर्वोक्त ब्रह्मसप्तक के आधार पर) विश्वकर्म्म का सञ्चालन, विश्वकर्म्म की स्वरूपरक्षा, तथा विश्वज्ञान का विकास हो रहा है। इन्द्रात्मक—'विकास', वरुणात्मक 'संकोच', सोमात्मिका 'पवित्रता', रुद्रात्मक 'दण्डविधान', पर्जन्यात्मक 'वर्षणकर्म्म', यमात्मक—'निगमन', मृत्युलक्षण 'अवसान', ईशानात्मक 'प्रभुत्व', ये आठ क्षात्रधर्म्म ही विश्व के स्वरूपरक्षक हैं, एवं इन आठों धर्म्मों के प्रवर्त्तक इन्द्रादि अष्ट प्राणदेवता ही प्रकृति के क्षत्रियदेवता हैं। जिसके वीर्य्य में जन्मत इन आठों प्राणदेवताओं का प्राधान्य रहता है, मनुष्यप्रजा में वही 'क्षत्रिय' कहलाता है। चूंकि कर्म्ममय विश्व में ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय श्रेयोरूप है, अतएव राजसूय यज्ञ में सिंहासीन क्षत्रिय राजा को नीचे खड़ा हुआ ब्राह्मण आशीर्वाद दिया करता है। सचमुच कर्म्ममय विश्व में क्षत्र से उत्कृष्ट अन्य वर्ण नहीं है।

श्रुति ने इस प्रकार ब्रह्म की अपेक्षा क्षत्र को श्रेयोरूप बतला तो दिया, परन्तु अपने ब्रह्म-लक्ष्य का परित्याग न किया। 'तत्त्वतः ब्राह्मण ही श्रेष्ठ-ज्येष्ठ है' इसी सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए आगे जाकर श्रुति को कहना पड़ा कि, "यद्यपि यह ठीक है कि, राजा सिंहासनासीन है, ब्राह्मण नीचे खड़ा उसे आशीर्वाद दे रहा है। परन्तु तत्त्वतः ब्राह्मण ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है। ब्राह्मण नीचे खड़ा खड़ा भी राजा में यशःप्राण का आधान कर रहा है। ब्राह्मणप्रदत्त इस यशोबल से ही राजा साम्राज्य सञ्चालन में समर्थ बनता है। ब्राह्मण ही क्षत्रिय की योनि है। योनि यद्यपि निगूढ़भाव है, बीजात्मिका है, अतएव उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्यक्ष होता है वृक्ष का। परन्तु वृक्षस्थानीय क्षत्रिय को अन्ततोगत्वा योनि-स्थानीय ब्रह्म का ही आश्रय लेना पड़ता है। बिना ज्ञान (ब्रह्म) के क्रिया (क्षत्र) की प्रवृत्ति सर्वथा असम्भव है। विश्व की भौतिक समृद्धि के चरम शिखर पर पहुँचे हुए क्षत्रिय

राजा को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, उसकी अपनी योनि, अपनी मूलप्रतिष्ठा, अपने स्वरूप रक्षा का साधन एकमात्र ब्राह्मण ही है, और इसकी रक्षा में, इसके अनुगमन में हीं क्षत्रियराजा की समृद्धि है, जैसा कि 'मैत्रावरुणग्रह' प्रतिपादिका अन्यश्रुति से स्पष्ट है।

क्रतु [1] 'मित्र' है, दक्ष 'वरुण' है। इरादा (इच्छा-संकल्प-कामना) क्रतु है, इच्छा का कार्य्यरूप 'दक्ष' है। 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' के अनुसार इच्छा का ज्ञान से सम्बन्ध है। इच्छा के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं 'कृति' (यत्न) का विकास हो पड़ता है, कृति से कर्म्म होता है, कर्म्मसिद्धि ही दक्षता है। इच्छा का अधिष्ठान 'मित्रब्रह्म' है, कर्म्म का आरम्भक 'वरुण क्षत्र' है। ब्रह्म 'अभिगन्ता' है, क्षत्र 'कर्त्ता' है। पथप्रदर्शक ब्रह्म 'पुरोधा' है, पथानुगामी क्षत्र 'राजा' है। राजा कर्म्ममूर्त्ति है, ब्रह्म ज्ञानमूर्त्ति है। दोनों बल (ब्रह्म तथा क्षत्रबल) पृथक् पृथक् रहते हुए समृद्धि से वञ्चित हैं। क्षत्र को अपनी स्वरूपरक्षा के लिए ब्रह्म की अपेक्षा है, तो ब्रह्म को अपने विकास के लिए क्षत्र का आश्रय अपेक्षित है।

आगे जाकर श्रुति कहती है कि, "यदि ब्रह्म क्षत्र का अनुगामी न बनेगा, तो उसका विकास अवश्य ही रुक जायगा, परन्तु उसके स्वरूप की कोई हानि न होगी। इधर यदि क्षत्र ब्रह्म-सहयोग की उपेक्षा कर देगा, तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। अतएव प्रत्येक क्षत्रिय का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि, वह ब्राह्मण पुरोधा को आगे कर, उसकी अनुमति से ही राष्ट्र का सञ्चालन करे" (देखिए, शतपथ ब्रा० ४ कां० ।१।४।)।

ब्रह्म की इस प्राकृतिक व्याप्ति का कौन विरोध कर सकता है। यह बड़े ही खेद का विषय है कि, आज हमारा राष्ट्र 'ब्रह्म-क्षत्र' दोनों शासकबलों से वञ्चित होता हुआ शासित विड्-वीर्य्य का अनुगामी बन कर सर्वथा अरक्षित बन रहा है। विड्-वीर्य्य को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जब तक वह कर्त्ता क्षत्रवीर्य्य, एवं अभिगन्ता 'ब्रह्मवीर्य्य', दोनों का आश्रय न ले लेगा, तब तक वह अपनी स्वाभाविक अर्थनीति में कभी सफल न बन सकेगा। प्रकृत में इस सन्दर्भ का उपसंहार यही है कि, सप्तप्राणात्मक दिव्यभाव प्रधान ब्रह्म ने स्वविकास को लिए वीरभाव प्रधान अष्टप्राणात्मक क्षत्रतत्त्व उत्पन्न किया। सप्तप्राण समष्टि प्रकृति का

---

1 क्रतु-दक्षात्मक ब्रह्म-क्षत्र भावों का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' द्वितीय खण्ड के 'विज्ञानात्माधिकरण' में, एवं 'उपनिषद्विज्ञानभाष्य भूमिका' प्रथम खण्ड के 'प्रकीर्णकवेदनिरुक्ति' प्रकरण में देखना चाहिए।

'ब्राह्मणवर्ण' कहलाया, एवं अष्टप्राणसमष्टि प्रकृति का क्षत्रियवर्ण कहलाया। ये ही दोनों वर्ण मानवप्रजा के ब्राह्मण—क्षत्रियवर्णों के क्रमशः आरम्भक बनें"।

(२)—"क्षत्र से भी काम न चला। चल भी नहीं सकता। विना भौतिक-अर्थों का सहयोग प्राप्त किए केवल ज्ञान-कर्म्म कुछ नहीं कर सकते। भौतिक पदार्थ ही ज्ञान-कर्म्म के आधार बना करते हैं। ज्ञान भी किसी न किसी पदार्थ को अपने गर्भ में लेकर विकसित होता है। एवं क्रियालक्षण व्यापार का संचार भी किसी पदार्थ के आधार से ही होता है। ज्ञान-कर्म्म-भावों को अपने गर्भ में रखने वाला, स्वस्वरूप से प्रकट रहता हुआ भी गुप्त, तीसरा पशुभाव ही 'विड्वीर्य्य' है, जिसका कि विकास 'वसु-रुद्र-आदित्य, विश्वेदेव, मरुद्गणों' के रूप में हुआ है। इन्द्रियदृष्ट पदार्थ ही—'यदपश्यत् तस्मात् पशुः' (शत० ६।२।१।१।) के अनुसार 'पशु' है। ज्ञान-क्रिया दोनों ही इन्द्रियातीत हैं, इन्द्रियदृष्ट एकमात्र है—भौतिक अर्थप्रपञ्च। अतः इस अर्थभाव को, एवं तद्रूप विड्वीर्य्य को अवश्य ही 'पशुभाव' कहा जा सकता है।

दूसरी दृष्टि से पशुभाव का विचार कीजिए। भोग्यवस्तु को वैदिक परिभाषा में 'पशु' कहा गया है। ज्ञान 'भोक्ता' है, कर्म्म 'भोगसाधन' है, एवं अर्थप्रपञ्च 'भोग्य' है। चूंकि विड्वीर्य्य अर्थप्रधान बनता हुआ भोग्यरूप है, ज्ञान-कर्म्म से इसी अर्थ का भोग होता है, इस लिये भी विड्वीर्य्य को 'पशुभाव'-मानना युक्तिसङ्गत बन जाता है। 'वसुरुद्रादित्य-विश्वेदेवमरुद्गण' समष्टिरूप, पशुभावप्रधान यही विट्-तत्त्व प्राकृतिक वैश्यवर्ण है। जिस प्राणी में जन्मतः इस पञ्चगणगणात्मक विट्-वीर्य्य की प्रधानता रहती है, वह वैश्यवर्ण कहलाता है"।

(३)—"अर्थशक्ति का विकास पार्थिव प्राण से सम्बन्ध रखता है, जो कि पार्थिव प्राण पूषा[1] नाम से प्रसिद्ध है। पूषाप्राण आत्मप्रतिष्ठाशून्य प्राण है, अतएव इसे 'मृतभाव' कहा जाता है। 'अम्भः-मरीचिः-मरः-आपः' इन चार जाति के पानियों का क्रमशः 'परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा' इन चार लोकों से सम्बन्ध माना गया है। पृथिवी का उपादानभूत मूर्च्छित, मरणधर्म्मावच्छिन्न पानी ही 'मर' है। इसी मरअप्तत्त्व के सम्बन्ध में पुष्टिप्रवर्त्तक पार्थिव-पूषाप्राण 'मृतभाव' कहलाया है। बाह्यजगत् की पुष्टि मृतभाव ही है। अर्थप्रपञ्च की पुष्टि इसी पूषादेवता पर निर्भर है, एवं यही पूषाप्राण प्रकृति का मृत-भावप्रधान

---

1 'पूषा' प्राण का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथमखण्ड में 'पूषन्नेकर्षे०' इत्यादि मन्त्रभाष्य में देखना चाहिए।

शूद्रवर्ण है। जिस प्राणी में जन्मतः इस प्राण का प्राधान्य रहता है, वह भी शूद्रवर्ण माना गया है"।

(४)—"इस प्रकार अपने वैभव-प्रसार के लिए व्यञ्जनस्थानीय, वाङ्मय, वह क्षरब्रह्म क्रमशः 'दिव्य-वीर-पशु-मृत्' भावप्रवर्त्तक 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्' इन चार वीर्य्यों में विभक्त होता हुआ 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र' इन चार वर्णों में परिणत हो गया। परन्तु अभी एक कमी रह गई। चारों वर्ण परस्पर मिल न जायँ, चारों में कर्त्तव्य-साङ्कर्य्य न आ जाय, अपितु चारों अपने अपने क्षेत्र में सुव्यवस्थित रहते हुए परस्पर सहयोग बनाए रक्खें, इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी ऐसे नियतिदण्ड की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसके नियन्त्रण में रहने से वर्णों का स्वरूप सुरक्षित बना रहे। इसी कमी की पूर्ति के लिए ब्रह्म ने सर्वान्त में चारों वर्णों से श्रेष्ठ 'धर्म्म' तत्त्व उत्पन्न किया, एवं इसी स्व-धर्म्मलक्षण मर्य्यादासूत्र से चारों का नियन्त्रण किया।

घट-पट-मठ सूर्य्य-चन्द्रमा-मनुष्य-पशु-पक्षी, इत्यादि पदार्थ परस्पर भिन्न क्यों हैं? इनके नाम-रूप-कर्म्म सर्वथा विभक्त क्यों हैं? इसका उत्तर है-'स्वभाव'। घटत्व-पटत्व-मठत्वादि ने ही इनको भिन्न बना रक्खा है, एवं इसी ने इनकी स्वरूपरक्षा कर रक्खी है। यही सुप्रसिद्ध 'स्वभाव' 'धर्म्मपदार्थ' है। ब्राह्मण मे जो 'ब्राह्मणतत्त्व' है, (जिस ब्राह्मणत्व ने कि ब्राह्मणवर्ण को इतर वर्णों से पृथक् बना रक्खा है) वही धर्म्म है। क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व ही क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रवर्णों के भिन्न भिन्न धर्म्म हैं। जिस दिन इन वर्णों मे से ब्राह्मणत्वादि स्व-स्व धर्म्म निकल जायंगे, उस दिन इन धर्म्मभ्रष्ट वर्णों का स्वरूप ही उच्छिन्न हो जायगा। क्योंकि धर्म्म ही धर्म्मीपदार्थ की मूलप्रतिष्ठा है, एवं धर्म्मत्याग ही धर्म्मी-स्वरूप का विनाश है—'धर्म्म एव हतो हन्ति, धर्म्मो रक्षति रक्षितः'।

चारों वर्णों के स्वरूप सम्पादक प्राणदेवता भिन्न भिन्न हैं। अतएव चारों के धर्म्म भी भिन्न भिन्न ही माननें पड़ेंगे। ऐसी परिस्थिति में धर्म्मभेदभिन्न प्राणदेवताओं से उत्पन्न वर्णप्रजा का कभी समानधर्म्म नहीं हो सकता। धर्म्मभेद ही इन विभिन्न-धर्म्मियों की मूलप्रतिष्ठा है। आज इस प्राकृतिक धर्म्मभेद को लेकर अनेक प्रकार के कुतर्क उठाए जाते हैं। इनके निराकरण के लिए भारतीय सनातनधर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले धर्म्मभेद का मौलिक रहस्य आगे के परिच्छेदों में बतलाने की चेष्टा की जायगी। अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेनां पर्य्याप्त होगा कि, चातुर्वर्ण्य-धर्म्म 'वैदिक धर्म्म' है, वेद सत्य है, सत्य-

मयी वेद्वाक् ब्रह्म है। यही ब्रह्म जब-'ब्रह्म क्षत्र-विट् शूद्र-धर्म्म' इन पांच भावों में परिणत हुआ है, तो इसके वर्णों को, एवं वर्णधर्म्मों को कैसे सत्यमर्य्यादा से वाहिर किया जा सकता है। चारों में सबसे श्रेयोरूप 'ब्रह्म' है। जो नियति-लक्षणधर्म्म सर्वश्रेय स्वयं ब्रह्म तक का नियन्त्रण कर रहा है, उस सत्यधर्म्म के श्रेयस्त्व में क्या सन्देह रह जाता है"।

(५)—"एकाकी ब्रह्म अपनी वैभवकामना को चरितार्थ करने के लिए चातुर्वर्ण्य तथा वर्णधर्म्म रूप में परिणत हो गया। क्षरब्रह्म अक्षरसमुद्भव है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। एक ही प्रकृति के विभिन्न दो विवर्त्तों को 'अक्षर-क्षर' कहा जाता है। अमृत-प्रधाना प्रकृति 'अक्षर' है, मृत्युप्रधाना प्रकृति 'क्षर' है। एवं—'अन्तरं मृत्योरमृतं, मृत्यावमृत आहितः' के अनुसार दोनों अविनाभूत हैं। फलतः मृत्युधर्म्मावच्छिन्न क्षरब्रह्म का अमृतधर्म्मावच्छिन्न अक्षर के साथ अविनाभाव सिद्ध हो जाता है। इस अक्षरतत्व के 'ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम' नामक पांच पर्व माने गए हैं। पाचों में आद्य-त्र्यक्षर 'हृदयाक्षर' हैं, एवं अग्नि-सोमाक्षर 'पृष्ठ्याक्षर' हैं। इन हृद्य तीन अक्षरों की समष्टि ही 'अन्तर्य्यामी' है, एवं पृष्ठ्य दो अक्षरों की समष्टि ही 'सूत्रात्मा' है। हमारा क्षरब्रह्म हृद्य अन्तर्य्यामी के सहयोग से तो सत्यात्मिका 'धर्म्मसृष्टि' का प्रवर्त्तक बनता है, एवं पृष्ठ्य सूत्रात्मा के सहयोग से 'वर्णसृष्टि' का आरम्भक बनता है। धर्म्म-एवं धर्म्मी, दोनों प्राकृतिक सृष्टियों से ही क्रमशः पार्थिववर्णों, एवं वर्णधर्म्मसृष्टियों का विकास हुआ है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, उसके प्राकृतिक ब्रह्मवीर्य्यप्रधान ब्राह्मणदेवताओं से ब्राह्मणवर्ण का, क्षत्रवीर्य्यप्रधान क्षत्रियदेवताओं से क्षत्रियवर्ण का, विड्वीर्य्यप्रधान वैश्यदेवताओं से वैश्यवर्ण का, एवं शूद्रदेवता से शूद्रवर्ण का विकास हुआ है। इसी अभिप्राय से—'क्षत्रियेण क्षत्रियः, वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः' यह कहा गया है"।

(६)—"जो वर्ण अपने वर्णधर्म्म का अनुगमन न कर उत्पथ गमन करता है, उस वर्ण की क्या दशा होती है? छठी कंडिका इसी प्रश्न का समाधान कर रही है। वर्णधर्म्म ही 'स्वधर्म्म' है, एवं धर्म्मी आत्मा स्वधर्म्म से उसी तरह अभिन्न है, जैसे कि धर्म्मी अग्नि अपने तापलक्षण स्वधर्म्म से अभिन्न है। जो व्यक्ति अपने आत्मलक्षण धर्म्म को न पहिचानता हुआ परलोक गमन करता है, वह आत्मसुख से वञ्चित रह जाता है।

आगे जाकर वर्णधर्म्मरूप इस आत्मधर्म्म की अवश्य-कर्त्तव्यता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है कि, मान लो, एक ब्राह्मण वेदस्वाध्याय से वञ्चित है। 'साथ ही लोकसेवा

जैसे महापुण्यकर्म्म का वह अनुगामी बन रहा है। अपने स्वधर्म्मसिद्ध अध्ययनाध्यापन, वेदप्रचार, वेदगुप्ति, ज्ञानप्रसार आदि कर्म्मों का (अज्ञानवश) परित्याग कर सामयिक प्रवाह में पड़ते हुए उसने इतर लोकसेवा, कृषिकर्म्मादि कर्म्मों में आत्मसमर्पण कर रक्खा है। अवश्य ही लोकदृष्टि से इसके ये कर्म उत्तम माने जायँगे। परन्तु वर्णधर्म्ममर्य्यादा से च्युत होते हुए ये कर्म्म एक ब्राह्मण को शोभा नहीं देते। यदि सभी ब्राह्मण ऐसा करने लगेंगे, तो वेदगुप्ति को कैसे अवसर मिलेगा। उस सुधारप्रेमी ब्राह्मण को यह नहीं भुलाना चाहिए कि, उसका वर्णधर्म्म विरोधी कर्म्म यद्यपि बड़ा ही उत्तम है, परन्तु अन्ततोगत्वा स्वधर्म्म विरोध के कारण वह पतन का ही कारण बनता है। अतएव हम उन वर्णों को यह आदेश करते हैं कि वे आत्मलोकरूप स्व-स्व वर्णधर्म्मों का ही अनुगमन करें। आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए, समाज के अन्नवस्त्र के प्रश्न को हल करने के लिए ही तो सुधारप्रेमी ब्राह्मण वर्णधर्म्म विरोधी कर्म्मों मे प्रवृत्त होता है। परन्तु हम (श्रुति) उसे यह विश्वास दिलाते हैं कि, यदि प्रत्येक वर्ण अपने अपने कर्म्म मे नियतरूप से प्रतिष्ठित रहता है, तो उसकी, उसके कुटुम्ब की, उसके समाज की तथा राष्ट्र की सब आवश्यकताएँ अपने आप पूरीं हो जातीं हैं। यही वर्णमूला (क्षरब्रह्मकृता) वर्णसृष्टि का संक्षिप्त निदर्शन है।"

प्राकृतिकवर्णचतुष्टयी-परिलेखः— (सैषा—ब्रह्ममूला, वर्णकृता वा वर्णसृष्टिः)

१	१-अग्निः, २-सोमः, ३-सविता, ४-मित्रः, ५-बृहस्पतिः, ६-ब्रह्मणस्पतिः, ७-सरस्वती,	—ब्राह्मणा देवाः—ततो ब्राह्मणवर्णसृष्टिः
२	१-इन्द्रः, २-वरुणः, ३-सोमः, ४-रुद्रः, ५-पर्जन्यः, ६-यमः, ७-मृत्युः, ८-ईशानः,	—क्षत्रिया देवाः—ततः क्षत्रियवर्णसृष्टिः
३	१—वसवः, २—रुद्राः, ३—आदित्याः, ४—विश्वेदेवाः, ५—मरुद्गणः,	—वैश्या देवाः—ततो वैश्यवर्णसृष्टिः
४	१—पूषाप्राणः,	—शूद्रो देवः—ततः शूद्रवर्णसृष्टिः

१—ब्रह्मवीर्य्यम्—	दिव्यभावः—	ज्ञानमयः—	तन्मया ब्राह्मणा ।
२—क्षत्रवीर्य्यम्—	वीरभावः—	क्रियामयः—	तन्मया क्षत्रिया ।
३—विड्वीर्य्यम्—	पशुभावः—	अर्थमय —	तन्मया वैश्या ।
४—शौद्रवर्ण —	मृतभाव —	गुणमय —	तन्मया सच्छूद्रा ।

ब्रह्ममूला वर्णसृष्टि का संक्षिप्त स्वरूप पूर्व परिच्छेद में पाठकों के सम्मुख रक्खा गया।

अदिति-दितिमूला वर्ण-अवर्णसृष्टि—

अब एक दूसरी दृष्टि से वर्णसृष्टि का मौलिक रहस्य वर्णधर्म्मप्रेमियों के सामने रक्खा जाता है। हमें अपनी (मानवी) वर्णव्यवस्था का विचार करना है, एवं हमारा सम्बन्ध पृथिवीलोक से है। ऐसी दशा में पृथिवीलोक से सम्बन्ध रखनेवाली वर्ण-अवर्णव्यवस्था हमारे लिए विशेष उपयोगिनी सिद्ध होगी।

'इयं वै अदितिः' (कौ० ब्रा० ७।६) 'इयं वै दितिः' इत्यादि श्रौतवचन इसी पृथिवी को 'अदिति' कह रहे हैं, एवं इसी को 'दिति' मान रहे हैं। अदिति-दितिभाव परस्पर विरोधी हैं। जहाँ अदिति रहती है, वहाँ दिति नहीं रह सकती, एवं जहाँ दिति का साम्राज्य है, वहाँ अदिति का प्रवेश निषिद्ध है। ऐसी अवस्था में एक ही पृथिवी को अदिति-दिति, दोनों मान लेना कैसे सङ्गत हुआ? यह प्रश्न सामने आता है, और इस प्रश्न के समाधान के लिए सुप्रसिद्ध 'कश्यपप्रजापति' हमारे सामने उपस्थित होते हैं।

पुराणसिद्धान्त के अनुसार कश्यपप्रजापति की अदिति, दिति, कद्रू, विनता, सरा, दनु, काला आदि १३ पत्नियाँ मानी गई हैं। दक्षप्रजापति[1] की ६० कन्याओं में से १३ कन्याओं का पाणिग्रहण सम्बन्ध कश्यप के साथ हुआ है। उन १३ पत्नियों में से प्रकृत में 'अदिति-दिति' नाम की दो पत्नियाँ ही अभिप्रेत हैं। कश्यपप्रजापति के 'रेतसेक' से दिति-पत्नी के गर्भ से दैत्योपलक्षित ९९ असुर उत्पन्न हुए हैं, एवं उसी प्रजापति के रेतसेक से अदिति पत्नी

---

१ दक्षस्तु षष्टिकन्यास्तु, सप्तविंशतिमिन्दवे।
ददौ स दश धर्म्माय, कश्यपाय त्रयोदश ॥१॥
द्वे चैवाङ्गिरसे प्रादाद् द्वे कृशाश्वाय धीमते।
द्वे चैव भृगुपुत्राय चतस्रोऽरिष्टनेमिने ॥
—सर्वपुराणेषु।

के गर्भ से आदित्योपलक्षित ३३ देवता[१] उत्पन्न हुए हैं। इसी आधार पर अदिति 'देवमाता' कहलाई है, एवं दिति 'दैत्यजननी' कहलाई है।

'क्रान्तिवृत्त' नाम से प्रसिद्ध अपने नियत दीर्घवृत्त (अण्डाकारवृत्त) पर भूपिण्ड सूर्य्य को केन्द्र बना कर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। पृथिवी की यही क्रान्तिगति 'साम्वत्सरिकगति' नाम से प्रसिद्ध है। घूमते हुए भूपिण्ड में सूर्य्य का प्रवर्ग्य तेज समाविष्ट होता रहता है। जो सौर-प्रवर्ग्य तेज पृथिवी मे 'अन्तर्य्याम' सम्बन्ध में प्रतिष्ठित होता है, वह पृथिवी की अपनी वस्तु बन जाता है। पृथिवी की वस्तु बन कर यह तेज सूर्य्य की ओर अपना रुख कर लेता है। सूर्य्य की ओर जाते हुए सूर्य्य-समसाम्मुख्य-पार्थिव इसी दिव्य-तेजोमण्डल को 'अदिति' कहा जाता है। चूंकि इस पार्थिव तेजोमण्डल में सौरतेज अखण्ड-रूप से आता रहता है, अतएव इस मण्डल को 'अदिति' कहना अन्वर्थ बनता है। इस तेजोमय अदिति मण्डल के ठीक विरुद्ध भाग में, इसी मण्डल के आकार का जो छायामय, किंवा तमोमय पार्थिवमण्डल है, वही सौरप्रकाश-विच्छेद से 'दिति' कहलाया है। अदिति-मण्डल में प्रतिष्ठित वही पार्थिव प्राणाग्नि तेजोमय बनता हुआ, अतएव तेजःप्रधान देववर्ग का मुखस्थानीय बनता हुआ 'देवदूत' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव यज्ञिय देवता स्व-साम्वत्सरिक यज्ञ की सिद्धि के लिए इसी अग्नि को अपना दूत बनाते हैं, एवं इसी को अपना होता बनाते हैं, जैसा कि—'अग्निं दूतं वृणीमहे' (ऋक् सं० १।१२।१) 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋक् सं० १।१।१) इत्यादि मन्त्रवर्णनों से स्पष्ट है। दितिमण्डल में प्रतिष्ठित वही पार्थिव प्राणाग्नि तमोमय बनता हुआ, अतएव तमः-प्रधान असुरवर्ग का मुखस्थानीय बनता हुआ 'असुरदूत' कहलाया है। देवदूत अग्नि 'अग्नि' है, असुरदूत अग्नि 'सहरक्षा' है— (देखिए-शत० ब्रा० १।४।१।३४।)।

जहां तक पार्थिवप्राणाग्नि व्याप्त है, वहां तक पृथिवी (महिमा पृथिवी) की स्वरूप सत्ता मानी गई है, जैसा कि योगसङ्गति प्रकरण के 'वेदस्वरूप निर्वचन' नामक परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। भूपिण्ड को केन्द्र में रख कर अपने प्राणाग्नि से मण्डलाकार में

---

१ अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम !
आदित्या, वसवो, रुद्रा, अश्विनौ च परन्तप !
—वाल्मीकिः।

परिणत यही पार्थिववृत्त 'पृथिवी' है, एवं उक्तरूप से इसी के अदिति-दिति दो विभाग हैं। दोनों विभाग परस्परात्यन्त विरुद्ध होते हुए भी एक ही पृथिवीमण्डल के दो विभाग हैं, अतएव पृथिवी को ही अदिति कह दिया जाता है, एवं पृथिवी को ही दिति मान लिया जाता है। अदितिमण्डलोपलक्षिता तेजोमयी पृथिवी में प्रतिष्ठित, देवदूतलक्षण प्राणाग्नि की व्याप्ति २१ वें अहर्गण तक मानी गई है, एवं २१ वें अहर्गण तक व्याप्त इसी प्राणाग्नि के त्रिवृत्-पञ्चदश एकविंशस्तोमों में घन-तरल-विरलावस्थालक्षण अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन रूपों का (पूर्व की वेदनिरुक्ति में) अवस्थान बतलाया गया है। एवं उसी वेदनिरुक्ति में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, घनावस्थापन्न प्राणाग्नि (अग्नि) त्रिवृत्-स्तोमस्थानीय बनता हुआ पार्थिव है, तरलावस्थापन्न प्राणाग्नि (वायु) पञ्चदश-स्तोमस्थानीय बनता हुआ आन्तरिक्ष्य है, विरलास्थापन्न प्राणाग्नि (आदित्य) एकविंश-स्तोमस्थानीय बनता हुआ दिव्य है। इस प्रकार ३३ अहर्गणात्मक पार्थिव-वषट्कार के २१ वें अहर्गण तक व्याप्त, तेजोमयी अदिति मण्डलात्मिका एक ही महापृथिवी में स्तोमभेदसहकृत अग्नित्रयी के भेद से तीन लोकों की सत्तासिद्ध हो जाती है। महापृथिवी का त्रिवृत् प्रदेश पृथिवी है, वैदिक परिभाषा में पृथिवी को 'माता' कहा जाता है, इस दृष्टि से हम अदिति को 'माता' भी कह सकते हैं। महापृथिवी का पञ्चदश-प्रदेश अन्तरिक्ष है, एवं इस प्रदेश की दृष्टि से अदिति को 'अन्तरिक्ष' भी कहा जा सकता है। महापृथिवी का एकविंश-प्रदेश द्युलोक है, द्युलोक ही वैदिकपरिभाषानुसार 'पिता' कहलाया है, एवं इसी दृष्टि से अदिति को पिता भी कहा जा सकता है। तीनों रसों के सम्मिश्रण से ही पार्थिव प्रजा उत्पन्न होती है, एवं तीनों रसों के समन्वय से ३३ देवता अदितिगर्भ में जन्म लेते हैं, अतएव अदिति को 'पुत्र' भी कहा जा सकता है। इस प्रकार अपने त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-रससमन्वय, आदि विभिन्न भावों की अपेक्षा से महापृथिवीलक्षणा अदिति 'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-माता-पिता-अपत्य' सब कुछ बन रही है, सब कुछ मानी जा सकती है। अदिति पृथिवी की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

अदितिर्द्यौ, रदितिरन्तरिक्ष, मदितिर्म्माता, स पिता, स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

—ऋक् सं० १।८९।१०

त्रिवृत्स्तोम में प्रतिष्ठित अग्नि की अपेक्षा से यही अदिति 'प्रातःसवन' की, पञ्चदशस्तोम में प्रतिष्ठित वायु की अपेक्षा से यही अदिति 'माध्यन्दिनसवन' की, एवं एक विंशस्तोम में प्रतिष्ठित आदित्य की अपेक्षा से यही अदिति 'सायंसवन' की अधिष्ठात्री बन रही है। प्रातःसवनोपलक्षित प्रातःकाल से आरम्भ कर, सायंसवनोपलक्षित सायंकाल तक इसी अदिति का साम्राज्य है। एक ही अहःकाल उक्त तीन सवनों मे विभक्त हो रहा है। प्रातःसवन में प्रतिष्ठित अदितिपुत्रस्थानीय प्राणाग्नि 'ब्रह्म' है, माध्यन्दिनसवन में प्रतिष्ठित वायुगर्भित इन्द्र 'क्षत्र' है, एवं सायंसवन में प्रतिष्ठित विश्वेदेवात्मक आदित्य 'विट्' है। ब्रह्मवीर्य्य 'ब्राह्मणभाव' है, क्षत्रवीर्य्य 'क्षत्रियभाव' है विड्वीर्य्य 'वैश्यभाव' है।

पार्थिव तेजोयुक्त प्रातःकालीन सौरतेज ज्ञानशक्तिप्रधान बनता हुआ 'ब्राह्मण' है, मध्याह्न का सौरतेज क्रियाशक्तिप्रधान बनता हुआ 'क्षत्रिय' है, एवं सायंकालीन सौरतेज अर्थशक्तिप्रधान बनता हुआ 'वैश्य' है। प्रातःसवनीय अग्निदेवता अष्टाक्षर 'गायत्रीछन्द' से छन्दित बनता हुआ 'गायत्र' है, माध्यन्दिनसवनीय वायुगर्भित (मरुत्वान् नामक) इन्द्रदेवता एकादशाक्षर 'त्रिष्टुप्छन्द' से छन्दित होता हुआ त्रैष्टुभ' है, एवं सायंसवनीय आदित्यगर्भित विश्वेदेवता द्वादशाक्षर 'जगतीछन्द' से छन्दित बन कर 'जागत' है। गायत्र अग्नि 'ब्राह्मण' है, त्रैष्टुभ इन्द्र 'क्षत्रिय' है, एवं जागत विश्वेदेव 'वैश्य' है।

प्रातःकाल का ब्राह्म-सौरतेज 'वर्द्धिष्णु' है, मध्याह्न का क्षत्र-सौरतेज 'वृद्धिगत' है, एवं सायंकाल का विट्-सौरतेज 'क्षयिष्णु' है। जो स्थिति 'ब्रह्म' की है, वही स्थिति 'विट्' की है, दोनों के मध्य मे प्रतिष्ठित क्षत्र दोनों का शासन कर रहा है। इसी आधार पर— 'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति' कहा जाता है। क्षत्रबल मध्य में ऊँचा उठा हुआ है। ब्रह्म और विड्बल क्रमशः पूर्व-पश्चिम क्षितिज में प्रतिष्ठित रहते हुए समानधरातल पर प्रतिष्ठित हैं। इसी आधार पर—*'बाम्हन बनिए का जोड़ा' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। ब्राह्मण और* वैश्य का समन्वय प्राकृतिक है, परन्तु क्षत्रिय कभी इनके युग्म में नहीं आया करता। ठाकुरों की ठुकराई दोनों से कभी मेल नहीं खाती।

पार्थिवतेजोयुक्त सौर इन्द्रतत्त्व ('मघवा' नामक इन्द्रतत्त्व) 'गायत्री–सावित्री–सरस्वती' इन तीन प्रणालियों के भेद से क्रमशः 'ब्रह्म–क्षत्र--विट्--' वीर्य्यों की प्रतिष्ठा बनता है। प्रातःसवनीय, पार्थिव, प्राणाग्निप्रधान गायत्रप्रणाली से निकला हुआ सौरतेज 'ब्रह्म' है। माध्यन्दिनसवनीय, आन्तरिक्ष्य, वायुगर्भितइन्द्रप्रधान, सावित्रप्रणाली से आगत सौरतेज

'क्षत्र' है। एवं सायसवनीय, दिव्य, आदित्यगर्भित विश्वेदेवप्रधान, सारस्वतप्रणाली मे आया हुआ वही सौरतेज 'विट्' है। इस प्रकार गायत्र अग्नि, त्रैष्टुभ इन्द्र, जागत विश्वेदेव, ये तीनों सच्छन्दस्क प्राणदेवता ही (अदितिपृथिवी के गर्भ मे प्रतिष्ठित) प्रकृतिमण्डल के ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-वर्ण हैं। एवं तीनों क्रमशः ज्ञान-क्रिया अर्थ प्रधान है।

पूर्वप्रतिपादित सवनों मे से सारस्वत प्रणाली से सम्बन्ध रखनेवाला सायंसवन 'तेज-तमः' के भेद से दो भागों मे विभक्त हो रहा है। सायंकाल का कुछ भाग तो ऐसा है, जिस में प्रकाश रहता है, एव सायंकाल की ही एक ऐसी भी अवस्था मानी गई है, जिसमे प्रकाश नहीं रहता। सूर्य्यास्त हो गया, परन्तु प्रकृतिमण्डल मे अभी तक भूभा से प्रतिफलित सौरतेज विद्यमान है, धूप नहीं है, छायामय प्रकाश अवश्य है, यही सायंकाल की एक अवस्था है एवं इसी को 'तेजोमय सायसवन' माना गया है। भूभा का प्रतिफलन भी अस्त हो गया, सूर्य्य बिलकुल डूब गया, प्रकाश की आभा विलुप्त हो गई, अन्धकार आया तो नहीं, किन्तु उपक्रम हो गया, यही सायंकाल की एक अवस्था है, एवं इसी को 'तमोमय सायसवन' माना गया है।

दोनों मे से तेजोमय सायंसवन का 'विड्वीर्य्य' से सम्बन्ध है, एवं तमोमय सायंसवन से पूषाप्राणात्मक 'शूद्र' का सम्बन्ध है। तेजोमय सायंसवन मे तेजःप्रधान विश्वेदेवों के विकास से पार्थिव पूषा को विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। जब तेजोंऽश का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है, तभी पूषाप्राण स्वस्वरूप से प्रकट होता है। सायसवनीय, तमःप्रणाली से आया हुआ यह पूषाप्राण ही शूद्रसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। इस प्रकार अदितिमण्डलात्मक केवल अहःकाल मे ही 'प्रातःसवन—माध्यन्दिनसवन—तेजोमयसायंसवन—तमोमयसायंसवन' भेद से 'अग्नि—इन्द्र—विश्वेदेव—पूषा' प्राणों के द्वारा चारों वर्णों की प्रतिष्ठा सिद्ध हो जाती है।

यह तो हुआ अदितिमूलक वर्णभाव का सक्षिप्त विचार। अब क्रमप्राप्त दितिमूला अवर्णसृष्टि का भी विचार कर लीजिए। पृथिवी का वह आधामण्डल, जहाँ कि सौरतेज का सम्बन्ध नहीं होने पाता 'दितिमण्डल' है। तमोभाव के तारतम्य से इस दितिमण्डल के भी चार ही विभाग मान लिए गए हैं। 'वर्ण' का देवभाव से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों मे देवसम्बन्ध से ही 'वर्ण' का विकास होता है। जिसमे देवप्राण का विकास नहीं होता, देवप्राण तम के अतिशय से सर्वथा अनुद्बुद्ध रहता है, वह 'अवर्णसृष्टि' कहलाती है। अदितिगत तमोमय प्राण से ही चूंकि अन्त्यज-अन्त्यावसायी-दस्यु-म्लेच्छों का आत्मा सम्पन्न हुआ है, अतएव

इन्हें 'अवर्णप्रजा' ही माना जायगा। ब्राह्मणवर्ण, तथा अन्त्यज अवर्ण, दोनों का एक युग्म है। क्षत्रियवर्ण, तथा अन्त्यावसायीअवर्ण, दोनों का एक युग्म है। वैश्यवर्ण, तथा दस्यु अवर्ण, दोनों का एक युग्म है। एवं शूद्रवर्ण, तथा म्लेच्छ अवर्ण, इन दोनों का एक युग्म है। इस युग्मभाव का तात्पर्य्य यही है कि, जो श्रेणिविभाग-क्रम वर्णसृष्टि में है, वही श्रेणिविभाग-क्रम अवर्णसृष्टि में है। उत्तर-उत्तर वर्ण की अपेक्षा पूर्व-पूर्व वर्ण श्रेष्ठ है, एवं उत्तर-उत्तर अवर्ण की अपेक्षा पूर्व-पूर्व अवर्ण श्रेष्ठ है।

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, तीनों वर्णों के आत्मा में तेज का साक्षात् सम्बन्ध है, अतएव इन्हें 'वर्ण' कहा जाता है। शूद्रतेज चूंकि तमोभाग से युक्त है, साथ ही इसका कोई छन्द भी नहीं है, अतएव इसे 'अवरवर्ण' माना गया है। अवरवर्णता का दूसरा कारण है, पार्थिव पूषाप्राण। स्वयं पूषाप्राण अवरकोटि में प्रतिष्ठित पृथिवी का प्राण है। इसलिए भी तद्युक्त शूद्र को अवरवर्ण कहना न्यायसङ्गत बन जाता है। पूषाप्राण देवता है, एवं देवता देवता के स्पर्श से देवबल में कोई क्षति नहीं होती, अतएव अवरवर्णात्मक सच्छूद्रों को 'स्पृश्यशूद्र' माना गया है। तक्षा (खाती), अयस्कार (लुहार), गोप, नापित आदि सच्छूद्र हैं, एवं इनके स्पर्श से कोई दोष नहीं माना जाता। इन्हीं को अनिरवसित्त' (अवहिष्कृत) कहा गया है—'शूद्राणामनिरवसितानाम्' (पा० सू० २।४।१०)। दितिमण्डल के देवविरोधी आसुरभाव से सम्बन्ध रखनेवाले अन्त्यजादि चारों अवर्ण अस्पृश्य हैं, बहिष्कृत हैं। इन चारों निरवसितों में अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, ये तीन अवर्ण तो भारतीयप्रजा है, एवं चौथे म्लेच्छ अवर्ण का भारतवर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। महतर, चर्म्मकार, कोली, आदि अन्त्यज हैं। खटीक, वधिक आदि अन्त्यावसायी हैं। कञ्जर, भिल्ल, सांसी, आदि दस्यु हैं। वक्तव्यांश यही है कि, पृथिवी के अदिति-दिति भागों से ही वर्ण-एवं अवर्णसृष्टि का विकास हुआ है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

अदितिदितिमूला—
वर्णावर्णसृष्टिपरिलेखः—
२१
द्यौः
वायुः
अग्निः
आग्नाग्निः-आसुरः
रुद्राः - एकादश (११)
वसवः- अष्टौ (८)
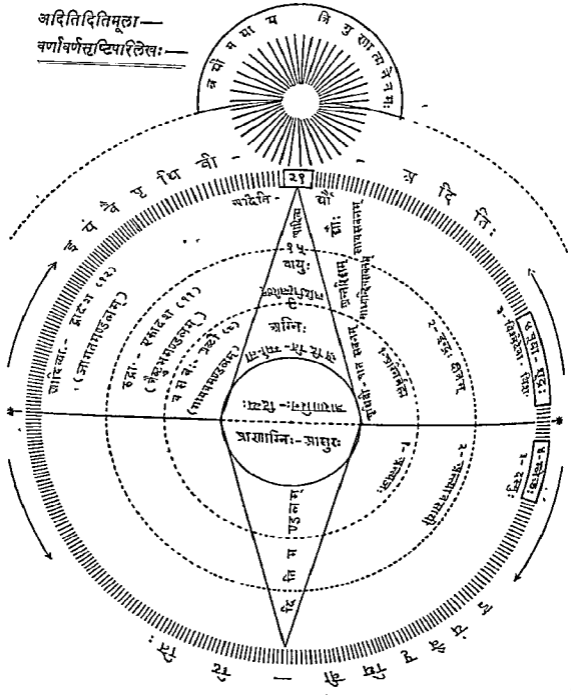
उक्त कथन से निष्कर्ष यह निकला कि, अदितिमण्डलस्थ ज्योतिर्म्मय देवता वर्णरूप हैं, एवं इनसे वर्णसृष्टि हुई है। तथा दितिमण्डलस्थ तमोमय असुर अवर्णरूप हैं, एवं इनसे अवर्ण-सृष्टि हुई है। दैवी, तथा आसुरी सम्पत् ही विश्व का स्वरूपलक्षण है। सर्वत्र सब में दोनों का साम्राज्य है, परन्तु कहीं दैवीविभूति का विकास, एवं आसुरीविभूति का तिरोभाव, कहीं आसुरी विभूति का विकास, एवं दैवीविभूति का पराभव 'गुणदोपमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी'।

अदिति से सम्बन्ध रखने वाली वर्णसृष्टि के सम्बन्ध में पूर्व मे कहा गया है कि, विश्व मे 'ब्रह्म--क्षत्र-विट्-' ये तीन वीर्य्य हैं, तीनों का क्रमशः 'गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती' इन तीन छन्दों से सम्बन्ध है, प्रातः गायत्री का साम्राज्य है, मध्याह्न में सावित्री का प्रभुत्व है, एवं सायंकाल जगती का शासन है, जो कि जगती सरस्वती से सम्बद्ध है। सवनत्रयी से सम्बन्ध रखने वाली 'गायत्री-सावित्री-सरस्वती' इन तत्त्वों का क्या स्वरूप है ? संक्षेप से यह भी जान लेना चाहिए।

सूर्य्य का वह तेज, जो सूर्य्य बिम्ब से निकल कर चारों ओर फैलता हुआ, हमारी ओर भी आ रहा है—'सावित्री' नाम से प्रसिद्ध है। केवल सौरतेज का ही नाम सावित्री नहीं हैं। क्योंकि सावित्री उस तत्त्व का नाम है, जो सविता से निकल कर चारों ओर फैलती है। सविताप्राण जहा-जहा रहेगा, सर्वत्र सावित्री का नित्य सम्बन्ध माना जायगा। प्रवर्त्तक पिण्डमात्र सविता हैं, एवं पिण्ड से निकलने वाला प्रेरक प्राण ही 'सावित्री' है। इस परिभाषा के अनुसार सर्वत्र सविता-सावित्री का अवस्थान सिद्ध हो जाता है, जैसा कि निम्न लिखित कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट है—

१—"मनः"—सविता—"वाक्"—सावित्री।
२—"प्राणः"—सविता—"अन्नं"—सावित्री।
३—"वेदाः"—सविता—"छन्दांसि"—सावित्री।
४—"यज्ञः"—सविता—"दक्षिणा"—सावित्री।
५—"अग्निः"—सविता—"पृथिवी"—सावित्री।
६—"वायुः"—सविता—"अन्तरिक्ष"—सावित्री।
७—"आदित्यः"—सविता—"द्यौः"—सावित्री।
८—"चन्द्रमाः"—सविता—"नक्षत्राणि"—सावित्री।

९—" अहः "—सविता—" रात्रिः "—सावित्री।
१०—" उर्ण्णं "—सविता—" शतं "—सावित्री।
११—" अभ्रं "—सविता—" वर्षं "—सावित्री।
१२—" विद्युत् "—सविता—"स्तनयित्नुः"—सावित्री।

"तमुपसङ्गृह्य पप्रच्छ—अधीहि भोः, कः सविता ? का सावित्री ? इति। 'मन' एव सविता, 'वाक्' सावित्री। यत्र ह्येव मनस्तद् (तत्र) वाक्, यत्र वै वाक्, तन्मनः। इत्येते द्वे योनी, एकं मिथुनम्। 'अग्नि' रेव सविता, 'पृथिवी' सावित्री। यत्र ह्येवाग्निस्तत् पृथिवी, यत्र वै पृथिवी, तदग्निरित्येते द्वे योनी, एकं मिथुनम्" इत्यादि। (गोपथब्राह्मण पू० १।३३ मौद्गल्यविद्या)।

उक्त परिभाषा के अनुसार अग्नि से निकलने वाला साक्षात् तेज भी 'सावित्री' कहलाएगा। दीपार्चि (दीपशिखा-लौ) सविता होगा, उसका साक्षात् (सीधा) प्रकाश 'सावित्री' कहलाएगा। गुरु सविता माना जायगा, गुरूपदेशलक्षण वाक् सावित्री कहलाएगी। सविता से निकल कर सीधा आनेवाला प्रकाश ही, प्राण ही, प्रेरणा ही सावित्री मानी जायगी। यही साक्षात् तेज किसी अन्य वस्तु से प्रत्याहत (टकराकर) होकर जब प्रतिफलित होगा, तो उस समय इसे सावित्री न कह कर 'गायत्री' कहा जायगा। उदाहरणार्थ, आता हुआ सौरतेज यदि सावित्री है, तो पृथिवी से टकरा कर वापस सूर्य्य की ओर जाता हुआ वही सौरतेज गायत्री है। प्रातःसवनीय पार्थिव अग्नि चूंकि इसी गायत्रतेज से युक्त रहता है, अतएव पृथिवी को, एवं पार्थिव अग्नि को 'गायत्री' कह दिया जाता है, जैसा कि—'या वै सा गायत्री-आसीत्, इयं वै सा पृथिवी' (शत० १।४।१।३४) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। अपिच पृथिवी (चित्यभूपिण्ड) का स्वरूप 'आपः—फेन—मृत्—सिकता—शर्करा-अश्मा—अयः—हिरण्य' इन आठ भागों में विभक्त है। एवं अष्टाक्षरछन्द को ही चूंकि 'गायत्रीछन्द' कहा जाता है, इसलिए भी अष्टावयवा पृथिवी को गायत्री कहना अन्वर्थ बनता है—(देखिए शत० ६।१।१।१५।)। इसके अतिरिक्त अग्निज्येष्ठ आठ वसुगणों के सम्बन्ध से भी पृथिवी अष्टाक्षरा बनती हुई गायत्री कहला रही है।

जिस प्रकार प्रातःसवनीय, प्रतिफलित सौरतेज 'गायत्री' है, तथा माध्यन्दिनसवनीय, साक्षात् सौरतेज जैसे 'सावित्री' है, एवमेव सायंसवनीय प्रतिफलित वही सौरतेज (गायत्री न कहला कर) 'सरस्वती' नाम से व्यवहृत हुआ है। कारण स्पष्ट है। प्रातःसवनीय गायत्र-

लोक 'पृथिवीलोक' है, माध्यन्दिनसवनीय सावित्रलोक अन्तरिक्ष लोक है, एवं सायंसवनीय सारस्वतलोक 'द्युलोक' है। 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' (कौ० ब्रा० १८।२) के अनुसार चौथा 'आपोलोक' है। यही 'सरस्वान्' नामक पारमेष्ठ्य समुद्र है। रात्रि में इसी सरस्वान् समुद्र के सौम्यप्राण की प्रधानता रहती है, अतएव रात्रि 'सौम्या' कहलाई है। इस सरस्वान् के सम्बन्ध से ही पारमेष्ठिनी वाक् 'सरस्वती' कहलाई है, जैसा कि पूर्व की वर्णनिरुक्ति में स्पष्ट किया जा चुका है। चतुर्थलोकाधिवासिनी इस सरस्वती के साथ तृतीय (द्यु) लोकस्थ प्रतिफलित सौरतेज का सम्बन्ध रहना प्रकृति सिद्ध है। इसी सम्बन्ध से यह सायंकालीन तेज 'गायत्री' न कहला कर 'सरस्वती' कहलाया है।

अग्नि गायत्र है, एवं अपने प्रतिफलनधर्म्म के कारण यह गायत्र तेज सर्वथा शान्त है। यही साक्षात् 'ब्रह्म' है। दूसरे शब्दों में गायत्री, किंवा गायत्र अग्नि ही ब्रह्मवीर्य्य की प्रतिष्ठा है, एवं यही वेदमात्रा गायत्री ब्राह्मणवर्ण का मूलधन है। सर्वथा शान्त, किन्तु विकासलक्षण अग्निरूपता से उत्तरोत्तर वर्द्धिष्णु यही ब्रह्मवीर्य्य इतर सब वीर्य्य-अवीर्य्यों का, वर्ण-अवर्णों का मूल है, जैसा कि—'सर्वं ब्रह्म स्वंभुवक्तं'—'सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्' इत्यादि स्मार्त्त-वचनों से प्रमाणित है। मध्याह्न का सावित्रतेज उग्र है, यही 'क्षत्र' है, एवं यही क्षत्रियवर्ण का मूलधन है। सायंकालीन सारस्वत तेज संकोचलक्षण सोम के सम्बन्ध से उत्तरोत्तर क्षयिष्णु है, यही विड्वीर्य्य है। एवं रात्रि का तमोभावापन्न तेज 'शूद्र' की प्रतिष्ठा है।

उक्त चारों वर्णों में वैश्य का सायंकालीन क्षयिष्णु सारस्वत तेज के साथ सम्बन्ध होने से ही वैश्य को 'प्रजा' कहा जाता है। इसी आधार पर श्रुतियों में 'विट्'-और प्रजा' शब्दों को अभिन्नार्थक माना गया है। सायंसवनीय, शान्त, किन्तु क्षयिष्णु, सारस्वत तेजोरूप इस विट् पर (इसके अन्नाद्यभाव से) माध्यन्दिनसवनीय, वृद्धिगत, सावित्र तेजोरूप क्षत्रीवीर्य्य का भी शासन है एवं प्रातःसवनीय, शान्त, किन्तु वर्धिष्णु गायत्रतेजोरूप ब्रह्मवीर्य्य का भी अनुशासन है।

पृथिवी में जहां 'अग्निब्रह्म' का साम्राज्य है, वहां अन्तरिक्ष में वायु, मरुत्वान् नामक इन्द्र, एवं चन्द्रमा का शासन माना गया है, तथा द्युलोक में सूर्य्य का आधिपत्य वतलाया गया है। पूर्वपरिभाषानुसार अग्नि-चन्द्रमा-सूर्य्य, तीनों का साक्षात् तेज सावित्री है, एवं यह सावित्र तेज ही क्षत्रियवर्ण का आत्मा वनता है। यही कारण है कि, समस्त आर्य्यावर्त्त में क्षत्रियवंश—'अग्निवंश-चन्द्रवंश-सूर्य्यवंश' भेद से तीन हीं प्रधान शाखाओं में विभक्त

हुआ है। विवस्वान् मनु के वंशज सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं, एवं इनका स्थान सर्वोच्च है। मनु-पुत्री इला के वंशज चन्द्रवंशी क्षत्रिय हैं, एवं इनका स्थान मध्यम है। इन चन्द्रवंशी क्षत्रियों की 'पुरु-अणु-द्रुह्यु-तुर्वसु-यदु' ये पांच शाख्या प्रधान थीं। यही पञ्चक वैदिक-इतिहास में 'पञ्चजन' नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इन पांचों में से पुरु और यदु तो भारतवर्ष में ही रहे, शेष तीनों वंश महाराज 'मान्धाता' द्वारा यूनान में निकाल दिए गए। स्वधर्मच्युत ये ही तीनों चन्द्रवंशी आगे जाकर 'यवनवंश' के मूलप्रवर्त्तक बने। पमार, परिहार, सोलंकी, चौहान, आदि वंश 'अग्निवंशी' कहलाए, एवं इनका तीसरा स्थान रहा, जैसा कि,—'गीताभूमिका प्रथमखण्ड' के- 'ऐतिहासिक सन्दर्भसङ्गति' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

सवनभेदभिन्न इस तेजोविभाग से प्रकृत में हमें यही कहना है कि, पृथिवी के (सम्वत्सरात्मक) अदिति भाग से तो वर्णसृष्टि हुई है, एवं दितिभाग से अवर्णसृष्टि हुई है। वर्णसृष्टि के आरम्भक अग्नि-इन्द्र-विश्वेदेव, तीनों देवता क्रमशः गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती छन्दों से छन्दित रहते हुए सच्छन्दस्क हैं, मर्य्यादित हैं, नियमितेच्छाचार-विहार-परायण हैं। चौथा शूद्रवर्ण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र प्राजापत्य अनुष्टुप् छन्द से छन्दित रहता हुआ नाममात्र का परच्छन्दानुवर्त्ती है, शेष चारों अवर्णशूद्र किसी छन्द से सम्बन्ध न रखते हुए स्वच्छन्द हैं, अमर्य्यादित हैं, यथेच्छाचार-विहारपरायण हैं। छन्दोमूलक इसी वर्णविज्ञान का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

१—"गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्,
२—त्रिष्टुभा राजन्यं (निरवर्त्तयत्),
३—जगत्या वैश्यं (निरवर्त्तयत्),
४—न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्"।

'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः'—'देवेभ्यश्च जगत्सर्वम्' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों के अनुसार चार वर्णों में विभक्त [1] देवात्मक प्राणदेवताओं से,

---

[1] देव शब्द जहां केवल सौर ३३ देवताओं का वाचक है, वहां 'देवता' शब्द देव-असुर-गन्धर्वादि यच्च-यावत् प्राणों का वाचक है। इसी आधार पर हमनें यहां ३३ वर्ण देवताओं को 'देवात्मक प्राणदेवता' कहा

एवं चार अवर्णों में विभक्त देवतात्मक प्राणरूप असुरदेवताओं से विश्वात्मक कार्य्य का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। 'कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते' इस न्याय के अनुसार विश्व के यचयावत् (जड़-चेतन, सर्वविध) पदार्थों में हम चातुर्वर्ण्यव्यवस्था मानने के लिए तय्यार हैं। सृष्टि का स्वरूप इसी प्राकृतिक वर्णव्यवस्था पर अवलम्बित है। आइए! पहिले चेतन-सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली वर्णव्यवस्था का ही विचार किया जाय।

जिन चेतन प्राणियों के आत्मा में जन्मतः गायत्र-ब्रह्म प्राण की प्रधानता रहेगी, वे (इतर सब प्राणों के रहने पर भी) 'तद्वाद' न्याय से 'ब्राह्मण' कहलाएंगे। जिनके आत्मा में इन्द्रादि क्षत्र देवताओं का प्राधान्य रहेगा, वे 'क्षत्रिय' कहलाएंगे। जिनके आत्मा में वसु-रुद्र-आदित्यादि (गणात्मक) विट्देवता प्रधान रहेंगे, वे 'वैश्य' कहलाएंगे, एवं जिनके आत्मा में पूपाप्राण का प्राधान्य रहेगा, वे 'शूद्र' नाम से प्रसिद्ध होंगे। अग्निप्रधान देवता 'ब्राह्मण' का आत्मा बना हुआ है। अग्नितत्त्व अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से नित्य युक्त है। एक एक वर्ष में (पृथिवी की एक एक साम्वत्सरिक परिक्रमा से) एक एक अग्निमात्रा की स्वरूप निष्पत्ति होती है। इस क्रम से आठवें वर्ष में अग्निब्रह्म पूर्ण बनता है। इसी समय ब्राह्मण में छन्दोलक्षण मर्य्यादा सूत्र का विकास होता है, जिसकी कि प्रतिकृति 'यज्ञोपवीत' माना गया है। इन्द्रप्रधान देवता क्षत्रिय का आत्मा है। इन्द्रतत्त्व एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द से नित्य युक्त है। इस दृष्टि से ११ वें वर्ष में क्षत्रिय बालक के लिए यज्ञोपवीत संस्कार का विधान हुआ है। आदित्य-प्रधान देवता वैश्य का अत्मा है। आदित्यतत्त्व द्वादशाक्षर जगतीछन्द से नित्य युक्त है। अतएव वैश्यबालक १२ वें वर्ष में यज्ञोपवीत का अधिकारी बनता है। शूद्र का अच्छन्दस्क पूपाप्राण से सम्बन्ध है, अतएव यह यज्ञमर्य्यादा से बहिष्कृत है। यज्ञ का सम्वत्सर मण्डल से सम्बन्ध है, किंवा सम्वत्सरमण्डल का ही नाम यज्ञ है। सम्वत्सर को अदितिमण्डल माना गया है। इस अदितिमण्डल में गायत्र अग्नि, त्रैष्टुभ इन्द्र, जागत आदित्य, इन तीन प्राण-देवताओं का ही साम्राज्य है। चौथा पूपाप्राण भूपिण्ड से सम्बन्ध रखता हुआ यज्ञात्मक अदिति मण्डल से, महापृथिव्यात्मक सम्वत्सरयज्ञमण्डल से बहिर्भूत है। अतएव तत् प्रधान शूद्र भी प्रकृत्या यज्ञ में अनधिकृत है। अतएव इसे यज्ञोपवीत-संस्कार का अनधिकारी माना

है, एवं ९९ अवर्ण असुरों को देवता कहा है। इस विषय का विवेचन 'शतपथ विज्ञानभाष्य' के-'अष्टविध देवता निरूपण' प्रकरण में देखना चाहिए।

गया है, जैसा कि, आगे आने वाले **'संस्कारविज्ञान'** प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

पाठकों को स्मरण होगा कि, हमनें पूर्व में मनः-प्राण-वाङ्मूर्त्ति, सत्तालक्षण, कर्म्माव्यय को, किंवा तदनुगृहीत क्षरब्रह्म को ही वर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक बतलाया था। उक्त वर्णसृष्टि के साथ इन छन्दोभावों का समन्वय करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि, ज्ञानमय मन ही 'ब्रह्म' है, क्रियामय प्राण ही 'क्षत्र' है, अर्थमयी वाक् ही 'विट्' है, एवं प्रवर्ग्यलक्षण भूतभाग ही 'शूद्र' है। इन चारों का मूल वही क्षरब्रह्मतत्व है। ज्ञान साक्षात् ब्रह्म है—**'तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्'**। अर्थ-क्रिया-आदि इतर भावों की परिसमाप्ति ज्ञान मे ही होती है। ज्ञान ही अर्थ-क्रिया-उच्छिष्ट रूप विश्व का प्रभव है, ज्ञान ही प्रतिष्ठा है, ज्ञान ही परायण है। क्षत्रवीर्य्य का काम कर्म्म करना है, विड्वीर्य्य का काम कर्म्म करना है। भोक्ता तो एकमात्र ब्रह्म ही बनता है।

मन के द्वारा वही अव्यय ब्रह्मवीर्य्य की, प्राण के द्वारा क्षत्रवीर्य्य की, एवं वाक् के द्वारा विड्वीर्य्य की प्रतिष्ठा बना हुआ है। मनः-प्राण-वाक् की समष्टि ही 'सत्ता', किंवा 'अस्तित्व' है। एवं यही अव्यय ब्रह्म का 'अमृतरूप' है। मन से उत्पन्न रूपों का, प्राण से उत्पन्न कर्म्मों का, एव वाक् से उत्पन्न नामों का समुच्चय ही उसका मर्त्यरूप है। मर्त्यभाग अमृत से अविनाभूत है। अमृतभाग वर्णरूप है। जब कि इस अस्तिलक्षण अमृताव्यय का कहीं भी अभाव नहीं, तो हम कह सकते हैं कि, ससार मे ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जिसमें कि वर्णव्यवस्था न हो। सभी 'अस्ति' से युक्त हैं। सृष्टि के आरम्भ मे केवल 'ब्रह्म रूप से प्रतिष्ठित वह एक ही वर्ण सृष्टिदशा में अपने स्वाभाविक कर्म्म की महिमा से 'चातुर्वर्ण्य' रूप में परिणत हो गया है, जैसा कि निम्न लिखित व्यास वचन से स्पष्ट है—

न विशेषोऽस्ति (आसीत्) वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णतां गतम् ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, १८८ अ० । १० श्लोक।

कितनें एक कल्पना रसिक उक्त वचन को आगे करते हुए बड़े आग्रह के साथ वर्णव्यवस्था का कर्म्ममूलत्व सिद्ध करते देखे गए हैं। वास्तव मे व्यवस्था तो यह कर्म्ममूला ही है। परन्तु उन काल्पनिकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, वह कर्म्म हमारा नहीं है, अपितु

अव्ययेश्वर का कर्म्म है। कर्म्माव्यय ही वर्णव्यवस्था का प्रवर्त्तक है। उसने अपने मनः-प्राण-वाग्-रूप कर्म्मभाग से ही अपने एकरूप ब्रह्मवर्ण को 'ज्ञान-क्रिया-अर्थ-उच्छिष्ट' भागों में विभक्त करते हुए वर्णव्यवस्था की है। जोकि व्यवस्था अव्ययेश्वर सम्बन्ध से कर्म्ममूला बनती हुई भी हमारे लिए विशुद्ध जन्ममूला ही बन रही है। अस्तु. वर्णव्यवस्था जन्मना है ? अथवा कर्म्मणा ? इन प्रश्नों की मीमांसा आगे होने वाली है। प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि, सनालक्षण, कर्म्ममूर्त्ति, अव्यय ब्रह्म ही क्षरावच्छेदेन वर्णों का प्रभव है, एवं समष्टि व्यष्टि रूप से चर-अचर पदार्थों में सर्वत्र यह व्यवस्था व्याप्त हो रही है।

विना चातुर्वर्ण्य के किसी भी पदार्थ का अस्तित्त्व नहीं रह-सकता। वृक्ष-कृमि-कीट-पशु-पक्षी-सरीसृप-मनुष्य-देवता गन्धर्व" आदि सब मे (प्रत्येक मे) चारों वर्णों का भोग हो रहा है। लेखिनी, पुस्तक, मसीपात्र, वस्त्र, गृह, आभूषण, द्रव्य, आदि आदि मे सर्वत्र इस-व्यवस्था का साम्राज्य है। जिस प्रकार महादशा, दशा, अवान्तरदशा, अन्तरदशा, प्रत्यन्तरदशा, सूक्ष्मान्तरदशा, प्राणदशा, आदि के क्रम से दशाएं परस्पर ओतप्रोत हैं, एवमेवपरमाणु परमाणु मे हमारे ये चारों वर्ण व्याप्त हो रहे हैं।

उदाहरण के लिए पुस्तक' पर ही दृष्टि डालिए। पुस्तक में जो एक प्रतिष्ठा (ठहराव, धृति-विधृति) है वही ब्रह्ममूलक 'ब्राह्मणवर्ण' है। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।७) के अनुसार प्रतिष्ठा ही ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन हैं। पुस्तक मे रहने वाला आदान-विसर्गात्मक क्रियाभाग ही 'क्षत्रियवर्ण' है। इसी ने अपने क्षात्रधर्म्म से पुस्तक की स्वरूप रक्षा कर रक्खी है। इसी स्वाभाविक क्षत्रक्रिया से पुस्तक की अवस्थाओं मे परिवर्त्तन होता रहता है। पुस्तकरूप वह अर्थभाग (पदार्थ) विड्मूलक वैश्यवर्ण है, जिसके कि आधार पर प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म, एव क्रियालक्षण क्षत्र प्रतिष्ठित हैं। प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म, एवं क्षत्रलक्षण क्रिया, दोनों से यह विट्-लक्षण पुस्तक नामक पदार्थ सुरक्षित रहता हुआ अपनी वैश्यमूला 'गुप्तमर्य्यादा' का अधिकारी बन रहा है। ब्रह्मप्रतिष्ठा की उत्क्रान्ति से जिस दिन क्षत्रक्रिया उत्क्रान्त हो जायगी, उस दिन विट्-अर्थ (पुस्तक) स्मृतिगर्भ मे विलीन हो जायगा। पुस्तकरूप अर्थ, अपने अर्थभाव की पुष्टि के लिए अन्य वस्तुओं के जिन प्रवर्ग्य भागों का आदन कर रहा है, वे ही प्रवर्ग्यभाग, एवं रूप-नाम-संख्या-परत्त्व-अपरत्त्व-गुरुत्त्व-दिकृत्त्व आदि बहिरङ्ग (आश्रित) धर्म्म, सब शूद्रकोटि मे अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार केवल पुस्तक मे 'प्रतिष्ठा-क्रिया-अर्थ-बहिरङ्गधर्म्म' भेद से चारों वर्णों का उपभोग हो रहा है।

ब्रह्मभावोपेत मनुष्य 'ब्राह्मण' है, क्षत्रभावोपेत मनुष्य क्षत्रिय है' विड्भावोपेत मनुष्य 'वैश्य' है, एवं पूषायुक्त मनुष्य 'शूद्र' है। अब केवल ब्राह्मण में ही चारों वर्णों का समन्वय देखिए। ज्ञानशक्तियुक्त 'मस्तक' ब्राह्मण है, क्रियाशक्तियुत वक्षस्थल तथा बाहू क्षत्रिय है, भुक्त-सम्पत्ति का अधिष्ठाता अर्थशक्तियुत उदर 'वैश्य है, एवं सेवाभावपरायण पैर शूद्र है। केवल मस्तक विवर्त्त पर दृष्टि डालिए। अग्निमय वागिन्द्रिय ब्राह्मण है वायुमय प्राणेन्द्रिय (नासे-न्द्रिय) क्षत्रिय है, आदित्यमय चक्षुरिन्द्रिय वैश्य है, सोममय श्रोत्रेन्द्रिय शूद्र है। वाग्ब्रह्म बोलने में कुशल है प्राणक्षत्रिय श्वासप्रश्वासात्मक पौरुष कर्म्म में कुशल है चक्षुर्वैश्य देखभाल क्रिया करता है, श्रोत्रशूद्र सुनने मात्र में अधिकृत है। केवल वाग्विवर्त्त (शब्दविवर्त्त) पर दृष्टि डालिए। सर्वालम्बन अतएव ब्रह्मस्थानीय स्फोट ब्राह्मण है, स्वर क्षत्रिय है, स्वरयुक्त वर्ण वैश्य है, विशुद्ध व्यञ्जन शूद्र है।

एक अङ्गुली में चारों वर्णों का उपभोग देखिए। अङ्गुली उठाने से पहिले—मैं अङ्गुली उठाऊं' यह कामना ही (ज्ञानमयी बनती हुई) ब्रह्म, किंवा ब्राह्मण है। कामनानुसार अङ्गुली का हिलना' (क्रिया) क्षत्रिय है। अङ्गुल्यवच्छिन्न अस्थिमांसादि अर्थ (भूतभाग) वैश्य है। लोम-संख्या-परत्व-गुरुत्वादि बहिरङ्ग धर्म्म शूद्र हैं। इस प्रकार सर्वत्र वर्णव्यवस्था का साम्राज्य प्रतिष्ठित हो रहा है, जैसा कि पाठक आगे चल कर देखेंगे।

इसी प्रकार गौ-अश्व-सर्प-श्वान-काक-आदि पशु पक्षियों में भी वर्णविभाग व्यवस्थित रूप से उपलब्ध हो रहा है। शुक्ल गौ ब्राह्मण है, रक्त गौ क्षत्रिय है, पीत गौ वैश्य है, कृष्ण गौ शूद्र है। सर्पजाति के चारों वर्ण भी सुप्रसिद्ध हैं ही। सर्पों के वर्णों का दिग्दर्शन कराते हुए सर्वश्री सुश्रुताचार्य कहते हैं—

१—मुक्ता रूप्यप्रभा ये च कपिला ये च पन्नगाः।
सुगन्धिनः सुवर्णाभास्ते जात्या ब्राह्मणाः स्मृताः॥ (२४)।

२—क्षत्रियाः स्निग्धवर्णास्तु पन्नगा भृशकोपनाः।
सूर्य्य-चन्द्राकृति-च्छत्र लक्ष्म तेषां तथाम्बुजम्॥ (२५)।

३—कृष्णा वज्रनिभा ये च लोहिता वर्णतस्तथा।
धूम्राः पारावताश्चैव वैश्यास्ते पन्नगाः स्मृताः॥ (२६)।

४—महिषद्वीपिवर्णाभास्तथैव परुषत्वचः ।
भिन्नवर्णाश्च ये केचिच्छूद्रास्ते परिकीर्त्तिताः ॥ (२७) ।

—सुश्रुत, कल्पस्थान, सर्पदष्टविषविज्ञानीयाध्याय ४ ।

भूपिण्ड से सम्बद्ध सूर्य्यसम्मुखा तेजोमयी अदिति अग्नि—इन्द्र—आदित्य—पूषा प्राणात्मक ज्ञानक्रिया-अर्थ-प्रवर्ग्य-भावों से ब्रह्म क्षत्र-विट्-शूद्र भावों की प्रवर्त्तिका बनती हुई वर्णसृष्टि की अधिष्ठात्री बन रही है, एवं भूपिण्ड से सम्बद्ध सूर्य्यविरुद्धा तमोमयी दिति तारतम्येन चतुर्द्धा विभक्त तमोभावों से अवर्णसृष्टि की प्रवर्त्तिका बन रही है, एवं अदिति-दितिमूला यह वर्ण-अवर्णसृष्टि सर्वत्र तारतम्येन व्याप्त है, यही प्रकरणनिष्कर्ष है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्ट है—

१—अदितिमण्डलोपलक्षिता—वर्णव्यवस्था—

१—प्रातःसवनम्—	गायत्रम्—	अग्निः—	ब्रह्म	(ब्राह्मणवर्णविकासः)
२—माध्यन्दिनं सवनम्—	त्रैष्टुभम्—	इन्द्रः—	क्षत्रम्	(क्षत्रियवर्णविकासः)
३—तेजोमयं सायंसवनम्—	जागतम्—	विश्वेदेवाः—	विट्	(वैश्यवर्णविकासः)
४—तमोमयं सायंसवनम्—	आनुष्टुभम्—	पूषा—	शूद्रः	(सच्छूद्रवर्णविकासः)

१—गायत्रप्रणाली—	अग्निमयी—	ब्रह्मवीर्य्यप्रवर्त्तिका—	दिव्यभावोपेता ।
२—सावित्रप्रणाली-	इन्द्रमयी—	क्षत्रवीर्य्यप्रवर्त्तिका—	वीरभावोपेता ।
३—सारस्वतप्रणाली—	विश्वेदेवमयी—	विड्वीर्य्यप्रवर्त्तिका-	पशुभावोपेता ।
४—तामसप्रणाली—	पूषाप्राणमयी—	शूद्रबलप्रवर्त्तिका—	मृतभावोपेता ।

२—दितिमण्डलोपलक्षिता—अवर्णसृष्टिः—

१—साधारणं तमः—	ततः—	अन्त्यजविकासः ।
२—वृद्धिगतं तमः—	ततः—	अन्त्यावसायिविकासः ।
३—निबिडं तमः—	ततः—	दस्युविकासः ।
४—असुर्य्यं तमः—	ततः—	म्लेच्छविकासः ।

पूर्वपरिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि, वर्णसृष्टि का परस्पर में स्पृश्य व्यवहार शास्त्रसम्मत है, एवं अवर्णसृष्टि वर्णप्रजा के लिए सर्वथा अस्पृश्य है। शास्त्रसिद्ध इस 'स्पृश्यास्पृश्य' विवेक को लेकर आज भारतवर्ष के उन्नतिशील क्षेत्र में बड़ा कोलाहल मचा हुआ है। वैदिकतत्त्वानभिज्ञ कितने एक प्रतिष्ठित महानुभावों की दृष्टि में, एवं 'दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' (कठोपनिषत् १।२।५।) को चरितार्थ करने वाले इन प्रतिष्ठित महानुभावों के अन्धानुयायी कुछ एक सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में 'अस्पृश्यता हिन्दूजाति का कलङ्क' बन रहा है। सम्भव है, इन की दृष्टि तत्त्वद्रष्टा आप्त महर्षियों की आर्षदृष्टि से भी कहीं अधिक सूक्ष्म हो, और अपनी इसी दिव्यदृष्टि के बल पर इन महारथियों ने यह आन्दोलन खड़ा किया हो। परन्तु शास्त्रनिष्ठ, एक आस्तिक भारतीय तो उनके इस 'कलङ्क' शब्दोच्चारण को ही हिन्दूजाति का कलङ्क मानेगा।

स्पृश्यास्पृश्यविवेक—

हम मानते हैं कि, मनुष्यत्व चारों वर्णों का समानधर्म्म है, परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी मानना पड़ता है कि, प्राकृतिक प्राण देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि विशेषधर्म्म चारों के लिए सर्वथा नियत हैं। सामान्यधर्म्म जहां हमारे सामान्य स्वरूप की रक्षा करते हैं, वहां विशेषधर्म्म विशेष स्वरूपों के रक्षक माने गए हैं, और ऐसे सामान्यधर्म, जो यत्रतत्र विशेष धर्मों के घातक सिद्ध होते हैं, अपवादमर्य्यादा के प्राबल्य से उन उन अवसरों पर उन सामान्य धर्म्मों का परित्याग कर विशेष धर्म्मों की ही रक्षा की जाती है।

यह ठीक है कि, अन्त्यजादि अवर्णों से स्पर्श सम्बन्ध करने से प्रत्यक्ष में वर्णों की कोई हानि प्रतीत नहीं होती। परन्तु जिस प्रकार प्रत्यक्ष में न दिखाई देने वाला भी सूक्ष्मकीटाणुसंक्रमण सर्वमान्य है, एवमेव अन्तर्जगत् से सम्बन्ध रखने वाला यह दोष भी केवल बाह्य-प्रत्यक्ष दृष्टि के बल पर यों ही नहीं टाला जा सकता। किसी बुरी भावना से शास्त्र ने अन्त्यजादि को अस्पृश्य माना हो, यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो बुद्धिवादी यह कहते हैं कि, 'शास्त्र ब्राह्मणों के बनाए हुए हैं, अतः उन्होंने पदे पदे अपना ही श्रेष्ठत्त्व सिद्ध किया है'। इस कथन को हम इस लिए कोई महत्त्व नहीं देना चाहते कि, हमारे बुद्धिवादी सहयोगी अभी शास्त्र के स्वरूपज्ञान से सर्वथा असंस्पृष्ट हैं। शास्त्र किसी के भी बनाए हुए हों, इस कलह का कोई अवसर नहीं है। 'शास्त्र प्रमाणभूत है' इस सिद्धान्त पक्ष को

लेकर ही विचार किया जा सकता है। एवं शास्त्र-प्रामाण्य के आधार पर ही वे बुद्धिवादी भी अपने उपासनाकाण्ड को सुरक्षित रख सकते हैं। 'शूद्रों को मन्दिर में जाने देना चाहिए' उनका यह आग्रह बिना शास्त्रनिष्ठा के इस लिए सर्वथा निरर्थक बन जाता है कि, मन्दिर-गमन, मूर्त्तिदर्शन, आदि सभी विषय एकमात्र शास्त्रप्रमाण पर ही अवलम्बित हैं। ऐसी दशा में उन बुद्धिवादियों को आज से ही यह घोषणा कर देनी चाहिए कि, हम 'शास्त्र' नाम की किसी वस्तु को नहीं मानते। जिस दिन वे यह घोषणा कर देते हैं, उनके किसी ऐसे आक्षेप-प्रत्याक्षेप-आन्दोलन आदि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, जिनका कि शास्त्रनिष्ठा से ही सम्बन्ध है। फिर तो न वर्णचर्चा है, न वर्णधर्म्म चर्चा है, न शास्त्रीय नियन्त्रण है। यदि वे यह चाहते हैं कि, शूद्रों का स्पर्श किया जाय, सहभोजन किया जाय, उन्हें मन्दिरों में जाने दिया जाय, तो तत्काल उनके मार्ग में शास्त्रभित्ति उपस्थित हो जाती है। और वह कहने लगती है कि, ठहरिए! क्या करते हैं। जिसने आपको मन्दिरों का महत्त्व बतलाया, वर्णविभाग किया, पहिले उससे पूंछ लीजिए, और वह इस सम्बन्ध में अपना जो निर्णय करे, उसी का अनुगमन कीजिए। एक ओर सर्वथा उच्छृङ्खल, पतन का मार्ग खुला है, दूसरी ओर सुव्यवस्थित, अभ्युदय का प्रशस्त पथ खुला है? बोलिए! किधर जाना है? प्रशस्तपथ की ओर। वहां आपके सामने अस्पृश्ता के सम्बन्ध में समीक्रिया-सिद्धान्त द्वारा अस्पृश्यता का समर्थन ही मिलेगा।

प्राणदेवताओं का प्रधान धर्म्म है—'समीक्रिया'। दूसरे शब्दों में देवता सदा समीक्रिया के ही अनुगामी बने रहते हैं। शीत जल में उष्ण जल डाल दीजिए, अथवा उष्ण जल में शीत जल डाल दीजिए, दोनों का समीकरण हो जायगा। इस समीकरण का परिणाम यह होगा कि, शीतजल गरम तो होगा ही नहीं, गरम जल अपनी गरमी, अवश्य खो बैठेगा। संस्कारों से संस्कृत वर्णप्रजा के अन्तर्जगत् में प्राणदेवता अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित हैं। उधर असंस्कृत अवर्णप्रजा में देवप्राण एकान्ततः अभिभूत है। ऐसी दशा में यदि एक संस्कृत-द्विजाति असंस्कृत अवर्ण का स्पर्श करेगा, तो स्पर्शद्वारा द्विजाति का देवप्राण अवर्ण में संक्रान्त हो जायगा। उधर तमःप्रधान अवर्ण में देवप्राण को अन्तर्य्याम बनाने वाले बीज का अभाव है। इस अभाव से स्पर्शद्वारा आगत देवप्राण अवर्ण का तो कोई उपकार न कर सकेगा, एवं वर्ण का अपकार निश्चयेन कर डालेगा। इस सङ्करदोप-निरोध के लिए ही स्पृश्यास्पृश्य-विवेक हुआ है।

कितनें एक संशोधक यह भी कहते सुने गए हैं कि, "यह सब आडम्बर विशुद्ध पौराणिक काल से सम्बन्ध रखता है। पुराणयुग में ब्राह्मणवर्ण का पूर्ण आधिपत्य था। अतः स्वस्वार्थसिद्धि के लिए उन्होंनें हीं ऐसी अमानुष कल्पना कर डाली है। वस्तुतः भारतीय मौलिक वैदिक साहित्य में, एवं वैदिककाल में इस प्रथा का नाम लेश भी नहीं है"। कहना न होगा कि, वर्त्तमान युग के इन संशोधकों के लिए पुराण-स्मृति-श्रुति सब कुछ 'कृष्णाक्षर महिषतुल्य' (कालाअक्षर, भैंस बराबर) को सवासोलहन आना चरितार्थ कर रहा है। तभी तो संशोधक महोदय ऐसी मिथ्या कल्पनाओं की सृष्टि किया करते हैं। जो पुराण वेदशास्त्र का उपबृंहणमात्र करते हैं, जो स्मृतियां श्रुत्यर्थ का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त हुई हैं, उन पुराणों तथा स्मृतियों नें श्रुतिविरुद्ध अर्थ की कल्पना कर डाली हो, और वह भी श्रुतिनिष्ठ आर्य्य-प्रजा में विश्वास जमा बैठी हो, यह कौन स्वीकार करेगा ? जिन सिद्धान्तों का स्मृत्यादि में विस्तार से निरूपण हुआ है, श्रुति में उन सबका मूल यथावत् सुरक्षित है। आप स्पर्श की बात कहते हैं। कितनें एक विशेपस्थलों में तो श्रुति ने शूद्र के साथ सम्भाषण तक निषिद्ध माना है। न केवल स्पर्श से ही, अपितु सहासन, सहभाषण आदि से भी देवप्राण-संक्रान्त हो जाता है। देखिए, श्रुति क्या कहती है—

"तन्न सर्वं इवाभिप्रपद्येत–ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा। ते हि यज्ञियाः। स वै न सर्वेणेव संवदेत। देवान्वा एष उपावर्त्तते, यो दीक्षते। स देवानामेको भवति। न वै देवाः सर्वेण संवदन्ते। (अपितु) ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्वेन वा। ते हि यज्ञियाः। तस्माद्यद्येनं शूद्रेण सम्वादो विन्देत्-एतेषामेवैकं ब्रूयात्-'इममिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्व'। एष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः"।

—शत० ३।१।१।७।

ज्योतिष्टोमयज्ञ में दीक्षित यजमान मानव-संस्था से निकल कर देवसंस्था में आ जाता है, देवता बन जाता है। इसी के लिए उक्त आदेश प्रवृत्त हुआ है। आदेश का तात्पर्य यही है कि "दीक्षित यजमान अपने आध्यात्मिक प्राणदेवताओं का आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ योग कराने वाला है। ऐसी दशा में इसका यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह उन भावों का, उन व्यक्तियों का संसर्ग सर्वथा छोड़ दे, जो कि जन्म से ही देवप्राणविभूति से वञ्चित हैं। वह सब के साथ व्यवहार न कर यथासम्भव तो ब्राह्मण वर्ण के साथ ही (वैव)

व्यवहार करे, आवश्यकताविशेष होने पर क्षत्रिय तथा वैश्य के साथ भी व्यवहार कर ले। क्योंकि अदितिमूलक सम्वत्सरयज्ञमण्डल से उत्पन्न होने के कारण ये तीनों वर्ण यज्ञियवर्ण हैं। तत्त्वान्वेषण द्वारा हम देखते हैं कि, इन यज्ञिय देवप्राणों का सबके साथ सम्बन्ध न होकर केवल ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यवर्णों के साथ ही सम्बन्ध है। यदि कभी कोई ऐसा अवसर उपस्थित हो जाय, जब कि शूद्र से बातचीत किए बिना काम न चले, तो भी यह स्वयं उनसे बात न कर इन तीनों वर्णों में से ही किसी एक वर्ण को मध्यस्थ बना कर उसी के द्वारा अपनी आवश्यकता पूरी कर ले"।

उक्त विधान सच्छूद्र से सम्बन्ध रखता है। यज्ञेतर-सामान्य व्यवहारकाण्ड में सच्छूद्र व्यवहार्य माना गया है, परन्तु यज्ञकाल में इसका भी बहिष्कार है। सुतरां अवर्णों का निरवसितभाव सर्वकालिक सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार एक स्थान में दीक्षित यजमान को इन अवर्णों को, एवं तत्सम इतर पदार्थों को न देखने तक का आदेश उपलब्ध होता है। क्योंकि दृष्टिसूत्र द्वारा भी देवप्राण अन्य में संक्रमण कर जाता है। देखिए!

१—'असतो वा एष सम्भूतः—यच्छूद्रः' (तै० ब्रा० ३।२।३।९)।

२—'अनृतं-स्त्री-शूद्रः-श्वा-कृष्णः शकुनिः (काकः),
तानि न प्रेक्षेत' (शत० ब्रा० १४।१।१।३१।)

कल्पना ही जो ठहरी। 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' न्याय जो सुप्रसिद्ध है। कल्पनावादी कहा करते हैं, 'ब्राह्मणभाग' वेद नहीं है। वेद तो मूलसंहिता का ही नाम है, और मूलसंहितालक्षण वेद में न यह जांत-पांत (जाति-पंक्ति) का झगड़ा है, न स्पृश्यास्पृश्य का कलह। कोई चिन्ता नहीं, हमनें भी ऐसी कल्पनाओं को निराधार बनाने के लिए पहिले से ही 'अभ्युपगमवाद' का आश्रय ले रक्खा है। निम्न लिखित मूलसंहिता पर दृष्टि डालिए, स्थिति का स्पष्टीकरण हो जायगा।

अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि।
दैव्याय कर्म्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै।
यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि'

—यजुसं० १।१३

"अग्नि के लिए ग्रहणयोग्य आपका प्रोक्षण करता हूँ, अग्नी-सोम के लिए ग्रहणयोग्य आपका प्रोक्षण करता हूँ। देवयज्ञसम्बन्धी दिव्यकर्म्म के लिए आप शुद्ध बनें। आपमें जो अशुद्ध भाव आ गया है, उसे मैं (इस प्रोक्षणलक्षण शुद्धिकर्म्म द्वारा) हटाता हूँ"। इस मन्त्र का विनियोग यज्ञपात्रप्रोक्षण-कर्म्म में हुआ है। 'शूर्प-अग्निहोत्रहवणी-स्फ्य-कपाल-शम्या-कृष्णाजिन-उलूखल-मुसल-दृषत्-उपल' यज्ञ में ये १० पात्र होते हैं। यज्ञकर्म्म में समाविष्ट करने से पहिले इनका प्रोक्षण किया जाता है। इन पात्रों का निर्म्माण 'तक्षा' (खाती) द्वारा होता है, जोकि एक सच्छूद्र माना गया है। श्रुति का अभिप्राय यही है कि, "चूंकि तक्षा (शूद्र) ने इन पात्रों का निर्म्माण किया है, एवं तक्षा दिव्य-यज्ञिय-प्राणशून्य शूद्र है। अतः इसके स्पर्श से पात्रों में भी शूद्र-सम्बन्धी अशुचिभाव का समावेश हो जाता है। यदि विना विशोधन के पात्र काम में ले लिए जायंगे, तो यज्ञस्वरूप (इस अयज्ञिय शूद्रभाव के समावेश से) विगड़ जायगा। अतः पहिले मन्त्र, एवं मन्त्रपूत जल से इन शूद्रस्पृष्टपात्रों का विशोधन कर लेना चाहिए"। स्वयं ब्राह्मणश्रुति ने उक्त मन्त्र की यही व्याख्या हमारे सामने रक्खी है। देखिए!

'अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति। यद्वोऽशुद्धः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामिति। तद्य देवैषामत्र-अशुद्ध 'स्तक्षा' वा, अन्यो वा-अमेध्यः कश्चित् पराहान्ति, तदेवैषा-मेतदद्भिर्मेध्यं करोति'।

—शत० ब्रा० १।१।३।१२।

वेद भाष्यकार सर्वश्रीमहीधर ने भी इसी तात्त्विक अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

'अशुद्धा नीचजातयस्तक्षादयः, वः-युष्माकं सम्बन्धि, तदङ्गं पराजघ्नुः, पराहतं कृतवन्तः। छेदन-तक्षणादिकाले स्वकीयहस्तस्पर्शरूपमशुचित्वं चक्रुः। तदिदं वः-युष्माकमङ्गं शुन्धामि, प्रोक्षणेन शुद्धं करोमि'

—यजुः सं० १।१३—महीधरभाष्य।

उक्त मन्त्र से शूद्रद्वारा छूए हुए जड़पात्रों तक में अशुचिभाव का सम्बन्ध जब सिद्ध हो रहा है, तो चेतनसम्बन्धी स्पृश्यास्पृश्यभावों के दोष-गुणभावों का कहना ही क्या है।

सर्वात्मना यह सिद्ध विषय है कि, अस्पृश्यता एक विज्ञानसिद्ध पथ है। अविवेकी मनुष्यों नें अज्ञानवश अपने वर्णधर्म्मों के महत्त्व को भुला कर, केवल जात्योपजीवी बाह्य आडम्बरों के आधार पर वर्णाभिमान मे पड़ते हुए यदि अवरवर्णों, एवं अवर्णों के साथ अशिष्ट व्यवहार कर डाला हो, तो एतावता मूलसिद्धान्तों पर कोई आक्षेप नहीं कियाजा सकता। अस्पृशता-सिद्धान्त अपने स्थान पर सुरक्षित रहता हुआ विज्ञानानुमोदित है, शास्त्रसम्मत है, युक्ति-तर्क-अनुभवों द्वारा विश्वस्त बना हुआ है, और यही स्पृश्यास्पृश्य का सक्षिप्त विवेक है [1]।

रस-बलात्मक (सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति) 'परात्पर' ही अपने एक प्रदेश से मायाबल द्वारा सीमित बनता हुआ 'अव्ययपुरुष' कहलाने लगता है। यह अव्ययपुरुष ही मनोमय ज्ञानबल, प्राणमय कर्म्मबल, वाङ्मय अर्थबल, एवं प्रवर्ग्यरूप शरीरबल से क्रमश. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों का प्रभव बन रहा है। इन चारो बलों मे पूर्व-पूर्वबल उत्तरबल की अपेक्षा 'गरीय' है। शरीरबल 'शूद्र-बल' है। दिन-रात केवल शरीर-पुष्टि की ही चिन्ता करते रहना, शरीर विन्यास मे ही समय का सदुपयोग करते रहना 'शूद्रधर्म्म' है। शरीरबल के एकान्ततः प्रधान बन जाने से ज्ञानबल (बुद्धिबल) शिथिल हो जाता है। अतएव ज्ञानबलानुगामी ब्राह्मणवर्ण के लिए आचार्यों नें 'शरीरायास' निषिद्ध माना है, जैसा कि उनके—'शरीरायासः परित्यजेत्' इस आदेशवचन से स्पष्ट है। शरीर मे अतिशय थकान पैदा करने वाले सब श्रमकर्म्म ज्ञानबलानुगामी ब्राह्मण के लिए अहितकर हैं, यही तात्पर्य्य है।

बलानुगामिनी वर्णव्यवस्था—

शरीरबलोपलक्षित शूद्रबल की अपेक्षा अर्थबलोपलक्षित 'वैश्यबल' श्रेष्ठ है। एक अर्थ-सम्पन्न वैश्य अपने इस अर्थबल के सहयोग से शरीरबलानुगामी दसों मल्ल (पहलवान) अनु-चर रख सकता है। अर्थबल सदा शरीरबल पर विजय प्राप्त किया करता है। यदि एक ब्राह्मण शरीरचिन्ता को मुख्य मानता हुआ किसी वैश्य का आश्रय लेता है, तो निश्चयेन उसका ब्राह्मण्य अभिभूत हो जाता है, और वैश्य का अर्थबल इस शरीरचिन्तानुगामी ब्राह्मण पर शासन कर बैठता है।

---

१ इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'अस्पृश्यता का मौलिक रहस्य, एवं हमारी कल्पना' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में देखना चाहिए।

अर्थबलोपलक्षित वैश्य की अपेक्षा कर्म्मबलोपलक्षित (शासनबलापरपर्य्यायक) 'क्षत्रिय-बल' श्रेष्ठ है। मान लीजिए, एक ऐसा ग्राम है, जिसके शासक थोड़ी सी भूमिके करमाही एक राजपूत क्षत्रिय हैं। इनके ग्राम में कई एक सम्पन्न वैश्य रहते हैं। वैश्य समाज के पास प्रचुर मात्रा में अर्थबल सुरक्षित है, इधर ठाकुर साहब के पास केवल क्षत्रबल है, हुकूमत की ताकत है। आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि, इस क्षत्रबल के सामने उस प्रवृद्ध अर्थबल को अपना मस्तक झुका देना पड़ता है। ग्रामाधिपति के भक्तिबल से युक्त एक साधारण चपरासी भी (इसी शासन बल के प्रभाव से) एक सम्पन्न श्रेष्ठि पर भी अपना आतङ्क जमाता देखा गया है। यही क्षत्रबल के वैशिष्ट्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। सर्वान्त में चौथा ज्ञानलक्षण 'ब्रह्मबल' हमारे सामने आता है।

क्षत्र-विट्-शूद्र, तीनों हीं बल सोपकरण हैं सौपाधिक हैं, भौतिक अर्थ प्रपञ्च को प्रधानता देने वाले हैं। 'शस्त्र-सेना-दुर्ग-कोश' आदि क्षत्रिय के बहिरङ्ग बल हैं, अनुचर, प्रासाद, अन्न, मणि-मुक्ता, आदि वैश्य के बहिरङ्ग बल हैं, 'दुग्ध-घृत-पुष्टिकर औषधि, वनस्पति, दार्व्य, अहमहमिका,-आदि शूद्र के बहिरङ्ग बल हैं। इस प्रकार तीनों बलों का बलत्व बहिरङ्ग साधनों की अपेक्षा रखता हुआ, सापेक्ष है, पराश्रित है। परन्तु हमारा ब्रह्मबल उपाधिशून्य बनता हुआ, दूसरे शब्दों में बहिरङ्ग उपकरणों की (वैय्यक्तिक स्वार्थदृष्टि से), कोई अपेक्षा न रखता हुआ, प्रधानरूप से अन्तर्बल का अनुगामी, बनता हुआ सर्वश्रेष्ठ क्षत्रबल से भी श्रेष्ठ बन रहा है। ब्रह्मबलोपलक्षित, ज्ञानबल के उपासक, अतएव सर्वज्येष्ठ, श्रेष्ठ एक ब्राह्मण के सामने सार्वभौम क्षत्रिय राजाओं को भी अपना मस्तक इस लिए नत कर देना पड़ता है कि, ब्राह्मण किसी भौतिकप्रपञ्च का भार समाज पर न डालता हुआ निःस्वार्थभाव से (लोककल्याणहेतवे) विशुद्ध विद्याव्यासङ्ग में प्रवृत्त रहता है। इसकी यह निःस्पृहवृत्ति ही इसके सर्वमूर्द्धन्य में मुख्य कारण है। आलस्य से, अन्नदोष से, असत्परिग्रह से, भूतलिप्सा से अपने स्वाभाविक ब्रह्मबल को अभिभूत रखने वाली ब्राह्मणजाति 'धिग्बलं क्षत्रबलं, ब्रह्मतेजो बलं बलम्' का स्मरण कर आज भी कभी कभी अपने पूर्णगौरव का स्मरण कर लिया करती है।

शरीरबल-धनबल-ऐश्वर्य्यबल-विद्याबल, इन चार बलों से अतिरिक्त एक पांचवां अपूर्वबल और है, जो कि 'तपोबल' नाम से प्रसिद्ध है। तपोबल वह बल है, जो विद्याबल पर भी अपना शासन प्रतिष्ठित रखता है। इसी को सिद्धिप्रकरण में 'देवबल' कहा गया है। विद्या-बलानुगामी ब्राह्मण इतरवर्णों को केवल सुहृद्भाव से समझा सकता है, परन्तु उनका निग्रह-अनुग्रह

नहीं कर सकता। उधर तपस्वी ब्राह्मण बलप्रयोग से इन्हें सत्पथ पर प्रतिष्ठित रखता है, अभिशाप से पर्य्याप्त दण्ड दे सकता है। जब तक भारतवर्ष में तपोबल के अधिष्ठाता ब्राह्मण रहे, तब तक किसी को उत्पथ गमन का साहस न हुआ, यदि किसी को साहस हुआ भी तो उसका मुखमर्दन हुआ। परन्तु आज चूंकि तपोबल क्षीणप्राय है, तपोबल की कथा तो दूर रही, आज तो विद्याबल भी अस्तप्राय हो चुका है। यही कारण है कि आज सभी वर्ण उच्छृङ्खल बन गए हैं। हमारा अपना तो यह दृढ़ विश्वास है कि, भारतीय विद्वान् जबतक तपोबल का सञ्चय न करेंगे, तबतक वर्त्तमान युग की, प्रबल वेग से बढ़ती हुई इस अविवेकता का, अमर्य्यादा का कथमपि निग्रह न हो सकेगा। केवल शब्दनिष्ठा का युग न पहिले था, न आज है। 'मानिए-मान लीजिए-अच्छा रास्ता है' कहने से न आज तक किसी ने माना, न भविष्य में कोई मानेगा ही। 'मानना पड़ेगा, नहीं तो यह दण्ड प्रहार है' इस भयावह आदेश ने हीं आजतक मर्य्यादा की रक्षा की है, और इस रक्षा का एकमात्र साधन है– "वाग्वीर्य्य", जो कि एकमात्र तपोबल से सम्बन्ध रखता है।

उक्त पांचों बलों को विज्ञानदृष्टि से हम क्रमशः '**स्वायम्भुवबल, पारमेष्ठ्यबल, सौरबल, पार्थिवबल, भौमबल**', इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। पाञ्चभौतिक, पञ्चपर्वा विश्व के प्रधानरूप से 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी' ये पांच पर्व माने गए हैं। इनमें चन्द्रमा चूंकि पृथिवी का उपग्रह है, अतः अन्नलक्षण (सोमलक्षण) इस चन्द्रमा का अन्नादलक्षण (अग्निलक्षण) पृथिवी में हीं अन्तर्भाव मान लिया जाता है। फलतः 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी' ये चार लोक रह जाते हैं। इनमें पृथिवी के चित्य-चितेनिधेय भेद से दो रूप माने गए हैं। चित्यपृथिवी पिण्डपृथिवी है, एवं इसे ही 'भूमि'-'भूः' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। चितेनिधेया पृथिवी महिमापृथिवी है, एवं इसे ही पूर्व के दिति-अदिति प्रकरण में संवत्सरयज्ञात्मिका 'अदिति' पृथिवी कहा गया है। इस दृष्टि से अन्ततोगत्वा 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-भूमि' ये पांच पर्व हो जाते हैं। इन्हीं पांच पर्वों में भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तपः-सत्यं' प्रजापति की इन सात व्याहृतियों का अन्तर्भाव है। भूमि 'भूः' है, पृथिवी 'भुवः' है, सूर्य्य 'स्वः' है, परमेष्ठी 'महः' तथा 'जनत्' है, एवं स्वयम्भू 'तपः', तथा 'सत्यम्' है।

तपः-सत्यमूर्त्ति स्वयम्भू का प्रातिस्विक बल ही सत्यगर्भित 'तपोबल' है, जनत्, मह॰-मूर्त्ति परमेष्ठी[1] का प्रातिस्विक बल ही सारस्वत-औपनिषद 'विद्याबल' है, स्वः-मूर्त्ति सूर्य्य का प्रातिस्विक बल ही लक्ष्म्यनुगत-इन्द्रक्षत्रानुगत 'ऐश्वर्य्यबल' है, भुवः-मूर्त्ति पृथिवी का प्रातिस्विक बल ही (विष्णुपत्नी लक्ष्मी की दृष्टि से) 'धनबल' है, एवं भूः-मूर्त्ति भूमि का प्रातिस्विक बल ही पोषक पूषाप्राण की दृष्टि से 'शरीरबल' है। इन पाचों में आरम्भ का स्वायम्भुव तपोबल तो वर्णातीत बनता हुआ सर्वव्यापक है। चारों वर्णों में से कोई भी स्वातिशय से तपस्वी बन सकता है। शेष चारों बल क्रमशः वर्णसृष्टि के प्रवर्त्तक बने हुए हैं, एवं यही बलानुगामिनी, प्राकृतिक वर्णव्यवस्था का संक्षिप्त निदर्शन है। इन्हीं चारों बलों की अनन्यनिष्ठा से उपासना करता हुआ भारतीय समाज अभ्युदय की चरम सीमा पर पहुँच सकता है, पहुँचा था, जैसा कि पाठक अगले परिच्छेद में देखेंगे।

उक्त पांच बलों के यदि अवान्तर सूक्ष्म विभागों का विचार किया जाता है, तो दस बल हो जाते हैं, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

> १—तपस्वि--ब्राह्मण--क्षत्र--वैश्य--शूद्रा--तिनिर्बलाः।
> षोढा विभक्ताः पुरुषा, येषां दशविधं बलम्॥
> २—विद्या-चाभिजनं-मित्रं-बुद्धिः-सत्त्वं-च सम्पदः।
> तपः-सहाया-वीर्य्याणि दैवं च दशमं बलम्॥
> ३—विद्या-बुद्धि-ब्राह्मणानां, तपः-सत्ये-तपस्विनाम्।
> दैवं-वीर्य्य-क्षत्रियाणां, सहायाः-सम्पदो-विशाम्॥

---

[1] सिद्धान्तमौपनिषदं, शुद्धान्तं परमेष्ठिनः।
शोणाधरमहः किञ्चिद् वीणाधरमुपास्महे॥
—लघुपाराशरी

४—शूद्रस्याभिजनो-मित्रं, बलमित्थं द्विधा द्विधा ।
इत्थं दशबलानीह सन्ति लोकेषु मित्रवत् ॥

बलानुगामिनी-वर्णव्यवस्थापरिलेखः—

* स्वयम्भूः (सत्यं-तपः)—	तपोबलम्—स्वायम्भुवम्
१—परमेष्ठी (महः-जनत्)—	विद्याबलम्—पारमेष्ठ्यम्—ततो ब्राह्मणवर्णविकासः ।
२—सूर्य्यः (स्वः) —	ऐश्वर्य्यबलम्—सौरम्—ततः क्षत्रियवर्णविकासः ।
३—पृथिवी (भुवः) —	धनबलम्—पार्थिवम्—ततो वैश्यवर्णविकासः ।
४—भूमिः (भूः)— —	शारीरबलम्—भौमम्—ततः शूद्रवर्णविकासः ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वैदिक परिभाषानुसार 'ग्राम्यपशु'[1] है। अपने परिवार के सहयोग से अपना एक सुसंघठित समाज बना कर जीवन-यापन करना, मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। कारण इसका यही है कि, इसके उत्पादक द्रव्य में अनेक तत्त्वों का समन्वय है। ऋषि-पितर-देवता-गन्धर्व-असुर-पशु आदि यच्चयावत् प्राणों के प्रत्यंश को लेकर, स्वयं एक ग्राममूर्त्ति बन कर ही यह उत्पन्न हुआ

समाजानुबन्धिनी वर्णव्यवस्था—

---

१ 'पञ्चपशुविज्ञान' के अनुसार पुरुष (मनुष्य) भी 'पशु' माना गया है। पशु की 'आरण्यपशु'-'ग्राम्यपशु' भेद से दो जातियां हैं। जो पशु एकाकी विचरना पसन्द करते हैं, उन्हें 'आरण्यपशु' कहा जाता है। सिंह, शार्दूल, अष्टपद, व्याघ्र आदि कतिपय पशु झुंड बना कर नहीं रहते। अपितु ये एकाकी ही घूमते हैं। 'अरण्य' शब्द यहां जङ्गल का वाचक नहीं है, अपितु 'एकाकी भाव' का सूचक है। कितने एक पशु स्वभावतः झुंड बना कर ही रहा करते हैं। मृग, शृगाल, शूकर, आदि पशु सदा आपको झुंड रूप से मिलेंगे। इन्हीं को वैदिक परिभाषा में 'ग्राम्यपशु' कहा गया है। यहां 'ग्राम' का अर्थ गांव-अथवा शहर नहीं है, अपितु यह ग्राम शब्द समूह का वाचक है। मनुष्य नामक श्रेष्ठपशु भी—'एकाकी न रमते, तद्द्वितीयमैच्छत्–पतिश्च पत्नीच' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सङ्घप्रिय पशु है। पत्नी, सन्तान, अनुचर, बन्धु-बान्धव, समाज आदि परिग्रहों को साथ लेकर ही इसकी मानवता विकसित रहती है। अतएव उक्त परिभाषा के अनुसार इस सामाजिक प्राणी को आरण्यपशु न मान कर 'ग्राम्यपशु' ही माना जायगा।

है। अच्छा-बुरा, सत्-असत्, सुख-दु:ख पाप-पुण्य, सत्य-अनृत, ज्योति-तम, देवता-असुर श्रेष्ठ-पतित, सज्जन-दुर्जन, स्वादु-अस्वादु सभी द्वन्द्वभाव इसके उपलक्षक बनते रहते हैं। इसी ग्रामभाव के कारण मनुष्य नामक इस नर को 'देवग्राम' (विविध प्राणों की समष्टि) कहा है, जैसा कि—'**नरो वै देवानां ग्रामः**' (ताण्ड्य ब्रा० ६।६।२।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। चूंकि 'नर' शब्द ग्रामभाव (समूहभाव) को अपने गर्भ में रखता है, उधर जन-समूह के लिए 'प्रजा' शब्द नियत है, यही कारण है कि श्रुति ने (प्रजा-नर-शब्दों की समानार्थव्याप्ति को लक्ष्य में रखते हुए) प्रजा को 'नर' शब्द से व्यवहृत कर दिया है—'**प्रजा वै नरः**' (गोपथ ब्रा० उ० ६।८।)। इसी प्राणसमूहोपादानता के कारण हम मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी कहते हैं।

इसे जीवित रहना है, और सुखपूर्वक जीवित रहना है, शान्ति के साथ कालयापन करना है। 'परन्तु' का सम्बन्ध इस लिए मानना पड़ता है कि, मनुष्य का जीवन, सुख, शान्ति, सब कुछ सामाजिक धर्म्मों से सम्बद्ध है। सामाजिक सुख-शान्ति ही मनुष्य की वैय्यक्तिक सुख-शान्ति के मूल कारण माने गए हैं। कुटुम्ब-समाज-राष्ट्र, ये सब समाज के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। तीनों में क्रमश 'दहरोत्तर' सम्बन्ध है। व्यक्तियाँ कुटुम्बात्मक समाज के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, कुटुम्बात्मक छोटे छोटे (परिवारलक्षण) समाज देशाचारानुबन्धी समाज लक्षण समाजों के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, एव इन विविध समाजों की समष्टि ही 'राष्ट्र' है। भारतीय आर्षदृष्टि के अनुसार यह राष्ट्र ही मुख्य 'समाज' है। यद्यपि वर्त्तमान युग के कुछ एक उदार महानुभाव अपनी उदारता का दुरुपयोग करते हुए सम्पूर्ण विश्व को एक 'राष्ट्र' मानते हुए विश्वशान्ति' के सुख-स्वप्नों की कल्पना किया करते हैं, साथ ही मे इसी आधार पर वे विश्व के 'मानव-समाज' की शान्ति के लिए प्रयत्नशील भी दिखलाई पडते हैं, परन्तु भारतीय-दृष्टि इस 'विश्वभावना' का विरोध कर रही है। उसका अपना धर्म्म, अपनी वर्णव्यवस्था, अपनी आश्रम व्यवस्था, अपनी सुख-शान्ति, केवल उस देश के लिए नियत है, उस राष्ट्र के लिए नियत है, जिस देश मे जिस राष्ट्र में कृष्णमृग स्वच्छन्दरूप से विचरण किया करता है। एवं इस सीमित दृष्टि से एकमात्र भारतवर्ष ही हमारा मुख्य राष्ट्र है, और भारतवर्ष मे रहने वाली वर्ण-धर्म्मानुयायिनी आस्तिक प्रजा ही हमारा अपना समाज है, अपना राष्ट्र है। इसी राष्ट्र-धर्म्म की रक्षा करना राष्ट्रवादी महर्षियों का मुख्य लक्ष्य रहा है। हम ऐसे व्यापक नहीं बनना चाहते, जिसकी तृष्णा में पड़कर हम अपनापन ही खो बैठें। हम इतने उदार नहीं बनना चाहते, जिस उदारता में पड़ कर अपना सब कुछ दूसरों को समर्पित कर स्वयं दरिद्रनारायण बन बैठें।

हम वैसी सुख शान्ति नहीं चाहते, जो भारतीय धर्म्म का स्वरूप विकृत कर बैठे। अन्य राष्ट्र सुखी रहे, यह अवश्य चाहते हैं, परन्तु यह कभी सहन नहीं कर सकते कि, उनको सुखी रखने के लिए अपना वलिदान कर दें, सो भी परवश बन कर। परग्लानि के कारण न बनते हुए, साथ ही मे अपना ह्रास अणुमात्र भी सहन न करते हुए अपने भारत-राष्ट्र का राष्ट्रत्व सुरक्षित रखना ही हमारे लिए 'विश्वशान्ति' है। और इसी भारतीय-राष्ट्रलक्षण समाज को लक्ष्य मे रखकर हमें 'समाजानुबन्धिनी वर्णव्यवस्था' का विचार करना है।

राष्ट्रलक्षण समाज का अपने योग-क्षेम के लिए जिन जिन कर्त्तव्य-कर्म्मों की अपेक्षा रहती है, राष्ट्रीय समाज मे भुक्त व्यक्तियों को उन सब कर्त्तव्य-कर्म्मों की रक्षा करनी पड़ती है। राष्ट्र-कर्म्म का यथावत् सञ्चालन करने के लिए अनेक कर्म्म अपेक्षित हैं। उन सब कर्म्मों की जब तक पूर्त्ति नहीं हो जाती, तब तक राष्ट्र सुसमृद्ध नहीं बन सकता। एवं जब तक राष्ट्र सुसमृद्ध नहीं बन जाता, तब तक राष्ट्रीय प्रजा का कल्याण नहीं हो सकता। राष्ट्रात्मकसमाजवादी, भारतीय समाजशास्त्रियों नें अपने इस राष्ट्रीयसमाज के कल्याण के लिए आवश्यकरूप से अपेक्षित कर्त्तव्य-कर्म्मों को भी चार श्रेणियो मे विभक्त किया, एव कर्त्तव्य-कर्म्म भेद से राष्ट्रीय-समाज में रहने वाले प्रजावर्ग को भी चार ही श्रेणियो मे विभक्त किया। राष्ट्रीय-समाज के उन चार कर्त्तव्य-कर्म्मों मे अवान्तर-इतर सब कर्त्तव्य कर्म्मों का अन्तर्भाव हो रहा है, जैसा कि पाठक आगे जाकर देखेंगे।

राष्ट्रीय-समाज को कर्त्तव्य कर्म्मों का अनुष्ठान करना है। यह कर्म्मानुष्ठान तभी सफल बन सकता है, जब कि इसके मूल मे 'ज्ञानबल' प्रतिष्ठित कर दिया जाय। यो तो कोई भी अच्छा-बुरा कर्म्म ज्ञान के बिना प्रवृत्त नहीं हो सकता, एवं इस दृष्टि से सभी कर्म्म ज्ञानपूर्वक मानें जा सकते हैं। परन्तु हमे ऐसा अव्यवस्थित ज्ञान अभिप्रेत नहीं है, जो कि ज्ञान-अज्ञान को अपने गर्भ मे रखता हुआ 'मोह' लक्षण बनकर कर्म्म का स्वरूप-विघातक बन जाया करता है। ज्ञान और कर्म्म, दोनों का समान क्षेत्र बनाते हुए हम दोनों मे सङ्करता उत्पन्न नहीं करना चाहते। अपितु द्रष्टा-दृश्यभावों के पार्थक्य की तरह हम दोनों को विभिन्न क्षेत्रों मे मर्य्यादित बना कर द्रष्टास्थानीय ज्ञान द्वारा ही दृश्यस्थानीय कर्म्म का सञ्चालन करना चाहते हैं। ज्ञान के लिए एक स्वतन्त्र श्रेणि, कर्म्म के लिए एक स्वतन्त्र क्षेत्र, यह श्रेणि-विभाग ही भारतीय-समाज की सर्वोत्कृष्ट पद्धति है।

युद्धकर्म्म, शस्त्रनिर्म्माणकर्म्म, शिल्पकर्म्म, कलाकर्म्म, कृषिकर्म्म, वाणिज्यकर्म्म, आदि आदि समाजोपयोगी जितने भी कर्म्म हैं, सबके मूल में ज्ञान प्रतिष्ठित है, ज्ञान से ही सबका

सञ्चालन हो रहा है, यह निर्विवाद है। यही कारण है कि, जिस समाज की ज्ञानशक्ति जितनी हीं अधिक सबल, तथा सुपरिष्कृत होगी, वह समाज अपने कर्त्तव्य-कर्म्मों में उतना हीं अधिक प्रगतिशील होगा। ज्ञान अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्त्व रखनेवाला पदार्थ है, जिसका कि कर्म्मकाल में कर्म्मठ व्यक्तिद्वारा सम्यक्-अनुष्ठान सम्भव नहीं हो सकता। यह ठीक है कि, ज्ञान का उदय भी कर्म्म से ही होता है, ज्ञानोदय के कारणभूत विद्याध्ययन, एकान्तचिन्तन आदि भी कर्म्मविशेष ही तो हैं। परन्तु ये ज्ञानोपयिककर्म्म अपने स्वरूप-विकास के लिए शान्त-निरापद वातावरण की ही अपेक्षा रखते हैं। अपनी इस ज्ञानशक्ति की समुन्नति के लिए समाज का यह आवश्यक कर्त्तव्य होगा कि, वह अपने समाज में से एक विभाग केवल इसी शक्ति की उपासना के लिए नियत कर दे।

ज्ञानलक्षण कर्म्म मे दीक्षित इस समाजाङ्ग का एकमात्र कर्त्तव्य होगा, ऐहलौकिक-पारलौकिक तत्त्वों का शान्तभाव से अन्वेषण करते हुए ज्ञान का विकास करना, विकसित ज्ञान से समाज में आनेवाले अविद्यादि दोषों को हटाते हुए समाज को ज्ञानसहकृत-अभ्युदय-निःश्रेयसमूलक (शास्त्रीय) कर्त्तव्यकर्म्मों में यथाधिकार प्रवृत्त बनाए रखना। ज्ञानशक्ति का उपासक, यह अवान्तर विभाग ही 'ब्राह्मण' कहलाएगा। ज्ञानचर्य्या स्वभावतः अर्थप्रपञ्च की विरोधिनी है। अर्थ, तथा ज्ञान, दोनों का संग्रह एक ही व्यक्ति नहीं कर सकता। दोनों के सहानुष्ठान से अनन्यता नहीं रहती, फलतः दोनों सम्पत्तियां अपूर्ण रह जाती हैं। इस विप्रतिपत्ति को सामने रखते हुए ज्ञानबलोपासक ब्राह्मण का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने आपको अर्थसंग्रह, अर्थलिप्सा से सदा बचाता रहे। ब्राह्मण भी एक पारिवारिक व्यक्ति है, कुटुम्ब का सञ्चालक है। अतएव आवश्यकतानुसार इसे भी अर्थ की अपेक्षा बनी ही रहती है। इस भार का वहन अन्य अर्थसंग्रहशील अवान्तर विभागों को करना पड़ेगा। समाज इसकी आवश्यकताएँ, विना किसी अहसान के प्रणतभाव से पूरी करेगा। साथ ही में इस ब्राह्मण को अपनी आवश्यकताएँ भी कम करनी पड़ेगीं। लोभ-मोह ईर्ष्या द्वेष-आदि से पृथक् रहना पड़ेगा, 'सर्वभूतहितरति' को अपना मुख्य लक्ष्य बनाना पड़ेगा, यथाकाल प्राप्त भोगों पर सन्तोष रखना पड़ेगा। एवं इन वृत्तियों के अनुगमन से ही यह अपनी ज्ञानोपासना मे सफल हो सकेगा।

तमोगुण-प्रधान विश्व में राग-द्वेष न रहे, यह सर्वथा असम्भव है। भौतिक सम्पत्ति का आकर्षण मनुष्यमात्र के लिए स्वाभाविक है। सभी राष्ट्र परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा समृद्ध बनने की कामना किया करते हैं, एवं अपनी इस काम-पूर्त्ति के लिए इनकी गृद्ध-दृष्टि

अहर्निश परस्वत्त्वों पर लगी रहती है। जो राष्ट्र अरक्षित रहता है, निर्बल रहता है, सुरक्षित-सबल अन्य राष्ट्र तत्काल उसे उदरसात् कर लेते हैं। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को वहिरङ्ग-आक्रमणों की सदा प्रतीक्षा करती रहनी पड़ती है। जबतक आक्रमण का भय बना रहता है, तबतक देश की कला, कौशल, शिल्प, वाणिज्य, विद्या, अर्थ, आदि कोई भी नहीं पनप सकते। ऐसी दशा में राष्ट्रीय समाज का एक दूसरा यह भी आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने समाज में से एक ऐसा भी अवान्तर विभाग नियत कर दे, जिसका समाज को वहिरङ्ग आक्रमणों से बचाते रहना ही एकमात्र कर्त्तव्य हो। आक्रमण की कोई निश्चित तिथि नहीं होती। साथ ही में स्वयं राष्ट्र मे भी मनोवृत्तियों के भेद से यदा कदा गृहकलह के अवसर उपस्थित होते रहना अनिवार्य्य हैं। इन दोनों आकस्मिक विप्लवों से राष्ट्र को बचाने के लिए, उस अवान्तर विभाग को सदा अपने इस रक्षाकर्म्म में हीं अनन्यनिष्ठा से प्रवृत्त रहना पड़ेगा। समाज अपनी आय के षष्ठांश से (ब्राह्मण को छोड़ कर) इस रक्षक समाज के रक्षासाधनों का उपोद्वलक बनेगा। और यह प्राप्त षष्ठांश से आर्थिक चिन्ता से विमुक्त होता हुआ 'साम-दाम-दण्ड-भेद' नीतियों के अवसरप्राप्त प्रयोगों के द्वारा राष्ट्र का शासन भी करेगा, एवं इसे बाह्य आक्रमण से भी बचाता रहेगा। समाज का यही दूसरा अवान्तर विभाग क्षत्रिय' कहलाएगा।

राष्ट्र को ज्ञानसम्पत्ति मिली ब्राह्मणवर्ग से, रक्षा का साधन उपलब्ध हुआ क्षत्रियवर्ग से। एक ज्ञानगुप्ति में रत, दूसरा रक्षाकर्म्म में नियुक्त। अब उस 'अर्थ' की समस्या राष्ट्र के सामने उपस्थित हुई, जिस के बिना राष्ट्र की स्वरूपरक्षा ही सर्वथा असम्भव हो जाती है। इसी अर्थचिन्ता से त्राण पाने के लिए राष्ट्र ने एक विभाग इसी कार्य्य के लिए नियत किया। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य द्वारा अर्थसंग्रह करते हुए राष्ट्र को अर्थचिन्ता से विमुक्त रखने का भार इसी तीसरे विभाग के कन्धों पर डाला गया। ज्ञान और शासन दोनों की स्वरूप रक्षा का भार इसे उठाना पड़ा, जो कि भलन्दनवंशज अवान्तर विभाग 'वैश्य' नाम से प्रसिद्ध है।

उक्त तीनों व्यवस्थित विभागों के द्वारा राष्ट्र ने प्रायः अपनी सब आवश्यकताएं पूरी कर लीं। अब केवल एक आवश्यकता बाकी बच गई। ब्राह्मणवर्ग अध्ययनाध्यापनलक्षण ज्ञानप्रसार-कर्म्म में, क्षत्रियवर्ग पौरुष-कर्म्म में, वैश्यवर्ग कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य-कर्म्म में अनन्यनिष्ठा से संलग्न है। इन कर्म्मों के अतिरिक्त कुछ एक प्रातिस्विक कर्म्म और बच रहते हैं, जिन का कि विस्तार एक स्वतन्त्र विभाग की अपेक्षा रखता है। प्रासादनिर्म्माण,

वस्त्रप्रक्षालन, क्षौरकर्म्म, पात्रपरिमार्ज्जन, वाहन-सञ्चालन, गोचारण, भारवहन, विविध शिल्प निर्म्माण, आदि आदि अनेक कर्म्म भी राष्ट्र के लिए एक विशेष महत्व रखते हैं। इसी महत्व शालिनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए राष्ट्र को एक चौथा अवान्तर विभाग और बनाना पड़ा। सेवाधर्म्म को मुख्य धर्म्म बनानेवाले इस विभाग ने इन सब बहिरङ्ग कर्म्मों का भार उठाया, और यही विभाग 'शूद्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

शरीरबल शूद्रवर्ग का उपास्य बना, वित्तबल वैश्यवर्ग की मूलप्रतिष्ठा बना, ऐश्वर्य्य (शासन) बल क्षत्रियवर्ग का आराध्य बना, एवं ज्ञानबल ब्राह्मणवर्ग की आश्रयभूमि बना। इस प्रकार चारों विभाग स्व स्वकर्त्तव्य कर्म्मों का अनन्यभाव से अनुगमन करते हुए, परस्पर सौहार्द्दभाव रखते हुए, समान आकृति बनाए हुए अपने व्यक्तित्त्व को, परिवार को, समाज को, एवं राष्ट्र को 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्-बल' इन चारों लोकविभूतियों से सुसमृद्ध बनाने मे समर्थ हो गए। इस प्रकार भारतीय समाज-शास्त्रियों नें अपनी इस लोकोत्तर सामाजिक कल्पना के आधार पर अपने समाज को कर्त्तव्य कर्म्म भेद से चार श्रेणियों मे विभक्त कर सब कुछ सिद्ध कर लिया।

सामाजिक महाकर्म्म-सिद्धि की दृष्टि से जहां समाज के उक्त चार अवान्तर विभाग आवश्यक प्रतीत होते हैं, वहां नैतिक दृष्टि से भी इन का कम महत्व नहीं है। यदि एक ही क्षेत्र मे चारों शक्तियों का समावेश हो जाता है (जिन का कि एकत्र समन्वित होना पहिले तो असम्भव ही है, यदि एकत्र समन्वय हो भी जाता है, तो रक्षण सर्वथा असम्भव ही है) तो, अवश्य ही उस क्षेत्र का, उस समाज का, उस राष्ट्र का नैतिक बल गिर जाता है। आज भारतवर्ष का जो अधःपतन देखा जा रहा है, नैतिक बल की जो कमी आज यहां उपलब्ध हो रही है, इसका एकमात्र कारण कर्म्म-चतुष्टयी का साङ्कर्य्य ही माना जायगा। "सब का सब कुछ बनने की इच्छा रखना, एवं सबका सब कुछ करने की प्रवृत्ति रखना" इसी महामारी ने प्रजावर्ग को नैतिक-प्रतिष्ठा से गिराया है। आज प्रत्येकवर्ण, प्रत्येक व्यक्ति विद्या-पराक्रम-धन-शरीरबल, चारों ही क्षेत्रों में अपने आप को पारङ्गत देखना चाहता है। परिणाम इस निराशामयी दुराशा का यह हो रहा है कि, हमारा यह राष्ट्र मधुकर-वृत्तिमूलक 'मृगमरु-मरीचिका' से ग्रस्त होता हुआ चारों ही वैभवों से वञ्चित हो रहा है।

सब से पहिले ब्राह्मणवर्ग की दशा पर ही दृष्टि डालिए। जब से इस शिरःस्थानीय वर्ग ने शिरोमूलक ज्ञानबल के साथ साथ उदर मूलक अर्थसंग्रह का अनुगमन आरम्भ किया, उसी दिन से ज्ञानबल तो क्षीण हुआ सो हुआ ही, साथ ही मे जन्मजात अयोग्यता के प्रभाव से

अर्थसंग्रह में भी यह सफल न हो सका। परिणामतः 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट.' पुरस्कार ही इसकी दायसम्पत्ति बन गई। आगे जाकर तो इस वर्ग ने अर्थलिप्सा के कुचक्र में पड़ कर सेवा-धर्म्म का भी उत्तराधिकार ग्रहण कर लिया। आज 'महाराज' शब्द का गम्भीरतम अर्थ होता है–'पवित्र ब्राह्मण रसोइया'। कैसा भीषण पतन है, और हमारा समाज इन पतन कर्म्मों का स्वार्थवश समर्थन करता हुआ किस प्रकार अपना नैतिक बल खो बैठा है, यह मुकुलित नयन बन कर थोड़ा विचार तो कीजिए।

जब पथप्रदर्शकवर्ग ही पथभ्रष्ट हो गया, तो पथानुगामी इतरवर्णों की मीमासा व्यर्थ है। क्षत्रियवर्ग ऐश्वर्य्य बल के साथ साथ विद्या-अर्थ-सेवा के क्षेत्रों मे निष्णात बनने की कामना रखता हुआ लक्ष्यच्युत बन रहा है। एक वैश्य महानुभाव सम्पत्ति संग्रह करने के साथ साथ उपदेशक भी बनना चाहता है, धर्म्मनिर्णायक बनने का भी दम भर रहा है, प्रजा पर अपना अनुशासन भी चाहता है। शूद्र महाभाग सेवाधर्म्म के साथ साथ विद्या-शासन-अर्थक्षेत्रों का भी प्रभु बनने की कामना कर रहा है। फलतः चारों हीं वर्ग इतरधर्म्मों की लिप्सा करते हुए अयोग्यतावश इतरधर्म्मों से भी वञ्चित हो रहे हैं, और साथ ही, में खो रहे हैं—अपनापन भी।

भारतवर्ष की इस हीन दशा पर इधर कुछ समय से कुछ एक परमकारुणिकों के अन्तस्तलों मे करुणा-स्रोत उमड ही तो पड़ा। संत्रस्त, किन्तु मुग्ध भारतीयप्रजा ने इन कारुणिक उद्धारकों का हृदय से अभिनन्दन भी किया। परन्तु हुआ क्या? इन उद्धारकों नें आर्यप्रजा को देन क्या दी? उत्तर स्पष्ट है। पश्चिमी सभ्यता-आदर्श-आहार-विहार आदि भूतप्रपञ्चों को ही उन्नति का एकमात्र मूलस्रोत माननेवाले इन पुरुषपुङ्गवों नें रोग-चिकित्सा के स्थान मे रोगी का न रहना ही ठीक घोषित कर दिया। कालातिक्रम द्वारा वर्णव्यवस्था मे आनेवाले दोषों को दूर करने के बहानें इन्होंनें इस व्यवस्था पर ही प्रहार कर डाला। उन्नति मार्ग में सबसे बड़ा विघ्न समझा गया एकमात्र 'भारतीय वर्णव्यवस्था'। कल्पित साम्यवाद की घोषणा के साथ साथ 'जात-पात तोड़क मण्डल' जैसे सर्वनाशक आविष्कार उपादेय मानें जानें लगे। संघठन के पवित्र नाम पर मर्य्यादाओं को पददलित बनाया गया, और इसके द्वारा उच्छिन्न की गई समाज की बचीखुची शान्ति भी।

हम मानते हैं कि, भारतवर्ष मे कुछ समय से वर्णव्यवस्था का दुरुपयोग हो रहा है। स्वार्थलोलुप कुछ एक स्वार्थी उपदेशकों नें, धर्म्मरक्षकों नें वर्णधर्म्मप्रतिपादक शास्त्र को केवल उदरपूर्ति का साधक बना लिया है। स्वाध्याय-प्रणाली से विमुख यह उपदेशकवर्ग आज

सचमुच 'ब्राह्मणब्रुव' बन गया है। इधर कतिपय क्षत्रिय राजा भी अपने 'क्षतात्किल त्रायते' इस नामनिर्वचन को छोड़ते हुए रक्षाकर्म्म के स्थान में रक्तशोषणपद्धति द्वारा अपनी उद्दाम-वासनाओं की पूर्ति में ही संलग्न हैं। यह सब मानते हुए भी वर्णव्यवस्था की निर्दोषता, तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। कोई मन्दबुद्धि अज्ञानतावश उपकारक 'विद्युत्-यन्त्र' से यदि अपना नाश करा बैठता है, तो इसमें विद्युत का क्या दोष है। अज्ञानवश तो जीवन साधक अन्न भी अतियोग, अयोग, मिथ्यायोगादि द्वारा नाश का कारण बन जाया करता है। ऐसी दशा में प्रकृतिमूला, इस समाजानुबन्धिनी वर्णव्यवस्था पर लाञ्छन लगाना सर्वथा अनुचित ही माना जायगा।

हमारी भ्रान्ति, और उसका निराकरण—

बिना कुछ सोचे समझे, कुछ एक बाह्य विभीषिकाओं के आधार पर मूलतत्त्व पर प्रहार कर बैठना क्या न्याय सङ्गत है? हम देखते हैं कि, आज तो यह प्रहारकर्म्म वर्णधर्म्मप्रतिपादक धर्म्मशास्त्रों पर भी आक्रमण कर बैठा है। उदारवादी धर्म्मशास्त्रों पर पक्षपात का दोष लगाते हुए कहा करते हैं कि—"धर्म्मशास्त्रों का निर्म्माण ब्राह्मणों नें किया है। (जब कि धर्म्मशास्त्रों में शिरोमणिभूत मानवधर्म्मशास्त्र-[मनुस्मृति]-एक राजर्षि की कृति है)। ब्राह्मणों नें अपने आपको सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करते हुए इतरवर्णों के लिए अनुचित दण्डों का विधान किया है"। क्या इस आपात-रमणीय अभियोग में कुछ भी तथ्य है? माघ मास का 'जाड़ा' है, अमावस्या की भयावह 'रात्रि' है। मार्ग में चलते हुए एक ब्राह्मण का संयोगवश एक असच्छूद्र के साथ स्पर्श हो जाता है। इस दोष के लिए धर्म्मशास्त्र शूद्र के लिए कोई दण्ड विधान न करता हुआ ब्राह्मण को ही 'सचैल-स्नान' का आदेश देता है। बतलाइए! किसके साथ पक्षपात हुआ?

जिस 'स्पृश्यास्पृश्य' को लेकर आज उदारवादियों नें एक विप्लवयुग उपस्थित कर रक्खा है, जिसका कि पूर्व के 'स्पृश्यास्पृश्य विवेक' नामक परिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जा चुका है, उसमें कौन सा राष्ट्रीय महत्त्व है? यह हमारी समझ में आज तक न आया। क्या न छूने से शूद्र का सर्वस्व नष्ट हो जायगा? क्या छू लेने मात्र से हम उनका समुद्धार कर लेंगे?। वस्तुतः देखा जाय, तो शूद्रवर्ग का वास्तविक अपकार, एवं तिरस्कार तो आज हो रहा है। जहां देश का सम्पूर्ण शिल्प, कला-कौशल महर्षियों नें एकमात्र शूद्रवर्ग के अधिकार में दे रक्खा था, वहा आज हम स्वयं शिल्पोपजीवी बनते हुए उनका जीवन भी सङ्कट में डाल रहे हैं। वस्त्रनिर्म्माण, करघा-सञ्चालन आदि शूद्रकर्म्मों पर आज द्विजातिवर्ग का अधिकार हो रहा है। ग्रामसुधार-रचनात्मककार्य्य-कला-कौशलोन्नति-आदि के व्याज से आज

हमनें उनका सारा व्यवसाय छीन लिया है। भारतीय चर्म्मकार के बनाए जूतों का आज कौन हितैषी आदर करता है? नापित के क्षौरकर्म्म का स्थान क्या आज 'सेफ्टीरेजर' ने ग्रहण नहीं कर लिया? रथ-वाजि-शकटादि द्वारा वाहनों से आज किसे उपेक्षा नहीं है?। शास्त्र विरुद्ध, एवं वर्णधर्म्मविरुद्ध मन्दिरप्रवेश, वेदाध्यापन, यज्ञोपवीतसंस्कार, सहभोजन आदि कर्म्मों से शूद्रवर्ग का उपकार हो रहा है, अथवा अपकार?। उनके एकान्तिक शिल्पाधिकार छीनने से उनका अपकार हो रहा है, अथवा उपकार? इन प्रश्नों का निर्णय उन्हीं हितैपियों को करना चाहिए।

मन्दिरों में प्राणप्रतिष्ठा पूर्वक प्रतिष्ठित भगवत्-प्रतिमाओं के दर्शन से पुण्य है, इस में क्या प्रमाण? वही 'शास्त्र'। जब इस अंश में हम शास्त्रनिष्ठ बनने का दावा रखते हैं, तो हमें क्या अधिकार है कि, शास्त्रविरुद्ध मन्दिर-प्रवेशादि के लिए हाहाकार मचावें। यह कैसी शास्त्र निष्ठा?। ईश्वर सब का है, इस में भी कोई सन्देह नहीं। साथ ही सभी उस की उपासना का अधिकार रखते हैं, यह भी निर्विवाद है। परन्तु उपासनामार्ग एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक मार्ग है। अवश्य ही अधिकार मर्य्यादा से ही इसकी व्यवस्था की जायगी। फिर एक शूद्र भी तो सत्य-अहिंसा-भूतदया-दान-मनःसंयम-ईश्वरनामश्रवण-हरिसंकीर्त्तन आदि सामान्य धर्म्मों से मुक्ति-लाभ कर ही सकता है। प्रतिमादर्शन से शूद्र का तो कोई उपकार होगा नहीं, प्रतिमा का प्राणातिशय इस दृष्टि-संसर्ग से अवश्य दूषित हो जायगा। जिस वैशिष्ट्याधान से एक पापाणखण्ड, किंवा धातुखण्ड ईश्वर का आसन ग्रहण कर वह हमारा उपास्य बन रहा है, वह वैशिष्ट्य अवश्य निकल जायगा।

शास्त्र ने प्रतिमोपासना के असंस्कृत (प्राकृतिक), संस्कृत (कृत्रिम), ये दो भेद मानें हैं। विराट् पुरुष के अङ्गभूत सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-गङ्गा-यमुना-तीर्थादि प्राकृतिक देवप्रतिमाएं हैं। एवं इनकी उपासना का संस्कृत द्विजाति, असंस्कृत अवर्ण सब को समानाधिकार है। वेद-मन्त्रों द्वारा एक विशेष वैध-प्रक्रिया से जिन पाषाणादि प्रतिमाओं में प्राणप्रतिष्ठा की जाती है, वे सब संस्कृत प्रतिमाएं हैं। इन के दर्शन का अधिकार उन्हीं को है, जो जन्मना दिव्य प्राण संस्कारों से संस्कृत हैं। असंस्कृत शूद्रवर्ण कभी इन के दर्शन से अपना उपकार नहीं कर सकता। यदि उस में श्रद्धातिरेक है, तो वह अपने घर में, अथवा अपने समुदाय में देवप्रतिमा बना कर उसकी उपासना में सफल हो सकता है। इधर धर्म्मशास्त्रों नें द्विजाति-वर्ग के लिए प्रतिमादर्शन का जो फल माना है, शूद्र के लिए शिखर-दर्शन मात्र से भी वही फल बतलाया है। जाने दीजिए, इस अप्राकृत विसंवाद को। आगे आने वाले

'भक्तियोगपरिक्षा' प्रकरण में इन सब विषयों का विस्तार से प्रतिपादन होने वाला है। यहां तो इस निदर्शन से केवल यही कहना है कि, शास्त्रसिद्ध आदेश पर चलने से ही प्रजावर्ग का उपकार सम्भव है।

कितनें एक महानुभावों के श्रीमुख से यह भी सुना गया है कि,—"अजी! यह सब तो राजनीति की चालें हैं। यदि अवर्णों को समानाधिकार न दिया गया, तो वे सब विधर्म्मी बन जायँगे। देखिए न, हमारे इसी असमान व्यवहार से आज अस्पृश्यजातियाँ, विशेषतः दक्षिणभारत की अवर्णप्रजा हिन्दुत्व से पृथक् हो गई है"। "ओम्"। सचमुच महा अनर्थ हो रहा है। अवश्य ही इस महा अनर्थ को रोकने के लिए शीघ्र से शीघ्र कोई महा उपाय करना चाहिए। परन्तु यह ध्यान रहे कि, हमें केवल 'अनर्थ' का प्रतिरोध करना है, न कि एक अनर्थ को रोकने के लिए एक दूसरे महा अनर्थ का बीजारोपण करना है। अवर्णप्रजा 'ईसाई' क्यों बन रही है? क्या आपने कभी इस प्रश्न की मीमांसा की? न की हो तो एकबार अनुग्रह कर दक्षिणभारत की यात्रा कर डालिए, समाधान हो जायगा। आप देखेंगे कि नगरों की कौन कहे, दक्षिणभारत के छोटे छोटे ग्रामों तक में 'चर्च' देवता विराजमान हैं। एवं उनमें दैनिकरूप से धर्म्मोपदेशकों (पादरियों) द्वारा खीष्ट्रधर्म्म का महत्त्व, तथा इतरधर्म्मों का निःसारत्व प्रतिपादित हो रहा है। सम्भवतः श्रीमानों को यह भी विदित होगा ही कि, अपने इस धर्म्मप्रचार कार्य्य में पश्चिमीदेश प्रतिवर्ष करोड़ों रुपय्या मुक्तहस्त बन कर प्रदान कर रहे हैं। गुणगान कीजिए उस वर्णमूलिका जातिमर्य्यादा (कास्ट सिस्टम) का, जिसकी अर्गला ने ईसाई-मिशनरियों के प्रवाह में थोड़ी बहुत रुकावट डाल रक्खी है। नहीं तो आज वहां के प्रलोभनों के अनुग्रह से आपको हिन्दुत्व का नाम शेष भी न मिलता।

इधर आप अपने धर्म्मप्रचार पर दृष्टि डालिए। कौन हिन्दूधर्म्म का प्रसार करने के लिए कटिबद्ध है? इस आवश्यकतम कार्य्य का विरोध करने के अतिरिक्त आपके राष्ट्र ने आज तक और कौन सा पुरुषार्थ किया है? इसे कौन सा राज्याश्रय मिल रहा है? इसके प्रचारकों के अपमान में इसी के अनुयायियों के द्वारा कौन सा उपाय बाकी बच रहा है? क्या इसी बल पर हम 'हिन्दुत्व' की रक्षा का दम भरते हैं। यह ठीक है कि, दक्षिणभारत की अवर्णप्रजा के साथ वहां की वर्णप्रजा का व्यवहार कुछ समय से ठीक नहीं है। परन्तु केवल इस दोषाभास को लेकर इतर प्रधान दोषों की उपेक्षा करते हुए वर्णव्यवस्था जैसे सुदृढ़ दुर्ग पर आक्रमण कर बैठना कौन सी बुद्धिमानी है?। होना चाहिए यह कि, योग्य उपदेशकों को धर्म्म प्रचारार्थ स्थान स्थान में भेजा जाय, धर्म्मरक्षक सन्त-महन्तों, आचार्यों, तथा मठाधीशों पर

संघठन द्वारा यह बल डाला जाय कि, वे अपने सञ्चितकोश का इस कार्य्य में उपयोग करें, स्थान स्थान में आश्रम खुलें, तात्त्विक दृष्टि से वेद-वेदाङ्गों का अध्ययनाध्यापन हो, लोकरुचि, तथा योग्यतानुसार सामयिक भाषाओं में इन तत्वों का प्रचार-प्रसार हो। केवल आदेश वाक्यों से न तो कभी जनसमाज धर्म्म पर आरूढ रहा है, एवं न भविष्य में ही इस पद्धति से कोई आशा की जा सकती। यदि उक्त-उपायों का अनुगमन करते हुए धार्म्मिक आदेशों का मौलिक रहस्य जनसाधारण के कानों तक एकवार भी पहुँच जायगा, तो हमारा यह विश्वास है, विश्वास ही नहीं दृढ निश्चय है कि, कोई भी आस्तिक व्यक्ति स्वधर्म्म से विपरीत जाने की इच्छा न करेगा। साथ ही में इस में भी कोई आश्चर्य नहीं है कि, विधर्म्मी भी विरोधी-प्रचारों से उपरत होते हुए भारतीय धर्म्म की सार्वभौमता स्वीकार कर लेंगे।

अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिये यदि हम यह मान भी लें कि, राजनैतिक दृष्टि से ही समानतामूलक-समान व्यवहारान्दोलन ठीक है, तब भी भारतीय दृष्टिकोण इसका समर्थक नहीं बन सकता। ऐसी राजनीति, जो धर्म्मनीति की उपेक्षा कर रही हो, भारतीयक्षेत्र में इसलिए अनीति कहलाती है कि, इसका सम्बन्ध अधर्म्म के साथ रहता है। पहिले भी नीति के नाम को बदनाम करनेवाले ऐसे उदारवादी हो गए हैं। परन्तु जब जब ऐसी अधर्म्ममूला राजनीतियों की घोषणा का अवसर आया है, तबतब उसका तबतक विरोध आरम्भ रहा है, जबतक कि ऐसी नीतियों, तत्प्रवर्त्तकों, एवं तत्समर्थकों को स्मृतिगर्भ में नहीं मिला दिया गया है। भारतीय राजनीति का दृष्टिकोण क्या है? इस प्रश्न की विशद मीमांसा पूर्व में की जा चुकी है। प्रतिपादित लक्षणों के अनुसार हमारे लिए वही राजनीतिपथ ग्राह्य है, जो कि धर्म्मनीतिपथ का अनुगामी है।

इधर क्या हो रहा है? हम क्या बन कर, किसे राजनीति मान कर समानता का उद्घोष कर रहे हैं? यह भी स्पष्ट है। पश्चिमी देशों की सभ्यता-शिक्षा आदि के प्रवाह में पड़ कर आज हमनें वहीं की तरह धर्म्म का राजनीति से पार्थक्य कर डाला है, और धर्म्म को राजनीति का सेवक बना डाला है। यही कारण है कि, आज बिना सोचे समझे प्रत्येक धार्म्मिक-आदेश की (राजनीति का सम्पुट लगा लगा कर) उपेक्षा करते हुए हम लज्जा का अनुभव नहीं करते। निश्चयेन हमारी मौलिकता के पतन का यही मुख्य कारण बन रहा है। इसी पतन के अनुग्रह से आज कतिपय धार्म्मिक नेता भी राजनीति की ओट में धर्म्मविरोधी आन्दोलनों की हा में हां मिलाते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हमारे ये नेता यह भूल जाते हैं कि, भारतीयधर्म्म पूर्वप्रकरणोक्त दिशा के अनुसार इतर धर्म्मों की तरह सामयिक पुरुषश्रेष्ठ की

कल्पना से सम्बन्ध रखनेवाला मतवाद नहीं है, अपितु धर्म्मतत्त्व उस जगन्नियन्ता जगदीश्वर का सनातन, अतएव अविच्छिन्न मर्य्यादासूत्र है।

यही धर्म्मसूत्र हिन्दू जाति का हिन्दुत्त्व है, जिसके कि गर्भ में हिन्दू व्यक्ति के वैय्यक्तिक-कौटुम्बिक सामाजिक-राष्ट्रीय ऐहलौकिक कर्म्म, एवं यज्ञ-तपो-दानादि पारलौकिककर्म्म, सब कुछ प्रतिष्ठित हैं। धर्म्मशास्त्र, वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था, धर्म्ममूलक वर्णवेद, वर्णभेदमूलक कर्त्तव्यभेद आदि ही तो हिन्दुत्व की परिभाषाएं हैं। जब हम अपना यह हिन्दुत्व ही खो देंगे, तो वह उच्छृङ्खल राजनीति हमारे क्या काम आवेगी। हमारी जाति, हमारा कर्म्म, हमारा धर्म्म, हमारी उपासना, हमारा ज्ञान, सब मर्य्यादित हैं, अधिकारभेद से योग्यतानुसार सुव्यवस्थित हैं। यदि प्रवाह में पड कर इन प्राकृतिक अधिकारों को हमनें 'जलाञ्जलि' समर्पित कर दी, तो हममें और एक ईसाई में अन्तर ही क्या रहा? फिर क्यों, किस आधार पर हम हिन्दुत्त्व का अभिमान करें? जब हम अपनी मौलिकता का सर्वनाश कर स्वतन्त्र होना चाहते हैं, हम 'हम' न रह कर आजाद बनना चाहते हैं, तो इस पशुलक्षणा स्वतन्त्रा का प्रतिरोध आज भी किसने कर रक्खा है, फिर तो आज भी हम स्वतन्त्र ही हैं।

भारतवर्ष की स्वतन्त्रता का मूलमन्त्र उसका वर्णधर्म्म ही माना जायगा। प्रचलित राजनीति के अनुग्रह से यदि क्षणमात्र के लिए हमें खान-पान की थोडी बहुत अमर्य्यादित सुविधा मिल भी गई, और इस क्षणिकफल के प्रत्युपकार में हमनें अपनी मौलिकता की भेंट चढ़ा दी, तो भी यह सुविधा परिणाम में हमारे सर्वनाश का ही कारण सिद्ध होगी। समय अधिक भले ही लगे, परन्तु हमें अपनी मौलिकता को बचाते हुए, धर्म्मरक्षा करते हुए ही अभ्युदय-पथ का अनुगमन करना पड़ेगा। राजनीति के इस दुर्द्धर्ष प्राङ्गण में अनेक विजेता जातियाँ हमारे आईं, और एक टक्कर में ही उसी प्राङ्गण में विलीन हो गईं, जिनका कि आज नाम भी शेष नहीं है। इधर शताब्दियों से परतन्त्रता-पाश का अनुगमन करती हुई भी यह हिन्दू-जाति अपनी सनातन मौलिकता के आधार पर आज तक जीवित खड़ी है।

हम हमारे इन अभिभावों के बुद्धिवैभव का ताण्डवनृत्य देख देख अवाक् रह जाते हैं। वर्णधर्म्म इस लिए हानिकर माना जा रहा है कि, इसने हिन्दु-जाति का क्रमिक ह्रास किया है। 'हिन्दू जाति बची रहे, हिन्दुओं का हिन्दुत्व सुरक्षित रहे', इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए बुद्धिधुरीणों नें धर्म्मपरित्याग, वर्णधर्म्मोपेक्षा, मर्य्यादा-सूत्रोच्छेद आदि उपायों को अपनाया है। भला इन बुद्धिमानों से कोई यह तो पूछे कि, वर्णधर्म्म के अतिरिक्त हिन्दुत्व की परिभाषा ही दूसरी कौन सी है? प्रकृतिसिद्ध वीर्य्यभेद न माना जाय, अधिकार

भेद सिद्ध कर्म्मभेद-व्यवस्था न अपनाई जाय, कोई किसी का अनुशासन न माने, सब यथे-च्छाचारी बन जायं, खानपान का धर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं, विवाह का धर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं, स्पृश्यास्पृश्य विवेक केवल स्वार्थलीला है, क्या इन्हीं सब आदर्शवाक्यों का नाम हिन्दुत्व है ? क्या इसी हिन्दुत्व के आधार पर हिन्दूजाति अपना जीवन सुरक्षित रख सकी है ? सोचिए ! अपने लिए न सही, अपने पूर्व गौरव की रक्षा के नाते सोचिए, भावी-सन्तति के कल्याण के नाते सोचिए, एवं खूब सोच समझ कर ही अपने बुद्धिवाद का प्रसार कीजिए।

वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में इन्हीं बुद्धिमानों की ओर से एक आक्षेप और उपस्थित होता है। आप का कहना है कि, "दण्डविधान में मनु ने ब्राह्मणवर्ण के साथ पूरा पूरा पक्षपात किया है। ब्राह्मण के थोड़े से अपमान में शूद्रवर्ग के लिए कठिनतम दण्ड विहित हैं"। आक्षेप यथार्थ है, अवश्य ही मनु ने ऐसा ही किया है। परन्तु इस विधान का मूल क्या है ? क्या आपने कभी यह विचार किया। समाज व्यवस्था में सब का आसन समान रहे, यह सर्वथा असम्भव है। ब्राह्मणवर्ण समाज का सर्वमूर्द्धन्य अङ्ग है, शिरःस्थानीय है, मुखिया है, ज्ञानप्रद है, अतएव समाज के लिए एक बहुत बड़ी देन है। यदि इस से कोई अपराध बन भी जायगा, तो उसे या तो क्षम्य माना जायगा, अथवा स्वल्पदण्डभाक् माना जायगा। इस का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, इतरवर्णों का समाज व्यवस्था में कोई महत्त्व नहीं है। सभी वर्ण स्व-स्वक्षेत्र में महान्, तथा उपादेय हैं। एवं समाज व्यवस्था-संचालन के नाते सभी की समानरूप से आवश्यकता है। फिर भी कर्म्म-योग्यता, एवं कर्म्मजाति के तारतम्य से व्यक्ति की योग्यता, एवं वर्ग जाति की योग्यता में अन्तर मानना प्रकृति सिद्ध है, एवं यही प्राकृतिक विशेषता उस विशेष जाति का विशेष मूल्य है। यही मूल्य, यही विशेषता श्रेणि-विभाजन का कारण भी बनी है।

जो वर्ण (ब्राह्मण) आप के समाज के कल्याण के लिए ऐहलौकिक सम्पूर्ण सुखसाधनों का परित्याग कर कायक्लेश सहता हुआ अनन्यभाव से यावज्जीवन ज्ञानचर्य्या में निमग्न रहता है, सचमुच ऐसा 'एवंवित्' ब्राह्मण समाज की अमूल्यनिधि है। इस का अपमान जहां सर्वथा 'असह्य' है, वहां इस का आकस्मिक अपराध 'सह्य' ही माना जायगा। फिर शास्त्र-कारों नें स्वयं ब्राह्मणवर्ण के लिए भी कतिपय स्थलों मे ऐसे दण्ड नियत किए हैं, जिनके श्रवण मात्र से रोमाञ्च हो पड़ता है। "यदि ब्राह्मण मद्यपान कर ले, तो उसके गले मे तब तक तप्त तप्त मद्य डालते रहना चाहिए, जब तक कि उसका आत्मा इस शरीर को छोड़ न दे", क्या यह

सामान्य दण्ड है ?। यदि सामान्य अपराधों पर ही ब्राह्मणवर्ग को कठिन-प्राणघातक दण्ड दे दिया जायगा, तो समाज एक अमूल्यनिधि खोता रहेगा। थोडा सा दण्ड भी इसके परिताप-प्रायश्चित्त के लिए पर्य्याप्त है। उच्च श्रेणि का व्यक्ति स्वल्पदण्ड से ही मृत्युसम कष्ट का अनुभव करने लगता है, यह सार्वजनीन है।

'वायसराय' महोदय भी मनुष्यत्वेन एक मनुष्य हैं, और प्रजा का एक सामान्य व्यक्ति भी मनुष्यत्वेन मनुष्य ही है। यदि इस सामान्य मनुष्य के हाथ से कोई मारा जाता है, तो इसे वधदण्ड मिलता है। परन्तु वायसराय महोदय के हाथों अकस्मात्, अथवा जान बूझ कर किसी के मार जाने पर भी वे इस दण्डविधान से मुक्त रहते हैं। क्यों ? इसलिए कि वे राष्ट्र की एक अमूल्य निधि माने गए हैं। उनकी सत्ता से राष्ट्रव्यवस्था का कल्याण है। ठीक यही समाधान मानवीय-दण्ड-विधान प्रकरण का समझिए। समानदण्ड का प्रश्न उठाना ही भ्रान्ति है। क्योंकि देश-काल-पात्र की योग्यता के अनुसार ही दण्ड-विधान प्रवृत्त होते हैं।

एक और विचित्र आक्षेप सुनिए। "भगवान् राम ने भिलनी के बेर खाए थे, भगवान् ने निषाद को गले लगाया था, भगवान् कृष्ण ने 'चेता' के यहां प्रसाद पाया था। ये सब उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण हैं कि, 'अस्पृश्यता' केवल स्वार्थमयी कल्पना है। जब आदर्शस्थानीय हमारे अवतार पुरुषों नें इन्हे अस्पृश्य न माना, साथ ही जब हमें शास्त्र—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः**' यह आदेश दे रहा है, तो कहना पड़ेगा कि अस्पृश्यता मानव-समाज का एक नग्न कलङ्क ही है।"

स्वागतम्। सुस्वागतं भोः॥ भगवान् राम, और भगवान् कृष्ण ने ऐसा किया था, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। परन्तु भगवन्। भगवान् ने ऐसा किया था, भगवान् आज भी ऐसा कर रहे हैं, एवं भविष्य मे भी सब कुछ करने का उन्हे अधिकार है, क्योंकि वे भगवान् हैं, सर्व व्यापक है। उन के स्पर्श से कौन बच सकता है। उन के विभूतियोग से कौन वञ्चित रह सकता है। क्या हम भी व्यापक भगवान् हैं ? क्या हमारी वैसी ही व्यापक दृष्टि है ? क्या विश्वधर्म्म हमे अपनी ओर आकर्षित नहीं करते ? क्या माता-पत्नी-पिता-पुत्र-अनुचर-बन्धु बान्धव सब का लौकिक भेद हमारे लिए 'अभेद' बन गया है ? नहीं, तो किस आधार पर हम भगवान् हुए ? जब भगवान् नहीं हुए, तो किस आधार पर हमे भगवान् के लोकोत्तर चरित्रों के अनुगमन का अधिकार प्राप्त हुआ ?। यदि 'आदर्श की नकल' का यही अर्थ आपने समझ रक्खा है कि, "हमारे आदर्श पुरुषों नें जो कुछ किया, हमें भी वही

करना चाहिए" तो आप को बिना आनाकानी के विषपान कर लेना चाहिए। क्योंकि भगवान् शङ्कर भी राम-कृष्णावत् आप के आदर्श देवता हैं, और आदर्श पुरुषों के चरित्रों की नकल करना आपका धर्म्म है। क्या आप ऐसा कर सकेंगे ?

स्मरण कीजिए भगवान् 'व्यास' के—'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' (श्रीमद्भागवत १० स्कं० पू० रासपञ्चाध्यायी ३३।३) इस वचन को। जो क्षयकीटाणु स्पर्शादि सहदोषों से हमारे शरीर में प्रविष्ट हो कर शरीर को जर्ज्जरित कर देते हैं, वे ही कीटाणु सूर्य्यसम्बन्ध से अपना घातक-दोषावह स्वरूप खो बैठते हैं। सूर्य्य पर इन कीटाणुओं के सम्पर्क का कोई असर नहीं होता। अमानव, दिव्य पुरुष का ही नाम 'भगवान्' है। सर्वव्यापक, अतएव समदर्शी भगवान् के लिये सभी वर्ण समान है। परन्तु उन्हीं भगवान् के इस व्यावहारिक जगत् मे सब विभिन्न-विशेष धर्म्मों से ही आक्रान्त रहते हैं।

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचारितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥

—श्रीमद्भागवत १० सं० पू० ३३।३२।

इस आदेश वाक्य के अनुसार 'सत्य-अहिंसा-अस्तेय-भूतरति-आस्तिक्य-ब्रह्मचर्य्य' आदि कुछ एक सामान्य धर्म्मों को छोड़ कर समर्थ पुरुषों के और किसी लोकोत्तरचरित्र की नकल करना सर्वथा पागलपन है। उनका लोकोत्तरचरित्र हमारे लिए आदर्श नहीं बना करता, अपितु उनका आदेश वचन ही हमारे लिए कल्याण का मार्ग है। नहीं तो फिर एक ही बात में नकल क्यों ? भगवान् के सभी चरित्रों की नकल कीजिए न। जिस दिन आप ऐसा करने में समर्थ हो जायंगे, उस दिन आप भी लोकोत्तर पुरुष बनते हुए भगवान् बन जायंगे, एवं उस स्थिति में आप का आदेश भी वेदवाक्यवत् हमारे लिए प्रमाण बन जायगा। नहीं तो फिर इन कुत्सित-अशास्त्रीय-कल्पनाओं का एक आर्य्यसन्तान की दृष्टि मे कोई मूल्य नहीं है। बहुत हुआ। वर्णव्यवस्था, तथा वर्णव्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाला धर्म्मभेद ऐसे गहन विज्ञान से सम्बद्ध है, जिस पर सहसा दृष्टि नहीं जा सकती। दुर्भाग्य से वैदिक-विज्ञान का पारस्परिक स्वाध्याय क्रम भी आज उच्छिन्नप्राय है। इसी अज्ञानता के कारण मौलिक-तत्त्वों पर प्रतिष्ठित इन मौलिक व्यवस्थाओं को आज सर्वथा बालबुद्धियों तक के आक्षेप-प्रत्याक्षेप सुनने पड़ रहे हैं। क्या ही अच्छा हो, हमारे ये अभिभावक अपनी शक्ति

का दुरुपयोग न कर इस ओर दृष्टि डालें, एवं भारत के बचे खुचे वैभव को सुरक्षित रखने का गौरव प्राप्त कर अमरकीर्त्ति के भागी बनें। परमात्मा इन्हें ऐसी ही सुबुद्धि दे, यही मङ्गल-कामना करते हुए पुनः पाठकों का ध्यान उसी प्रक्रान्त सामाजिक-व्यवस्था की ओर आकर्षित किया जाता है।

आक्रमणरक्षा और वर्णव्यवस्था—

प्रसङ्ग यह चल रहा था कि, सामाजिक दृष्टि से समाज को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए भी श्रेणीविभाग-मूला वर्णव्यवस्था आवश्यकरूप से अपेक्षित है। राष्ट्र की स्वसमृद्धि के लिए, तथा स्वस्वरूप-रक्षा के लिए प्रत्येक दशा में-'शिक्षक-रक्षक-उत्पादक-सेवक' इन चार श्रेणि-विभागों की परम आवश्यकता है। इन चारों में क्षत्रिय केवल रक्षक ही है, वैश्य केवल उत्पादक ही है, शूद्र केवल सेवक ही है, परन्तु ब्राह्मणवर्ग शिक्षक होने के साथ साथ रक्षक-उत्पादक-एवं सेवक भी है। ऐसा होना भी चाहिए, जब कि इतर तीनों वर्णों की मूलप्रतिष्ठा यही वर्ण माना गया है। यही नहीं, ब्राह्मण द्वारा सञ्चालित रक्षा-उत्पादन-सेवा कर्म्म क्षत्रिय वैश्य-शूद्रों द्वारा सञ्चालित रक्षा-उत्पादन-सेवा कर्म्मों से कहीं विशेष महत्व रखते हैं। तभी तो ब्राह्मण को प्रजापति का 'मुख' माना गया है। पहिले ब्राह्मण द्वारा होने वाली रक्षावृत्ति की ही मीमांसा कीजिए।

राष्ट्र पर, किंवा राष्ट्रीय मानववर्ग पर क्या क्या आक्रमण होते हैं ? पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए। 'मनुष्य क्या है' ? इस प्रश्न का उत्तर है—'अध्यात्म-अधिदैवत-अधिभूतभावों की समष्टि'। मनुष्य संस्था से सम्बन्ध रखने वाले ये ही तीनों भाव क्रमशः—'कारणशरीरोपलक्षित, मनःप्रधान, अतएव ज्ञानमय—आत्मग्राम'—'सूक्ष्मशरीरोपलक्षित, प्राणप्रधान, अतएव क्रियामय—देवग्राम'—'स्थूलशरीरोपलक्षित, वाक्प्रधान, अतएव अर्थमय—भूतग्राम' इन नामों से भी प्रसिद्ध हैं, जैसा कि 'आत्मपरीक्षाखण्ड' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। आत्मग्रामोपलक्षित कारणशरीर, देवग्रामोपलक्षित सूक्ष्मशरीर, एवं भूतग्रामोपलक्षित स्थूलशरीर, इन तीनों शरीरों की समष्टि ही 'मनुष्य' है। सर्वोपरि स्थूलशरीररूप 'भूतग्राम' का वेष्टन है, एवं यही 'आधिभौतिकप्रपञ्च' है। इसके भीतर इसका आधारभूत सूक्ष्मशरीररूप देवग्राम' प्रतिष्ठित है, एवं यही 'आधिदैविकप्रपञ्च' है। सर्वान्तरतम, सर्वप्रतिष्ठारूप, कारणशरीरात्मक 'आत्मग्राम' प्रतिष्ठित है, एवं यही 'आध्यात्मिक-प्रपञ्च' है। इन तीनों संस्थाओं को 'प्रपञ्च' इस लिए कहा जाता है कि, प्रत्येक संस्था के पाँच पाँच पर्व हैं। आत्मा भी पाँच हैं, देवता भी पांच हैं, एवं भूत भी पाँच ही हैं। इसी

पञ्चभाव के कारण इन्हें प्रपञ्च कहा गया है, एवं इसी समुदाय के कारण प्रत्येक को 'ग्राम' शब्द से व्यवहृत किया गया है। इन तीनों प्रपञ्चों से अतीत, अतएव 'माण्डूक्य' परिभाषानुसार 'प्रपञ्चोपशम' नाम से प्रसिद्ध (माण्डूक्योपनिषत् ७।) तुरीय तत्त्व (चौथा तत्त्व) 'पुरुषात्मा' है। यह पुरुषात्मा वर्णमर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत है। न उसका कभी कुछ बनाव होता, न उसका कभी कुछ बिगड़ता ही। यह द्वन्द्वातीत तत्त्व किसी की रक्षा की अपेक्षा नहीं रखता। अपितु उसी की स्वल्प-मात्रा ले लेकर अन्य प्रपञ्च रक्षा करने का अभिमान किया करते हैं। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, मनुष्य संस्था में त्रिगुणातीत, किंवा द्वन्द्वातीत— 'पुरुषात्मा', पांच 'गुणात्मा', पांच 'देवता', पांच 'भूत' इन चार विवर्त्तों की सत्तासिद्ध हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

मनुष्यसंस्थापरिलेखः—

पुरुषात्मा–साक्षी
तुरीयः–प्रपञ्चोपशमः

आत्मप्रपञ्चः	देवप्रपञ्चः	भूतप्रपञ्चः
१–अव्यक्तात्मा (स्वायंभुवः)	१—वाक् (अग्निः)	१—पृथिवी
२–महानात्मा (पारमेष्ठ्यः)	२—प्राणः (वायुः)	२—जलम्
३–विज्ञानात्मा (सौरः)	३—चक्षुः (आदित्यः)	३—तेजः
४–प्रज्ञानात्मा (चान्द्रः)	४—श्रोत्रम् (दिक्सोमः)	४—वायुः
५–प्राणात्मा (पार्थिवः)	५—मनः (भास्वरसोमः)	५—आकाशः
आध्यात्मम्, कारणशरीरम्, मनोमयः-ज्ञानप्रधानः-'आत्मग्रामः'	अधिदैवतम्, सूक्ष्मशरीरम्, प्राणमयः-क्रियाप्रधानः-'देवग्रामः'	अधिभूतम्, स्थूलशरीरम्, वाङ्मयः-अर्थप्रधानः-'भूतग्रामः'

उक्त तीनों ही संस्थाओं में दोष-संक्रमण अनिवार्य्य है। 'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश' क्लेशात्मक, क्लेशप्रवर्त्तक ये पांच अविद्यादोष कारणशरीरात्मक आध्यात्मिकप्रपञ्च पर आक्रमण किया करते हैं। इस दोषाक्रमण से आत्मप्रपञ्च की वह स्वाभाविक ज्ञानशक्ति, जो कि इसे साक्षी-पुरुषात्मा से मिलाती है, आवृत हो जाती है। आत्मसंस्था क्रमशः अज्ञानलक्षण मोह, अनैश्वर्य्य, आसक्ति, एवं अधर्म्मभावों का अनुगामिनी बनती हुई अशान्त हो जाती है। 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद मात्सर्य्य' ये ६ दोष सूक्ष्मशरीरात्मक आधिदैविक प्रपञ्च पर आक्रमण किया करते हैं। इनके आगमन से शरीर-देवताओं (पञ्चेन्द्रियवर्गों) की दिव्य-कर्म्म शक्ति विलुप्त हो जाती है। परिणामतः इन्द्रियवर्ग सदा क्षुब्ध बना रहता है। प्रज्ञापराध की कृपा से अपनी स्वरूपरक्षा करनेवाले 'हीनयोग-अतियोग-मिथ्यायोग-अयोग' इन चार कुत्सित योगों को अपने मूल में रख कर पनपनेवाले सर्वविध रोग (बीमारियाँ) स्थूलशरीरात्मक आधिभौतिक प्रपञ्च पर आक्रमण किया करते हैं। इनके आक्रमण से शरीरबलरक्षक प्राणाग्नि निर्बल बना रहता है, स्फूर्त्ति उत्क्रान्त हो जाती है, कर्त्तव्य-कर्म्मोत्साह मन्द पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, रोगादि के आक्रमण से स्थूलशरीर अरक्षित रहता है, कामादि के आक्रमण से सूक्ष्मशरीर संत्रस्त रहता है, एवं अविद्यादि के आक्रमण से कारणशरीर परामृष्ट रहता है।

मनुष्य की मनुष्यता के विकास के लिए पहिले से (जन्मतः) विद्यमान रहनेवाले इन तीनों दोषों का निकालना आवश्यक है, एवं भविष्य के लिए तीनों का निरोध करना अपेक्षित है, तभी मनुष्य सुरक्षित रह सकता है। और यह त्रिविध-रक्षाकर्म्म एकमात्र ब्राह्मणसमाज का ही प्रातिस्विक कर्त्तव्य माना गया है। वही अपने ज्ञानबल के प्रभाव से इन तीनों दोषों से मानव समाज की रक्षा कर सकता है। चूंकि रक्षा के अधिकरण तीन हैं, अतएव ब्राह्मणोपदेशलक्षण रक्षाशास्त्र भी 'दर्शनतन्त्रत्रयी' की भांति तीन तन्त्रों में विभक्त हो गया है। स्थूलशरीर का चिकित्सक 'आयुर्वेदशास्त्र' है, सूक्ष्मशरीर का चिकित्सक 'धर्म्मशास्त्र' है एवं कारणशरीर का चिकित्सक 'दर्शनशास्त्र' है। दर्शनशास्त्र-ज्ञानप्रधान आत्मप्रपञ्च की रक्षा करता हुआ 'ज्ञानप्रधानशास्त्र' है, धर्म्मशास्त्र-क्रियाप्रधान देवप्रपञ्च की रक्षा करता हुआ 'कर्म्मप्रधानशास्त्र' है, एवं आयुर्वेदशास्त्र-अर्थप्रधान भूतप्रपञ्च की रक्षा करता हुआ 'अर्थप्रधानशास्त्र' है। इन तीनों ही शास्त्रों का प्रवर्त्तक, किंवा उपदेशक ब्राह्मण ही है। वही अपने त्रिविध उपदेशों से व्यक्तियों के तीनों दोषों को निकाल कर,

भावी आक्रमण से इनकी रक्षा करता है। इस प्रकार शिक्षक होने के साथ साथ ब्राह्मण 'रक्षक' भी बन रहा है।

उक्त तीनों आक्रमणों का शरीरत्रयी-सम्बन्धिनी अन्तरङ्गसंस्था से ही सम्बन्ध माना जायगा। क्योंकि बहिर्जगत् की दृष्टि से शरीरसंस्था एक अन्तरङ्गसंस्था ही मानी गई है। इस अन्तरङ्गसस्था पर बाहिर की ओर से दो तरह से आक्रमण और होते हैं, जिनका कि साक्षात् सम्बन्ध (तीनों शरीरों में से) केवल 'स्थूलशरीर' के साथ ही है। उन दोनों बाह्य आक्रमणों को हम 'आधिदैविक आक्रमण-आधिभौतिक आक्रमण' इन नामों से व्यवहृत करेंगे।

'उल्कापात' हुआ, ग्राम के ग्राम नष्ट हो गए। 'भूकम्प' हुआ, नगर के नगर भूगर्भ में विलीन हो गए। इसी प्रकार, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, करकापात, जनपदविध्वंसिनी, आदि आक्रमणों का ईश्वरतन्त्र के साथ, किंवा प्रकृतितन्त्र के साथ ही सम्बन्ध है। इन्हीं आक्रमणों को 'आधिदैविक-बाह्य-आक्रमण' कहा जायगा। इनके सम्बन्ध में राजतन्त्र कुछ नहीं कर सकता। करेगा, परन्तु ब्राह्मण के आदेश से, इसके बतलाए पथ से। इन आक्रमणों की 'पुकार' राष्ट्रीय न्यायालयों मे नहीं हो सकती। अनावृष्टि-अतिवृष्टि-करने वाले मेघों पर अदालतों मे दावा दायर नहीं हुआ करता। इन आक्रमणों को (क्षत्रिय राजा के सहयोग से) रोक सकता है केवल ब्राह्मण, एव इसका साधन है एकमात्र 'विज्ञानमय-वेदशास्त्र'।

प्रकृतितन्त्र का सञ्चालन करने वाले प्राणदेवताओं की विषमता से प्रकृतिमण्डल क्षुब्ध हो पड़ता है, एवं यह प्राकृतिक क्षोभ ही उक्त आधिदैविक-आक्रमण का कारण बनता है। राष्ट्र का पाप, अनाचार, प्रकृतिविरुद्ध गमन, वर्णाश्रमधर्म्मों का परित्याग, आदि आदि राष्ट्र के कुकृत्य ही (विकृतिरूप मानवसस्था मे रहने वाले प्राण देवताओं से नित्य सम्बद्ध) प्राकृतिक प्राणदेवताओं के क्षोभ के कारण बना करते हैं। विद्वान् ब्राह्मण का यह कर्तव्य होगा कि, वह उन कारणों का अन्वेषण करे, वैज्ञानिक परिवर्त्तनों द्वारा यह पता लगावे कि, किस दोष से प्रकृति का कौन सा प्राणदेवता विकृत हो गया है। पता लगा कर उसकी चिकित्सा करे।

इस प्राकृतिक चिकित्सा का प्रधान साधन वेदसिद्ध 'यज्ञकर्म्म' ही है। प्रकृति के (सौर-मण्डल के) प्राणदेवता पार्थिवसंस्था के साथ यथानियम सङ्गम करते रहते हैं। दोनों का परस्पर आदान-विसर्गात्मक 'प्रहितां संयोगः'–और 'प्रयुतां संयोगः' हुआ करता है। इसी स्वाभाविक-देवसङ्गम कर्म्म का नाम प्राकृतिक नित्य यज्ञ है, जैसा कि पाठक मूलभाष्य के 'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गी० ३।१०।) इत्यादि श्लोकभाष्य

में विस्तार से देखेंगे। इन प्राकृतिक यज्ञों के आधार पर महर्षियों के द्वारा वैध-यज्ञपद्धतियों का आविष्कार हुआ है। एवं इन यज्ञ रहस्यों का प्रतिपादक शास्त्र ही—'वेदशास्त्र' है, जिसे कि केवल पारायण की वस्तु बना कर ब्राह्मणवर्ग ने अपना सारा महत्व खो दिया है। दर्शन-शास्त्र जहां ज्ञानप्रधान है, वहां वेदशास्त्र विज्ञान-प्रधान है। दर्शनशास्त्र जहां आध्यात्मिक प्रपञ्च का चिकित्सक है, वहां वेदशास्त्र आधिदैविक आक्रमण का प्रतिबन्धक है। इस प्रकार भारतीय ब्राह्मणवर्ण के द्वारा होनेवाला यह 'रक्षा-कर्म्म' 'आध्यात्मिक' (कारणशरीरसम्बन्धी) आधिदैविक (सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी), आधिभौतिक (स्थूलशरीरसम्बन्धी), आधिदैविक (प्रकृतिमण्डलसम्बन्धी), भेद से चार भागों में विभक्त हो जाता है। चारों में यद्यपि प्रकृति-मण्डल सम्बन्धी आधिदैविक आक्रमण को पूर्व में हमनें बहिरङ्ग आक्रमण माना है, परन्तु प्राणदेवता की अपेक्षा से इसे भी एक प्रकार से अन्तरङ्ग आक्रमण ही कहा जायगा। क्योंकि प्रकृति के प्राणदेवताओं में कब, क्या विपर्य्यय हो जाता है, यह स्थूलदृष्टि से बाहिर का विषय है। ऐसी दशा में इन चारों को ही हम 'अन्तरङ्गरक्षाकर्म्म' कहेंगे, जिनका कि प्रभु एकमात्र वेदवित् कर्म्मठ ब्राह्मण ही माना गया है।

१—(१)—आधिभौतिक आक्रमण—"अर्थप्रधान—स्थूलशरीर सम्बन्धी" }
२—(२)—आधिदैविक आक्रमण—"कर्म्मप्रधान सूक्ष्मशरीर सम्बन्धी" } —व्यक्तिगत
३—(३)—आध्यात्मिक आक्रमण—"ज्ञानप्रधान—कारणशरीर सम्बन्धी" }
४—(१)—आधिदैविक आक्रमण—"विज्ञानप्रधान—विश्वशरीरसम्बन्धी" } —सामूहिक

१—(१)—अर्थप्रधानं—'आयुर्वेदशास्त्रम्'— शरीरशुद्धिः—तदिदं—'भूतरक्षासाधकशास्त्रम्'।
२—(२)—कर्म्मप्रधानं—'धर्म्मशास्त्रम्' अन्तःकरणशुद्धिः—तदिदं—'देवरक्षासाधकशास्त्रम्'।
३—(३)—ज्ञानप्रधानं—'दर्शनशास्त्रम्'—आत्मशुद्धिः—तदिदं—'आत्मरक्षासाधकशास्त्रम्'।
४—(१)—विज्ञानप्रधानं—'वेदशास्त्रम्'—प्रकृतिविशोधनम्—तदिदं—'प्रकृतिरक्षासाधकशास्त्रम्'।

प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य-आधिदैविक आक्रमण का स्वरूप बतलाया गया। अब एक बाह्य आधिभौतिक आक्रमण और बच जाता है। स्वार्थवश किसी ने किसी की सम्पत्ति का अपहरण कर लिया, किसी ने किसी निरपराध को मार दिया, किसी नीच प्रकृति ने किसी भद्र पुरुष का अपमान कर दिया, किसी ने किसी निर्बल को सताया, हिंसक-वन्य-शूकरादि पशुओं ने खेती नष्ट कर डाली, सिंह-व्याघ्रादि से समाज का जीवन आपत्ति में पड़ गया, ये सब आक्रमण बाह्य-आधिभौतिक आक्रमण मानें जायँगे। शास्ता क्षत्रिय राजा का कर्त्तव्य

है कि, वह अपने दण्डास्त्र से समाज को इन आक्रमणों से बचावे। इन क्षतभावों से समाज की रक्षा करने के कारण ही वीरभाव प्रधान यह रक्षकवर्ग 'क्षतात्-त्रायते' इस निर्वचन से 'क्षत्रिय' कहलाएगा। जो क्षत्रिय राजा अपने इस रक्षा कर्म्म में उदासीन है, अथवा असमर्थ है, यही नहीं, अपितु जो अविवेकी अपनी उद्दाम-वासनाओं की पूर्ति के लिए न्यायविरुद्ध विविध प्रकार के कर लगा कर समाज के अर्थबल-शोषण को ही अपना मुख्य पुरुषार्थ मान बैठता है, वह मदान्ध राजा वेन-रावण-कंस आदि अत्याचारी राजाओं की तरह शीघ्र ही अपने आप नष्ट हो जाता है, अथवा समाज-क्रान्ति इसे भस्मावशेष बना देती है।

उक्त निदर्शनों से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, राष्ट्रीय मानवसमाज पर होनेवाले उक्त पांच आक्रमणों में पूर्व के चार आक्रमणों को रोकना तो ब्राह्मण का प्रातिस्विक कर्त्तव्य है, एवं केवल एक आक्रमण का निरोध करना क्षत्रिय का प्रातिस्विक कर्त्तव्य है। इस प्रकार शिक्षक ब्राह्मणवर्ग अपने शिक्षण-कर्म्म के अतिरिक्त इन चार रक्षा-कर्म्मों का अधिष्ठाता बनता हुआ आधिभौतिक-आक्रमण-रक्षक क्षत्रियवर्ग की अपेक्षा कहीं उच्च स्थान में प्रतिष्ठित है। यही नहीं, क्षत्रिय का यह बाह्य रक्षाकर्म्म भी ब्राह्मण-पुरोधा को अग्रणी बना कर ही सञ्चालित होता है। बिना ब्राह्मण के सहयोग के क्षत्रिय न्यायदण्ड सञ्चालन में भी असमर्थ ही माना गया है, जैसा कि पूर्व के 'मैत्रावरुण' प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है। इसी प्रकार कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य कर्म्मों के अधिष्ठाता वैश्यवर्ग की उत्पादन-शक्ति भी परम्परया ब्राह्मण के ज्ञानोपदेश पर ही निर्भर है। तीनों उत्पादन कर्म्मों के हानि लाभ बतलाना, देश-काल-पात्र-द्रव्यानुसार इन्हें विभक्त करना ब्राह्मणोपदेश का ही अनन्य कर्त्तव्य है। एवमेव शूद्रवर्ग सम्बन्धी शिल्प-कलावर्ग का तात्त्विक बोध भी ब्राह्मणोपदेश पर ही निर्भर है। इस प्रकार कहीं शिक्षारूप से, कहीं पथप्रदर्शनरूप से, कहीं अनुमन्तारूप से शिक्षक ब्राह्मण सबको स्व-स्व चरित्र का रहस्य बतलाता हुआ, विद्याबल से कर्म्मों को प्रशस्त-कर्म्म बनाता हुआ 'सर्वम्' बन रहा है। ब्राह्मणवर्ण की इसी सर्वता का स्पष्टीकरण करते हुए राजर्षि मनु कहते हैं—

१—भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा, नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥

—मनुः १।९६

२—ब्राह्मणेषु च विद्वांसो, विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः, कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥
—मनुः १।९७

३—उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्त्तिर्धर्म्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्म्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
—मनुः १।९८

४—ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्म्मकोशस्य गुप्तये ॥
—मनुः १।९९

५—सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥
—मनुः १।१००

६—स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते, स्वं वस्ते, स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥
—मनुः १।१०१

७—तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।
हव्य-कव्याभिवाह्याय 'सर्वस्यास्य च गुप्तये' ॥
—मनुः १।९४

८—यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥
—मनुः १।९५

९—एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
—मनुः १।२।२१

ब्राह्मणवर्ण अन्तरक्षा-कर्म्म का अधिष्ठाता है, क्षत्रियवर्ण बहिरङ्गरक्षा-कर्म्म का सञ्चालक है। सेवक शूद्रवर्ण के साथ सद्भाव बनाए रखने वाला वैश्यवर्ण ब्रह्म क्षत्र से परित. सुरक्षित रहता हुआ कृषि गोरक्षा-वाणिज्यकर्म्मों द्वारा देश की आर्थिक समृद्धि का कारण बनता है। जिस राष्ट्र मे चारों वर्ण इस प्रकार सुव्यवस्थितरूप से स्व-स्व कर्त्तव्य-कर्म्मों मे प्रवृत्त हैं वह राष्ट्र कभी अवनत नहीं हो सकता।

वर्णनाम-रहस्य—

वैदिक-'शब्दसङ्केतविद्या' के अनुसार इन चारों वर्णों के जो नाम, तथा उपनाम रक्खे गए हैं, उनके रहस्यज्ञान से भी इन वर्णों का तात्त्विक स्वरूप सर्वथा स्फुट हो रहा है। चारों के क्रमशः 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र' ये तो नाम हैं, एव 'शर्म्मन्—वर्म्मन्–गुप्त-दास' ये चार उपनाम हैं। प्रसङ्गागत इन नामों का भी विचार कर लीजिए। पहिले ब्राह्मण' शब्द को ही लीजिए। ब्राह्मण शब्द के तीन निर्वचन हो सकते है, यथा 'ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः'—'ब्रह्म अधीते-इति ब्राह्मणः'—'ब्रह्म जानाति, इति ब्राह्मणः'। ब्रह्म की (मुख्यस्थानीय, अतएव मुख्य) सन्तान होने से, ब्रह्म (वेद) स्वाध्याय से, एव ब्रह्म (सर्वकारणभूत अव्यय अक्षरावच्छिन्न वाङ्मय क्षरब्रह्म) के तात्त्विक बोध से, इन तीन कारणों से इस प्रथम वर्ण को 'ब्राह्मण' कहा जाता है। जिस ब्रह्म सम्बन्ध से यह ब्राह्मण बना हुआ है, वह ब्रह्म विश्वप्रपञ्च का अन्तरङ्ग-रक्षक बनता हुआ विश्वात्मक शरीर का 'चर्म्म' है। चर्म्म ही 'शर्म्म' है। अतएव तत्-समानधर्म्मा ब्रह्ममूर्त्ति ब्राह्मण को 'शर्म्मन्' कहा गया है।

अन्तरङ्ग आक्रमणों से विमुक्त मनुष्य ही सुखी रह सकता है, यह पूर्व मे बतलाया जा चुका है। यही उसका 'शर्म्म' (सुख) भाव है। इस शर्म्मभाव का प्रवर्त्तक अन्तरङ्गरक्षक ब्राह्मण ही माना गया है। अतएव इसे 'शर्म्मन्' इस उपनाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है। जिस राष्ट्र मे ब्राह्मणवर्ण स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, उस राष्ट्र की प्रजा सुखी है, समृद्ध है। जहा का ब्रह्म-बल उच्छिन्न हो गया, वह समाज वैभवशून्य है, नष्टप्राय है। समाज, किंवा राष्ट्र एक 'शरीर' है। अन्तरङ्ग आक्रमणों से चर्म्म (चमडा) ही हमारे पाञ्चभौतिक शरीर की रक्षा किया करता है। उधर ब्राह्मण भी अन्तरङ्गरक्षक बनता हुआ 'चर्म्म' स्थानीय बना हुआ है। ब्राह्मणवर्ग समाजरूप शरीर का 'चर्म्म' है। वैदिक भाषा (देवभाषा, 'छन्दोभ्यस्ता' नाम से प्रसिद्ध वेदभाषा, जिसका व्यवहार भौमदेवताओं मे होता था) मे चकार के स्थान मे शकार उच्चारण प्रचलित है। मनुष्य अपनी मानुषी भाषा मे जिसे 'चर्म्म' कहते हैं, देवता अपनी देवभाषा मे उसे शर्म्म' कहते हैं। जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

'अथ कृष्णाजिनमादत्ते–'शर्म्मासि' इति। 'चर्म्म' वा एतत् कृष्णस्य। तदस्य तन्मानुपं, 'शर्म्म' 'देवत्रा' इति।

(शत० ब्रा० १।१।४।४।)।

पौर्णमासेष्टि मे हविर्द्रव्य को कूटने के लिए उलूखल के नीचे कृष्णमृगचर्म्म (काले हरिण का चमड़ा) बिछाया जाता है। हविर्द्रव्य देवताओं का अन्न (आहुति) बनने वाला है। देवता यज्ञसंस्था से सम्बन्ध रखते हैं। उधर सामान्य पार्थिव प्रदेश भूतभाग की प्रधानता से अयज्ञिय है। ऐसी दशा मे यदि उलूखल (ऊखल) को जमीन पर रख कर हविद्रव्य कूटा जायगा, तो कुट्टनक्रिया से इधर उधर उछला हुआ यज्ञिय हविर्द्रव्य जमीन पर गिर कर अयज्ञिय बन जायगा, एवं ऐसा होना यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए अनिष्ट का कारण होगा। इसी आपत्ति से बचने के लिए कृष्णमृगचर्म्म का ग्रहण होता है। कृष्णमृगचर्म्म[1] त्रयीवेद का 'शिल्प' (प्रतिकृति-नकल) होने से साक्षात् यज्ञमूर्त्ति है। उछट कर इस पर गिरा हुआ हविर्द्रव्य यज्ञसीमा के भीतर ही रहेगा। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए 'अध्वर्यु' नाम का ऋत्विक 'शर्म्मासि' (यजुः सं० १।१४) यह मन्त्रभाग बोलता हुआ कृष्णमृगचर्म्म का ग्रहण करता है। मन्त्र की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, "यह मनुष्यभाषा में सम्बोधित होने वाला कृष्णमृग का 'चर्म्म' है। परन्तु देवभाषा में इसे 'शर्म्म' कहा जाता है। चूंकि यज्ञ एक देवसंस्था है, अतः इसमें मनुष्य-भाषा सम्बन्धी 'चर्म्म' शब्द का प्रयोग न कर देवभाषा सम्बन्धी 'शर्म्म' शब्द का प्रयोग किया गया है"।

यही 'शर्म्म' शब्द आगे जाकर 'सुख' का वाचक बन गया है, जैसा कि–'शर्म्मशात-सुखानि च' (अमर १।४।२५) इत्यादि कोश वचन से स्पष्ट है। सचमुच चर्म्म सुख का साधन बना हुआ है। क्योंकि यही शरीर का वेष्टन है। चर्म्म सुखसाधक बनता हुआ सुखरूप है, अतएव लोकभाषा में यह किंवदन्ती प्रचलित है–'अपने अपने चोले में- (चर्म्मवेष्टन में) सब सुखी हैं, मगन रहु चोला'। ब्राह्मण क्यों ब्राह्मण, तथा 'शर्म्मा' कहलाया? इस प्रश्न का यही मौलिक समाधान है।

---

1 कृष्णमृगचर्म्म वेदत्रयीरूप कैसे है? इसे यज्ञिय पदार्थ किस आधार पर माना गया? एक 'चर्म्म' होने पर भी महर्षियों ने इसे क्यों पवित्र मान लिया? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए 'शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य' का उक्त प्रकरण ही देखना चाहिए।

'क्षत्रस्यापत्यम्'—'क्षतात्-त्रायते' ये दो निर्वचन क्षत्रिय शब्द के हैं। प्रकृति में प्राणतत्त्व (इन्द्रात्मक प्राणतत्त्व) ही क्षत्र है, एवं क्षत्रिय इसी का अपत्य है। प्राणतत्त्व[1] ही क्षतभाव से हमारा त्राण किया करता है, अतएव तत्समानधर्म्मा क्षत्रिय का भी यही कर्म्म बनता है। प्राणबल के आधार पर ही बाह्य आक्रमणों से बचाव किया जाता है। अतएव तद्युक्त क्षत्रिय भी बाह्य आक्रमणों से ही समाजरूप शरीर का त्राण करता है। जिस प्रकार 'चर्म्म' अन्तरङ्ग रक्षक है, वैसे वर्म्म (कवच) वहिरङ्ग आक्रमणों से शरीर को बचाता है। समाज शरीर पर होनेवाले वहिरङ्ग आक्रमणों को रोकना चूंकि क्षत्रिय का कर्म्म है, अतएव वर्म्मस्थानीय (कवचस्थानीय) क्षत्रिय के लिए 'वर्म्मन्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'विशति-भूसौ, अर्थसम्पत्तौ' ही वैश्य शब्द का निर्वचन है। अर्थसंग्रह में दत्तचित्त रहने के कारण ही इसे 'वैश्य' कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसका मूल उपादान 'विड्वीर्य्य' बतलाया गया है। विड् अन्नसम्पत्ति है, अन्नसम्पत्ति ब्रह्म-क्षत्र का भोग्य पदार्थ है। विड्-रूप वैश्य भोग्यरूप[2] से ब्रह्म-क्षत्र सीमा में प्रविष्ट रहता है, इसलिए भी इसे 'वैश्य' कहना अन्वर्थ बनता है। जिस प्रकार चर्म्म-वर्म्म से उभयथा वेष्टित रहता हुआ शरीर सुगुप्त (सुरक्षित) रहता है, ठीक इसी तरह ब्राह्मण-क्षत्रिय के उभयविध (चर्म्म-वर्म्मरूप) रक्षाकर्म्मों से सुरक्षित रहता हुआ वैश्य निर्द्वन्द्व बना रहता है। वैश्य ही समाज का प्रधान शरीर माना गया है, क्योंकि अर्थबल ही राष्ट्र की मूलप्रतिष्ठा है। चूंकि समाजशरीर-स्थानीय वैश्यवर्ग शरीर के चर्म्म-वर्म्मस्थानीय ब्राह्मण-क्षत्रियवर्गों से सुगुप्त है, अतएव इसे 'गुप्त' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है।

'आशु-द्रवति' ही शूद्र शब्द का निर्वचन है। अपने शिल्पादि कर्त्तव्य-कर्म्मों में, एवं सेवाकर्म्म में बिना प्रतीक्षा किए शीघ्र से शीघ्र दौड़ पड़नेवाला वर्ग ही 'शूद्र' है। सेवाभाव में आत्मसमर्पण है। अपने आपका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व न रखते हुए दूसरों की इच्छा का अनुगामी बने रहना ही 'दास' भाव है। शूद्रवर्ग की इसी सेवामूला आत्मसमर्पण-

---

१ "प्राणो हि वै क्षत्रम्। त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः। प्र क्षत्रमात्रमाप्नोति, क्षत्रस्य सायुज्यं, सलोकतां जयति, य एवं वेद" —शत ब्रा० १४।८।१४।४

२ "अन्नं वै क्षत्रियस्य विट्" —शत० ३।३।२।८

वृत्ति को व्यक्त करने के लिए इसे 'दास' नाम से व्यवहृत किया गया है। इन्हीं साङ्केतिक-उपनामों को लक्ष्य में रखती हुई स्मृति कहती है—

१—शर्म्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं, वर्म्मेति क्षत्रसंयुतम्।
गुप्त-दासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्य-शूद्रयोः॥
—विष्णुः

२—शर्म्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्, राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं, दासः शूद्रस्य कारयेत्॥
—मनुः

३—शर्म्मदेवश्च विप्रस्य, वर्म्मत्रातुश्च भूभुजः।
भूतिदत्तश्च वैश्यस्य, दासः शूद्रस्य कारयेत्॥
—यमः

भारतीय समाजशास्त्रियों ने अपनी दिव्यदृष्टि से प्रकृति-सिद्ध चातुर्वर्ण्य का साक्षात्कार किया। बीजरूप से जन्म से ही विद्यमान इस व्यवस्था को परिष्कृतरूप देते हुए समाज को चार भागों में विभक्त किया। एवं यही विभाग लोकवैभववृद्धि का कारण बना, जैसा कि लिखित वचन से स्पष्ट है—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुख-बाहू-रु-पादतः।
ब्राह्मणं-क्षत्रियं-वैश्यं-शूद्रञ्च निरवर्त्तयत्॥

पुनः यह स्मरण कराया जाता है कि, इस व्यवस्था का केवल महर्षियों की कल्पना से सम्बन्ध नहीं है। अपितु यह सामाजिक व्यवस्था बीजरूप से स्वयं अव्ययेश्वर द्वारा प्रकट हुई है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। ईश्वरीय व्यवस्था कभी अनित्य, एवं एकदेशी नहीं मानी जा सकती। पहिले से ही विद्यमान चारों वर्णों के प्रयोजक 'दिव्य-वीर-पशु-मृत'—भावों के प्रवर्त्तक 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र' भावों को वंशानुगत बनाते हुए नित्यसिद्ध व्यवस्था को सुव्यवस्थित कर देना ही यहां के समाजशास्त्रियों का कर्त्तव्य था।

समाज, किंवा राष्ट्र की सुसमृद्धि के लिए जहां चातुर्वर्ण्य आवश्यक है, वहां इनकी स्वरूपरक्षा के लिए इनके प्रातिस्विक धर्म्म भी भिन्न हीं होनें चाहिए। प्रकृति भी यही आदेश दे रही है। भिन्न भिन्न प्राकृतिक वीर्य्यों से उत्पन्न भिन्न भिन्न वर्ण कभी समानधर्म्म के अनुगामी नहीं बन सकते, नहीं बनना चाहिए। वर्णों के भेद से, वर्णप्रजा के अवान्तर श्रेणि-विभागों की अपेक्षा से हमारा सनातनधर्म्म-सम्राट् 'ब्राह्मणधर्म्म, क्षत्रियधर्म्म, वैश्यधर्म्म, शूद्रधर्म्म, आश्रमधर्म्म, मनुष्यधर्म्म, स्त्रीधर्म्म, पुत्राधर्म्म, राजधर्म्म' आदि भेद से अनेक भागों में विभक्त रहता हुआ अपनी 'सम्राट्' उपाधि को चरितार्थ कर रहा है।

वर्णभेदमूलक धर्म्मभेद—

पश्चिमी शिक्षास्रोत से प्रवाहित हमारे नवशिक्षित वर्ग का कहना है कि, "इस भारतीय धर्म्मभेद ने, एव तत्प्रतिपादक भारतीय धर्म्मशास्त्रों नें हीं भारतश्री का अपहरण किया है। यही धर्म्मभेद राष्ट्र को एकसूत्र मे बद्ध नहीं होने देता। इसी भेदवाद ने सघठन शक्ति को छिन्न भिन्न बना रक्खा है। और इन सब उत्पातों की जड है 'पुराणकाल'। विशुद्ध वैदिक साहित्य की दृष्टि में सब के लिए समानधर्म्म का ही विधान है। एक ही धर्म्म प्रजावर्ग को समानधारा मे प्रवाहित रख सकता है, एव ऐसा अभिन्नधर्म्म ही राष्ट्र-अभ्युदय का कारण बन सकता है।—'यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य है, यह शूद्र है, यह चाण्डाल है, यह छोटा है, यह बडा है' यह सब केवल कल्पना का कल्पित जगत् है। न कोई किसी से छोटा है, न कोई किसी से बडा है। समदर्शी ईश्वर के प्राङ्गण में सब समानरूप से प्रतिष्ठित हैं। अत सबको साथ मिल कर एक ही नियम से चलना चाहिए। सब का खानपान, विवाह आदि सब कुछ समानरूप से होनें चाहिएं। स्वय वेद भगवान् ने भी भेदभाव-विरहित, स्पृश्यास्पृश्य की विभीषिका से एकान्ततः मुक्त, एकधर्म्म, किंवा समानधर्म्म के अनुगमन का ही आदेश किया है। देखिए।

१—सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्य्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीमस्तु, मा विद्विषावहै॥

२—सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥

३—समानो मन्त्रः, समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः, समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

४—समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति ॥

५—यदेवेह-तदमुत्र, यदमुत्र-तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति ॥

६—ब्रह्मैवेदं सर्वं, नेह नानास्ति किञ्चन ॥

७—विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि ।
शुनि चैव, श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ॥

८—अयं निजः, परो वेति, गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥'

देखा, और खूब देखा। "अगर समझे, तो यह समझे कि, अबतक कुछ नहीं समझे" को सर्वात्मना चरितार्थ करनेवाले इन वेदभक्तों नें तो वेदभक्ति की सीमा का ही उल्लंघन कर डाला। परमार्थतः शास्त्रों पर अणुमात्र भी निष्ठा न रखनेवाले इन वैडालव्रतिकों नें (ऐसे ऐसे वेदवचनों को आगे करते हुए) मुग्ध जनता को व्यामोह में डालते हुए आज 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' को अक्षरशः चरितार्थ कर रक्खा है। इनकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए आवश्यक है कि, पहिले ईश्वरीय-प्राकृतिक जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थधर्म्म-भेदों का दिग्दर्शन कराया जाय, एवं अनन्तर वर्णधर्म्म-भेद के साथ इस पदार्थ-धर्म्मभेद का समन्वय किया जाय। धारणार्थक 'धृञ्' धातु से धर्म्म शब्द निष्पन्न हुआ है। यद्यपि 'शब्दशास्त्र' (व्याकरण) की दृष्टि से धर्म्म शब्द के—'धरतीति धर्म्मः'—'ध्रियते-इति-धर्म्मः' ये दोनों ही निर्वचन हो सकते हैं। परन्तु इन दोनों व्युत्पत्तियों में प्रकृत के धर्म्मविचार प्रकरण में हमें—'धरतीति धर्म्मः' इस प्रथम व्युत्पत्ति का ही आश्रय लेना पड़ेगा, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

धारणार्थक इस धर्म्म के 'कर्म्म', एव 'संस्कार' भेद से दो विभाग मानें जा सकते हैं। जिन धर्म्मों का हम अनुष्ठान करते हैं, वे सब कर्म्मरूप, किंवा क्रियारूप धर्म्म कहलाएंगे। इन कर्म्मरूप धर्म्मों के अनुष्ठान से अन्तःकरण में एक प्रकार का वह अतिशय उत्पन्न होता

है, जोकि अन्तर्जगत् में अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता हुआ लौकिक-पारलौकिक सद्भावों का प्रवर्त्तक बना करता है। कर्म्मात्मक धर्म्म से उत्पन्न इस अतिशयात्मक धर्म्म को ही संस्काररूप धर्म्म माना जायगा। कर्म्मरूप धर्म्म हो, अथवा अतिशयरूप धर्म्म हो, दोनों की प्रतिष्ठा (आधार) चूंकि धर्म्मी ही बनता है, धर्म्माचरण करनेवाला ही तो कर्म्मात्मक धर्म्म का आलम्बन बनता है, एवं यही संस्कारात्मक धर्म्म का अधिष्ठान बनता है, अतएव इन दोनों ही दृष्टियों से 'ध्रियते असौ धर्म्मः' इस निर्वचन के अनुसार दोनों को ही 'धर्म्म' कहेंगे।

पहिले क्रियात्मक धर्म्म को लेकर ही धर्म्म का विचार कीजिए। क्रियाभेद से इस क्रियात्मक धर्म्म के 'धर्म्म—अधर्म्म' नामक दो भेद हो जाते हैं। कितनीं हीं क्रियाएं (कर्म्म) ऐसी हैं, जो अपने आश्रित पदार्थ के स्वरूप का नाश कर डालती हैं। एवं कितनें एक कर्म्म अपने आश्रित की स्वरूप-रक्षा के कारण बनते हैं। जो क्रियात्मकधर्म्म धर्म्मी-पदार्थों के नाशक होंगे, उन सब धर्म्मों को 'अधर्म्म' रूप धर्म्म कहा जायगा, एवं जो क्रियात्मकधर्म्म धर्म्मीपदार्थों के स्वरूप रक्षक होंगे, उन्हें धर्म्मरूप धर्म्म माना जायगा।

उदाहरण के लिए शरीर को ही लीजिए। शरीर में होनेवाली अन्नादान-लक्षणा क्रिया जहां शरीररक्षा का कारण बनती है, वहां विसर्गरूपाक्रिया स्थितिनाश का हेतु बन रही है। दोनों हीं विरुद्ध क्रियाएं यद्यपि धर्म्मी पदार्थ से ही धृत हैं, और इस दृष्टि से पूर्वोक्त 'धर्म्मिणा-ध्रियते-इति धर्म्मः' लक्षण के अनुसार दोनों हीं विरुद्धक्रियाओं को 'धर्म्म' शब्द से ही व्यवहृत किया जा सकता है, तथापि अन्नादलक्षणा क्रिया चूंकि धर्म्मी की स्वरूपरक्षा कर रही है, एवं अन्नविसर्गलक्षणक्रिया धर्म्मी के स्वरूपोत्क्रान्ति का कारण बन रही है, अतः—'ध्रियते-इति धर्म्मः' इस लक्षण की उपेक्षा कर—'धर्म्मिणं-धरतीति धर्म्मः' इसी लक्षण को स्वीकार किया जायगा। 'यत् स्याद् धारणसंयुक्तम्' ही धर्म्म का धर्म्मत्व है। इसीलिए कर्तृप्रधान व्युत्पत्ति ही हमें मान्य है। विसर्गक्रिया धर्म्मी की धृति उखाड़ फेंकती है, अतः वह 'धरतीति' मर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत है। अतएव च वह 'ध्रियते' के अनुसार 'धर्म्म' पदवाच्य बनती हुई भी 'धरति' की मर्य्यादा से सर्वथा 'अधर्म्म' रूपा ही मानी जायगी। वह क्रियात्मक धर्म्म धर्म्म माना जायगा, जोकि धर्म्मी से ध्रियमाण रहता है, ध्रियमाण बन कर धर्म्मी को धारण करता है, एवं अपने धृतिधर्म्म से धर्म्मी को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखता है। फलतः धर्म्म का निम्न लिखित लक्षण हमारे सामने उपस्थित होता है—

'ध्रियमाणः सन् धरति, स्वयं धर्म्मिणा ध्रियते,
धर्म्मिणं च स्वस्वरूपेऽवस्थापयति यः, स धर्म्मः ।'

उक्त लक्षण धर्म्मतत्त्व 'स्वाभाविक', 'आगन्तुक' भेद से दो भागों में विभक्त है। स्वाभाविकधर्म्म 'स्वधर्म्म' है, आगन्तुकधर्म्म 'परधर्म्म' है। स्वधर्म्म सदा अभयस्थान है, परधर्म्म यदा कदा भयावह भी बन जाया करता है। इन दोनों धर्म्मों में स्वाभाविक-स्वधर्म्म ही धर्म्मी वस्तु का 'स्वरूप' (स्व-रूप, अपनारूप, अपनापन) कहलाएगा। 'अग्नि' एक धर्म्मी पदार्थ है। इस प्राणाग्नि में जब प्रकाशधर्म्मा इन्द्र, एवं तापधर्म्मा वैश्वानर, दोनों अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तो यह प्राणाग्नि भूताग्निरूप में परिणत हो जाता है। एवं इस भूतदशा में ताप और प्रकाश, दोनों इसके स्वरूपधर्म्म बन जाते हैं। इन दोनों स्वरूपधर्म्मों को पृथक् कर देने पर धर्म्मी भूताग्नि का कोई रूप शेष नहीं रहता। एवमेव शैत्य, एवं आप्यायन (तृप्ति) इन दो स्वरूपधर्म्मों को छोड़ कर पानी का भी कोई स्वरूप बाकी नहीं बचता। जिस पदार्थ का स्वरूपधर्म्म जबतक सुरक्षित है, तभी तक वह पदार्थ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। उधर परधर्म्मलक्षण आगन्तुकधर्म्म चूंकि एक वस्तु में अन्यवस्तुओं के सम्बन्ध से आते, तथा जाते रहते हैं, अतएव इन्हें सङ्करधर्म्म, किंवा व्यभिचारी धर्म्म कहा जाता है।

उक्त दोनों धर्म्मों के धर्म्मी से भृत रहते हुए भी, दोनों में स्वभावभूत, स्वधर्म्मलक्षण स्वाभाविकधर्म्म ही मुख्य मानें जायँगे, एवं आगमापायी आगन्तुकधर्म्म गौण ही कहे जायँगे। साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि, ये आगन्तुक धर्म्म तभी तक 'धर्म्म' मानें जायंगे, जबतक कि ये स्वधर्म्म के अनुकूल बने रहेंगे। स्वाभाविकधर्म्म को क्षति पहुंचाते हुए ये भी 'धरति' लक्षणा कर्तृव्युत्पत्ति से वञ्चित होते हुए अधर्म्म ही मानें जायंगे। क्योंकि प्रतिकूलदशा में जाते हुए ये परधर्म्म स्वाभाविकधर्म्मों के नाश के कारण बनते हुए वस्तुस्वरूप को धारण करने के स्थान में वस्तुप्रतिष्ठोच्छित्ति के ही कारण बन जाते हैं।

उदाहरण के लिए पानी को ही लीजिए। 'आपो द्रवाः स्निग्धाः' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार 'द्रवत्त्व' पानी का स्वरूपधर्म्म बना हुआ है, और इसी दृष्टि से—'सांसिद्धिकं द्रवत्त्वं जले' यह नियम बना है। यह स्वरूपधर्म्म 'धरुणाग्नि' की कृपा का ही फल है। 'अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्' (वैशेषिक दर्शन) इस कणाद सिद्धान्त के

अनुसार पानी में जो द्रवता (तरलता-बहाव) है, वह धरुण (तरल) अग्नि के प्रवेश की ही महिमा है। तापधर्म्म धरुणाग्नि का स्वरूपधर्म्म था। वही तापधर्म्म पानी में प्रविष्ट होकर अपने ताप को तरलता में परिणत करता हुआ आज पानी का आत्मलक्षण स्वरूपधर्म्म बन रहा है। यही अग्निधर्म्म का जल के प्रति आत्मसमर्पण है। जो अग्निधर्म्म किसी समय अग्नि का स्वरूपधर्म्म बन रहा था, आज वही आत्मसमर्पणयोग से तरलता में परिणत होता हुआ पानी का स्वरूपधर्म्म बन गया। अब इस धर्म्म की सत्ता में धर्म्मी पानी की स्वरूपरक्षा है, इसकी उत्क्रान्ति में पानी के स्वरूप की उत्क्रान्ति है।

पानी किसी बटलोही में भर कर अंगीठी पर रख दिया जाता है। अग्नि-ताप पानी में प्रविष्ट होने लगता है, पानी गरम हो जाता है। यह 'तापधर्म्म' पानी के लिए आगन्तुक धर्म्म है, एवं इसका उस पानी के साथ' बाहिर्य्याम' सम्बन्ध है। जब तक यह आगन्तुकधर्म्म पानी के स्वरूपधर्म्म पर कोई आक्रमण नहीं करता, तबतक तो इसे 'आगन्तुक- धर्म्म' ही कहा जायगा। परन्तु आत्यन्तिक इन्धन (ईंधन-काष्ठ) संयोग से प्रवल बनता हुआ यदि यही तापधर्म्म प्रतिकूल अवस्था में परिणत होता हुआ पानी को 'बाष्प' (भाप) रूप मे परिणत कर इस का स्वरूप खो देता है, तो उस समय यह आगन्तुक धर्म्म धर्म्म न रह कर अधर्म्म बन जायगा। इसी लिए तो धर्म्मरहस्यवेत्ताओं ने इस आगन्तुक परधर्म्म को 'भयावह' कहा है।

विश्व के जितनें भी स्थिर-चर पदार्थ हैं, सब के धर्म्म पृथक पृथक् हैं, एवं यह धर्म्मभेद ही इनकी मूलप्रतिष्ठा बन रहा है। जिस दिन यह स्वाभाविक, स्वधर्म्म भेद उत्क्रान्त हो जायगा, उस दिन क्षणमात्र में विश्वप्रपञ्च स्मृतिगर्भ में विलीन हो जायगा। जब कि विश्व के मूलतत्त्व (प्राकृतिक पदार्थ) विभिन्न धर्म्मों से नित्य आक्रान्त हैं, तो इन्हीं विभिन्नधर्म्मा प्राकृतिक पदार्थों को उपादान बनाकर उत्पन्न होने वाले अस्मदादि विकृत-प्राणियों के धर्म्म समान कैसे हो सकते हैं। प्रत्येक की प्रकृति भिन्न, आकृति भिन्न, अहंकृति भिन्न, फिर धर्म्म का अभेद कैसा। कल्पनारसिक जिस धर्म्मभेद को हमारे पतन का कारण समझ रहे हैं, वही धर्म्मभेद हमारे गौरव का कारण बन रहा है।

उदाहरण के लिए हमारे उपासनाकाण्ड को ही लीजिए। हमारी देवप्रतिमाएं सैंकड़ों तरह की हैं। उपासक मनुष्य जैसी योग्यता रखता है, उस योग्यता के अनुरूप ही देवोपासना का विधान हुआ है। सात्त्विकप्रकृति व्यक्ति कभी राजस-तामसभावों की उपासना में सफल नहीं हो सकता। विष्णु, शिव, काली, लक्ष्मी, सरस्वती, गणपति, आदि प्रतिमाभेद

इसी धर्म्मभेद पर अवलम्बित हैं। भेदवाद को व्यावहारिकरूप प्रदान करते हुए सर्वत्र अभेद दर्शन करना ही हमारे धर्म्म की सब से महत्त्वपूर्ण विशेषता है। अनेकत्व के आधार पर एकत्व की आराधना करना ही हमारा मुख्य लक्ष्य है। नित्यविज्ञानसहकृत ज्ञानमार्ग ही हमारा श्रेयः-पन्था है। सब स्वधर्म्मलक्षण अपने अपने कर्त्तव्य कर्म्मों में, अपने अपने धर्म्मों में अनन्यभाव से प्रतिष्ठित रहते हुए परस्पर सहयोग बनाए रक्खें, यही हमारी राष्ट्रवादिता है, जिसका कि—'सहनाववतु, सहनौ भुनक्तु' इत्यादिरूप से वेदशास्त्र ने विश्लेषण किया है। जिस प्रकार परस्पर में सर्वथा विभिन्न धर्म्मों का अनुगमन करते हुए सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्र-वायु-जल आदि प्राकृतिक पदार्थ उस महाविश्वधर्म्म, एवं धर्म्ममूर्त्तिमहामहेश्वर के लिए समान हैं, ठीक वही लक्ष्य हमारा है। परप्रत्ययनेयबुद्धि पूर्वोक्त जिन वेदप्रमाणों से धर्म्म का अभेद सिद्ध करने चले हैं, उन का तात्पर्य्य क्या है ? यह स्पष्ट है।

आत्मदृष्टि से वास्तव में सभी चर-अचर समानधरातल पर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु वर्णमूलक व्यवहारकाण्ड में सब विभक्त हैं। इन विभक्तों में उस अविभक्त के दर्शन करना ही हमारा परमपुरुषार्थ है। शास्त्र ने 'पण्डिताः समदर्शिनः' कहते हुए स्पष्ट ही समदृष्टि का प्राधान्य माना है। दर्शन सम, व्यवहार भिन्न, यही रहस्य है। क्योंकि व्यवहार कभी सम होही नहीं सकता। भेदवाद से पलायित होने वाले महानुभावों को पहिले ईश्वरीय सृष्टि के साथ प्रतिद्वन्द्विता करनी चाहिए, जहां कि पदे पदे भेदवाद पनप रहा है। अवश्य ही अभिन्नधरातल पर प्रतिष्ठित विभिन्न धर्म्मभेदभिन्न-सनातनधर्म्म ही हमारे कल्याण का अन्यतम मार्ग है। दूसरे शब्दों में वर्णप्रवर्त्तक-देवभेदमूलक, वर्ण भेद, तथा धर्म्म भेद ही कल्याणकर है। जिस धर्म्मभेद को हानिप्रद घोषित किया जा रहा है, उस धर्म्म भेद का परित्याग ही प्रत्यक्ष में हमारी अवनति का मूल कारण सिद्ध हो रहा है, यह कौन बुद्धिमान स्वीकार न करेगा ?

अस्तु, धर्म्मभेद हानिकर है, अथवा लाभप्रद ? इस सम्बन्ध में विशेष विस्तार अनपेक्षित है। यहां तो हमें ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले उसी धर्म्म का विचार करना है, जो कि वर्णों की प्रतिष्ठा बना हुआ है। 'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं-यद् धर्म्मः' (शत० १४) कहते हुए वेदभगवान् स्पष्ट ही चातुर्वर्ण्य धर्म्म की भिन्नता, मौलिकता, तथा नित्यता सिद्ध कर रहे हैं। ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय का क्षत्रियत्व, वैश्य का वैश्यत्व, तथा शूद्र का शूद्रत्व, यह 'त्व' लक्षण धर्म्म है क्या पदार्थ ? इसी प्रश्न का लोकदृष्टान्त से स्पष्टीकरण करते हुए उसी श्रुति ने आगे जाकर कहा कि,—'सत्य ही का नाम धर्म्म है, धर्म्म का ही नाम

सत्य है। धर्म्मलक्षण यह सत्यपदार्थ हृदयभाव से सम्बन्ध रखता हुआ 'अन्तर्य्यामी' की नित्य 'नियति' ही है, जैसा कि पूर्व के 'सत्यानृतविवेक' परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। पानी सदा नीचे की ओर ही बहता है, अग्नि सदा ऊपर ही की ओर प्रज्वलित होता है, वायु सदा तिर्य्यक् ही चलता है। पदार्थों का यह नियत धर्म्म, नियत भाव ही सत्य है। जो पदार्थ जिस वर्ण का है, वह अपने अन्तर्य्यामी की 'नियति' लक्षण नियत मर्य्यादा का ही अनुगामी है, यही उसका सत्यानुगमन है, यही वास्तविक सत्य-आग्रह है, एवं यही धर्म्म का धर्म्मत्व है।

अज्ञानतावश हम स्वयं भी वर्णधर्म्म से विमुख रहें, एवं अभिनिवेश के अनुग्रह से मनमाने सत्य की, मनमाने धर्म्म की कल्पना कर अन्य मुग्ध मनुष्यों को भी सत्यपूत वर्ण-धर्म्म से च्युत करने का प्रयास करते रहें, साथ ही अपने इसी मिथ्याप्रयास को सत्यमार्ग, धर्म्ममार्ग घोषित करने की धृष्टता करते रहें, सर्वोपरि-'हमें अपने अन्तर्य्यामी की ओर से ऐसा ही सत्य आदेश मिला है, यही ईश्वर की इच्छा है' कह कर ईश्वरवादी बनने का दुःसाहस करते रहें, यह तो सत्य-आग्रह नहीं, धर्म्म आग्रह नहीं, मिथ्या-आग्रह है, अधर्म्म-आग्रह है, दुराग्रह है, पतन का मार्ग है। नियति का स्वरूप भी तो वर्णधर्म्म की विकृति से बिगड़ जाता है। यद्यपि यह ठीक है कि, अन्तर्य्यामी की सत्य-नियति आपामर-विद्वज्जन सब में समानरूप से प्रतिष्ठित है। परन्तु स्वस्वरूप से सर्वथा शुभ्र रहने वाला भी सौर प्रकाश जैसे कृष्ण-नील-हरितादि दर्पणों के आवरण से तद्रूप बन जाया करता है, एवमेव नियति का यह विशुद्ध सत्यप्रकाश भी वर्णधर्म्म-विरोधी विकर्म्मलक्षण असत् कर्म्माचरण से उत्पन्न होने वाले अविद्यादोषावरणों के मध्य में आ जाने से तद्रूप ही बन जाता है। इस दूषित नियति के अनुशासन को कभी आत्मनियति का अनुशासक नहीं माना जा सकता। यह आवाज नियति की आवाज नहीं है, अपितु दोषों की प्रतिध्वनि है, जिसे कि हमने नियति समझने की भ्रान्ति कर रक्खी है। 'नियति' का बिगड़ना ही 'नियत बिगड़ना' है। जिसकी नियत (नियति-अन्तःप्रेरणा-मन्शा-मानस-प्रेरणा) में फर्क आगया, वह सत्य से वञ्चित हो गया। जो सत्य से वञ्चित हो गया, वह अपना, एवं अपने साथ साथ अपने मुग्ध सहयोगियों का भी सर्वनाश करा बैठा।

दूसरी दृष्टि से धर्म्मभेद की मीमांसा कीजिए। हम (मानवसमाज) ईश्वरीय जगत् के एक स्वल्प अंश हैं। अतः सर्वप्रथम हमें उस ईश्वरीय (प्राकृतिक) धर्म्म का ही

अन्वेषण करना चाहिए। देखें वहां अनीश्वरवादमूलक, प्रजातन्त्रानुगत साम्यवाद की प्रतिच्छाया है ? अथवा ईश्वरवादमूलक, राजतन्त्रानुगत भेदवाद का साम्राज्य है ?

तत्त्वमीमासा करने पर हम इस निश्चय पर पहुचते हैं कि, 'भेद' का ही नाम विश्व है। उस निरुपाधिक, अद्वय, निर्विकार, अखण्ड, सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति, केवल 'परात्पर ब्रह्म' के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च क्षणिक क्रिया से नित्य आक्रान्त रहता हुआ परस्पर सर्वथा भिन्नरूप ही है। ब्रह्मातिरिक्त यच्चयावत् पदार्थ विभिन्न धर्म्मों से नित्य आक्रान्त है, जैसाकि पूर्व के 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' प्रकरण मे भी स्पष्ट किया जा चुका है।

इसी तात्त्विक भेद के आधार पर ससरणशील ससार स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। भगवान् सूर्य्य उष्णता लक्षण अपने स्वधर्म्म से अन्नादि का परिपाक करते हैं, एवं प्रकाश-लक्षण स्वधर्म्म से विश्व के चक्षु बने हुए हैं। चन्द्रदेवता 'आप्यायन' लक्षण स्वधर्म्म से ओषधियों को आप्यायित करते रहते हैं, एवं चान्द्रधर्म्म से आप्यायित रहने वाली ओषधियां (अन्न) अपने आप्यायनरूप स्वधर्म्म से पार्थिव प्रजा को आप्यायित करती रहती हैं। पृथिवी ने धृति लक्षण अपने स्वधर्म्म के बल पर ही पार्थिवप्रजा का भार वक्षस्थल पर वहन कर रक्खा है। वायुदेवता गतिरूप अपने स्वधर्म्म से ही पदार्थों के प्रवर्ग्यांशों का एक दूसरे पदार्थों में आदान-प्रदान करने में समर्थ हो रहे हैं। पर्जन्यदेवता विकासलक्षण अपने इसी धर्म्म से मेघों मे प्रतिष्ठित रहने वाले 'नमुचि' के संकोचलक्षण स्वधर्म्म का नाश कर जलवर्षण कर्म्म में समर्थ बन रहे हैं। निदर्शनमात्र है। ईश्वरा-वयवरूप प्रकृतिमण्डल के सम्पूर्ण देवता अपने अपने स्वधर्म्म के बल पर अपने अपने आधिकारिक कर्म्म का अनुष्ठान करते हुए ही 'विश्वसाम्राज्य' के स्वरूप संवाहक बने हुए हैं।

जाने दीजिए इस 'प्राकृतिक-धर्म्मभेद-मीमांसा' की विस्तृत चर्चा को। इसे अधिक तूलरूप देना व्यर्थ है। हमारा लक्ष्य तो इस समय—'धर्म्म-अर्थ-काम-मोक्ष' नामक चार पुरुषार्थों में से 'धर्म्म' नामक पहिला पुरुषार्थ ही है। चूकि यह धर्म्म उस तत्त्वात्मक प्राकृतिक धर्म्म से समतुलित है, अतएव तद्भेद ही एतद्भेद मे दृढतम प्रमाण है। प्राकृतिक धर्म्मों के साथ इन धर्म्मों का ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध समझते हुए ही हमें अपने उद्देश्यभूत पुरुषार्थ—'धर्म्म' का विचार करना पड़ेगा।

जिन कर्म्मों से, जिन वस्तुओं के ससर्ग से, जिन नियमोपनियमों के परिपालन से मनुष्यत्व सुरक्षित रहता है, उन सबका समह 'मनुष्यधर्म्म' है। एव मनुष्यता के प्रतिबन्धक कर्म्म-नियमादि इसके लिए 'अधर्म्म' है। एवमेव सभ्यतानुगामी सभ्यों की सभ्यता जिन

उपायों से सुरक्षित रहती है, वे सब उपाय सभ्यों के 'धर्म्म' कहलाएंगे, एवं विपरीतभाव अधर्म्म माना जायगा। ठीक इसी परिभाषा के अनुसार जिन कर्म्मों से, जिन व्यवस्थाओं से, जिन आचरणों से तत्तद्वर्णों की स्वरूप रक्षा होगी, वे वे कर्म्मादि उन उन वर्णों के धर्म्म मानें जायंगे, एवं विपरीत कर्म्मादि 'अधर्म्म' शब्द से व्यवहृत किए जायंगे। जब कि—'दिव्य-वीर-पशु-मृत' भावप्रयोजक 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र' चारों भाव सर्वथा भिन्न भिन्न हैं, तो इनके धर्म्म भी पृथक् पृथक् ही माननें पड़ेंगे। क्योंकि धर्म्मभेद ही अवच्छेदकमर्य्यादा से धर्म्मावच्छिन्न धर्म्मीभेद का कारण माना गया है। इन भिन्न भिन्न धर्म्मों से कृतात्मा वर्णों के धर्म्म भी भिन्न भिन्न ही मानना न्यायसङ्गत होगा।

इन वर्णधर्म्मों को महर्षियों नें—'सामान्यधर्म्म—विशेषधर्म्म' भेद से दो भागों में बांट दिया है। 'सत्य-अहिंसा-दया-शौच-इन्द्रियनिग्रह-अमानित्व-अदम्भित्व-अलोभत्व-अमात्सर्य्य-सर्वभूतहितरति' आदि सामन्यधर्म्म हैं। एवं ये चारों वर्णों के लिए, दूसरे शब्दों में मनुष्यमात्र के समान हैं, इनके अनुगमन में 'मनुष्यत्त्व' ही अधिकारसमर्पक प्रमाणपत्र है। इन्हीं को 'आनृशंसधर्म्म' भी कहा गया है। चूंकि इनका लक्ष्य 'मनुष्यत्त्व' की रक्षा करना है, उधर मनुष्यत्त्व मनुष्यमात्र के लिए समान धर्म्म है, अतएव इनमें सब समानरूप से अधिकृत हैं।

कहीं कहीं विशेष परिस्थितियों में इन सामान्यधर्म्मों का भी अपवाद हो जाता है। यदि किसी का निरपराध वध हो रहा है, और उस समय यदि हमारे मिथ्या बोलने से उसकी रक्षा हो जाती है, तो उस समय—'स वै सत्यमेव वदेत्' इस सामान्य धर्म्म की उपेक्षा कर हमें झूठ बोल देना चाहिए। उस समय 'नानृतं वदेत्' का आवश्यकरूप से अपवाद मान लेना चाहिए[1]। इसी प्रकार—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस सामान्य विधि का—'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि रूप से अहिंसा का भी अपवाद माना गया है। इस यज्ञकर्म्म के अतिरिक्त और भी कई एक ऐसे स्थल हैं, जिनमें अहिंसा सर्वथा 'अपवाद' बन रही है। एक ऐसा दुष्ट व्यक्ति, जिसकी सत्ता से बहुतों को कष्ट मिल रहा हो, मार देना पुण्य माना गया है। देखिए!

---

१ 'वर्णिनां हि वधो यत्र, तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्'।

एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते दुष्टकारिणः ।
बहूनां भवति क्षेमं तस्य पुण्यप्रदो वधः ॥

इसी 'अपवाद' के आधार पर महाभारत (वनपर्व) से सिंह-शूकर-व्याघ्रादि हिंसक पशुओं की मृगया (शिकार) का आदेश मिला है। इस प्रकार मनुष्यमात्रोपयोगी इन सत्यादि सामान्यधर्म्मों में भी यथावसर परिस्थिति के अनुसार अपवाद होते रहते हैं। इस अपवाद रहस्य को न जानने के कारण ही आज कितने एक सज्जन यह कहते सुने गए हैं कि, "वह शास्त्र कैसा, जो कहीं अहिंसा को श्रेष्ठ बतला रहा है, तो कहीं हिंसा का विधान कर रहा है। दोनों में से कौनसा आदेश सचा माना जाय"। इनके परितोष के लिए यही कहना पर्य्याप्त होगा कि, 'धर्म्म' एक 'सुसूक्ष्म' तत्त्व है। देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धादि भावों के समन्वय के तारतम्य से ही धर्म्मव्यवस्था व्यवस्थित हुई है। परोक्षतत्त्वमूला इन धर्म्मव्यवस्थाओं के सम्बन्ध में शब्दशास्त्र के निर्णय के अतिरिक्त और कोई दूसरी गति नहीं है।

जिस प्रकार सामान्य धर्म्म 'मनुष्य सामान्य' के स्वरूप रक्षक हैं, वहां विशेष धर्म्म तत्तद्विशेषवर्णों के ही उपकारक माने गए हैं। सामान्य धर्म्म सामान्यों का धर्म्म है, विशेष धर्म्म विशेषों का धर्म्म है। दोनों धर्म्मों का जहां विरोध आता है, वहा सामान्य धर्म्म की उपेक्षा कर दी जाती है, एवं विशेष धर्म्म को प्रधानता दे दी जाती है। उदाहरण के लिए 'अर्जुन' को ही लीजिए। अर्जुन एक विशिष्ट 'मनुष्य' था, और इसी दृष्टि से इसे मनुष्यत्वानुबन्धी, अहिंसालक्षण सामान्य धर्म्म का अनुगमन करना चाहिए था। परन्तु भगवान् ने अहिंसाभावपरायण अर्जुन के सामने इसके विशेषधर्म्म (क्षात्रधर्म्म) का महत्व रखते हुए बतलाया कि,—"अर्जुन ! तू 'क्षत्रिय' है। क्षत्रियत्त्व तेरा विशेष धर्म्म है। सामान्य-विशेष की तुलना मे विशेषधर्म्म मुख्य है। युद्ध मे सम्मुख उपस्थित आततायी शत्रु को बिना सकोच मार देना ही क्षत्रिय का परमधर्म्म है"। इसी स्वधर्म्म लक्षण-विशेषधर्म्म की (सामान्य धर्म्म की तुलना में) महत्ता बतलाता हुआ गीताशास्त्र कहता है—

१—सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

२—स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥
३—सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
४—अथ चेत्त्वमिमं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः 'स्वधर्म' कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
५—स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्॥

इसी आधार पर कल्पसूत्रकार अयज्ञिय शूद्रवर्ग के लिए वेदाध्ययनादि का प्रवल निषेध कर रहे हैं। इस स्वधर्म्म भेद का विज्ञानकृत धर्म्मभेद के साथ (प्राकृतिक धर्म्म-भेद के साथ) ही सम्बन्ध समझना चाहिए। प्रकृतिसिद्ध, वर्णभेदमूलक धर्म्मभेद ही 'स्वधर्म्म भेद' माना जायगा। यदि किसी ने समय विशेष में उत्पन्न होने वालीं विशेष परिस्थितियों को लक्ष्य में रखते हुए कुछ विशेष नियम वना लिए हैं, तो वह धर्म्मभेद मतवाद का आसन ग्रहण करता हुआ कभी शाश्वत धर्म्म न माना जायगा।

धर्म्मभेदमूलक-आहारादि की विभिन्नता—

समाज की सुव्यवस्था के लिए यदि वर्णव्यवस्था आवश्यक है, तो इस वर्णव्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने के लिए धर्म्मभेद की व्यवस्थिति आवश्यकरूप से अपेक्षित है। अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, प्रत्येक वर्ण को किस आधार पर स्वधर्म्मलक्षण अपने अपने वर्ण धर्म्म पर ही प्रतिष्ठित रक्खा जा सकता है? क्योंकि हम देखते हैं कि, निरन्तर उपदेश सुनते रहने पर भी वर्णधर्म्म की ओर हमारी प्रवृत्ति नहीं होती। सब कुछ सुन-सुनाकर भी, शास्त्रीय वर्णधर्म्म का महत्त्व स्वीकार करलेने पर भी उस ओर प्रवृत्ति की इच्छा नहीं होती, इसका क्या कारण? प्रवृत्ति होकर भी क्यों बिगड़ जाती है? इच्छा रहने पर भी क्यों नहीं हम इच्छानुसार वर्णधर्म्म का अनुष्ठान करते?

उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में दो समाधान हमारे सामने आते हैं, एक 'संस्कारात्मक,' एवं एक 'अन्नात्मक'। संस्कारात्मक समाधान की 'वर्णाश्रमविज्ञानप्रकरण' के आगे 'संस्कारविज्ञान' नामक स्वतन्त्र प्रकरण में मीमांसा होने वाली है, अतः इसके सम्बन्ध

में कुछ भी न कहा जायगा। दूसरे अन्नात्मक समाधान का ही इस परिच्छेद में संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जायगा।

यद्यपि वर्णधर्म्मों के लिए 'संस्काराभाव' ही महाप्रतिबन्धक माना गया है, परन्तु 'अन्नदोष' को भी इस सम्बन्ध में कम महत्त्व नहीं दिया जा सकता। धर्म्मभेद की रक्षा का 'अन्नभेद' भी एक प्रधान साधन माना गया है। आहार-विहारादि की विभिन्नता पदार्थधर्म्म भेद पर प्रतिष्ठित है, एवं पदार्थधर्म्म भेद की विभिन्नता के आधार पर अनुष्ठेय वर्णधर्म्म भेद प्रतिष्ठित है। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि, वर्णानुगतधर्म-भेद की रक्षा के लिए, हम वर्णधर्म्म से विमुख न हो जाय, इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए धर्म्मानुगत आहार-विहारादि का ही अनुगमन आवश्यक है। यदि सब वर्णों के समान हीं आहारादि हो जायगे, तो इन समान आहारादि से निष्पन्न होने वाला वर्णाध्यक्ष भूतात्मा (कर्म्मात्मा) समानलक्षण बनता हुआ कभी धर्म्म भेदभिन्न-वर्ण भेद का अनुगामी न रह सकेगा।

भारतीय धर्म्म के मौलिक रहस्य से लेशमात्र भी परिचय न रखनेवाले कितने एक महानु-भावों के श्रीमुख से साभिनिवेश आज यह कहते सुना गया है कि,—"खानपान का धर्म्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। क्या हमारा धर्म्म ऐसा कचा है, ऐसा निर्बल है, जो खान-पान से ही बिगड़ जाय। खान-पान की अर्गला, कच्चे-पक्के (सकरे-नखरे) का आडम्बर, ये सब निरर्थक कल्पना है"। आर्यप्रजा की उस सुसंस्कृत-बुद्धि का ऐसा पतन हो जायगा, यह कल्पना भी न थी। भगवान् जाने, इन बुद्धिवादियों नें धर्म्म का क्या लक्षण बना रक्खा है। हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में यही विश्वास है कि, जब से हमारी अन्नमर्य्यादा में उच्छृङ्खलता आई है, तभी से हमारी दिव्यशक्तियों का ह्रास आरम्भ हो गया है। सुनते हैं, इसी असदन्नपरिग्रह से 'भीष्म' जैसे धर्म्मज्ञ को भी अधर्म्मरत दुर्य्योधन की सहायता के लिए बाध्य होना पड़ता था। अन्न ही भूतात्मा का स्वरूप समर्पक माना गया है। खगोलीय सूर्य्य-चन्द्र शनैश्चरादि ग्रहोपग्रहों की क्रूरदशाओं से तो मनुष्य फिर भी समय पाकर मुक्त हो जाता है, परन्तु महाग्रहलक्षण अन्नग्रह से गृहीत प्रजा का त्राण कठिन है। वेद ने 'ग्रह' तत्त्व की मीमांसा करते हुए अन्न को ही प्रधान 'ग्रह' माना है। वहा कहा गया है कि—"सूर्य्य एक प्रकार का ग्रह है, क्योंकि इसने अपने उदर में (सौरमण्डल में) सम्पूर्ण त्रैलोक्य प्रजा का भोग कर रक्खा है। 'वाक्' ही ग्रह है, वाक् से ही सम्पूर्ण प्रजा गृहीत है, और यह 'वाक्' ग्रह नामात्मक है। (हम देखते हैं कि, प्रत्येक वस्तु का ग्रहण वस्तु के नाम से ही होता

है, अतः नाम को भी अवश्य ही ग्रह कहा जा सकता है।) अन्न ही (वास्तव में प्रधान) ग्रह है। अन्नग्रह से ही सब गृहीत हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जो जो व्यक्ति हमारा अन्न खा लेते हैं, वे सब इस हमारे अन्नग्रह से गृहीत बनते हुए हमारे अधिकार में आ जाते हैं, एवं उनका अपना आत्मस्वातन्त्र्य नष्ट हो जाता है। यही वास्तविक परिस्थिति है। अर्थात् अन्नग्रह ही सब ग्रहों में प्रधान तथा प्रवल ग्रह है"

'एष वै ग्रहः—य एष तपति (सूर्य्यः), येनेमाःसर्वाःप्रजा गृहीताः। वागेव ग्रहः। वाचा हीदं सर्वं गृहीतम्। किमु तद्यद्वाग्ग्रहः? नामैव ग्रहः। नाम्नाहीदं सर्वं गृहीतम्। किमुत्तद्यन्नामग्रहः? बहूनां वै नामानि विद्माथ नस्तेन तेन गृहीता भवन्ति। अन्नमेव-ग्रहः। अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम्। तस्माद्यावन्तो नोऽशनमश्नन्ति, ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति। एषैव स्थितिः। (सिद्धान्तपक्ष)

—शत० ब्रा० ४।६।५।

सभी आहार समानधर्म्मवाले हों, यह बात नहीं है। कितनें हीं भोग्यपदार्थ सत्त्वगुण-प्रधान बनते हुए ज्ञानशक्ति-प्रवर्द्धक हैं, कितनें ही रजोगुण-प्रधान बनते हुए क्रियाशक्ति के उत्तेजक हैं, कितनें हीं रजस्तमः-प्रधान बनते हुए अर्थशक्ति के उपोद्बलक हैं। इधर वर्ण-सम्प्रदाय में सत्वप्रधान ब्राह्मणवर्ण ज्ञानशक्ति का, रजःप्रधान क्षत्रिय क्रियाशक्ति का, एवं रजस्तमः प्रधान वैश्य अर्थशक्ति का अनुगामी है। तीनों का सेवक तीनों भावों से उत्क्रान्त है। जिसकी मस्तिष्क-शक्ति जितनी अधिक विकसित रहेगी, उसकी उपदेशशक्ति भी उसी अनुपात से विकसित रहेगी। इसी प्रकार युद्धकर्म्म सहोबलोपेत (साहसयुक्त) हृदयबल की अपेक्षा रखता है। फलतः जिस क्षत्रिय के हृदय में जितना अधिक सहोबल होगा, वह अपने यशोवीर्य्य विकास में उसी अनुपात से सफल होगा।

उक्त गुण-शक्ति-वीर्य्यादि विवेक से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, उपदेशशक्तियुक्त एक ब्राह्मण के लिए मस्तिष्कशक्ति के संरक्षक, तथा वर्द्धक सात्त्विक आहार-विहारादि ही उपयोगी बनेंगे। रक्षक क्षत्रियवर्ण के लिए हृदयबल संरक्षक सात्विक-राजस आहार-विहारादि ही उपयुक्त मानें जायंगे। वैश्यवर्ण के लिए अर्थशक्तिसंरक्षक राजस-तामस आहार-विहारादि ही उपकारक सिद्ध होंगे। एवं शूद्र अच्छन्दस्क होने से वर्णत्रयी का उच्छिष्ट-भोगी बनता हुआ यथाकाम, यथाचार होगा।

इसके अतिरिक्त अब हमें यह भी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि, अपने प्रातिस्विकरूप से सर्वथा सात्त्विक रहता हुआ भी अन्न तत्तत्प्रकृतिप्रधान तत्तत्व्यक्तियों की आत्मसीमा में प्रविष्ट होता हुआ, अपने प्रातिस्विक सात्त्विकगुण से अभिभूत होता हुआ तत्तत्प्रकृति-गुणों से युक्त हो जाता है। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, अथवा वैश्य हो, यदि वह शास्त्रविरुद्ध पथ का अनुगामी है, असद्वृत्ति से यदि वह धनोपार्ज्जन करता है, तो उसके प्रातिस्विक दिव्यभाव इस वृत्तिदोष से दूषित हो जाते हैं, वर्णधर्म्म अभिभूत हो जाता है। ऐसे वर्णों के अधिकार में रहनेवाली अन्नादि सम्पत्ति भी दूषित ही बनी रहती है। क्योंकि— 'यावद्वित्तं तावदात्मा' इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार भोग्यसम्पत्ति में सम्पत्ति के अधिष्ठाता का आत्मा विभूतिरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसी आधार पर धर्म्मशास्त्रों ने सूतकान्न परिग्रह निषिद्ध माना है[1]। अतएव उन वर्णियों के अन्न परिग्रह से भी अपने आपको बचाना चाहिए, जो कि वर्णी असद्वृत्ति से धनोपार्ज्जन कर रहे हैं।

अन्नाहुति ग्रहण में भी कुछ एक विशेष नियमों का ध्यान रखना आवश्यक है। अपवित्र स्थान में, असमय में, अव्यवस्थित ढंग से, अतिभोजन से, इत्यादि दोषों से सात्त्विक अन्न भी तामस बन जाया करता है। स्वयं भोज्यपदार्थों की परिपाक-सम्बन्धिनी अवस्थाओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है। घृत-तैलादि पदार्थ संक्रमणभाव के प्रतिबन्धक माने गए हैं। कारण यही है कि, वरुण से प्रतिमूर्च्छित अग्नि का ही नाम 'घृत' है, एवं वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र का ही नाम 'तैल' है। अग्नि तापधर्म्मा है, इन्द्र प्रकाशधर्म्मा है। एवं ताप-प्रकाश के साथ 'विद्युत्' का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। दूसरे शब्दों में 'विद्युत्-ताप-प्रकाश' तीनों सहयोगी तत्त्व हैं। तापलक्षण अग्नि, एवं प्रकाशलक्षण इन्द्र दोनों तत्त्व विद्युत् के सहयोग से ही वरुणदोषों के संक्रमण को रोकने में समर्थ होते हैं।

वरुण जलीय देवता है, अतएव जो अन्न केवल जलसम्मिश्रण से सम्पन्न होगा, उसमें वारुण भाग की प्रधानता रहेगी। वायुमण्डल में वारुणवायु का साम्राज्य है। वारुण-वायु में तमोगुणवर्द्धक वरुणप्राणप्रधान आप्य असुरतत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। सजातीया-कर्षण सिद्धान्त के अनुसार यह प्राकृतिक आसुरदोष इस वारुण अन्न के साथ सम्बन्ध

---

१ इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'श्राद्धविज्ञाना'न्तर्गत 'आशौचविज्ञान' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

करता रहता है। यही कारण है कि, केवल जलपक्व अन्न अधिक देर तक पड़ा रहने से नीरस बन जाता है, उसका अमृतभाग उच्छिन्न हो जाता है, मर्त्य आसुरभाग व्याप्त हो जाता है। दिन में सूर्य्य की सत्ता रहती है। अतएव सौर इन्द्रप्राण के सहयोग से दिन में वरुण का संयोग प्रबल नहीं बनने पाता। परन्तु सूर्य्यास्त होते ही वारुणी-रात्रि के सहयोग से वरुणाक्रमण को स्वतन्त्रता मिल जाती है। फलतः रात का वासीभोजन दूसरे दिन तो सर्वथा ही आसुरभावयुक्त बन जाता है, जैसा कि 'यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्' इत्यादि गीता सिद्धान्त से स्पष्ट है।

वारुण प्राकृत दोष के अतिरिक्त जलपक्व अन्न को छू देने से भी छूनेवाले दोष अन्न में संक्रान्त हो जाते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि, जल में गोंदे हुए आटे की रोटी का अग्नि से भी परिपाक होता है, एवं ऊपर घृत भी लगाया जाता है। परन्तु यह घृताग्नि-सम्बन्ध सर्वथा वहिर्व्याप्त है। और ऐसा वहिर्व्याप्त सम्बन्ध सांक्रमिक भावों को रोकने में असमर्थ है। अतएव केवल जलीय अन्न को 'सांक्रामिक अन्न' माना गया है, जिसके लिए कि आज लोकभाषा में 'सकरा' शब्द प्रयुक्त हो रहा है। ऐसे अन्न को रक्षापूर्वक, मर्य्यादा-गृह (चौके) में बैठ कर, स्वयं शुचिभाव में परिणत होकर ही आत्मसात् करना चाहिए।

जिन अन्नों का परितः-घृत-तैल से सम्बन्ध करा दिया जाता है, वे अन्न पूर्वोक्त विद्युत् सम्पर्क से दोषावह नहीं बनते। न उनमें यातयामता आती, न वारुणदोषों के आक्रमण का ही कोई असर होता। इसमें भी जातिभेद मानना ही पड़ेगा। विशुद्ध दुग्ध के पदार्थों, एवं अन्नपदार्थों में भी तारतम्य रहेगा, जो कि तारतम्य तत्तत्पदार्थों के वैय्यक्तिक स्वरूप से सम्बन्ध रखता है। चांवल को ही लीजिए। पयःपक्व, घृतपक्व, केवल वन्हिपक्व अन्न फलवत् ग्राह्य है, परन्तु चांवल अग्राह्य है। कारण स्पष्ट है। चांवल विशुद्ध वारुणान्न है। अतएव जलाधिक्य में ही इसका प्रभव होता है। इस सांक्रामिक वारुणभाग की प्रधानता से घृतादि का सम्पर्क भी इसे उक्त दोप-संक्रमण से नहीं बचा सकता। फलतः क्षीरान्न (खीर) भी जलीयान्नवत् सांक्रामिक ही मानी जायगी। वक्तव्य यही है कि, घृत-तैलयुक्त अन्न संक्रमणभाव से निर्गत माने जायंगे, एवं इनकी आहुति में मर्य्यादागृहादि का विशेष प्रतिबन्ध न होगा। निष्कर्ष यह निकला कि, चाहे जिस किसी का अन्न खाना निषिद्ध, चाहे जहां बैठ कर खाना निषिद्ध, चाहे जो खाना निषिद्ध, चाहे जिस समय खाना निषिद्ध, चाहे जितना (अमर्य्यादित) खाना निषिद्ध। इसी अन्नमर्य्यादा से हम अपने वर्णधर्म्म की

रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे। दृष्टि तो डालिए उन भूसुरों के कान्तिशून्य मुखारविन्दों पर, जिन्होंने असदन्नपरिग्रह लेते लेते अपने ब्राह्मण्य का सर्वथा पराभव कर डाला है।

हम यह मानने से इन्कार नहीं करते कि, लशुन-गृञ्जन पलाण्डु आदि से भौतिक शरीर का यथावसर उपकार होता है। परन्तु यह भी सिद्ध विषय है कि, तमोगुणप्रधान ये सब पदार्थ आत्मगत ब्रह्मवीर्य्य (ज्ञानशक्ति) के अन्यतम शत्रु हैं। जिन्हें आसुरज्ञान, आसुरबल, क्षणिक विज्ञान, तथा विशुद्धभूतोन्नति ही अपेक्षित हो, वे सानन्द इन तामस पदार्थों का सेवन करें, परन्तु दिव्यज्ञानोपासक, लोकवैभव के साथ साथ आत्मवैभव का अनन्यपक्षपाती एक भारतीय ब्राह्मण तो इन्हें त्याज्य ही मानेगा। यही अवस्था मद्यादि इतर तामस पदार्थों की समझिए। इन्हीं सब गुणतारतम्यों के आधार पर धर्म्माचार्य्यों ने खान-पान के सम्बन्ध में दृढतम नियन्त्रण लगाना आवश्यक समझा है। 'खान-पान से हमारा क्या बिगड़ गया ? अथवा क्या बिगड़ेगा' ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए तो वर्तमानयुग का अव्यवस्थित, शक्तिशून्य, उत्पथगामी, कान्तिशून्य, हीनवीर्य्य प्रजावर्ग ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिन महानुभावों की इस सम्बन्ध में यह धारणा है कि, "खानपान का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, इनका केवल शरीरपुष्टि से सम्बन्ध है। अतएव जो पदार्थ शरीर के लिए हितकर हो, उनके ग्रहण में कोई आपत्ति नहीं है"। उनके परितोष के लिए यही कहना पर्य्याप्त होगा कि, जब हम अतिभोजन कर लेते हैं, तो शरीरयष्टि तो शिथिल हो ही जाती है, साथ ही में स्नायुतन्तुओं में प्रवाहित ज्ञानधारा भी मन्द पड़ जाती है। कारणशरीररूप आत्मा, सूक्ष्मशरीररूप इन्द्रियवर्ग, एवं स्थूलशरीररूप भौतिक शरीर, तीनों का त्रिदण्डवत् 'अन्योऽन्याश्रित' भाव है। एक दूसरे के भाव एक दूसरे में संक्रान्त हुए बिना नहीं रह सकते। फलतः अन्नदोष से आत्मा कभी नहीं बच सकता। देखिए, श्रुति इस सम्बन्ध में क्या कहती है—

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं, योमध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः। तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि, यो मध्यमः सा मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक्। अन्नमयं हि सौम्य ! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्'।

—छान्दोग्यउपनिषत् ६।५।१-२-३-४ कं०।

'स वा एप आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः'

—बृहदारण्यकोपनिषत्।

इस प्रकार उक्त श्रुतियाँ आत्मा को अन्न-अप्-तेजोमय बतलाती हुईं स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर रहीं हैं कि, आहारादि का आत्मा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। भुक्तान्न चान्द्रसोम की प्रधानता से सौम्य है, आन्तरिक्ष्य वायु के प्रवेश से वायव्य है, एवं पार्थिव मृद्भाग के समावेश से पार्थिव है। इन तीन उपादानों को लेकर ही अन्न की स्वरूप निष्पत्ति हुई है। 'रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र' यह सप्तधातुसमष्टि अन्नगत पार्थिवभाग से सम्पन्न होती है, यही स्थूलशरीरात्मक (आत्मा का) वाक्भाग है। सप्तधातुप्रतिष्ठालक्षण 'ओज' अन्नगत आन्तरिक्ष्य वायु से सम्पन्न होता है, यही सूक्ष्मशरीरात्मक (आत्मा का) प्राणभाग है। सर्वप्रतिष्ठालक्षण मन अन्नगत दिव्यचान्द्ररस से सम्पन्न होता है, यही कारणशरीरात्मक (आत्मा का) मनोभाग है। इस प्रकार वही अन्न द्रव्यभेद से सम्पूर्ण आत्मसंस्था की प्रतिष्ठा बना हुआ है। ऐसी दशा में आत्मस्वरूप-रक्षा के लिए, आत्मरक्षापूर्वक वर्णस्वरूप की रक्षा के लिए, वर्णरक्षापूर्वक वर्णधर्म्म की रक्षा के लिए आहार-विहारादि की (गुणभेदभिन्ना) विभिन्नता अवश्यमेव अनुगमनीय सिद्ध हो जाती है, जिसका कि उपबृंहण स्वयं गीताभाष्य में होनेवाला है।

वर्णव्यवस्था का सामाजिक नियन्त्रण—

मनुष्य 'अनृतसंहित' है, और इसके इस स्वाभाविक अनृतभाव के नियन्त्रण के लिए ही कुछ एक ऐसे नियम अपेक्षित हैं, जिनके नियन्त्रण में रहता हुआ यह अपने वर्णधर्म्म का दुरुपयोग न करने लग जाय। प्रकृति के अनुरूप चारों वर्ण व्यवस्थित हुए। "चारों वर्ण अपने अपने कर्म्म में दृढ़ रहते हुए समाज, तथा राष्ट्र का सुचारुरूप से सञ्चालन करते रहें" इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कुछ एक विशेष नियम बनाए गए। अधिकार-प्रदान के साथ ही वर्णों पर ऐसे नियन्त्रण लगाना आवश्यक समझा गया, जिनसे नियन्त्रित रहते हुए ये अपने अधिकार का दुरुपयोग न कर बैठें।

पहिले ब्राह्मणवर्ण को ही लीजिए। ब्रह्मवीर्य्य का अधिकारी ब्राह्मणवर्ण सर्वश्रेष्ठ ज्ञानशक्ति की प्रतिष्ठा बनता हुआ समाज का मुकुटमणि है। सबसे अधिक प्रतिष्ठा इसी वर्ण की है। मनुष्य जब प्रतिष्ठा की चरम सीमा पर पहुंच जाता है, तो उसे अभिमान के साथ साथ अतिमान हो जाता है। पराभवमूलक इस अतिमान से ब्राह्मण का वह ब्रह्मवीर्य्य हतप्रभ

बन जाता है, जिसके कि आधार पर यह समाज की चतुर्विध रक्षा करने में समर्थ बनता है। पराभवमूलक इसी अतिमान दोष से ब्राह्मण को बचाने के लिए इस पर निम्न लिखित नियन्त्रण लगाए गए—

१—सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥

—मनु॰ २।१६२

२—सुखं ह्यवमतः शेते, सुखं च परिबुद्ध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥

—मनुः २।१६३

३—अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः॥

—मनुः ६।५७

निष्कर्ष यही है कि, ब्राह्मणवर्ण धनबल, शस्त्रबल, तथा प्रतिष्ठातिमान तीनों से अपने आपको बचाता रहै। यदि ज्ञानबल के साथ साथ इसे धनादि इतर बलों का सहयोग प्राप्त हो जायगा, तो अवश्य ही इसका ज्ञानबल गिर जायगा। शास्त्रोक्त मार्ग से आजीविकामात्र के लिए अर्थपरिग्रह का अनुगमन करता हुआ ब्राह्मण कभी धनादि लिप्सा न रक्खे। क्योंकि लक्ष्मी की अनन्योपासना ज्ञानोपासना की महाप्रतिबन्धिका है।

क्षत्रिय के हाथ में शासनदण्ड है। शासन-धन, दोनों के एकत्र समन्वय से भी अनर्थ हो जाने की सम्भावना निश्चित है। अतएव शासक क्षत्रिय के हाथ से अर्थबल खोस लिया गया। साथ ही में इसे अपने शासनबल के दुरुपयोग से बचाने के लिए इस पर धर्मदण्ड का नियन्त्रण लगाया गया—

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद् विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥

—मनुः ७।२८

यह भी बहुत सम्भव है कि, वैश्यवर्ग धन-सम्पत्ति को अपनी बपौती समझने की भूल करता हुआ उसका सामाजिकव्यवस्था में उपयोग न करे। इसी सम्भावना को निर्म्मूल बनाने के लिए इस पर ब्रह्म, तथा क्षत्र, दोनों का नियन्त्रण लगाया, साथ ही—'दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः' इस आदेश से आदिष्ट किया गया। इस प्रकार एक दूसरे के पारस्परिक नियन्त्रण से नियन्त्रित रहता हुआ कभी भी, कोई भी वर्ण उच्छृङ्खल नहीं बन सकता, जिन नियन्त्रणों के कि शिथिल हो जाने से आज हमारी वर्णप्रजा सर्वथा उच्छृङ्खल बन रही है।

कर्म्मणावर्णव्यवस्था, और वादी के १३ आक्षेप—

वर्णोत्पत्ति, वर्णविभाग, वर्णधर्म्म, धर्म्मभेद, व्यवस्थानियन्त्रण, आदि रूप से चातुर्वर्ण्य के सम्बन्ध मे जो कुछ कहना चाहिए था, पूर्व परिच्छेदों से गतार्थ है। अब इस व्यवस्था के सम्बन्ध में केवल यह प्रश्न बच रहता है कि, 'वर्णव्यवस्था जन्मना है,' अथवा कर्म्मणा ?। इस प्रश्न के दो अर्थ मानें जा सकते हैं। जिन वर्णों को लेकर वर्णसमुदाय को एक सामाजिकरूप दे दिया गया है, वे वर्ण जन्मना हैं, अथवा कर्म्मणा ?। अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण उत्पन्न होने के अनन्तर तत्तत् कर्म्मों के अनुगमन से ब्राह्मण-क्षत्रियादि कहलाए, अथवा जन्म से ही ये ब्राह्मण क्षत्रियादि ब्राह्मण-क्षत्रियादि हैं ? एक दृष्टि। चारों वर्णो का व्यवस्थित विभाग जन्मना है, अथवा कर्म्मणा ? यह दूसरी दृष्टि है। दोनों दृष्टियों में से प्रथम दृष्टि का ही प्रकृत मे विचार अपेक्षित है। क्योंकि वर्णविभाग आप्तमहर्षियों का कर्म्म है। उन्होंनें नित्यसिद्ध वर्णप्रजा को सामाजिक रूप दिया है। चूकि 'वर्णव्यवस्था', दूसरे शब्दों में वर्णों का सामाजिकरूप ऋषियों के कर्म्म से सम्बन्ध रखता है, अतः सामाजिकसंघठनात्मिका वर्णव्यवस्था को तो कर्म्मसिद्ध (ऋषि-कर्म्मसिद्ध) ही माना जायगा। फलतः 'वर्णव्यवस्था जन्मना है, अथवा कर्म्मणा ?' इस प्रश्न का 'जिन वर्णों की यह व्यवस्था है, वे वर्ण जन्म-सिद्ध हैं, अथवा कर्म्मसिद्ध ?' यह पहिला अर्थ ही प्रधान माना जायगा, एवं इसी अर्थ की दृष्टि से प्रश्न-मीमांसा की जायगी।

यह प्रश्न हमारी अज्ञानता से आज एक विचित्र पहेली बन रहा है। जब चारों वर्णों का प्रकृति में रहने वाले वर्णदेवताओं के साथ सम्बन्ध है, जब कि स्वयं अव्ययेश्वर इस वर्णसृष्टि के प्रवर्त्तक हैं, तो इसे कर्म्ममूला क्योंकर माना जा सकता है। जो महानुभाव-'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुण-कर्म्मविभागः' इस वाक्य के 'गुण-कर्म्म' शब्दों को आगे

करते हुए वर्णसृष्टि को कर्म्ममूला सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं, उनसे हम प्रश्न करेंगे कि, किस के गुण-कर्म्म विभागों को आधार बनाकर अव्ययेश्वर ने चातुर्वर्ण्य सृष्टि की ?। विचार करने पर उन्हें इस तथ्य पर पहुंचना पड़ेगा कि, सुप्रसिद्ध ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्र नामक वर्णों का गुण कर्म्म यहां अभिप्रेत नहीं है, अपितु इन वर्णों के उपादान-कारणभूत 'दिव्य-वीर-पशु-मृत' भावप्रवर्त्तक 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र' तत्त्वों के गुण-कर्म्म ही यहां गुण-कर्म्म शब्द से अभिप्रेत हैं। जो वीर्य्य जिस गुण-कर्म्म से युक्त था, भगवान् ने (क्षरब्रह्म ने) उस वीर्य्य से उसी वर्ण की सृष्टि की है। दूसरे शब्दों में विभक्त ब्रह्म-क्षत्रादि वीर्य्यों के विभक्त गुण कर्म्मों के आधार पर ही प्रजापति ने वर्णसृष्टि की है।

क्या आपने 'सृष्टम्' के अर्थ का विचार किया। **'मैंने गुण-कर्म्मानुसार चातुर्वर्ण्य उत्पन्न किया'** उक्त वाक्य का यही तो अर्थ है। थोड़ी देर के लिए गुण-कर्म्म शब्दों से ब्रह्म-क्षत्रादि वीर्य्यों के गुण-कर्म्म न मान कर, यदि ब्राह्मण-क्षत्रियादि के ही गुण-कर्म्म मान भी लिए जाते हैं, तब भी 'सृष्टम्' मर्य्यादा से वर्णसृष्टि का जन्मभाव ही सूचित होगा। 'गुण-कर्म्मानुसार मैंनें वर्णों को उत्पन्न किया' का विस्पष्ट तात्पर्य्य यही होगा कि, जिस आत्मा (भूतात्मा) में जैसे गुण-कर्म्म संस्कार थे, उसे मैंनें उसी वर्ण में उत्पन्न किया। शुक्र-शोणित के समन्वित रूप में प्रविष्ट होने वाला औपपातिक, कर्म्मभोक्ता, कर्म्मात्मा कर्म्म-गुण संस्कारों के अनुसार ही तत्तद्वर्ण के रजो-वीर्य्यों में आता हुआ तत्तद्वर्णों में जन्म लेता है, यही तात्पर्य्य माना जायगा। यदि किसी उपाय से आप उक्त वचन का यह अर्थ कर डालें कि-"मैंने पहिले तो व्यक्ति उत्पन्न कर दिए, फिर जिस व्यक्ति में जैसा गुण देखा, जिस व्यक्ति का जैसा कर्म्म देखा, उसे उसी गुण-कर्म्मानुसार उसी वर्ण का मान लिया" तब कहीं आप की अभीष्टसिद्धि हो सकती है। परन्तु देखते हैं कि, ऐसा अर्थ कर लेना सर्वथा असम्भव ही है। **'पूर्वं मया सृष्टं, तदनु गुण-कर्म्म-विभागशः चातुर्वर्ण्यं विहितम्'** क्या आप ऐसा सम्भव मान लेंगे ? असम्भव। वहां तो **गुण-कर्म्मविभागशः-चातुर्वर्ण्यं** मया सृष्टम्' यह सम्भूति बन रही है। जिसका स्पष्ट ही यही तात्पर्य्य है कि, "मैंने वर्ण-प्रवर्त्तक वीर्य्यभावों के गुण-कर्म्मानुसार, अथवा औपपातिक कर्म्मात्माओं के सांस्कारिक गुण-कर्म्मानुसार ही चातुर्वर्ण्य सृष्टि की"।

यदि हमारे (मनुष्यों के) गुण-कर्म्म ही चातुर्वर्ण्य सृष्टि के आरम्भक होते, तब तो यह व्यवस्था केवल मनुष्यसम्प्रदाय में ही होनी चाहिए थी। परन्तु हम देखते हैं कि, विश्वगर्भ

में निवास करनेवाले चर-अचर पदार्थमात्र में चातुर्वर्ण्यविभाग व्यवस्थित है। देवसृष्टि से आरम्भ कर स्तम्बसृष्टि पर्य्यन्त, सर्वत्र, सब सृष्टियों मे ब्राह्मणादिवर्ण विभाग नित्यसिद्ध है। ऐसी परिस्थिति में तो 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम्' इस वाक्य को हम विशेषभावापेक्ष मनुष्यवर्ग से सम्बद्ध न मान कर व्यापक वर्णसृष्टिपरक ही मानेंगे। सामान्यरूप से 'चातुर्वर्ण्यं मया०' इत्यादि कहते हुए भगवान् ने यही बतलाया है कि, "मैंने (अव्ययाक्षरगर्भित वाङ्मय क्षरब्रह्म ने हीं) वर्णप्रवर्त्तक ब्रह्म-क्षत्रादिभावों के विभक्त गुण-कर्म्मों के आधार पर विश्व में वर्णसृष्टि की है"। फलतः चातुर्वर्ण्यसृष्टि का जन्ममूलत्त्व ही प्रामाणिक बन रहा है।

यद्यपि विषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। तथापि हम देखते हैं कि, बिना विस्तार के विषय का यथावत् स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। फिर उस युग के लिए तो यह विस्तारक्रम और भी आवश्यक हो जाता है, जिस (वर्त्तमान) युग में अपनी ओर से कुछ भी प्रयास करने की न तो प्रवृत्ति ही है, एवं न समय ही। अतएव विस्तारभय की उपेक्षा कर प्रकृत प्रश्न के सम्बन्ध में विशद मीमांसा करना अनिवार्य्य बन जाता है। हमें विश्वास है कि, इस प्रकरण के सम्यक् अवलोकन से यह प्रश्न सर्वथा समाहित बन जायगा।

वर्त्तमान युग में वर्णव्यवस्था सम्बन्धी जन्म-कर्म्म विवादों को हम चार भागों में विभक्त मान सकते हैं। इन चारों विभागों के प्रवर्त्तकों, किंवा विचारकों को हम क्रमशः **'सनातनधर्मावलम्बी, आर्य्यसमाजी, सुधारक, तटस्थ समालोचक'** इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। ये चारों वर्ग इस सम्बन्ध में अपने क्या विचार रखते हैं? पहिले इसी प्रश्न की क्रमिक मीमांसा कर लीजिए।

(१)—"वर्णव्यवस्था, किंवा वर्णसृष्टि का मानुष-कल्पना से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वर्णसृष्टि अनादिकाल से यों हीं चली आ रही है। विश्वनिर्म्माता स्वयं जगदीश्वर इस वर्णसृष्टि के आविर्भावक हैं। विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मणवर्ण, बाहू से क्षत्रियवर्ण, ऊरु से वैश्यवर्ण, एवं पादभाग से शूद्रवर्ण उत्पन्न हुआ है। जब कि यह चातुर्वर्ण्यसृष्टि ईश्वरीय है, तो हम (सनातनधर्म्मावलम्बी) अवश्य ही ब्राह्मणादि चारों वर्णों को योनि (जन्म) से ही व्यवस्थित मानने के लिए तय्यार हैं"। —स० ध०

(२)—"वर्णव्यवस्था वेदसिद्ध है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। परन्तु इसकी मूलप्रतिष्ठा गुण-कर्म्म हीं हैं। वैदिकयुग में जो जैसा कर्म्म करता था, जिसमें जैसा गुण था,

वह व्यक्ति उसी वर्ण का मान लिया जाता था। यद्यपि उपलब्ध धर्मशास्त्रों में कई एक वचन ऐसे भी मिलते हैं, जिनसे कि इन वर्णों का जन्ममूलत्व सिद्ध हो रहा है। परन्तु वे सब वचन प्रक्षिप्त हैं। स्वार्थी ब्राह्मणों ने अपनी वैय्यक्तिक प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने के लिए स्वार्थवश अपनी ओर से (बना बना कर) ऐसे वचनों का धर्मग्रन्थों में समावेश कर दिया है। जबतक यह वर्णविभाग गुण-कर्मानुगत बना रहा, तबतक देश की समुन्नति होती रही। जिस दिन से इस वर्णविभाग ने 'जन्म' का आसन ग्रहण किया, उसी दिन से भारतवर्ष के पतन का श्रीगणेश हो गया। ऐसी दशा में विशुद्ध वेदभक्तों (आर्य्यसमाजियों) का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वे पौराणिक-कालीन उक्त अविद्या को दूर कर गुण-कर्म द्वारा ही वर्णविभाग का प्राधान्य स्वीकार करें"। —आ० स०

(३)—"जिस समय (वैदिककाल में) भारतवर्ष उन्नति के सर्वोन्नत शिखर पर पहुंचा हुआ था, उस समय 'वर्णव्यवस्था' नाम की कोई कल्पित व्यवस्था न थी। न उस समय वर्णों का झगड़ा था, न ऊंच-नीच का भाव था, न स्पृश्य-अस्पृश्य का विवाद था। सब मनुष्य समान श्रेणि में प्रतिष्ठित थे। सबको सब कर्म्मों का अधिकार था। सबकी सम्मिलित ईश्वरोपासना थी। सबके सामाजिक व्यवहार परस्पर ओत-प्रोत थे। सत्य-अहिंसा-अस्तेय, आदि ही उस युग के प्रधान धर्म्म थे। दुर्दैववश आगे जाकर मनुष्यों की बुद्धि नष्ट हो गई, नैतिकबल का पतन हो गया। परिणामतः पौराणिकयुग में व्यक्तिस्वार्थ के प्राधान्य से मतिमन्दों के द्वारा नाशकारिणी वर्णव्यवस्था का जन्म हुआ। जबसे जातिद्वेष-मूला यह वर्णभेदव्यवस्था प्रकट हुई, तभी से भारतश्री का, राष्ट्रीयसंघबल का ह्रास आरम्भ हो गया। इसी कल्पित वर्णभेद से, तथा जातिभेद से राष्ट्रसंघठन के साथ साथ सामाजिक संघठन भी विच्छिन्न हो गया। ऊच-नीच-भावों ने जातिद्वेष का बीजवपन कर दिया। अपने आपको सवर्ण माननेवाले उच्चश्रेणि के वर्गों ने असवर्ण जातियों पर ऐसे ऐसे भीषण अत्याचार किए, उन्हें सदा के लिए अपना गुलाम बनाए रखने के लिए ऐसे ऐसे कल्पित शास्त्र (स्मृतियाँ) बना डाले गए, जिन अत्याचारों, तथा अत्याचार समर्थक धर्म्मग्रन्थों को देख कर सभ्यदेशों के सामने हमें अपना मस्तक लज्जा से अवनत कर लेना पड़ता है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक देशहितैषी का यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि,

यह अपनी पूरी शक्ति लगाकर इस अनर्थकारिणी वर्णव्यवस्था का समूल विनाश करने का प्रयत्न आरम्भ कर दे। तभी भारतराष्ट्र की उन्नति सम्भव है"।—छ०

(४)—वेदों में वर्ण व्यवस्था नहीं है, यह बात तो गलत है। वैदिक कालीन सामाजिक, एवं नागरिक लोकनीतियों के अध्ययन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि, उस समय समाज को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए अवश्य ही 'वर्ण-व्यवस्था' विद्यमान थी। हां, इस सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि, यह व्यवस्था उस समय विशुद्ध कर्म्मप्रधान ही थी। जाति, किंवा जन्म से इसका कोई सम्बन्ध न था। जो व्यक्ति जैसा कर्म्म करता था, वह उसी वर्ण का मान लिया जाता था। आगे जाकर समाज के कुछ एक बुद्धिमानों नें यह अनुभव किया कि, जब तक यह व्यवस्था व्यक्तिमूला रहती हुई कर्म्मानुगामिनी बनी रहेगी, तब तक समाज का भलीभांति संघठन न हो सकेगा। इसी अड़चन को सामने रखते हुए तत्कालीन समाजशास्त्रियों नें इसे वंशानुगत बना डाला। इस प्रकार आरम्भ में कर्म्ममूला रहने वाली यह वर्ण-व्यवस्था आगे जाकर वंशानुगामिनी बनती हुई जन्ममूला मान ली गई"।—त० स०

इन चार विचारकों में से तीसरे (सुधारक) वर्ग के सम्बन्ध में तो हमें कुछ भी वक्तव्य नहीं है। कारण, इन महानुभावों के अभिनिवेश को दूर करने की शक्ति तो सर्वशक्तिमान् स्वयं जगदीश्वर में भी नहीं है। जिन बुद्धिवादियों नें अपना यह सिद्धान्त बना रक्खा हो कि,—"हम जिसे ठीक समझें वह उपादेय, तथा ग्राह्य, अन्य सब कुछ हेय, तथा त्याज्य" तो फिर इन का अनुरञ्जन कौन, तथा कैसे कर सकता है। अपने बुद्धिवाद के आधार पर अपनी स्वतन्त्रप्रज्ञा (अमर्य्यादितप्रज्ञा) के बलपर ये महानुभाव पहिले से ही अपना एक निश्चित सिद्धान्त बना लेते हैं। एवं उस स्थिर सिद्धान्त को प्रमुख बना कर शास्त्रों पर दृष्टि डालने का अनुग्रह करते हैं। यदि शास्त्रीय वचन इनके उस स्थिर सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ते हैं, तो झटिति इन के मुख से 'प्रक्षेप' शब्द निकल पड़ता है। वर्णव्यवस्था सम्बन्धी सैकड़ों प्रमाण शास्त्रों में विद्यमान हैं, स्पृश्यास्पृश्य का पूर्ण विवेक शास्त्रों में सुव्यवस्थित है। परन्तु इन विक्षिप्तों की दृष्टि मे स्वसिद्धान्त विरोधी वे सब शास्त्रीय वचन प्रक्षिप्त बन रहे हैं। और अपनी इस 'प्रक्षिप्तवृत्ति' को सुरक्षित रखने के लिए कहा यह जाता

है कि, "मूलसाहित्य में ऐसे बचनों का सर्वथा अभाव था। ये तो स्वार्थियों द्वारा पीछे से मिला दिए गए हैं"।

प्रकरणारम्भ में भी यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, सत्यज्ञान के सम्बन्ध में शब्दप्रमाण के अतिरिक्त निर्भ्रान्त साधन दूसरा नहीं है। शब्दशास्त्रों में भी स्वतःप्रमाणलक्षण वेदशास्त्र की नित्य-निर्बाध-निर्भ्रान्त प्रामाणिकता तो सभी को सदा से मान्य है। जो महानुभाव इस वेदप्रामाण्य में भी 'नच नुच' करने लगें, बतलाइए! उनका परितोष किस आधार पर किया जाय? यही इस सम्बन्ध में हमारे लिए एक जटिल समस्या है। मानने-मनवाने के सौ रास्ते हैं। परन्तु जिन्होंने "नहीं मानते, नहीं मानेंगे, नहीं मानना चाहिए" इस वाक्य को अपना मूल मन्त्र बना लिया हो, उन्हें कैसे सत्पथ का अनुगामी बनाया जाय? अथवा छोड़िए, इस उलझन को। संसार में ऐसी भी अनेक जातियाँ हैं, जो वेदमार्ग पर निष्ठा नहीं रखतीं। हम समझ लेंगे, देश के दुर्भाग्य से हमारे देश में, हमारे समाज में, हमारी जाति में भी एक ऐसे अवान्तर विभाग ने जन्म ले डाला! 'काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः' सर्वश्री उदयनाचार्य के इन शब्दों में हम अपने इन सुसम्बन्धियों के लिए भगवान् से केवल यह प्रार्थना ही कर सकते हैं कि, भगवन्! आप ही इन्हें ऐसी बुद्धि-प्रदान करें, जिस से ये अपना स्वरूप समझें, एवं पतन के मार्ग से अपने आप को बचावें।

अब एक सनातनधर्म्मावलम्बी के सामने समाधान के लिए दो वर्ग बच जाते हैं। दोनों ही वर्ग वर्णव्यवस्था की वैदिकता तो स्वीकार करते हैं, परन्तु वर्णसृष्टि को वे जन्मसिद्ध मानने के लिए तय्यार नहीं है। वर्णसृष्टि जन्मसिद्ध क्यों नहीं मानी जा सकती? क्यों इसे गुण-कर्म्म मूला ही मानना चाहिए? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में उनकी ओर से हमारे सामने निम्न लिखित १३ विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होतीं हैं।

(१)—वर्णसृष्टि को जन्मसिद्ध मानना सर्वथा असङ्गत है। जन्मसिद्ध वही सृष्टि मानी जाती है, जिसके कर्त्ता स्वयं जगदीश्वर होते हैं। मनुष्य-अश्व-गौ-वृषभ-मृग-पक्षी-कृमि-कीट आदि वर्ण (जातियाँ) हीं जन्मसिद्ध हैं। क्योंकि इनके प्रवर्त्तक स्वयं ईश्वर प्रजापति हैं। आदिपुरुष जगदीश्वर के लिए सम्पूर्ण विश्वक्षेत्र समान है। वह नितान्त समदर्शी है। भारतवर्ष में रहने वाले मनुष्यों को ही ईश्वर ने उत्पन्न किया है, यह कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा? उसकी दृष्टि में तो जो श्रेणि भारतवर्ष की है, वही स्थान, वही महत्त्व अफ्रिका, अमेरिका, युरोप, आदि इतर भूखण्डों का है। यदि भगवान् के मुख-बाहु-ऊरु-पादों से

ब्राह्मणादि चारों वर्ण उत्पन्न हुए होते, तो अन्य देशों में भी वर्ण-विभाग उपलब्ध होता। परन्तु देखते हैं कि, वर्णव्यवस्था, वर्णभेद, धर्म्मभेद, तत्प्रतिपादक मन्वादि धर्म्मशास्त्र, सब कुछ एकमात्र भारतवर्ष की ही बपौती बन रहे हैं। यही नहीं, अपितु भारतीयशास्त्र भारतेतर देशों को 'म्लेच्छदेश' कह रहे हैं, उनके यातायात में प्रायश्चित्त का विधान कर रहे हैं, उनके धर्म्मों को परधर्म्म मान रहे हैं। क्या वे देश 'ईश्वरीय सृष्टि' से बाहिर हैं? क्या वहां का जन-समाज ईश्वर के मुखादि अङ्गों से उत्पन्न नहीं हुआ? जब कि मनुष्यमात्र, किंवा प्राणिमात्र उसी की सन्तान है, तो सर्वत्र समरूप से वर्णविभाग क्यों न हुआ? इन्हीं सब कारणों के आधार पर हमें कहना पड़ता है कि, 'वर्णसृष्टि' नाम का प्रपञ्च केवल भारतीय विद्वानों के मस्तिष्क की उपज है। हमारे समाजशास्त्रियों नें 'ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-शिल्प' चारों समृद्धियों से समाज को सुसम्पन्न बनाने के लिए ही उन चार विभागों की कल्पना आवश्यक समझी, जो कि विभाग कालान्तर में ब्राह्मण क्षत्रियादि नामों से प्रसिद्ध हुए। आज पश्चिमी देशों में भी तो गुण-कर्म्मानुसारिणी यह व्यवस्था एक दूसरे रूप से विद्यमान है। 'सिविल-मिलिट्री-मर्चेन्ट-लेबर' चारों विभाग वहां भी चारों बलों का सम्पादन कर रहे हैं। क्या वहां जन्म सम्बन्ध से ये चार विभाग व्यवस्थित हुए हैं? असम्भव? ठीक यही बात भारतीय वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में घटित हुई है। महीदास-ऐतरेय[1] ने स्पष्ट ही इस व्यवस्था की कल्पितता घोषित की है। देखिए!

'देवविशः कल्पयितव्याः—इत्याहुः। ताः कल्पमाना अनु मनुष्यविशः कल्पन्ते, इति सर्वा विशो कल्पते, यज्ञोऽपि'

—ऐतरेय ब्रा० १।३।९

(२)—महाभारत हमारी सभ्यता का सर्वमान्य ग्रन्थ है। उसने भी वर्णव्यवस्था गुण-कर्म्मप्रधान ही मानी है। महाभारत के कथनानुसार सभ्यतारम्भयुग में एक ही वर्ण था। आगे जाकर इस एक ही वर्ण का कर्म्मभेद से चार भागों में श्रेणि-विभाजन हुआ—

---

१ यहां जितनें वचन उद्धृत होंगे, उनका अर्थ स्वयं ऊह्य है। अतिशय विस्तार भय की अपेक्षा से इनके अर्थों की उपेक्षा की गई है।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि 'कर्म्मभि'—र्वणतां गतम्॥

—महाभारत, शान्तिपर्व १८८।१०

उसी महाभारत के वनपर्व में 'युधिष्ठिर-नहुष-संवाद' प्रकरण में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, वर्णव्यवस्था के मूल गुण-कर्म्म ही हैं। ऋषिशाप से महाराज नहुष 'सर्प' योनि में परिणत हो गए थे। उसी समय की निम्न लिखित संवादभाषा है—

युधिष्ठिरः—सत्यं-ज्ञानं-क्षमा-शील-मानृशंस्यं तपो-घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र! स 'ब्राह्मण' इति स्मृतः॥ १॥

सर्पः (नहुषः)—चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च, ब्रह्म चैव हि।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च, दान-मक्रोध एव च॥ २॥

युधिष्ठिरः—शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म, द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो, ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥ ३॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प! वृत्तं, स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प! तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥ ४॥

सर्पः (नहुषः)—यदि ते वृत्ततो राजन्! ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः।
वृथा जातिस्तदायुष्मन्! कृतिर्यावन्न विद्यते॥ ५॥

युधिष्ठिरः—जातिरत्र महासर्प! मनुष्यत्वे महामते!
सङ्करात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्षेति मे मतिः॥ ६॥

—म० भा० वनपर्व १८० अ०

उक्त वचनों का तात्पर्य्य यही है कि, जिस मनुष्य में सत्य-ज्ञान-क्षमा-आदि गुण-कर्म्म देखे जाते हों, उसे ब्राह्मण कहना चाहिए। यदि किसी शूद्र में भी ऐसे गुण-कर्म देखे जायँगे, तो वह भी ब्राह्मण ही माना जायगा। जाति (जन्म) से न शूद्र शूद्र है, न ब्राह्मण ब्राह्मण

है। अपितु जो शूद्रसम काम करता है, वह ब्राह्मण भी शूद्र है। एवं जो शूद्र ब्राह्मणोचित काम करता है, वह शूद्र भी ब्राह्मण है। जाति तो केवल 'मनुष्यजाति' है। यही स्व-स्वगुण-कर्म्मों के भेद से ब्राह्मणादि चार वर्णों में परिणत हो गई है। गुण-कर्म्म के अतिरिक्त (केवल मनुष्य को छोड़कर) और किसी वर्ण की परीक्षा का अन्य साधन नहीं है।

(३)– यही बात 'युधिष्ठिर-यक्षसंवाद' से सिद्ध की गई है। पिपासाकुल, धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर से यक्षवेशधारी धर्म्मराज प्रश्न करते हैं:—

यक्षः (धर्म्मराजः)—राजन्! कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम्॥ १॥
युधिष्ठिरः—शृणु यक्ष! कुलं तात! न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥ २॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः॥ ३॥

—वनपर्व ३१३

यक्ष का प्रश्न यह है कि, जन्म-कर्म्म-स्वाध्याय-उपदेशश्रवण, इन चारों में से किस के अनुगमन से, किस के अनुष्ठान से ब्राह्मण 'ब्राह्मण' माना जायगा? युधिष्ठिर उत्तर देते हैं कि, हे यक्ष! जन्म-स्वाध्याय-उपदेशश्रवण, तीनों में से एक भी द्विजवर्ण के द्विजवर्णत्व का कारण नहीं है। निःसन्देह एकमात्र 'वृत्त' (कर्म्म) ही ब्राह्मण्यादि की मूल प्रतिष्ठा मानी गई है। जिसे अपने वर्ण की रक्षा अभीप्सित हो, उसे अपने कर्म्म की ही रक्षा करनी चाहिए।

(४)—इसी प्रकार 'ब्राह्मणव्याधसंवाद' में भी गुण-कर्म्मों की ही प्रधानता व्यक्त हुई है। जैसा कि निम्न लिखित व्याध-वचन से स्पष्ट है:—

व्याधः—शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः।
वैश्यत्त्वं लभते ब्रह्मन्! क्षत्रियत्त्वं तथैव च॥ १॥
आर्जवे वर्त्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते।
गुणास्ते कीर्त्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ २॥

—वनपर्व २१२ अ०

तात्पर्य्य यही है कि, शूद्र-माता पिता से उत्पन्न होने वाला एक शूद्र सद्गुणों का अनुगमन करता हुआ (गुण कर्म्म तारतम्य से) वैश्य भी बन सकता है, क्षत्रिय भी बन सकता है। यही नहीं, ब्राह्मण्य-सम्पादक आर्जवगुण का अनुगमन करने से वही शूद्र 'ब्राह्मण्य' भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार केवल गुण-कर्म्मों के भेद से वर्णपरिवर्त्तन सम्भव है।

(५)—महाभारत की तरह 'वाल्मीकिरामायण' भी गौरवपूर्ण एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। वहां भी आरम्भ में एक ही वर्ण (मनुष्यजाति) की सत्ता मानी गई है। एकवर्ण सत्ता ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, 'भारतीय वर्णव्यवस्था' का एकमात्र आधार गुण-कर्म्म विभाग ही है। देखिए !

अमरेन्द्र ! मया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास्तथा प्रभो।
एकवर्णाः, समाभाषा एकरूपाश्च सर्वशः ॥ १ ॥

—वा० रा० उ० ३०।१९—

(६)—युगधर्म्मों की सभ्यता के अन्वेषण से भी हमें उक्त निष्कर्ष पर ही पहुंचना पड़ता है। यदि वर्णसृष्टि अनादि रही होती, तो अवश्यमेव कृतयुग में भी इस की सत्ता उपलब्ध होती। परन्तु हम देखते हैं कि, कृतयुग में कहीं भी वर्णव्यवस्था का वर्णन नहीं मिलता। चिरकाल के अनन्तर त्रेतायुग में ही इस व्यवस्था का जन्म हुआ। देखिए ! आप का पुराण ही इस सम्बन्ध में अपनी क्या सम्मति प्रकट कर रहा है—

समं जन्म च रूपं च म्रियन्ते चैव ताः समम्।
तदा सत्यमलोभश्च क्षमा तुष्टिः सुखं दमः ॥ १ ॥
निर्विशेषास्तु ताः सर्वा रूपायुःशीलचेष्टितैः।
अबुद्धिपूर्वकं वृत्तं प्रजानां जायते स्वयम् ॥ २ ॥
अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः शुभपापयोः।
वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन् न सङ्करः ॥ ३ ॥

अनिच्छाद्वेषयुक्तास्ते वर्त्तयन्ति परस्परम् ।
तुल्यरूपायुषः सर्वा अधमोत्तमवर्जिताः ॥ ४ ॥
सुखप्राया ह्यशोकाश्च उत्पद्यन्ते कृते युगे ।
नित्यप्रहृष्टमनसो महासत्त्वा महाबलाः ॥ ५ ॥

—वायुपुराण ८ अ० ५९ से ६३ प० ।

उस युग में (कृतयुग में) सभी मनुष्यों का जन्म, रूप आदि समान था। कोई असमय में न मरता था। सब की मृत्यु समान (नियत समय पर) होती थी। सत्य, अलोभ, क्षमा, तुष्टि, सुख, दम, सबके समान धर्म्म थे। रूप-आयु-स्वभाव-शारीर चेष्टा, आदि सब धर्म्मों में तत्कालीन मानव समाज समान था। विना किसी नियन्त्रण के सब को अपने अपने कर्त्तव्य कर्म्मों का पूरा ध्यान था। उस युग में पाप-पुण्य को लेकर कोई झगड़ा उपस्थित नहीं होता था। न उस समय वर्णव्यवस्था थी, न आश्रम व्यवस्था थी, न एक दूसरा मनुष्य एक दूसरे के कर्म्मों की नकल ही करता था। अर्थतृष्णा, पारस्परिक द्वेष का सर्वथा परित्याग कर सब प्रजावर्ग परस्पर मिल जुल कर रहते थे। सबका स्वरूप-आयु-समान थी, उत्तम-मध्यम-अधम श्रेणी की कुत्सित भावना किसी में न थी। सब सुखी थे, शोक का नाम भी न था, सब सदा प्रसन्न रहते थे, सब बड़े ओजस्वी थे, एवं शरीर से बलवान थे।

(७)—गुण-कर्म्म मूलक इस प्रचलित वर्णविभाग का जन्म कब हुआ ? और क्यों हुआ ? इन प्रश्नों का उत्तर भी उसी वायुपुराण से पूछिए। वह आप को बतलावेगा कि -

विषादव्याकुलास्तावै प्रजास्तृष्णाक्षुधात्मिका ।
ततः प्रादुर्बभौ तासां सिद्धिस्त्रेतायुगे पुनः ॥ १ ॥

—वा० ८।१२९

\+ \+ \+ \+ \+

संसिद्धायां तु वार्त्तायां ततस्तासां स्वयम्भुवः।
मर्य्यादाः स्थापयामास यथारब्धाः परस्परम् ॥ १ ॥
ये वै परिगृहीतारस्तासामासन् विधात्मकाः।
इतरेषां कृतत्राणाः स्थापयामास क्षत्रियान् ॥ २ ॥
उपतिष्ठन्ति ये तान् वै धावन्तो निर्भयास्तथा।
सत्यं ब्रह्म यथाभूतं ब्रुवन्तो ब्राह्मणाश्च ते ॥ ३ ॥
ये चान्येऽप्यबलास्तेषां वैश्यसंकर्म्मसंस्थिताः।
कीनाशा नाशयन्ति स्म पृथिव्यां प्रागतन्द्रिता ॥ ४ ॥
वैश्यानेव तु तानाहुः कीनाशान् वृत्तिसाधकान्।
शोचन्तश्च द्रवन्तश्च परिचर्य्यासु ये रताः ॥ ५ ॥
निस्तेजोऽल्पवीर्य्याश्च शूद्रांस्तानब्रवीत्तु सः।
... ... ॥ ६ ॥

—वायुपुराण ८ अ० १६१ से १६६ प०।

तात्पर्य्य इन वचनों का यही है कि, कृतयुग समाप्त हो जाने पर युगधर्म्म के अनुग्रह से मानवसमाज मनुष्यधर्म्म से विमुख बनता हुआ अपने सामूहिक वैभव का नाश कर बैठा। सब उच्छृङ्खल बन गए, किसी को कर्त्तव्य का ध्यान न रहा। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए ब्रह्मा ने त्रेतायुग मे (मनुष्यों की योग्यता के अनुसार) मानवसमाज को चार भागों मे विभक्त कर दिया। लड़ाकू मनुष्यों का क्षत्रिय समाज बना डाला, सत्यवक्ता ईश्वरवादी समाज 'ब्राह्मण' मान लिया गया। अर्थवृत्ति-कुशल मनुष्यों का 'वैश्यवर्ग' बना दिया गया। एवं सेवाभाव परायण, निर्बल, आत्म-विश्वास-शून्य मनुष्यों से शूद्रवर्ग का संघठन कर डाला।

(८)—अन्य पुराणों की अपेक्षा सनातनधर्म्मियों में आज दिन 'श्रीमद्भागवत' का विशेष प्रचार देखा-सुना जाता है। देखें, इस सम्बन्ध मे उन का यह आराध्यग्रन्थ क्या उद्गार प्रकट कर रहा है। जन्मपक्षपातियों को तो यहा से भी निराश ही लौटना पड़ेगा। सुनिए!

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां 'हंस' इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः॥ १॥
त्रेतामुखे महाभाग! प्राणान् मे हृदयात् 'त्रयी-
विद्या' प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मुखः॥ २॥
विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा, मुख-बाहू-रु-पादजाः॥ ३॥

—श्रीमद्भागवत ११ स्क० १७ अ०।

(६)—अब इस सम्बन्ध मे कल्पसूत्रकारों की सम्मति का भी अन्वेषण कर लेना चाहिए। 'संस्कारप्रकरण' देखने से पता चलता है कि धर्मसूत्रकारों नें संस्कारलक्षण कर्म्मविशेषो, एव यज्ञलक्षण कर्म्मविशेषों को ही तत्तद्वर्णों की प्रतिष्ठाभूमि माना है। इन सास्कारिक कर्म्मों से पहिले एक मनुष्य सामान्य मनुष्य ही है। यदि जन्मना ही वर्णव्यवस्था होती, तो संस्कारादिलक्षण कर्म्मों से पहिली अवस्था मे भी उसे ब्राह्मण-क्षत्रियादि माना जाता। देखिए।

१—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते'॥
२—'स्वाध्यायेन, जपै, होंमै, स्त्रैविद्ये, नेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च, यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'॥

चूकि सस्कारात्मक कर्म्म से ही द्विजभाव सम्पन्न होता है, अतएव 'पतितसावित्रीक' (जिसका नियत समय के भीतर भीतर यज्ञोपवीत संस्कार न हुआ हो) द्विजाति 'व्रात्य' कहलाता है, एवं इस व्रात्य द्विजाति के साथ सस्कृत द्विजातिवर्ग को भोजनादि का निषेध हुआ है। 'ब्राह्मणो मदिरां पीत्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते' इत्यादि वचन भी कर्म्म की प्रधानता ही सूचित कर रहे हैं। 'मद्यपानकर्म्म ब्राह्मण का ब्राह्मणत्त्व नष्ट कर डालता है' यह कथन स्पष्ट ही सिद्ध कर रहा है कि, द्विजातिवर्ग का द्विजातित्व केवल कर्म्म पर ही अवलम्बित है। संकरीकरण, मलिनीकरण आदि कर्मों के अतिरिक्त धर्मसूत्रों मे कितने एक कर्म्म 'जातिभ्रंशकर' भी मानें गए हैं। इसी प्रकार निम्न लिखित कुछ एक वचन भी हमारे गुण-कर्म्मपक्ष को ही पुष्ट कर रहे हैं—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १ ॥
यथा काष्ठमयो हस्ती, यथा चर्म्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥ २ ॥
यथा पण्ढोऽफलः स्त्रीषु, यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञे फलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ ३ ॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ ४ ॥

—स्मृतयः ।

'अथ योऽयमनग्निकः-स कुम्भे लोष्टः । तद्यथा कुम्भे लोष्टः प्रक्षिप्तो नैव शौचार्थाय कल्पते, नैव शस्यं निर्वर्त्तयति, एवमेवायं ब्राह्मणोऽनग्निकः । तस्य ब्राह्मणस्यानग्निकस्य नैव दैवं दद्यात्, न पित्र्यम् । न चास्य स्वाध्यायाशिषः, न यज्ञ आशिषः स्वर्गङ्गमा भवन्ति' ।

—गोपथ ब्रा० पू० २।२३

"ब्राह्मणोचित कर्म्मों से शूद्र ब्राह्मण बन सकता है, शूद्रोचित कर्म्मों से ब्राह्मण शूद्र बन जाता है। जो महत्त्व एक लकड़ी के हाथी का है, शुष्कचर्म्म से निर्म्मित एक मृग पुत्तलिका का है, एवमेव बिना पढा लिखा ब्राह्मण भी नाममात्र का ब्राह्मण है। जो ब्राह्मण अपने ब्राह्मणोचित वेदस्वाध्याय को छोड़ कर अन्य कर्म्मों में प्रवृत्त रहता है, वह इसी जीवन में अपने वंश सहित शूद्र बन जाता है। अग्निहोत्र न करनेवाला ब्राह्मण सर्वथा निष्फल ब्राह्मण है। ऐसा ब्राह्मण न दैव कर्म्म का अधिकारी है, न पित्र्य कर्म्म का। ऐसे ब्राह्मण के आशीर्वादों का कोई महत्त्व नहीं है। ऐसे ब्राह्मण की यज्ञाशी यजमान को कभी स्वर्ग नहीं पहुंचा सकती" इत्यादि रूप से स्पष्ट ही गुण-कर्म्मों का प्राधान्य सूचित हो रहा है।

(१०)—अब एक वैदिक प्रमाण हम पाठकों के सम्मुख और उपस्थित करते हैं, जिसके विद्यमान रहते हुए किसी भी दृष्टि से वर्णव्यवस्था की कर्म्मप्रतिष्ठा का, गुण-कर्म्म-प्राधान्य का

अपलाप नहीं किया जा सकता। 'एक ब्राह्मण भी अपने दिव्य कर्म्म के प्रभाव से ब्राह्मण बन सकता है' इसी सम्बन्ध मे ब्राह्मणग्रन्थों मे सुप्रसिद्ध **'ऐतरेयब्राह्मण'** मे एक आख्यान उपलब्ध होता है। आख्यान का स्वरूप यों है—

"एक बार सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों नें 'सत्रयज्ञ' करना आरम्भ किया। उसी समय उस ऋषिमण्डली में 'इलूप' नामक अवर्ण मनुष्य का पुत्र, अतएव 'ऐलूप' इस उपनाम से प्रसिद्ध 'कवष' नामक शूद्रपुत्र (यज्ञकर्म्म करने की इच्छा से) उपस्थित हुआ। ऋषियों नें—"यह दासीपुत्र (जारज) है, जुआरी है, अब्राह्मण है, भला यह हमारे मध्य मे कैसे यज्ञ-दीक्षा ले सकता है" यह मन्त्रणा करते हुए इसे सोमयज्ञमण्डप से बाहिर निकाल दिया। बाहिर निकाल कर ही उन्होंनें विश्राम न किया। अपितु बलपूर्वक घसीटते हुए सरस्वती-तीर्थ से बहुत दूर एक रेतीले, सर्वथा तप्त, तथा निर्जल प्रदेश मे उसे डाल दिया। "यह अब्राह्मण होकर ब्राह्मणोचित कर्म्म करना चाहता है, अवश्य ही इस पापात्मा को दण्ड मिलना चाहिए" इसी भावना से ऋषियों नें भूख-प्यास से तड़पा तडपा कर मारडालने के अभिप्राय से कवष को उक्त प्रदेश मे फेंक देना उचित समझा।

उस तप्त, एवं निर्जल बालुकामय प्रदेश मे फेंके गए कवष प्यास से व्याकुल होकर वैदिक **'आपोनप्त्रीय'** सूक्त का स्मरण करने लगा। इस मन्त्रस्मरणलक्षण मन्त्रदर्शन के प्रभाव से तत्काल वहां शीतल-जलधारा वह निकली। वह निर्म्मल जल वहा से बड़े वेग से चलता हुआ उस सरस्वती क्षेत्र के चारों ओर व्याप्त हो गया, जिस के कि तीर पर ऋषि लोग सत्रा-नुष्ठान कर रहे थे। चूकि इस जलस्रोत ने सरस्वती को चारों ओर से घेर लिया था, अतएव आज भी (कवष द्वारा उद्भावित) यह नदी 'परिसारक' नाम से प्रसिद्ध है।

यज्ञानुष्ठान मे संलग्न महर्षि इस अप्रत्याशित, तथा आकस्मिक जलस्रोत से बड़े आश्चर्य मे पड गए। उन्होंनें निश्चय कर लिया कि, अवश्य ही कवष पर देवता का अनुग्रह हुआ है। ऋषि वहा पहुंचे, जहा प्रसन्न मुख कवष बैठा बैठा जलस्रोत वहा रहा था। वहां पहुंच कर ऋषियों नें उस का महत्व स्वीकार किया, एव स्वयं भी आपोनप्त्रीय सूक्त का अनुगमन किया"। (देखिए-ऐतरेय ब्राह्मण, ८।१।)

पाठकों को यह जानकर कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए कि, ये अब्राह्मण, ऐलूप कवष ही ऋग्वेद के-'प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातु०' (ऋक् सं० १०।३०।१) इत्यादि आपोनप्त्रीय-सूक्त के मन्त्रद्रष्टा महर्षि हो गए हैं। जहा हमारे सनातनधर्म्मी जन्म का पचड़ा लगा कर

शूद्रों को वेदाध्ययन से रोका करते हैं, वहां अब्राह्मण कवष जैसे शूद्र वेदसूक्तों के द्रष्टा तक हो गए हैं। क्या अब भी वर्णव्यवस्था को जन्मसिद्ध मानने का ही अभिमान किया जायगा ?

(११)— इसी प्रकार—'ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः' (मनुः ७।४१) इत्यादि धर्म्मशास्त्र सिद्ध पौराणिक 'विश्वामित्राख्यान' से भी कोई भारतीय अपरिचित नहीं है। विश्वामित्र अपने उद्धत कर्म्मों से आरम्भ में क्षत्रिय थे। आगे जाकर ये ब्राह्मणोचित, तपश्चर्य्यादि कर्म्मों के अनुष्ठान से ही राजर्षि से 'ब्रह्मर्षि' बन गए। विश्वामित्राख्यान की ही तरह 'वीतिहोत्र, ऋषभपुत्रादि' के आख्यान भी इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य हैं। श्रीमद्भागवत में तो एक स्थान पर कर्म्म के प्रभाव से सम्पूर्ण कुल का ही परिवर्त्तन सिद्ध किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्न लिखित वचन द्रष्टव्य है —

> उरुश्रवाः सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत् ।
> ततोऽग्निवेश्यो भगवानग्निः स्वयमभूत् सुतः ॥ १ ॥
> 'कानीन' इति विख्यातो जातूकर्ण्यो महानृषिः ।
> ततो ब्रह्मकुलं जातमग्निवेश्यायनं नृप ! ॥ २ ॥
> नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्म्मणा वैश्यतां गतः ।
> भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात् ॥ ३ ॥
>
> —श्रीमद्भागवत ९ स्क० २ अ० ।

इसी प्रकार हरिवंश पुराण ने भी—'नाभागारिष्टपुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ' इत्यादि रूप से कर्म्मणा ही वर्णव्यवस्था स्वीकार की है। इन सब निदर्शनों को देखते हुए हमें नि संदिग्ध बन कर वर्णव्यवस्था को गुण-कर्म्मप्रधान ही मानना पड़ता है।

(१२)—एक सब से बड़ी विप्रतिपत्ति और लीजिए। ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णभेद यदि योनिमूलक होते, तो अवश्य ही इन वर्णों के स्वरूप (आकृति) में अन्तर (पारस्परिक भेद) विद्यमान रहता। गौ-अश्व-गज पक्षी-मनुष्य, आदि जातिभेद योनिकृत है, अतएव इन का स्वरूप भी परस्पर सर्वथा भिन्न है। इधर आप के ब्राह्मणादि वर्णों मे आकृतिमूलक जन्म-जात ऐसा कोई पारस्परिक भेद नहीं है, जिस के आधार पर हम इन्हें योनिमूलक मान लें।

यदि कोई दुराग्रही इस सम्बन्ध मे यह कहने का साहस करे कि, स्वभावभेद ही वर्णभेदों का परिचायक है, तो उत्तर मे कहना पडेगा कि, यह स्वभावभेद भी व्यभिचार मर्य्यादा से नित्य आक्रान्त है। हम देखते है कि, कितने एक शूद्र भी ब्राह्मणवर्णोचित शील-सन्तोष-सद्बुद्धि आदि सत् स्वभावों से युक्त हैं। इधर ऐसे भूसुरों की भी कमी नहीं है, जो सर्वथा बुद्धिशून्य हैं, मिथ्याभाषी है, विनय-शील-आर्जवादि सद्गुणो से वञ्चित है, एवं निन्द्य कर्म्मों के अनुयायी हैं। फलत. इस सम्बन्ध मे स्वभावभेद का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

योनिगत व्यवस्था के पक्षपातियों की कृपा से ही आज हम अपने मनुष्यत्त्वानुबन्धी नैतिक बल से गिर रहे हैं, अथवा तो गिर चुके हैं। एक जात्योपजीवी ब्राह्मण योग्य गुण-कर्म्मों के अभाव से ब्राह्मण-धर्म्म के (ज्ञानशक्ति के) प्रचार-प्रसार मे असमर्थ है। इधर इन्हीं गुण-कर्म्मों से युक्त रहता हुआ भी शूद्र वर्णाभिमानियों के कल्पित नियन्त्रण से अपने गुण-कर्म्मों का विकास करने मे असमर्थ बनाया जा रहा है। अयोग्य ब्राह्मण समाज-शक्ति का नाश कर रहे हैं, योग्य शूद्र समाज-बन्धन की विभीषिका से समाज का उपकार करने मे असमर्थ हो रहे हैं। इस प्रकार सर्वथा शास्त्रविरुद्ध, साथ ही उन्नति का अवरोध करने वाली, योनिमूला, यह कल्पित वर्णव्यवस्था आज हमारे सर्वनाश का ही कारण सिद्ध हो रही है। ऐसी दशा मे हमें गुण-कर्म्मानुगत ही वर्णव्यवस्था अपनानी चाहिए। क्योंकि, यही शास्त्रसम्मत है, एव इसी से समाज की उन्नति सम्भव है।

(१३)—सनातनधर्म्मावलम्बी विद्वान् अपने योनिभाव को सुरक्षित रखने के लिए 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्०' इत्यादि कतिपय मन्त्रश्रुतियों को एवं—'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्' इत्यादि कतिपय ब्राह्मणश्रुतियो को आगे करते हुए कहा करते हैं कि, "वेद ने वर्णों की उत्पत्ति ईश्वर के मुखादि अवयवों से मानी है। वेद का यह कथन तभी सम्भव हो सकता है, जब कि वर्णव्यवस्था का मूल आधार योनिभाव (जन्म) मान लिया जाय"।

इस सम्बन्ध मे भी हमें कुछ कहना है। 'ब्राह्मण उसके मुख से उत्पन्न हुए हैं, किंवा ब्राह्मण उस का मुख है' इस कथन का तात्पर्य्य केवल यही है कि, विश्व मे अपने सर्वश्रेष्ठ ज्ञानभाव के कारण ब्राह्मण उस का मुखस्थानीय है, बलाधाता क्षत्रिय बाहुस्थानीय है, पोषक वैश्य ऊरुस्थानीय है, एव शूद्र पादस्थानीय है। यही अर्थ मीमासा-सम्मत भी है। भला यह कौन वैज्ञानिक स्वीकार करेगा कि, ब्राह्मणादि वर्ण ईश्वर के मुखादि अवयवों

से निकल पड़े। ईश्वर का साकार स्वरूप तो—'उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना' के अनुसार केवल उपासक की सिद्धि के लिए उपकल्पित है। इसी लिए तो—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादि उपनिषच्छ्रुतियाँ उस निरुपाधिक परमात्मतत्त्व को विग्रहशून्य बतला रहीं हैं। यदि अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए उसे विग्रहवान् (शरीरधारी) मान भी लिया जाय, तब भी उसे नियत मुख-बाहू आदि से तो कदापि युक्त नहीं माना जा सकता। 'सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' ही उस का विग्रह होगा। और ऐसा विग्रह कभी परमार्थतः ब्राह्मणादि की उत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता।

यही समाधान 'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्' इत्यादि ब्राह्मण श्रुतियों के सम्बन्ध में समझिए। गायत्री छन्द के आठ अक्षर हैं। कोई भी विचारशील कथमपि यह स्वीकार नहीं कर सकता कि, आठ अक्षर वाले एक शब्दरूप छन्द से ब्राह्मण उत्पन्न हो गया। ऐसी दशा में इन श्रुतियों का भी औपचारिक अर्थ ही न्यायसङ्गत माना जायगा। "ब्राह्मण का उपास्य देवता प्रधानतः गायत्री है, एवं यही इस के कर्म्म का रक्षक है" इस औपचारिक अर्थ से ही इन श्रुतियों का यथावत् समन्वय होगा।

श्रुतियों मे, एवं स्मृतियों मे वर्णसृष्टि के सम्बन्ध मे जहा जहा—'उत्पन्न-जात-प्रसूत' आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है, वहा वहा सर्वत्र उन्हें औपचारिक मानते हुए ही उन उन प्रकरणों का समन्वय कर लेना चाहिए। यदि ऐसा न माना जायगा, तो चातुर्वर्ण्य के सम-धरातल पर प्रतिष्ठित आश्रमव्यवस्था का समन्वय असम्भव बन जायगा। वर्णों की तरह इन चारों आश्रमों की उत्पत्ति भी ईश्वर के अङ्गों से ही मानी गई है। इधर हम देखते हैं कि, कहीं भी आश्रमव्यवस्था योनिमूला नहीं मानी जा रही। जब कि ईश्वरावयवों से प्रसूत आश्रमव्यवस्था इसी औपचारिक भाव के द्वारा योनिगत नहीं मानी गई, तो तत्सम वर्णव्यवस्था को ही किस आधार पर, एव क्यों योनिगत मान लिया जाय? आश्रम व्यवस्था भी ईश्वराङ्गों से ही उद्भूत है, इस सम्बन्ध मे प्रमाण लीजिए—

> गृहाश्रमो जघनतो, ब्रह्मचर्य्यं हृदो मम।
> वक्षस्थानाद्वने वासो, न्यासः शीर्षाणि संस्थितः॥ १॥
> वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
> आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमैः॥ २॥
>
> —श्रीमद्भागवत, ११ स्क० १० अ०।

इस प्रकार ऊपर वतलाए गए १३ अन्यर्थ कारणों के आधार पर हम इसी निश्चय पर पहुंचते हैं कि, भारतीय वर्णव्यवस्था का मूलस्तम्भ गुण-कर्म्म विभाग ही है। शास्त्र-विरोध की क्या कथा, अपितु हमारी इस कर्म्ममूला वर्णव्यवस्था को सिद्ध करने मे श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, लोकवृत्त, समाजनीति, राजनीति, आदि, सभी दृढ़मत प्रमाण वन रहे हैं। फलतः इस सम्वन्ध में लेशमात्र भी संकोच न करते हुए कहा जा सकता है, और अवश्य कहा जा सकता हैं कि—**'वर्णव्यवस्था गुण-कर्म्मणा ही सिद्ध है'**।

जन्मना वर्णव्यवस्था और सिद्धान्तो के १३ समाधान—

जो १३ कारण वादी की ओर से उपस्थित हुए हैं, उन कारणों की मौलिकता, तथा तत्वार्थता से परिचित न होने के कारण आज सर्वसाधारण ने भी वर्णविभाग को गुण-कर्म्मप्रधान मान लेने की भूल कर रक्खी है। आपातरमणीय दृष्टि से अवलोकन करने पर वास्तव मे ये १३ कारण समीचीन से प्रतीत होने लगते हैं, एवं इन की उपस्थिति से एक शास्त्रनिष्ठ आस्तिक व्यक्ति भी थोड़ी देर के लिए गुण-कर्म्म विभाग की प्रामाणिकता की ओर आकर्षित हो जाता है। परन्तु जव तात्त्विक दृष्टि से इन कारणों को निकषा (कसौटी) पर कसा जाता है तो, वादी का वाग्जाल सर्वथा नगण्य प्रतीत होने लगता है। वर्णसृष्टि का मूलाधार योनिभाव (जन्मभाव) ही है, इस सिद्धान्त का दिग्दर्शन तो आगे कराया जाने वाला है ही। पहिले वादी की ओर से उपस्थित पूर्वोक्त तेरह कारणों की मीमासा कर लेना उचित होगा। देखें उन कारणाभासों में कितना तथ्याश है ?

(१)—वादी का पहिला तर्क यह है कि,—"यदि वर्णव्यवस्था ईश्वरकृत होती, तो इस का प्रचार प्रसार केवल भारतवर्ष में ही न होकर सर्वत्र सव मनुष्यों मे होता, सर्वत्र वर्णसृष्टि-मूलक वर्णभेद की उपलब्धि होती"।

उत्तर मे यही निवेदन है कि,—"वर्णसृष्टि केवल भारतवर्ष की प्रातिस्विक सम्पत्ति है" यह आपने किस आधार पर मान लिया। आप तो भारतीय मनुष्येतर मनुष्यों की कहते है, हमारी दृष्टि से तो प्राणिमात्र मे, न केवल प्राणिमात्र मे ही, अपितु यच्चयावत् जड़पदार्थों मे भी यह वर्णविभाग, किंवा वर्णसृष्टि यथानुरूप विद्यमान है। संसार मे 'पदार्थ' नाम से सम्वोधित होनेवाला ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें वर्णविभाग न हो। इस की इस सर्वव्याप्ति के कारण ही तो हम इसे ईश्वरकृत, तथा नित्य कहते हैं। वीजरूप से सर्वत्र वर्णविभाग विद्यमान है। स्वयं आपने भी 'सिविल' 'मिलेट्री' आदि भेदों को आगे करते हुए पश्चिमी देशों मे भी वर्णव्यवस्था स्वीकार की है।

उनकी और हमारी व्यवस्था में अन्तर केवल यही है कि, हमनें (भारतीय महर्षियों नें) प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों का यथावत् अध्ययन कर उस नित्य सिद्ध वर्णसृष्टि को यथानुरूप व्यवस्थित कर उसे एक परिष्कृत रूप दे डाला है, एवं इसी व्यवस्था के आधार पर उसे 'वंशानुगत' बना डाला है। ऋषियों नें वर्णसृष्टि नहीं की है, अपितु वर्णव्यवस्था की है, जो कि वर्णव्यवस्था अपनी वंशानुगति से आगे जाकर एकमात्र भारतवर्ष की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति बन गई है। ऋषियों नें इसे वंशानुगत बताते हुए सुव्यवस्थित किया, गर्भाधानादि श्रौत-स्मार्त्त-संस्कारविशेषों से उस वर्ण-बीज को पुष्पित, तथा पल्लवित किया। उधर स्थूल-भूतवाद (जड़वाद) को ही प्रधानता देंने वाले पश्चिमी देश वर्णसृष्टि के मूल रहस्य को जानने मे असमर्थ रहे। अतएव वहा वर्णव्यवस्था व्यवस्थित न हो सकी।

उदाहरण के लिए 'विद्युत' को ही लीजिए। पृथिवी मे ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें विद्युच्छक्ति न हो। अब यदि कोई वैज्ञानिक उस का अन्वेषण कर अपने देश में यदि उस का सुव्यवस्थित रूप से उपयोग करने लग जाता है, तो क्या इसी हेतु से अन्यत्र सर्वत्र विद्युच्छक्ति का अभाव मान लिया जायगा, जहा के कि निवासी अज्ञानतावश इसके आविष्कार से वञ्चित हैं। ठीक यही बात 'वर्णव्यवस्था' के सम्बन्ध मे समझिए। वर्णसृष्टि विद्युत्वत् जहा सर्वव्यापक है, वहां वर्णव्यवस्था एकमात्र भारतवर्ष की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति है।

हम मानते हैं कि, ईश्वरीयतत्त्व बीजरूप से सर्वत्र समानरूप से ही विद्यमान रहते हैं। परन्तु कहीं उनका विकास हो, कहीं विकास न हो, यह भी ईश्वर की ही इच्छा है। एतावता ही ईश्वर पर कभी पक्षपात का दोष नहीं लगाया जा सकता। यदि सर्वत्र सब भाव समान रहें, तो सृष्टि का महत्त्व ही नष्ट हो जाय। क्योंकि विषमता ही सृष्टि की स्वरूपरक्षा का मूल कारण माना गया है।

"सब तत्त्वों का विकास सब देशों मे समान रूप से रहे" यह सिद्धान्त वैज्ञानिक तात्त्विक दृष्टि से सर्वथा असङ्गत है। आप उस ईश्वर से ही क्यों नहीं पूछते कि, जिसने देशों, देश की वस्तुओं, पशुओं, पक्षियों, मनुष्यों, मनुष्यभाषाओं, आदि में विभिन्नता क्यों उत्पन्न की? सब की आकृति, प्रकृति, अहकृति आदि समान ही क्यों न बना डालीं गई? भागीरथी का आगमन उत्तर भारत में ही क्यों हुआ? शालग्राम शिला 'शालग्राम' मे ही क्यों प्रकट हुई? सूर्य्य मे उदय-अस्तरूपा विषमता क्यों रक्खी गई? स्त्री-पुरुष के शरीर संगठन में क्यों पक्षपात किया गया? क्या कारण है कि, मरूभूमि में वजक धान्यादि (बाजरा आदि) विशेष रूप से उत्पन्न होते हैं, एवं बिहार-बङ्गाल आदि जलीय प्रान्तों मे चावल का प्राधान्य

है ? जूट की खेती का एकमात्र श्रेय बङ्गाल को ही क्यों मिला ? क्यों पर्वतीयों का शरीर इतर प्रान्त वालों की अपेक्षा अधिक सदृढ़-सवल होता है ? कौन वस्तु कहां, कब, कैसी, और क्यों उत्पन्न होती है ? ये सब अचिन्त्य प्रश्न हैं, अचिन्त्य जगदीश्वर, एवं जगदीश्वर की अचिन्त्य, तथा विचित्र प्रकृति का अचिन्त्य-विचित्र (विषमतामूलक) विस्तार है। 'यहीं ऐसा क्यों हुआ, अन्यत्र ऐसा क्यों न हुआ' यह अनतिप्रश्न है, प्रश्नमर्य्यादा से वहिर्भूत है। हमें जैसा है, जैसी स्थिति है, केवल उस का विचार करना चाहिए। तैल से ही प्रकाश क्यों होता है, पानी से दीपक क्यों नहीं जल पड़ता ? ये सब अचिन्त्य भाव हैं। एवं इन अचिन्त्य भावों के सम्बन्ध में तर्क का दुरुपयोग करना नितान्त व्यर्थ है[1]। 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' के अनुसार जैसा कुछ सम-विषम है, हमें उसी का विचार करना चाहिए।

भारतवर्ष 'पूर्व' देश है, योरूप आदि पश्चिम देश है। यहां इन्द्रप्राण का साम्राज्य है, वहां वरुण देवता का आधिपत्य है। इन्द्रदेवता 'देवसृष्टि' के अध्यक्ष हैं, वरुण 'आसुरीसृष्टि' के प्रवर्त्तक हैं। वर्णव्यवस्था, तन्मूलक वर्णभेद, तन्मूलक प्रजाभेद, तत्प्रतिपादक श्रुतिस्मृति-शास्त्र, एवं तत्प्रतिपादित सनातनधर्म्म, इन सब दिव्यभावों का दिव्यभावप्रधान इन्द्रमूला देवसृष्टि के साथ सम्बन्ध है। आसुरीसृष्टि का पूर्व देशों में ऐकान्तिक अभाव हो, यह बात भी नहीं है, एवं दिव्यसृष्टि का पश्चिम देशों में सर्वथा अभाव हो, यह बात भी नहीं है। वीजरूप से सर्वत्र दोनों भाव विद्यमान अवश्य हैं। अन्तर केवल यही है कि, यहां इन्द्र के प्राधान्य से देवसृष्टि विकसित है, एवं वहां वरुण की प्रभुता से आसुरीसृष्टि का प्राधान्य है। जैसा कि, 'गीताभूमिका प्रथमखण्ड' के 'आत्मनिवेदन' प्रकरण में 'मैत्रावरुण-सृष्टिप्रकरण' में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

दिव्यसृष्टि-मूलक वेदशास्त्र, तन्मूलक सनातनधर्म्म, तन्मूलिका वर्णव्यवस्था, एवं तन्मूलक वर्णधर्म्मभेद, सब कुछ इसी देश की अपनी हीं सम्पत्ति है, इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, नित्य-अपौरुषेय-प्राकृतिक त्रयीवेद की प्रतिकृतिरूप 'कृष्णमृग' इसी देश में स्वच्छन्द विचरण करता है, यही देश आर्य्यावर्त्त है, एवं इस की तुलना में वरुणप्रधान इतर देश इस

---

1 अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेतत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च यदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

प्राकृतिक वेदसम्पत्ति से, वेदधर्म्म से प्रकृत्या वञ्चित रहते हुए 'अनार्य्य' हैं। यही कारण है कि, सभ्यताभिमानी इतर देशों के पूर्वज जिस युग में भूतज्ञानाभावलक्षणा अज्ञाननिद्रा में निमग्न थे, उसी युग में भारतवर्ष तत्त्वज्ञान की चरमसीमा पर जा पहुंचा था। वेदविद्या का सर्वप्रथम आविष्कार इसी भारत देश में हुआ। आत्म-परमात्म जैसे अतीन्द्रिय तत्त्वों का सब से पहिले भारतीयों ने हीं साक्षात्कार किया। इन कुछ एक प्रत्यक्ष सिद्ध कारणों के आधार पर क्या हम यह नहीं कह सकते कि, वेदविद्या, सनातनधर्म्म, वर्णव्यवस्था, बीजरूप से सार्वभौम बनते हुए भी एकमात्र भारतवर्ष की ही प्रातिस्विक सम्पत्तियां हैं। वहां इन सब के विकास का अभाव था, है, और रहेगा। भारतवर्ष की इसी वैय्यक्तिक महत्ता का दिग्दर्शन कराते हुए धर्म्माचार्य्य कहते हैं—

१—निषेकादि श्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥

२—सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्म्मितं देशं 'ब्रह्मावर्त्त' प्रचक्षते ॥

३—तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स 'सदाचार' उच्यते ॥

४—कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥

५—एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

६—हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ॥

७—आसमुद्रात्तु[१] वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥
८—कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥
९—एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः।
शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद्वृत्तिकर्षितः॥
१०—एषा धर्म्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्म्मान्निबोधत॥

—मनुः २ अ० १६ से २५ पर्यन्त।

आगे जाकर तर्कवादी—'देवविशः कल्पयितव्याः' इत्यादि ऐतरेय श्रुति को आगे करता हुआ यह सिद्ध करना चाहता है कि, वर्णसृष्टि, किंवा वर्णव्यवस्था काल्पनिक है। इस सम्बन्ध में हम उस से पूंछते हैं कि, उसने श्रुति के 'कल्पयितव्याः' शब्द का क्या अर्थ समझ रक्खा है? । 'प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'—'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' इत्यादि यजुःश्रुति के 'कल्पताम्' का वह क्या अर्थ समझता है? । यदि 'कल्पना' शब्द का 'मिथ्या-बनावटी' ही अर्थ है, तब तो—'मेरा प्राण यज्ञ से कल्पित हो, मेरी आयु यज्ञ से कल्पित हो' इन वाक्यों का कोई तात्त्विक अर्थ नहीं होना चाहिए। 'अन्न'-ऊर्क-प्राण' इन तीनों के अन्योऽन्य परिग्रह का ही नाम यज्ञ है,[२] 'वाक्'-चित्त' के उत्तरोत्तरक्रम का ही नाम यज्ञ है,[३] आदान-विसर्गात्मिका प्राकृतिक क्रियाविशेष का ही नाम यज्ञ है। इसी यज्ञ से हमारे प्राणतत्त्व की रक्षा होती है, एवं यज्ञद्वारा सुरक्षित यही यज्ञात्मक प्राण आयु का स्वरूप निर्माण करता

१ भारतीय सीमा का विशद भौगोलिक विवेचन 'शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य' के 'पाद्मभुवनकोश' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

२ "अन्नोर्कप्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः"।

३ "वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः"।

है, एवं इसी अर्थ में 'कल्पताम्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'कल्पना' का अर्थ है—रचना, सम्पादन। ऐसी दशा में 'देवविशः कल्पयितव्याः' का भी यही अर्थ मीमांसा—सम्मत, अतएव प्रामाणिक माना जायगा कि, 'सब से पहिले प्रजापति के द्वारा देवप्रजा की कल्पना (सम्पादन, उत्पत्ति) हुई, एवं अनन्तर इस देवप्रजा से मनुष्यप्रजा की कल्पना (उत्पत्ति) हुई। स्वयं मनु ने भी सृष्टि का यही क्रम हमारे सामने रक्खा है। सप्तप्राणरूप सप्तर्षिमूर्त्ति पुरुष प्रजापति के ऋषि भाग से पितर, पितरों के समन्वय से देवासुर, देवताओं के समन्वय से चर-अचरसृष्टि का विकास हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

ऋषिभ्यः पितरो जाता, पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥

—मनुः ३।२०१

मानस संकल्प, किंवा मानस काममय व्यापार का ही नाम 'कल्पना' है। 'इदं कुर्वीय-इदं मे स्यात्' इत्याकारक कल्पनाभाव को उपक्रम बना कर ही प्रत्येक कर्म्म का आरम्भ होता है। एक चित्रकार चित्र के बाह्य-स्वरूप निर्म्माण से पहिले अपने मानस जगत् (अन्तर्जगत्) में उस लक्ष्यीभूत चित्र का संकल्प द्वारा सूक्ष्मरूप प्रतिष्ठित करता है, यही सूक्ष्म-मानसचित्र-इस का काल्पनिक चित्र है। एवं यही काल्पनिक चित्र आगे जाकर स्थूल भूतों के (कागज, रङ्ग, तूलिका आदि से) युक्त होकर स्थूल बनता हुआ बहिर्जगत् की वस्तु बन जाता है।

मनुष्य यजमान द्वारा किए जाने वाले वैध यज्ञ में प्राकृतिक याज्ञिक भावों की ज्यों की त्यों कल्पना की जाती है। वहां जैसी प्राणदेवव्यवस्था है, यहां भी मन्त्रों के आह्वान से उन सब देवप्रजाओं की कल्पना की जाती है, एवं इसी अभिप्राय से 'देवविशः कल्पयितव्याः' यह आदेश मिला है। देवप्रजा कल्पना का क्या कारण ? क्यों यज्ञ में देवप्रजा का आह्वान होता है ? इस प्रश्न की उपपत्ति बतलाते हुए 'ताः कल्पमाना अनु मनुष्यविशः कल्पन्ते' यह कहा गया है। इस कथन का तात्पर्य्य यही है कि, यह यज्ञकर्म्म प्राकृतिक यज्ञकर्म्म की प्रतिकृति है। अतः जो कर्म्म वहां होता है, उस सब का यहां भी होना आवश्यक है। हम देखते हैं कि, प्राकृतिक यज्ञ में यज्ञकर्त्ता संवत्सर प्रजापति पहिले तो देवप्रजा उत्पन्न करते हैं, एवं उन देवप्रजाओं से मनुष्यप्रजा का निर्माण करते हैं। अतएव यजमान को भी वर्ण-

धर्म्मानुगत मानसप्रजा (अपना सन्ततिवर्ग) की स्वरूपनिष्पत्ति के लिए प्रकृत्यनुसार देव-प्रजा की कल्पना करनी चाहिए। 'यद्वै देवा यज्ञेऽकुर्वस्तत् करवाणि' ही ऐतरेय श्रुति का रहस्य है।

यदि वर्णसृष्टि केवल मनुष्यों की कल्पना (रचना) होती, तब तो उक्त श्रुति से फिर भी यथाकथञ्चित् स्वार्थसाधन सम्भव था। परन्तु यहा तो आरम्भ में ही देवप्रजा की कल्पना का स्पष्टीकरण हुआ है। 'अग्नि-इन्द्र-विश्वेदेव-पूषा' ये चार प्राणदेवता ही मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली वर्णसृष्टि के काल्पनिक आकार (बीजरूप) हैं। और इस दृष्टि से तो आपका—'ताः कल्पमाना अनु मनुष्यविशः कल्पन्ते' यह ऐतरेय वचन गुण-कर्म्म भावों की सर्वथा उपेक्षा करता हुआ वर्णसृष्टिमूला वर्णव्यवस्था को जन्ममूला मनवाने में ही प्रमाण बन रहा है। इस प्रकार इस प्रथमतर्क का निस्तर्क बन जाना भी स्वत सिद्ध है।

(२)—दूसरा तर्क 'ऐतिह्यप्रमाण' से सम्बन्ध रखता है। वादी की ओर से महा-भारत के कुछ एक वचन ऐसे उद्धृत हुए हैं, जिन से प्रत्यक्षरूप मे वर्णव्यवस्था की गुण-कर्म्म-प्रधानता सिद्ध-सी हो रही है। हम अपने विचारशील पाठकों से अनुरोध करेंगे कि, वे एक बार उन आख्यानों को आद्योपान्त देखने का कष्ट करें। युधिष्ठिर, एवं सर्प (नहुप) के संवाद मे जो कुछ कहा गया है, उसका एकमात्र तात्पर्य्य यही है कि,—"अमुक गुण-कर्म्म ब्राह्मण के हैं, एवं अमुक गुण-कर्म्म क्षत्रियादि के हैं"। जो जन्मना ब्राह्मण होगा, उसमे अवश्य ही सत्य-तपो-ज्ञानादि ब्राह्मण-गुण-कर्म्मों की स्पष्टरूप से उपलब्धि होगी। जिन मे ऐसे गुण-कर्म्म रहेंगे, वे अवश्य ही ब्राह्मणादि कहे जायंगे। एवं जिन मे वर्णानुगत गुण-कर्म्मों का विकास न रहेगा, वे केवल ज्यात्युपजीवी, नाममात्र के वर्ण मानें जायंगे।

यह तो एक प्रकृतिसिद्ध विषय है कि, यदि एक वृक्षबीज का समुचित संस्कार न होगा, तो वह कभी वृक्षरूप में परिणत न हो सकेगा। इसी तरह जिस मे जन्म से यद्यपि ब्रह्मवीर्य्य प्रतिष्ठित है, परन्तु दुर्भाग्य से यदि बीज-वीर्य्यविकासक ब्राह्मण्योचित संस्कार कर्म्म न हुए, तो ऐसी दशा मे वह बीज ज्यों का त्यों पड़ा रह जायगा। उस समय वह ब्राह्मण ज्यात्या ब्राह्मण रहता हुआ भी सत्य-ज्ञानादि विकास भावो से युक्त न होगा। एव इसी दृष्टि से सांस्कारिक कर्म्मों को ही वर्णों का परिचायक माना जायगा। केवल ब्राह्मण माता-पिता के रजो-वीर्य्य से जन्म लेने से ही ब्राह्मण वास्तव मे ब्राह्मण नहीं बन सकता, शूद्र शूद्र नहीं रहता। दोनों अपने अधिकारसिद्ध कर्म्मों का अनुगमन करते हुए ही स्व-स्ववर्णव्यवहार

के पात्र बन सकते हैं। "यह अमुक वर्ण है" इस का एकमात्र परिचायक उस वर्ण का "वृत्त" (आधिकारिक कर्म्म) ही माना जायगा। द्विजातिवर्ग को अपने इन आधिकारिककर्म्म-लक्षण स्व-स्व वृत्तों का अधिकार छन्दोमर्य्यादा के अनुसार क्रमश ८ वें, ११ वें, १२ वें वर्ष मे ही मिलता है। इस से पहिले इन के ब्रह्म क्षत्र-विड्-वीर्य्य मुकुलित ही बने रहते हैं। इसी आधार पर इस प्राकृतिक छन्दोमर्य्यादा की पूर्णता से पहिले पहिले इन्हें अच्छन्दस्क शूद्रसम ही माना गया है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करता हुआ, इसी आख्यान के निम्न लिखित श्लोक हमारे सामने आते हैं

प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म्म विधीयते।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य्य उच्यते॥ १॥
तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते।
तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ २॥

असंस्कृत, अच्छन्दस्क, यथाजात मनुष्य को ही शूद्र कहा जाता है। जो द्विजातिवर्ग सांस्कारिक, स्ववीर्य्यानुत, स्ववृत्तों (कर्म्मों) से शून्य हैं, ऐसे द्विजाति में, और एक शूद्र में सिवाय इसके और क्या अन्तर है कि, यह द्विजयोनि मे उत्पन्न हुआ है, एव वह शूद्रयोनि मे उत्पन्न हुआ है। केवल यही सूचित करने के लिए, दूसरे शब्दो मे 'विना कर्म्म के योनि-भाव का विकास नहीं हो सकता' यह स्पष्ट करने के अभिप्राय से ही—'यत्रैतन्न भवेत् सर्प। तं शूद्रमिति निर्दिशेत्' यह कहा गया है। इस वचन का तात्पर्य्य यही है कि, वृत्तशून्य ब्राह्मण 'शूद्रसम' बन जाता है। परन्तु यह सिद्ध विषय है कि ब्राह्मण्यवृत्त से युक्त रहने वाला शूद्र जात्या शूद्र ही रहता है। क्योंकि इस मे उस ब्रह्मवीर्य्य का जन्मत अभाव है, जिस वीर्य्य के कि आधार पर ब्राह्मण्य-संस्कार प्रतिष्ठित होते है।

लोकवृत्त से भी इसी अर्थ का स्पष्टीकरण हो रहा है। यदि कोई श्रेष्ठ पुरुष मर्य्यादा-विरुद्ध, कुत्सित कर्म्म कर बैठता है, तो तत्काल वह सामाजिक प्रतिष्ठा से गिर जाता है, अथवा गिरा दिया जाता है। परन्तु यदि कोई अवरश्रेणि का मनुष्य किसी उच्चकर्म्म का अनुगामी बन जाता है, तब भी वह समाज मे विशेष श्रेणि का अधिकारी नहीं बनता। देखिए न, प्रतिष्ठाप्राप्त नेताओ की तुलना में अपेक्षाकृत कहीं अधिक बलिदान करने वाले उन

सामान्य श्रेणि के तपस्वियों का आज कोई नाम भी नहीं जानता। इसी योनिभाव को दृढ़मूल रखने के लिए स्वयं युधिष्ठिर को भी—'तावच्छूद्रसमः' कहना पड़ा है। इस वाक्य का न्यायसङ्गत अर्थ यही है कि, वह वृत्तशून्य ब्राह्मण जाति से तो ब्राह्मण ही रहेगा, परन्तु अपने असद्वृत्त के कारण शूद्रसमकक्ष बन जायगा (न कि शूद्र बन जायगा)। 'शूद्रजाति में परिणत नहीं होता' यही अभिव्यक्ति है।

फिर यह विषय भी तो धर्म्मशास्त्र का है। आख्यान प्रकरण में प्रसङ्गवश युधिष्ठिर ने समाधान कर तो दिया। परन्तु वे स्वयं यह समझ रहे थे कि, इस सम्बन्ध में अपनी कल्पना से यथेष्ट निर्णय कर डालना कोई विशेष महत्व नहीं रखता। इसीलिए आरम्भ में 'इति मे मतिः' कहने के पीछे उन्हें भी सारा भार 'मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' कहते हुए मनु पर ही डालना पड़ा है। युधिष्ठिर के कथन का अभिप्राय यही है कि, इस सम्बन्ध में यद्यपि हम ऐसा ठीक समझते हैं, परन्तु वास्तविक निर्णय का भार तो मानवधर्म्मशास्त्र पर ही है। इस सम्बन्ध में उसीका कथन प्रामाणिक माना जायगा।

प्रेक्षापूर्वकारी विद्वानों को यह भी विदित ही है कि, प्रकृत आख्यान का मुख्य उद्देश्य नहुष-युधिष्ठिर का प्रासङ्गिक संवादमात्र है। वर्ण कैसे, क्यों, कब, कितने उत्पन्न हुए? ये सब प्रकरणान्तर से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न हैं। अतः इस सम्बन्ध में महाभारत के भी वे ही प्रकरण विशेषरूप से प्रामाणिक माने जायंगे, जिनका धर्म्मशास्त्रनिर्णय से समतुलन होगा, एवं जो प्रधानरूप से वर्णव्यवस्था का ही विचार करनेवाले सिद्ध होंगे। देखें, महाभारत ने इस सम्बन्ध में स्वतन्त्ररूप से अपने क्या विचार प्रकट किए हैं।

पूर्व में प्राकृतिक, देवमूला वर्णसृष्टि का दिग्दर्शन कराते हुए यह बतलाया गया है कि, सबसे पहिले प्रजापति के मुख से अग्निरूप ब्राह्मणवर्ण का ही विकास हुआ है। अनन्तर इन्द्र-विश्वेदेव-पूषालक्षण क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रवर्ण उत्पन्न हुए हैं, एवं इन चारों वर्णों का उत्पादक एकमात्र अव्यय-अक्षरावच्छिन्न वाङ्मय क्षरब्रह्म ही है। इसी श्रुति-सिद्ध अर्थ का उपबृंहण करते हुए महाभारतकार कहते हैं—

१—असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्।
आत्मतेजोऽभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥
२—तपः सत्यं च धर्म्मं च तपो ब्रह्म च शाश्वतम्।
आचारं चैव शौचं च स्वर्गाय विदधे प्रभुः॥

३—देव-दानव-गन्धर्वा-दैत्या-सुर-महोरगाः ।
यक्ष-राक्षस-नागाश्च-पिशाचा-मनुजास्तथा ॥
४—ब्राह्मणाः-क्षत्रिया-वैश्याः-शूद्राश्च द्विजसत्तम ।
ये चान्ये भूतसंघानां वर्णास्तांश्चापि निर्म्ममे ॥
—म० शा० मो०

उक्त वचनों में मनुष्यसृष्टि को पृथक् बतलाया है, एवं चातुर्वर्ण्यसृष्टि को भिन्न सिद्ध किया गया है। इस भेददृष्टि का तात्पर्य्य यही है कि, सबके साथ चातुर्वर्ण्य का सम्बन्ध है। मनुष्यों की तरह इतर जड़-चेतन पदार्थों में भी चातुर्वर्ण्य विद्यमान है। तभी तो वृक्षों में भी चारवर्ण बतलाना सुसङ्गत बनता है। देखिए !

१—लघु यत् कोमलं काष्ठं सुघटं 'ब्रह्मजाति'-तत् ।
दृढाङ्गं लघु यत् काष्ठमघटं 'क्षत्रजाति'-तत् ॥
२—कोमलं गुरु यत् काष्ठं 'वैश्यजाति'-तदुच्यते ।
दृढाङ्गं गुरु यत् काष्ठं 'शूद्रजाति' तदुच्यते ॥

इसी योनिभाव के आधार पर निम्न लिखित रूप से यहां (महाभारत में) प्राकृतिक प्राणदेवताओं में भी चार-वर्ण बतलाए गए हैं—

१—आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा ।
अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समाहितौ ॥
२—स्मृताङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः ।
इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्त्तितम् ॥

'ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णतां गतम्' का भी यही रहस्य है। यह सब प्राजापत्य-सृष्टि है। प्रजापति के अपने प्राणात्मक तप:कर्म्म से ही वर्णसृष्टि का विकास हुआ,

है, यह कौन नहीं मानता। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, एकमेव। तन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत-क्षत्रम्' इत्यादि रूप से 'ब्रह्ममूलावर्णसृष्टि' प्रकरण में यह विस्तार से बतलाया ही जा चुका है कि, सृष्ट्यारम्भ में पहिले 'ब्रह्म' नाम का ही एक वर्ण था। उसी ब्रह्मप्रजापति ने वैभवकामना की पूर्त्ति के लिए स्वकर्म्म द्वारा चातुर्वर्ण्य का विकास किया। प्रकृत महाभारत वचन भी इसी श्रौत अर्थ का स्पष्टीकरण कर रहा है। इस प्रकार वादी जिस वचन से कर्म्मप्राधान्य सिद्ध करने चला है, वह तो योनिभाव का समर्थक बन रहा है।

थोड़ी देर के लिए हम यह भी मान लेते हैं कि, सभ्यतारम्भयुग में कोई वर्णभेद न था। जब तत्कालीन विद्वानों नें परीक्षा आरम्भ की तो, उन्हे परीक्षा द्वारा प्रकृति के इस वर्णसृष्टि-सम्बन्धी गुप्त रहस्य का परिज्ञान हुआ। उस युग मे सभी वृत्तियों के मनुष्य विद्यमान थे। विद्वानों नें वीर्य्यानुसार तत्तद्वृत्तियों को व्यवस्थित कर प्रकृतिसिद्ध चारों वर्णों को एक सामाजिकरूप देते हुए इस व्यवस्था को वंशानुगत बना डाला। साथ ही स्व-स्व प्राकृतिक-वर्ण की स्वरूपरक्षा के लिए तत्तद्वर्णोचित कर्म्मकलापों का नियन्त्रण लगा दिया गया। वर्ण-साङ्कर्य्य का निरोध इन्हीं कर्म्मों से किया गया। चूंकि नित्यसिद्ध वर्णों की व्यवस्थिति स्वयं वर्ण-कर्म्मों से हुई, एवं विद्वानों के अन्वेषण कर्म्म से हुई, इस अभिप्राय से भी 'कर्म्मभिर्वर्णतां गतम्' कहना अन्वर्थ बन जाता है। इस से यह कैसे, किस आधार पर मान लिया गया कि, वर्णसृष्टि जन्मोत्तर होने वाले हमारे कर्म्मों से हुई ? किस प्राकृतिक वर्ण की रक्षा किस कर्म्म से होती है ? यह भी वहीं स्पष्ट कर दिया गया है। देखिए !

१—जातकर्म्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्म्मस्ववस्थितः॥ १॥
२—शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते॥ २॥
३—क्षत्रजं सेवते कर्म्म वेदाध्ययनसङ्गतः।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते॥ ३॥
४—वणिज्या पशुरक्षा च कृत्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः॥ ४॥

५—सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्व्वकर्म्मकरोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥ ५ ॥

—महा० शा० मो० १८८ अ० ।

पूर्वोक्त वचनों का यदि यह तात्पर्य्य लगाया जायगा कि,—"जो जैसा कर्म्म करेगा, वह उसी वर्ण का बन जायगा" तब तो श्रुत्युक्त ब्रह्ममूला नित्यवर्णसृष्टि का कोई महत्त्व न रहेगा। फलतः इन वर्णानुबन्धी कर्म्मों का वर्ण-वीर्य्यरक्षासाधनपरत्व ही सिद्ध हो जाता है। यदि अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जायगा, तो धर्म्मशास्त्रोक्त, तथा गीताशास्त्रोक्त 'स्वधर्म्म' पदार्थ का क्या अर्थ होगा ?। देखिए ! इस सम्बन्ध में भगवान् क्या कहते हैं—

१—ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां-शूद्राणां च परंतप !
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
२—शमो-दम-स्तपः-शौचं-शान्ति-रार्जवमेव च ।
ज्ञानं-विज्ञान-मास्तिक्यं ब्रह्मकर्म्म स्वभावजम् ॥
३—शौर्य्यं-तेजो-धृति-र्दाक्ष्यं-युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दान-मीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म्म स्वभावजम् ॥
४—कृषि-गौरक्ष-वाणिज्यं वैश्यकर्म्म स्वभावजम् ।
परिचर्य्यात्मकं कर्म्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
५—स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्म्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

—गीता १८ अ० । ४१ से ४५ पर्य्यन्त ।

रजो-वीर्य्य से सम्बन्ध रखने वाली प्रकृति ही स्वभाव है । एवं इस स्वभावात्मिका प्रकृति के 'सत्व-रज-स्तमो' भेद से तीन गुण माने गए हैं। इन्हीं से सत्वात्मक ब्रह्मवीर्य्य, सत्वरजोमय क्षत्रवीर्य्य, रजस्तमोमय विड्वीर्य्य, एवं तमोमय शूद्रभाव, इन चारों का विकास हुआ है।

इस प्रकार इन स्वाभाविक कर्म्मों का महत्त्व वतलाने वाले उक्त गीतावचन स्पष्ट ही वर्णसृष्टि का नित्यत्व सिद्ध कर रहे हैं। कर्म्म अवश्य ही उपादेय हैं। यही नहीं, अपितु योनि की अपेक्षा भी कर्म्म का इसलिए अधिक महत्व माना जायगा कि, स्वभावभूत-गुणानुगामी कर्म्म हीं योनिभाव को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखते हैं। प्रकृत आख्यान, एवं 'कर्म्मभिर्वर्णतां गतम्' यह वचन केवल कर्म्म-वैशिष्ट्य का ही प्रतिपादन कर रहे हैं, न कि इन से वर्णसृष्टि की नित्यता में कोई वाधा उपस्थित हो रही है।

(३)—ठीक इसी पूर्वोक्त समाधान से मिलता जुलता समाधान-'युधिष्ठिर-यक्षसंवाद' का समझिए। इस आख्यान से भी केवल कर्म्म की अवश्यकर्त्तव्यता-लक्षण-विशिष्टता ही प्रतिपादित है। पूर्वकथनानुसार कर्म्म ही तो जन्मभाव का स्वरूप-रक्षक है। ऐसी परिस्थिति में यदि युधिष्ठिर स्ववृत्त (स्वभावभूत, स्वधर्म्मलक्षण कर्म्म) को प्रधान वतला रहे हैं, तो कौनसा अनर्थ हो रहा है। "ब्राह्मण को विशेषरूप से अपने वृत्त की रक्षा करनी चाहिए" यह वाक्य तो स्पष्ट ही व्यवस्था का जन्म-मूलकत्व सिद्ध कर रहा है। आपके (वादी के) मतानुसार तो, पहिले वह ब्राह्मणोचित कर्म्म कर लेगा, तभी वह ब्राह्मण कहला सकेगा। इधर व्यासदेव "ब्राह्मण वृत्त की रक्षा करें" कहते हुए जाति को प्रधान मान कर ही वृत्तानुष्ठान का आदेश कर रहे हैं। इस प्रकार यह तृतीयस्थल भी कर्म्मवैशिष्ट्यमात्र का ही सूचक वनता हुआ गतार्थ है।

(४)—'ब्राह्मण- व्याधसंवाद' से सम्वन्ध रखने वाले गुणभाव का विरोध किसने किया। गुणभाव तो आवश्यक रूप से वर्णों की मूलप्रतिष्ठा वन रहा है। हम स्वयं वर्णव्यवस्था को (कर्म्मप्रधान न मान कर) गुणप्रधान ही मान रहे हैं। 'गुण' शब्द सत्व-रज-स्तमोमयी प्रकृति का उपलक्षण है। प्रकृति का ही नाम गुण है, प्रकृत्यनुसार क्रियमाण कर्म्म ही गुणानुगत कर्म्म है। ब्राह्मण के प्रश्न करने पर व्याध ने गुणात्मिका प्रकृति को वर्णों की प्रतिष्ठा वतलाते हुए यही सिद्ध किया है कि, योनि-अनुगत गुण ही वर्णसृष्टि के स्वरूप रक्षक हैं। सचमुच यह चौथा स्थल तो हमारे जन्मसिद्धान्त का ही पोषक वन रहा है। जो महानुभाव शूद्रादि वर्णों का 'योनि' से सम्वन्ध नहीं मानते, उन्हें व्याध के ही—'शूद्रयोनौ तु जातस्य०' इस आरम्भ वाक्य से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। "शूद्रयोनि भी एक प्राकृतिक योनि है, एवं उस से उत्पन्न होने वाला शूद्र अवश्य ही जात्या शूद्र है", इस वाक्य का यही तात्पर्य्य है।

(५)—वाल्मीकिरामायण का 'अमरेन्द्र ! मया बुद्ध्या०' इत्यादि श्लोक भी आपके कर्म्माभिनिवेश को सुरक्षित नहीं रख सकता। "समानशील-वर्ण-व्यसन-भाषा वाली,

एक वर्ण की प्रजा उत्पन्न की" यह वाक्य केवल तत्कालीन पारस्परिक संघठन, तथा सौहार्द का परिचायक है। यदि किसी कुल के बन्धु-बान्धव परस्पर सद्भाव बनाए रखते हैं, सब की यदि एक सम्मति रहती है, तो उस कुल के सम्बन्ध में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि—"अजी! क्या बात है, इन में तो कुछ भी भेद नहीं है। एक बाप के बेटों की तरह सब हिलमिल कर ऐसे रह रहे हैं, मानों कोई भेद ही नहीं है। सब की बोली एक, रहन-सहन एक, पक्षपातमूलक भेद का लेश भी नहीं"। बस ठीक इसी पारस्परिक सौहार्द को प्रकृत रामायण वचन व्यक्त कर रहा है। यदि 'एकवर्णाः' का यह तात्पर्य्य होता कि, 'उस समय ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णविभाग न था', तो उस दशा में—'समाभाषाः'—'एकरूपाः' इत्यादि विशेषणों की कोई आवश्यकता न थी। यह सभी जानते हैं कि, देशभेद से आकृति, व्यवहार, प्रकृति, शील, भाषा आदि सब में भेद हो जाता है। यहाँ तक कि, भाषा का परिवर्त्तन तो १२ कोस की सीमा के बाहिर ही हो जाता है। इन सब कारणों को देखते हुए हमें मानना पड़ेगा कि, प्रकृत वचन उस शान्त युग के राग-द्वेषादिराहित्य को ही सूचित करने में अपना तात्पर्य्य रखता है। सब वर्ण विभिन्न होते हुए भी, भिन्न भिन्न कर्म्म करते हुए परस्पर ऐसा प्रेम, ऐसा सौहार्द रखते थे कि, देखने वाला इन के इस सामूहिक जीवन में राग-द्वेषमूलक प्रतिद्वन्द्वीभावों के दर्शन तक नहीं कर सकता था।

थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद से यदि यह मान भी लिया जाय कि, 'एकवर्णाः समाभाषाः' वचन एकवर्ण की ही सत्ता मान रहा है, तब भी कोई विशेष क्षति नहीं है। जब मानवसृष्टि आरम्भ युग में पनप रही थी, तो उस समय अवश्य ही वर्णभेद विकसित न था। उस समय मनुष्यत्वेन सब मनुष्य समान-शील-व्यसन थे। आगे जाकर जब विद्वानों नें प्रकृति के गुप्त रहस्यों का पता लगाया, तब उस प्राकृतिक देव-वर्णविभाग के अनुरूप बीजरूप से पहिले से ही मनुष्यों में प्रतिष्ठित वर्णव्यवस्था व्यवस्थित की। प्रकृत वचन इसी आरम्भ दशा की रूपरेखा का प्रदर्शक है। इस वचन से यदि योनिगत वर्णव्यवस्था का कोई विशेष उपकार नहीं हो रहा, तो यह कर्म्मानुगत व्यवस्था का समर्थक कैसे बन गया? यह अबतक हमारे ध्यान में न आया। न यह वर्णव्यवस्था के जातिपरकत्व का समर्थन करता है, न कर्म्मप्राधान्य की ही पुष्टि। फिर इसे उद्धृत करने का क्या प्रयोजन?

(६)—वादी का छठा आक्षेप यह था कि,—"यदि वर्णव्यवस्था जन्मना होती, तो सत्ययुग में भी इसका उल्लेख मिलता"। थोड़ी देर के लिए पुराण की बात छोड़ दीजिए, क्योंकि वर्णव्यवस्था को कर्म्मणा मानने वाले वादी महाशय की दृष्टि में पुराणशास्त्र एक प्रकार

का 'गप्पसंग्रह' शास्त्र है, अतएव उसकी दृष्टि में यह सर्वथा अप्रामाणिक है। अपने सर्वप्रिय वेदशास्त्र को ही सामने रखिए। वेदशास्त्र अनादि है, ईश्वरकृत है, अथवा अङ्गिरादि चार महर्षियों द्वारा दृष्ट-श्रुत है, इस सिद्धान्त में वादी पूर्णरूप से सहमत है। साथ ही में वादी को यह स्वीकार कर लेने में भी सम्भवतः कोई आपत्ति न होगी कि, "ब्राह्मणोऽस्य-मुखमासीत्०" (यजुः सं० ३१।११) इत्यादि वचन उसी की अभिभित चार संहिताओं में से सुप्रसिद्ध 'यजुर्वेद' नामक मूलसंहिता (मूलवेद, असलीवेद) का मूल मन्त्र है। अब बतलाइए ! सत्ययुग पहिले था, अथवा वेदशास्त्र। यदि वेदशास्त्र पहिले था, तब तो वेद-सिद्ध वर्णव्यवस्था से (पश्चाद्भावी) सत्ययुग को वञ्चित नहीं माना जा सकता। यदि कृतयुग पहिले था, तो वेदशास्त्र का अनादित्त्व सिद्ध नहीं होता, जो कि वादी को अभीष्ट नहीं है।

इधर श्रुति-स्मृति पुराणवादियों के लिए तो किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति है ही नहीं। वर्णविभाग योनिगत है, जन्मसिद्ध है, फिर चाहे इनकी वंशानुगत व्यवस्था किसी युग में हुई हो। योनिगत वर्णविभाग स्वीकार कर लेने से तो अनादि वेदशास्त्र के उस अनादि वचन की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं रहता, एवं व्यवस्था का कुलक्रमानुगत-पूर्णविकास त्रेता--युग में हुआ, यह मान लेने से प्रकृत वायवीय पुराण के साथ भी कोई विरोध नहीं रहता।

वस्तुतस्तु चारों वर्णों का विकास कृतयुग मे ही हो चुका था। कारण, यत्रतत्र पुराणादि में कृतयुग के सम्बन्ध से ही वर्णाश्रम-धर्म्मों का प्रतिपादन हुआ है। स्वयं गीताशास्त्र भी— 'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः' (गी० ४।२) कहता हुआ इसी पक्ष का समर्थन कर रहा है। विवस्वान् सूर्य्यवंश के मूल प्रवर्त्तक माने गए हैं, एवं इनकी सत्ता कृतयुग से सम्बन्ध रखती है। उधर भगवान् इन्हें 'राजर्षि' नाम से सम्बोधित कर रहे हैं। इसी से यह स्पष्ट है कि, उसी युग मे 'राजर्षि'-'ब्रह्मर्षि' आदि मूलक क्षत्रिय-ब्राह्मणादि वर्ण सुव्यवस्थित बन चुके थे।

इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, उस युग में सामाजिक नियन्त्रण कटु न था। कारण इस का यही था कि, उस युग की प्रजा स्वयं ही स्व-स्व-कर्त्तव्य कर्म्मों का महत्त्व समझती थी। बिना किसी की प्रेरणा के स्वस्वकर्म्मों में प्रवृत्त थी, वहां पुण्य-पापादि द्वन्द्वों को लेकर कभी कलह का अवसर न आता था, द्वेष-मात्सर्य्य-ईर्ष्यादि अविद्याओं का परस्पर में अभाव था, ब्राह्मण सदा वीतशोक रहते थे, क्षत्रिय सदा प्रसन्न चित्त रहते थे, वैश्य अपनी स्वाभाविक गम्भीरता के अनुगामी बने रहते थे, शूद्रवर्ग सेवाधर्म्म से कभी विमुख न होता था।

उद्धृत वायवीय वचन इसी स्वाभाविक-सत्यलक्षण नियतिस्वरूप-स्वधर्म्मपथ का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। यह भी ध्यान रखने की बात है कि, पुराण ने सत्ययुग में वर्णप्रजा का अभाव नहीं बतलाया है, अपितु—'वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन्' कहते हुए नियन्त्रणमूला व्यवस्था का ही अभाव बतलाया है। नियन्त्रण का मूल कारण प्रजावर्ग का उत्पथगमन ही माना गया है। वर्णसाङ्कर्य्य को रोकने के लिए ही नियन्त्रणमूला व्यवस्था की अपेक्षा रहती है। जब कि कृतयुग में स्वभावतः ही सभी वर्ण अपने अपने नियत कर्म्मों में प्रवृत्त थे, तो उस युग में फटु-व्यवस्था की आवश्यकता ही क्या रह जाती है।

(७)—आगे जाकर वादी यह विप्रतिपत्ति उठाता है कि, "गुण-कर्म्ममूलक इस वर्णविभाग का जन्म वायुपुराण के मतानुसार त्रेतायुग में हुआ, अतएव इस विभागव्यवस्था को गुण-कर्म्म प्रधान ही माना जायगा"। उत्तर में कहना पड़ेगा कि, वादी महाशय भूल कर रहे हैं। वर्णविभाग तो श्रुति-स्मृति-पुराणादि प्रमाणों के अनुसार अनादिसिद्ध है। त्रेतायुग में तो सङ्करदोष से प्रजावर्ग को बचाने के लिए इसे केवल मर्य्यादित बनाया गया है। "पूर्वकाल से चली आने वाली वर्णप्रजाविभक्ति में मर्य्यादा स्थापित की" ('मर्य्यादाः स्थापयामास यथारब्धाः परस्परम्') यह वचन स्पष्ट ही वर्णविभाग की शाश्वतता सिद्ध कर रहा है। कालव्यतिक्रम से जब प्रजावर्ग सत्यमर्य्यादा से वञ्चित होकर वर्णधर्म्मविरुद्ध पथ का अनुगमन करने लगा, तभी त्रेतायुग में अनृतभाव से प्रजावर्ग को बचाने के लिए ही मर्य्यादा का नियन्त्रण आवश्यक समझा गया। इस प्रकार वर्णव्यवस्था की मर्य्यादामात्र सूचित करने वाले ये वायवीय वचन भी वर्णव्यवस्था की नित्यता ही सिद्ध कर रहे हैं।

(८)—जो तात्पर्य्य वायुपुराण का है, वही तात्पर्य्य श्रीमद्भागवत का समझिए। 'हंस' शब्द वायु का वाचक है, जैसा कि—'तृतीयश्च हंसम्' (अथर्व० १०।८।१७) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। हंसवायु सोमसम्बन्धी बनता हुआ पावकतत्त्व है, एवं इसी पवित्रवृत्ति को व्यक्त करने के लिए यहां वर्णप्रजा के लिए 'हंस' शब्द प्रयुक्त हुआ है। "उस युग में (कृतयुग में) सभी वर्ण हंसात्मक थे" इस कथन का तात्पर्य्य यही है कि, चारों वर्ण सत्पूत बनते हुए सर्वथा पवित्र थे, सङ्करदोष से रहित थे। उस युग का प्रजावर्ग कृतकृत्य था, किसी जाति (वर्ण) में कोई विरोध न था। 'कृतकृत्याः प्रजा जात्या' यह कथन ही सिद्ध कर रहा है कि, कृतयुग में ही वर्णों का पूर्ण विकास हो चुका था। युगधर्म्म के परिवर्त्तन से आगे जाकर प्रजावर्ग जब सत्यभाव से विमुख हो गया, तो त्रेतायुग के आरम्भ में इस पर दृढ नियन्त्रण लगाना आवश्यक समझा गया। रही बात वर्णों की नित्यता के सम्बन्ध में। इस सम्बन्ध

में यही कहना पर्य्याप्त होगा कि, स्वयं पुराणकार आगे जाकर—'मुखबाहूरूपादजाः' कहते हुए वर्णों को ईश्वरावयवों से उत्पन्न बतलाते हुए वर्णविभाग की नित्यता सिद्ध कर रहे हैं। इस प्रकार प्रकृत भागवत स्थल भी योनिमूला-वर्णव्यवस्था का ही समर्थक बन रहा है।

(६)—कल्पसूत्रकारों की सम्मति से भी यह कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता कि, "वर्णसत्ता केवल कर्म्मानुगामिनी ही है"। "जन्म से सभी मनुष्य शूद्र हैं" यह वचन केवल कर्म्म की अवश्यकर्त्तव्यता ही सूचित करता है। "यज्ञादि कर्म्मों से द्विजाति का शरीर ब्रह्ममय बन जाता है" इस कथन का तात्पर्य्य भी यही है कि, श्रौत-यज्ञकर्म्मों से द्विजाति का वीर्य्य शरीरकान्ति का स्वरूप समर्पक बन जाता है, यज्ञिय ब्राह्मण की मुखकान्ति प्रदीप्त रहती है। यदि यह यज्ञकर्म्म न करेगा, तो इसका स्वाभाविक ब्रह्मवीर्य्य मुकुलित बना रह जायगा, एवं उस दशा में इस का मुख हतप्रभ, श्रीशून्य रहेगा। यदि वादी के मतानुसार कल्पसूत्रकार योनिभाव के पक्षपाती न होते, तो शूद्र के लिए उनकी ओर से वेदाध्ययनादि ब्राह्मण्य-कर्म्मों का निषेध क्यों होता ?। कल्पसूत्रकारों नें स्पष्ट शब्दों में शूद्रवर्ग को अयज्ञिय माना है। यही नहीं, श्रुति ने तो यज्ञकर्म्म में व्यवहार्य्य सच्छूद्रवर्ग का प्रवेश तक निषिद्ध माना है। ऐसी परिस्थिति में कल्पसूत्रकारों के—'जन्मना जायते शूद्रः' इत्यादि वचनों को केवल कर्म्मवैशिष्ट्यसूचनापरक मानना ही न्यायसङ्गत बनता है।

जिनका नियत काल में यज्ञोपवीतसंस्कार न हुआ, वे 'पतितसावित्रीक' कहलाए। संस्काराभाव से इन का योनि-अनुगत वर्णदेवता अभिभूत हो गया। ऐसे व्रात्य ब्राह्मणादि यदि संस्कार-संस्कृत ब्राह्मणादि से संसर्ग रक्खेंगे, तो इस से इन व्रात्यों का तो कोई उपकार होगा नहीं, हां, इन संस्कृतों का वीर्य्य अवश्य ही देवसमीकरण से निर्बल हो जायगा। संस्कृत द्विजाति में देवप्राण विकसित है, असंस्कृत द्विजाति में देवप्राण मूर्च्छित है। एकमात्र इसी दृष्टि से इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध निषिद्ध माना गया है। चूंकि कल्पसूत्रकारों की दृष्टि में शूद्रवर्ग अच्छन्दस्क बनता हुआ सदा के लिए असंस्कृत है, एवं असंस्कृति चूंकि अव्यवहार्य्य है, इस से भी योनिभाव का ही समर्थन हो रहा है।

"मद्यपान से ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है" यह कथन भी केवल जातिपराभव का ही सूचक है। इस से बतलाना यही है कि, मद्य से ब्राह्मण में 'माल्म्य' नाम की अस्थिर वृत्ति का उदय हो जाता है, परिणाम में ब्राह्मण्योचित 'धृति' वृत्ति उच्छिन्न हो जाती है। धृति के उच्छेद से ब्रह्मवीर्य्य दोषाक्रान्त बन जाता है। केवल यही बतलाने के लिए 'ब्राह्मण्यादेव हीयते' यह कहा गया है। अवश्य ही मद्यपानादि कितनें एक कर्म्म कल्प-

सूत्रकार की दृष्टि में जातिभ्रंशकर हैं, परन्तु इन से यह किस आधार पर मान लिया गया कि, वर्णविभाग केवल कर्म्मप्रधान है, जब कि स्वयं सूत्रकार पदे पदे 'जातिभाव' का समर्थन कर रहे हैं।

यही अवस्था 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति' इत्यादि अगले वचनों की समझिए। यह वचन किस प्रकरण का है ? यह विचार कीजिए, अपने आप समाधान हो जायगा। मनु कहते हैं कि—"शूद्र जाति की स्त्री में यदि ब्राह्मण के वीर्य्य से सन्तान उत्पन्न होती है, तो वह शूद्रगर्भजा, तथा ब्राह्मणवीर्य्यजा सन्तान सातवें जन्म मे ब्राह्मण हो जाती है, एवं ऐसा ब्राह्मण-वर्ण 'पारशव' कहलाता है। लीजिए, गर्भाशयमात्र शूद्रा का, वीर्य्य ब्राह्मण का, फिर भी सातवें जन्म में ब्राह्मणवर्ण की प्राप्ति, वह भी 'पारशव' नाम का एक स्वतन्त्र ही ब्राह्मणवर्ण। इसी सम्बन्ध में आगे जाकर मनु कहते है कि,—"पूर्व कथनानुसार शूद्रागर्भज, ब्राह्मणवीर्य्यज व्यक्ति सातवें जन्म मे 'पारशव' नाम का ब्राह्मण बन जाता है। यह पारशव ब्राह्मण यदि शूद्रा के साथ विवाह सम्बन्ध करता है, इस से यदि पुत्र सन्तान उत्पन्न होती है, वह भी यदि पुनः शूद्रा से ही विवाह करता है, तो इस परम्परा से सातवें जन्म में ब्राह्मणवीर्य्य के आत्यन्तिक निरसन से शूद्र बन जाता है"। वीर्य्य ब्राह्मण का है, परन्तु गर्भाशय शूद्रा का है, केवल इसी हेतु से सप्तजन्मानन्तर ब्रह्मवीर्य्य शूद्रभाव में परिणत हो जाता है, यही तात्पर्य्य है। इसी अनुगम के अनुसार क्षत्रिय-वैश्य से शूद्रागर्भ से उत्पन्न सन्तान पाँचवें जन्म में क्षत्रिय वैश्य बनता है। इस प्रकार अनेक जन्मों मे वर्णविपर्य्यय बतलाते हुए राजर्षि मनु स्पष्ट ही वर्णों को योनिप्रधान मान रहे हैं। "शूद्र ब्राह्मण बन जाता है, ब्राह्मण शूद्र बन जाता है" यह ठीक है। परन्तु कब ? कितने जन्मों मे ? मुकुलित नयन बन कर विचार कीजिए।

'यथा काष्ठमयो हस्ती' इत्यादि श्लोक भी कर्म्म की आवश्यकता मात्र के ही उपोद्वलक बन रहे हैं। यह पूर्व में कहा ही जा चुका है कि, बिना कर्म्म के वीर्य्य का विकास सम्भव नहीं हैं, एवं बिना स्ववीर्य्यविकास के अवश्य ही द्विजाति नाममात्र का (जाति मात्र का) द्विजाति रहता है।

(१०) 'कवषऐलूष'—आख्यान से भी स्वार्थसिद्धि के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते। अवश्य ही कवष अब्राह्मण था। यह भी निःसंदिग्ध है कि, आपोनप्त्रीय सूक्त का द्रष्टा यही बना है। परन्तु इसके साथ ही यह भी दृढ़तमरूप से प्रमाणित है कि, अब्राह्मणवर्ग यज्ञाधिकार से वञ्चित है। स्वयं आख्यान ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है।

यदि उस युग मे वर्णव्यवस्था कर्म्मप्रधान ही रही होती, तो सत्रानुष्ठान मे प्रविष्ट कवप का महर्षि कभी तिरस्कार न करते। कभी वह यज्ञमण्डप से वाहिर न निकाला जाता! कवप को तिरस्कारपूर्वक वाहिर निकालना ही यह सिद्ध कर रहा है कि, वैदिकयुग में योनिगत वर्णव्यवस्था दृढमूल वन चुकी थी। कवप मे जन्मान्तरीय दिव्यसंस्कारों का समावेश था। इन्हीं के प्रभाव से वह आपोनप्त्रीय सूक्त का द्रष्टा वन गया। ऋषियों नें देखा कि, कवप एक शूद्रयोनि मे उत्पन्न होने पर भी जन्मतः यह दिव्यसंस्कारों से युक्त है। फलत: सामान्य नियम अपवाद मर्य्यादा से वाधित हुआ, एव ऋषियों नें स्वयं अपनी ओर से कवप को उच्चासन प्रदान किया।

गत शताब्दियों मे भी कवीर, रैदास, चेता आदि महापुरुषों को उनके जन्म-सम्वन्धी दिव्यसस्कारों की अपेक्षा से आर्यजाति ने उन्हें उच्चासन प्रदान कर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया ही है। परन्तु यह भी सर्वविदित है कि, इन महापुरुषों नें सामाजिक उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने पर भी अपने स्वस्ववर्णोचित कर्त्तव्य-कर्म्मों का यावज्जीवन अनुगमन करते हुए आर्षप्रजा के सामने यही आदर्श उपस्थित किया कि, भले ही कोई अवरवर्ण अपने जन्मान्तरीय दिव्यसस्कारों से उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले, परन्तु उसे समाज की सामान्य व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए स्ववर्णोचित कर्म्मों का ही अनुगमन करना चाहिए। यही वर्णधर्म्म की सच्ची रक्षा है, यही सिद्धि का अन्यतम द्वार है।

वक्तव्य यही है कि, कुछ एक अपवादस्थलों के आधार व्यवस्था को आमूलचूड कलङ्कित कर देना मूर्खता है। अपवाद सदा अपवाद ही रहेंगे, कभी उन्हें सामान्य नियम नहीं माना जायगा। क्योंकि सामान्य नियमो के नियन्त्रण के विना कभी समाजव्यवस्था का सुचारुरूप से सञ्चालन नहीं हो सकता। अपवादस्थल क्काचित्क हैं, इन्हें आदर्श मानना भयङ्कर भूल है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होनेवाला है। इस प्रकार अपवादभूत, फिर भी योनिभाव का समर्थक कवप-ऐलूषाख्यान भी वादी का स्वार्थसाधन करने में सर्वथा असमर्थ ही वन रहा है।

(११)—'विश्वामित्राख्यान' के सम्वन्ध मे इसलिए विशेष वक्तव्य नहीं है कि, विद्वानों की ओर से आटोप के साथ कई वार इस विप्रतिपत्ति का निराकरण हो चुका है। ब्राह्मण के द्वारा प्रदत्त चरु से वीजापेक्षया विश्वामित्र ब्राह्मण ही थे, यह पुराणरहस्यवेत्ताओं को भलीभाति विदित है, जैसा कि तदाख्यान से स्पष्ट है। इसी प्रकार वीतिहोत्र, ऋषभपुत्र, नृगवंश, आदि कतिपय पौराणिक स्थल भी कवप की भाति अपवाद मर्य्यादा से युक्त वनते

हुए सामान्यविधि पर कोई आक्रमण नहीं कर सकते। तपोनिष्ठ समर्थपुरुषों के वर-प्रभाव से यदि क्वाचित्क वर्णपरिवर्त्तन हो भी गया, तो यह उस वर्ण के कर्म्म की महिमा नहीं मानी जा सकती, अपितु यह तो विशुद्ध वर माहात्म्य है। जाति-परिवर्त्तन क्या, तपोमूल वर के प्रभाव से, एवं तप प्रभाव से तो सृष्टि के अनेक नियमों में विपर्य्यय देखा-सुना गया है। किसी महात्मा के वर से यदि किसी कुष्ठी का कुष्ठ दूर हो जाता है, तो केवल इसी आधार पर कुष्ठचिकित्सा की सामान्यव्याप्ति का अपलाप नहीं किया जा सकता। एवमेव जन्मान्तरीय संस्कारों से, महात्मा-प्रदत्त वरप्रभाव से, और और भी कतिपय विशेषकारणों से यदि कहीं कभी किसी का वर्ण विपर्य्यय हो गया, तो एतावता ही वर्णव्यवस्थानुबन्धी सामान्य-योनिभाव का कभी अपलाप नहीं किया जा सकता। और केवल इसी अपवाद के आधार पर कर्म्म को कभी प्रधानता नहीं दी जा सकती।

(१२)—बारहवीं विप्रतिपत्ति वादी की (वादी की दृष्टि में) सब से बड़ी विप्रतिपत्ति है। उसका कहना है कि —"यदि चार वर्ण योनिमूलक होते, तो गौ-अश्व-गजादि की तरह इनकी आकृतियों में अवश्य ही भेद रहता"। उत्तर में कहना पड़ेगा कि, वादी महोदय अभी केवल स्थूलजगत् के ही उपासक बन रहे हैं। उन्हें अभी तात्त्विक सूक्ष्म-अन्तर्जगत् के गुप्त रहस्यों का अणुमात्र भी बोध नहीं है। हम उन वादियों से प्रश्न करते हैं कि, भेद का परिचायक उन्होंनें किसे मान रक्खा है ? क्या केवल आकृतिभेद ही भेद का परिचायक है ?। यदि केवल आकृतिभेद से ही पदार्थों में भेद होता है, तब तो मानवसमाज का श्रेणि विभाग कोई अर्थ नहीं रखता। फिर तो आख कान-नाक-मुख-आदि अवयवों की समानता से मनुष्यमात्र समानश्रेणि में हीं प्रतिष्ठित मानें जानें चाहिएं। परन्तु स्वयं वादी भी ऐसा मानने के लिए तय्यार नहीं है। उसकी दृष्टि में भी विद्वान्, तपस्वी, लौकिक आदि मनुष्यों में भेद है। वह भी किसी को महापुरुष कहता है, किसी को सामान्य व्यक्ति। क्या यह भेद व्यवहार केवल आकृतिभेद मान लेने से सुसङ्गत बन सकता है ? असम्भव। अवश्य ही वादी को भेदप्रतीति के लिए आकृतिभेद से अतिरिक्त भी कोई भेद स्वीकार करना पड़ेगा। 'कर्म्म' नामक भेद तो स्वयं वादी भी मान ही रहा है, और इस कर्म्मभेद के आधार पर ही वह श्रेणिविभाग की महत्ता, उपयोगिता, तथा आवश्यकता स्वीकार कर ही रहा है।

ऋषियों नें स्थूल आकृतिभेद, सूक्ष्म कर्म्मभेद, इन दो भेदों के अतिरिक्त एक तीसरा सूक्ष्मतम प्रकृतिभेद और माना है। यही नहीं, ऋषियों की दृष्टि में आकृतिभेद से अधिक

महत्त्व कर्म्मभेद का है, एवं सर्वाधिक महत्त्व प्रकृतिभेद है। "स्वरूप (आकृति) भेद ही एकमात्र भेद का परिचायक है, प्रकृतिभेद नहीं" क्या वादी इस सम्बन्ध में कोई शास्त्रीय-प्रमाण, अथवा लोकव्यवहार प्रमाण उद्धृत कर सकता है ? एक वैज्ञानिक की दृष्टि में तो स्वरूपभेद की अपेक्षा प्रकृतिभेद ही विशेष महत्त्व रखता है। देखने में सुन्दर-भव्य-वेशभूषा से युक्त एक सौम्य मनुष्य प्रकृति से महाक्रूर सिद्ध हुआ है। उधर देखने में महाक्रूर व्यक्ति भी प्रकृति से महामृदु उपलब्ध हुआ है। सर्पपरीक्षक (कालवेलिए) आकृति के आधार पर सर्पों की परीक्षा नहीं करते, अपितु वे प्रकृतिभेद से ही सर्पजाति का श्रेणिविभाग करते हैं। आकार में महाभयावह प्रतीत होनेवाला भी एक सर्प प्रकृत्या महानिस्तेज होता है। उधर आकार से स्वल्प होता हुआ भी एक क्षुद्रसर्प प्रकृत्या महाभयानक सिद्ध हुआ है।

सामान्य अज्ञ जनों की दृष्टि जहां स्वरूपभेद पर विश्रान्त है, वहां वैज्ञानिकों का लक्ष्य प्रकृतिभेद है। यही प्रकृति 'स्वभाव' कहलाती है, एवं यह स्वभावभेद ही वर्णभेद का मुख्य परिचायक माना गया है। फिर यहां प्रकरण भी वर्णसृष्टि का चल रहा है। स्थूल शरीरों से सम्बन्ध रखने वाले आकृतिभेदों का तो वर्णभेद के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। 'आकृतिग्रहणाजातिः' यह जाति का एकदेशी लक्षण है, एवं इसका एकमात्र स्थूलशरीर से सम्बन्ध है। जिस योनिभेद को आगेकर वादी महोदय आकृतिभेद का उद्घोष कर रहे हैं, सम्भवतः वे अभी इस योनिभेद के रहस्य से भी अपरिचित हैं। जीवात्मा, किंवा कर्म्मात्मा की योनि कौन है ? वादी ने क्या कभी इस का अन्वेषण किया ?। सामान्यतः शुक्रशोणित के समन्वित रूप को 'योनि' माना जाता है, इसी भेद को भेदक मान लिया जाता है। वस्तुतः योनि उस 'महान्' का नाम है, जो कि पारमेष्ठ्य सोमतत्व से अपने स्वरूप का आरम्भक बनता है, जिस मे कि आकृति, प्रकृति, अहंकृति ये तीन भाव बीजरूप से नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। आकृति-प्रकृति-अहंकृतिभावापन्न महान् हीं शुक्र में बीजरूप से प्रतिष्ठित होकर औपपातिक कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा की योनि बनता है, इसी महद्योनि मे कर्म्मात्मा गर्भधारण करता है, जैसा कि - '**मम[१] योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्**' इत्यादि गीतासिद्धान्त से प्रमाणित है।

---

१ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भन्ति याः।
तासा ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥ (गी० १४।३-४)

योनिरूप महान् का आकृतिभाव बाह्य (शरीर) आकारभेद की प्रतिष्ठा बनता है, प्रकृतिभाव आभ्यन्तर गुणानुगत वर्णभेद की प्रतिष्ठा बनता है, एवं अहंकृतिभाव अन्तर्मुख ऐन्द्रियक कर्म्मभेद की प्रतिष्ठा बनता है। इस प्रकार आकृतिमूलक आकारभेद प्रकृतिमूलक वर्णभेद, एवं अहंकृतिमूलक कर्म्मभेद, ये तीन भेद वस्तुभेद के (यथास्थान) भेदक बनते हैं। तीनों ही भेद चूंकि महान् के हैं, महान् चूंकि योनि है, अतएव प्रत्यक्षदृष्ट आकृतिभेद को भी योनिभेद माना जायगा, प्रत्यक्षदृष्ट कर्म्मभेद को भी योनिभेद ही कहा जायगा, एवं अनुमेय वर्णभेद को भी योनिभेद ही माना जायगा। वादी महोदय केवल आकारभेद को ही योनिभेद मानते हुए अनुमेय वर्णभेद को योनिभेद—मर्य्यादा से बाहिर निकाल कर आक्षेप उठा रहे हैं।

वादी को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जिस ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णभेद का निरूपण चल रहा है, उस का आकृतिलक्षण योनिभेद के साथ सम्बन्ध नहीं है, अपितु प्रकृतिलक्षण योनिभेद से सम्बन्ध है। दोनों भेदों का लक्ष्य ही सर्वथा विभिन्न है। आकृति से सम्बन्ध रखने वाला जातिभेद अवश्य ही स्थूल दृष्टि का विषय बन रहा है। परन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले योनिभेद का कभी चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। कर्म्मद्वारा इस का अनुमानमात्र लगाया जा सकता है।

कारण इस का यही है कि, वर्णसृष्टि का प्रकृति से सम्बन्ध है, एवं क्षरब्रह्म का ही नाम प्रकृति है। भूतरूप से वहिर्भूत, किन्तु भूतस्वरूपसम्पादक इस क्षरब्रह्म से वर्णरूपा जो प्राणदेवसृष्टि हुई है, वह भी अमूर्तसृष्टि है। प्राणदेवता प्राणात्मक होने से 'रूप-रस-गन्ध स्पर्श-शब्द' इन पाचों से अतीत बनते हुए सर्वथा इन्द्रियातीत हैं। इन्द्रियातीत ये ही वर्णदेवता तत्तत् शुक्रविशेषों में (महदनुगत प्रकृति के द्वारा) बीजरूप से प्रतिष्ठित होते हुए ब्राह्मण-क्षत्रियादि-वर्णसृष्टियों के प्रवर्त्तक बनते हैं, यह पूर्व मे विस्तार से बतलाया ही जा चुका है। मनुष्यों में रहने वाला यह वर्ण तत्त्व विशुद्ध प्राणात्मक है, शक्तिरूप है, स्वभावात्मक है। इस का आकृतिभेद से क्या सम्बन्ध ? जब आकृतिभेद से इन वर्णभेदों का कोई सम्बन्ध नहीं, जब कि प्राणात्मकत्वेन वर्णतत्व इन्द्रियातीत बनता हुआ केवल अनुमान गम्य है, तो वादी के आकृतिभेदमूलक भेद के आक्षेप का क्या महत्त्व ? बहुत हुआ। वादी को विदित हुआ होगा कि, प्राणात्मक, प्रकृत्यनुबन्धी वर्णभेद के सम्बन्ध में आकृति भेद का प्रश्न उठाना अपनी अज्ञता का ही परिचय देना है।

यदि वादी इस सम्बन्ध में यह प्रश्न करे कि,—"हम ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णों में परस्पर प्रकृति विपर्य्यय देखते हैं। कितनें एक ब्राह्मण प्रकृति से महाउग्र हैं, मन्दबुद्धि हैं, शौचाचार-विहीन हैं, सेवाधर्म्मपरायण हैं। उधर कितनें एक शूद्र प्रकृति से शान्त हैं, प्रखर प्रतिभा-शाली हैं। ऐसी दशा में प्रकृतिभेद भी वर्णभेदमूलक योनिभेद का कारण नहीं माना जा सकता"। तो हमें मान लेना चाहिए कि आक्षेप यथार्थ है। कालदोष, अन्नदोष, शिक्षा-दोष, आलस्यदोष, संस्कारलोप, आदि अनेक दोषों से आज यद्यपि वास्तव में वर्णों की स्वाभाविक प्रकृतियों का आंशिक विपर्य्यय हो गया है जिसका कि—'शूद्राश्च ब्राह्मणा-चाराः' इत्यादि रूप से स्वयं शास्त्रों में भी स्पष्टीकरण हुआ है। वास्तव में आज ब्राह्मणवर्ग अधिकांश में शूद्रप्रकृति (सेवाधर्म्म) के अनुगामी बन रहे हैं, एवं ठीक इसके विपरीत तक्षा, नापित, मूर्त्तिकार आदि कितनें एक सच्छूद्र स्वप्रकृतिमूलक स्वधर्म्म का परित्याग कर ब्राह्मण बनने का प्रयास कर रहे हैं। इन सब दुरवस्थाओं का अनुभव करते हुए भी इस सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि, यदि एक ब्राह्मण सदन्नपरिग्रह, दिव्यशिक्षा, शास्त्रीयसंस्कार, कर्म्मठजीवन, आदि विभूतियों के अनुग्रह से स्वप्रकृतिस्थ है, इसकी पत्नी भी प्रकृतिस्थ है, तो इस विशुद्ध प्रकृति वाले विशुद्ध दम्पती के विशुद्ध रजो-वीर्य्य से उत्पन्न होने वाली सन्तान अवश्य ही प्रकृत्या ब्राह्मण होगी। जैसा बीज होगा, वैसा ही फल लगेगा। कटुबीज कटुफल का जनक, मधुर बीज मधुरफल का जनक, जननप्रक्रिया के इस प्राकृतिक नियम का कभी विरोध नहीं किया जा सकता। एवं इसी प्राकृतिक नियम के आधार पर हमारी वर्णव्यवस्था, एवं तत्स्वरूपरक्षक धर्म्मभेद प्रतिष्ठित है।

यदि किसी सांक्रामिक दोष के अनुग्रह से इस महा-महोपकारिणी व्यवस्था में किसी प्रकार की अव्यवस्था आ भी गई हो, तो देशहितैषियों का यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वे आगन्तुक दोषों को सप्रयत्न दूर कर विश्वशान्तिमूलिका इस व्यवस्था को सुरक्षित बनाए रक्खें। वह तो देश के सर्वनाश का प्रयास होगा, जो कि इस व्यवस्था को और भी अधिक अव्यवस्थित करने के लिए सामान्य जन समाज को उभारने की चेष्टा की जायगी। माना कि, आज हम अव्यवस्थित हो गए हैं, अथवा षड्यन्त्रकारियों द्वारा अव्यवस्थित बना दिए गए हैं। यह भी मानने में कोई सङ्कोच नहीं करते कि, आज वर्णधर्म्म सङ्करभाव से आक्रान्त हो रहा है। परन्तु ऐसा होना कोई अपूर्व घटना नहीं है। अतीत युगों में भी राज्यक्रान्तियों के परिवर्त्तन के अनुग्रह से, एवं तन्मूलक धर्म्मसंकटों से इस वर्णाश्रमधर्म्म पर, तन्मूलिका भारतीय मौलिक सभ्यता पर वर्त्तमान युग से भी अपेक्षाकृत कहीं भयङ्कर आक्रमण हुए हैं। परन्तु

उन अतीत युगों में तत्कालीन समाज-नेताओं ने सामयिक-प्रावाहिक झञ्झावातों के उन प्रवल तूफानों का दृढ़तापूर्वक सामना करते हुए, स्वयं सामयिक प्रवाह में न पड़ते हुए प्राणपण से अपने इस सर्वस्वभूत वर्णाश्रम को बचाया है। उसी का यह परिणाम है कि, सहस्र सहस्र शताब्दियों से निरन्तर पराक्रमण सहती हुई भी हिन्दूजाति आजतक श्वास प्रश्वास ले रही है। क्या हम उन देशप्रेमियों से यह आशा रक्खें कि, वे पश्चिमी-शिक्षा-संसर्ग से उत्पन्न भ्रान्तियों के प्रवाह में न पड़ वर्णाश्रममर्य्यादा की रक्षा द्वारा आर्य्यजाति को स्मृतिगर्भ में विलीन होने से बचाने वाली सद्बुद्धि का अनुगमन करेंगे ?

(१३)—वादी महोदय ने 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्०' 'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तत्' इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मणात्मिका श्रुतियों को औपचारिक मानते हुए, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि, वर्णव्यवस्था कर्म्मप्रधान ही है। परन्तु देखते हैं कि, औपचारिकभाव को इष्टापत्ति मान लेने पर भी उस का अभिप्राय सिद्ध होता नहीं दिखाई देता। औपचारिक मानिए, कोई क्षति नहीं है। हमनें यह कहा ही कब है कि, प्रजापति के भी हमारे जैसे मुखादि हैं, एवं उन से ब्राह्मणादिवर्ण निकल पड़े हैं। किंवा गायत्री आदि छन्दों के अष्टाक्षरादि से मनुष्यविध ब्राह्मणादि वर्णों का आविर्भाव हो गया है। हम स्वयं भी इन मन्त्र-ब्राह्मण श्रुतियों का यही तात्पर्य्य समझ रहे हैं कि, अग्नितत्व प्रजापति का मुखस्थानीय है, एवं इसी से ब्रह्मवीर्य्यलक्षण दिव्यभाव द्वारा ब्राह्मणवर्ण का विकास हुआ है। अष्टाक्षर (अष्टावयव) छन्द (अर्थ-छन्द से छन्दित अग्निदेवता) ब्रह्मवीर्य्यस्वरूप हैं, एव इन्हीं के समन्वय से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न हुआ है। यही अर्थ पूर्व के 'वर्णोत्पत्तिरहस्य' में स्पष्ट भी हुआ है। इस प्रकार औपचारिक अर्थ का समादर करते हुए ही जब हमनें वर्णव्यवस्था की प्राकृतिक-नित्यता सिद्ध की है, तो समझ में नहीं आता, वादी ने उसी उपचारभाव को आगे कर कौनसा पुरुषार्थ कर डाला ? उपचार भाव के आधार पर कैसे उस ने वर्णव्यवस्था का कृतकत्व स्वीकार कर लिया ? इस प्रकार वादी का यह अन्तिम तर्क भी अन्ततोगत्वा विशुद्ध तर्काभास ही रह जाता है, और रह जाता है उस का सम्पूर्ण कारणतावाद एक ओर सुशोभित।

वादी की ओर से जन्मानुगता वर्णव्यवस्था पर जो तेरह आक्षेप हुए थे, उन का क्रमशः संक्षिप्त समाधान करने की चेष्टा की गई। यद्यपि इस सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ वक्तव्य था, परन्तु विस्तारभय से दिङ्मात्र, पर ही विश्राम कर लिया गया है। अब स्वतन्त्ररूप से इस व्यवस्था की संक्षिप्त मीमांसा पाठकों के सम्मुख रक्खी जाती है।

वर्णव्यवस्था की व्यापकता—

"वर्णविभाग के साथ, किंवा वर्णव्यवस्था के साथ कर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं है" यह कहना तो सर्वथा दुस्साहस है। अवश्य ही योनिवत् (जन्मवत्) कर्म्मभाव भी इस व्यवस्था का महा उपकारक है। यही नहीं, योनिभाव को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने के कारण ही कर्म्मतत्व कितने हीं अंशों में योनि से भी उच्चासन पर प्रतिष्ठित मान लिया गया है, जैसा कि वादी की ओर से बतलाए गए कर्म्म-वैशिष्ट्य सूचक कुछ एक ऐतिह्य, तथा पौराणिक निदर्शनों से स्पष्ट है। इस प्रकार कर्म्म का वैशिष्ट्य स्वीकार कर लेने पर भी योनिभाव का किसी भी दृष्टि से उन्मूलन नहीं किया जा सकता।

वर्णविभाग का मुख्य आधार प्रकृतिमूलक जन्मभाव ही है, इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा हेतु वेदोक्त 'वर्णविभाग की सर्वव्यापकता' ही माना जायगा। वेद ने देव-मनुष्य-पितर-गन्धर्व-असुर-वृक्ष-ओषधि-पशु-पक्षी-आदि आदि चर-अचर यच्चयावत् पदार्थों में वर्णविभाग माना है। एवं ऐसा मानना सर्वथा न्यायसङ्गत भी है, जब कि चर-अचर सृष्टि के उपादानकारणरूप प्राणदेवता स्वयं चार वर्णों मे विभक्त हैं। 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' न्याय सर्वसम्मत है। जब कि कार्य्यात्मक विश्वप्रपञ्च (विश्व के पदार्थों) के कारणात्मक प्राणदेवता चार वर्णों में विभक्त है, तो इन वर्णात्मक कारणों से उत्पन्न कार्य्यात्मक विश्व-पदार्थों में वर्णविभाग न रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है। एकमात्र इसी अन्वर्थ, तथा प्रधान हेतु के आधार पर हम विना किसी संकोच के यह कह सकते हैं कि, चातुर्वर्ण्यसम्पत्ति अवश्य ही योनिप्रधान, किंवा जन्मप्रधान है। कर्म्मभाव इसका उपोद्बलक भले ही बना रहे किन्तु वर्णसृष्टि की व्यवस्थिति केवल कर्म्म के आधार पर ही नहीं मानी जा सकती। यदि कर्म्मशब्द से जन्मान्तरीय, सांस्कारिक, सञ्चितकर्म्म अभिप्रेत हैं, तब तो कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि—'जात्यायुर्भोगाः' इस सिद्धान्त के अनुसार जाति (योनि), आयु (उम्र), तथा भोग (भोगसामग्री, अन्न-वित्तादि), तीनों प्राणी के जन्मान्तरीय संस्कारों के अनुसार ही मिला करते हैं। परन्तु ऐसा सञ्चित कर्म्म तो जन्मभाव का समर्थक बन रहा है, एवं कर्म्मणा वर्णव्यवस्था माननेवाले वादी की दृष्टि के कर्म्मशब्द से ये सांस्कारिक कर्म्म

भी अभिप्रेत नहीं है। जो महानुभाव जन्मोत्तरकालीन कर्म्मों को इस वर्णविभाग का मूल मानते हैं, उनसे हम साग्रह निवेदन करेंगे कि, वे अपने इस विशुद्ध कर्म्मवाद के आधार पर आगे उद्धृत होनेंवाले श्रौत-स्मार्त्त-पौराणिक वचनों के समन्वय करने की चेष्टा करें, अथवा तो कृपा कर वे हमें ऐसा कोई मार्ग बतलावें, जिसका अनुगमन करते हुए हम स्वयं योनिभाव को माने बिना उन वचनों का समन्वय कर लें।

"अज (बकरा) पशु ब्राह्मण है, अश्वपशु क्षत्रिय है" इत्यादि रूप से आगे के वचन पशुओं को भी ब्राह्मण-क्षत्रियादि बतला रहे हैं। हम उन कर्म्माभिमानियों से यह पूंछते हैं कि, क्या अजपशु ब्राह्मण्योचित वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, कर्म्मों की कृपा से ब्राह्मण कहा गया है? क्या सत्य-अहिंसा-शौच-आर्जवादि गुणमूलक ब्राह्मणत्व एक अजपशु में विद्यमान है? यदि नहीं तो श्रुति ने किस आधार पर अजपशु को ब्राह्मण कह डाला?। इसी प्रकार कहीं दिन को ब्राह्मण, रात्रि को क्षत्रिय, वसन्तर्त्तु को ब्राह्मण, ग्रीष्मर्त्तु को क्षत्रिय, वर्षा को वैश्य, पलाश को ब्राह्मण, काश्मर्य्य को क्षत्रिय कह देना किस आधार पर सुसङ्गत बना?। जो वैज्ञानिक वर्णव्यवस्था को योनिमूला मानते हैं, उनके लिए तो ऐसे ऐसे सभी श्रौत-स्मार्त्त व्यवहार सुसङ्गत बने हुए हैं। अजपशु के उपादानकारणभूत शुक्र-शोणित में ब्रह्मवीर्य्यसम्पादक प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। अतएव तत्प्रधान अजपशुवर्ण ब्राह्मणवर्णलक्षण इस प्राणाग्निब्रह्म के सम्बन्ध से अवश्य ही ब्राह्मण कहला सकता है। इस प्रकार कर्म्मप्रपञ्च के अतिरिक्त वर्णतत्त्व की व्यापकता की दृष्टि से अवश्य ही कुछ एक स्वाभाविक, प्राकृतिक, योनिलक्षण धर्म्मों की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। एवं उन विशेषधर्म्मों को ही इस व्यवस्था के मूलाधार मानना पड़ता है।

चातुर्वर्ण्य का ईश्वरीयसंस्था से अविच्छिन्न सम्बन्ध है, दूसरे शब्दों में ईश्वर-प्रजापति, चातुर्वर्ण्योपेत प्राणदेवताओं को उपादान बना कर ही विश्व, एवं विश्व में रहने वाली चर-अचरप्रजा की उत्पत्ति के कारण बनते हैं। यही कारण है कि, सर्वत्र सब में तारतम्य से वर्णविभाग विद्यमान है। 'चातुर्वर्ण्य विभाग सर्वव्यापक है' यह सिद्धान्त उस समय भली-भांति हृदयङ्गम हो जाता है, जब कि हम यत्र-तत्र-सर्वत्र उसके विविध रूपों का साक्षात्कार कर लेते हैं। पाठकों की सुविधा के लिए यहां कुछ एक ऐसे उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं, जिन के अवलोकन से वे स्वयं इसी निश्चय पर पहुंचेंगे कि, भारतीयवर्णव्यवस्था न तो मानवीय कल्पना ही है, न मानवकर्म्म इसका जन्मदाता ही है। अपितु यह तो सनातन ईश्वर का सनातन मर्य्यादा सूत्र है, जिस के कि भोग का एकमात्र उसी देश को ईश्वर की ओर से एकाधिकार प्राप्त है, जिस देश में कि वेदधर्म्ममूर्त्ति कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण किया करता है।

१—देवताओं के चार वर्ण—

१—अग्निः (ब्रह्म)—ब्राह्मणः—"अग्ने ! महाँ असि ब्राह्मण भारतेति" (यजुः स०)
२—इन्द्रः (क्षत्रम्)—क्षत्रियः—"क्षत्र वा इन्द्रः" (शत० २।५।२।२७)
३—विश्वदेवः (विट्)—वैश्यः— "वैश्वदेवो हि वैश्यः" (तै० ब्रा० २।७।२।२)
४—पूषा (शूद्रः)—शूद्रः— "शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्" (श० १४।६।३।३।)

२—पितरों के चार वर्ण—

१—सोमपाः—ब्राह्मणः
२—हविर्भुजः—क्षत्रियाः
३—आज्यपाः—वैश्याः
४—सुकालिनः—शूद्राः

३—वेदों के चार वर्ण—

१—सामवेदः—ब्राह्मणः
२—यजुर्वेदः—क्षत्रियः
३—ऋग्वेदः—वैश्यः
४—अथर्ववेदः—शूद्रः

४—छन्दःसापेक्ष चार वर्ण—

१—गायत्री—ब्राह्मणः
२—त्रिष्टुप्—क्षत्रियः
३—जगती—वैश्यः
४—अनुष्टुप्—शूद्रः

५—सवनसापेक्ष चार वर्ण—

१—प्रातःसवनम्—ब्राह्मणः
२—माध्यन्दिनसवनम्—क्षत्रियः
३—तेजोमयसायंसवनम्—वैश्यः
४—तमोमयसायंसवनम्—शूद्रः

६—दिक्सापेक्ष चार वर्ण—

१—उत्तरादिक्—ब्राह्मणः
२—दक्षिणादिक्—क्षत्रियः
३—प्राचीदिक्—वैश्यः
४—प्रतीचीदिक्—शूद्रः

७—कालसापेक्ष चार वर्ण—

१—वर्त्तमानकालः—ब्राह्मणः
२—भूतकालः—क्षत्रियः
३—भविष्यत्कालः—वैश्यः
४—सर्वकालः—शूद्रः

८—वर्णसापेक्ष चार वर्ण—

१—श्वेतवर्णः—ब्राह्मणः
२—रक्तवर्णः—क्षत्रियः
३—पीतवर्णः—वैश्यः
४—कृष्णवर्णः—शूद्रः

९—यज्ञसापेक्ष चार वर्ण—

१—सोमयागः—ब्राह्मणः
२—पशुबन्धः—क्षत्रियः
३—इष्टयः—वैश्यः
४—दर्वीहोमः—शूद्रः

१०—प्रकृतिसापेक्ष चार वर्ण—

१—सत्वप्रकृतिः—ब्राह्मणः

२—सत्वरजः – प्रकृतिः—क्षत्रियः

३—रजस्तमः—प्रकृतिः—वैश्यः

४—तमः—प्रकृतिः—शूद्रः

११—बलसापेक्ष चार वर्ण—

१—विद्याबलम्—ब्राह्मणः

२—ऐश्वर्य्यबलम्—क्षत्रियः

३—वित्तबलम्—वैश्यः

४—शरीरबलम्—शूद्रः

१२—शक्तिसापेक्ष चार वर्ण—

१—ज्ञानशक्तिः—ब्राह्मणः

२—क्रियाशक्तिः—क्षत्रियः

३—अर्थशक्तिः—वैश्यः

४—पशुशक्तिः—शूद्रः

१३—स्वरसापेक्ष चार वर्ण—

१—उदात्तः—ब्राह्मणः

२—अनुदात्तः—क्षत्रियः

३—स्वरितः—वैश्यः

४—विकस्वरः—शूद्रः

१४—शब्दब्रह्मसापेक्ष चार वर्ण—

१—स्फोटः—ब्राह्मणः

२—स्वरः—क्षत्रियः

३—वर्णः—वैश्यः

४—दुष्टवर्णः – शूद्रः

१५—परब्रह्मसापेक्ष चार वर्ण—

१—अव्ययः—ब्राह्मणः

२—अक्षरः—क्षत्रियः

३—आत्मक्षरः—वैश्यः

४—विकारसघः—शूद्रः

१६—अध्यात्मसापेक्ष चार वर्ण—

१—प्राज्ञात्मा—ब्राह्मणः

२—तैजसात्मा—क्षत्रियः

३—वैश्वानरात्मा—वैश्यः

४—पाञ्चभौतिकशरीरम्—शूद्रः

१७—अधिदैवतसापेक्ष चार वर्ण—

१—सर्वज्ञः—ब्राह्मणः

२—हिरण्यगर्भः—क्षत्रियः

३—विराट्—वैश्यः

४—पाञ्चभौतिकविश्वम्—शूद्रः

१८—प्राकृतात्मसापेक्ष चार वर्ण—

१—शान्तात्मा (अव्यक्तम्)-ब्राह्मणः

२—महानात्मा (महत्)—क्षत्रियः

३—विज्ञानात्मा (बुद्धिः)—वैश्यः

४—प्रज्ञानात्मा (मनः)—शूद्रः

१९—भूतसापेक्ष चार वर्ण—

१—वाय्वाकाशौ—ब्राह्मणः

२—तेजः—क्षत्रियः

३—जलम्—वैश्यः

४—मृत्—शूद्रः

२०—ज्ञानसापेक्ष चार वर्ण—

१—आत्मज्ञानम्—ब्राह्मणः
२—सज्ज्ञानम्—क्षत्रियः
३—विरुद्धज्ञानम्—वैश्यः
४—अज्ञानम्—शूद्रः

२१—कर्म्मसापेक्ष चार वर्ण—

१—आत्मकर्म्म—ब्राह्मणः
२—सत्कर्म्म—क्षत्रियः
३—विरुद्धकर्म्म—वैश्यः
४—अकर्म्म—शूद्रः

२२—दृष्टिसापेक्ष चार वर्ण—

१—परमार्थदृष्टिः—ब्राह्मणः
२—व्यवहारदृष्टिः—क्षत्रियः
३—प्रातिभासिकीदृष्टिः—वैश्यः
४—अदृष्टिः—शूद्रः

२३—गतिसापेक्ष चार वर्ण—

१—मुक्तिगतिः—ब्राह्मणः
२—देवस्वर्गगतिः—क्षत्रियः
३—पितृस्वर्गगतिः—वैश्यः
४—दुर्गतिः—शूद्रः

२४—उपवेदसापेक्ष चार वर्ण—

१—गन्धर्ववेदः—ब्राह्मणः
२—धनुर्वेदः—क्षत्रियः
३—आयुर्वेदः—वैश्यः
४—स्थापत्यवेदः—शूद्रः

२५—आनन्दसापेक्ष चार वर्ण—

१—शान्तानन्दः—ब्राह्मणः
२—प्रामोदानन्दः—क्षत्रियः
३—मोदानन्दः—वैश्यः
४—हर्षानन्दः—शूद्रः

२६—प्रपञ्चसापेक्ष चार वर्ण—

१—आध्यात्मिकप्रपञ्चः—ब्राह्मणः
२—आधिदैविकप्रपञ्चः—क्षत्रियः
३—आधिभौतिकप्रपञ्च—वैश्यः
४—प्रवर्ग्यप्रपञ्चः—शूद्रः

२७—शरीरसापेक्ष चार वर्ण—

१—कारणशरीरम्—ब्राह्मणः
२—सूक्ष्मशरीरम्—क्षत्रियः
३—स्थूलशरीरम्—वैश्यः
४—छिद्रशरीरम्—शूद्रः

२८—विद्यासापेक्ष चार वर्ण—

१—ज्ञानम्—ब्राह्मणः
२—ऐश्वर्य्यः—क्षत्रियः
३—वैराग्यः—वैश्यः
४—धर्म्मः—शूद्रः

२९—अविद्यासापेक्ष चार वर्ण—

१—अविद्या—ब्राह्मणः
२—अस्मिता—क्षत्रियः
३—राक्तिः—वैश्यः
४—अभिनिवेशः—शूद्रः

३०—प्रमाणसापेक्ष चार वर्ण—

१—आप्तप्रमाणम्—ब्राह्मणः
२—अनुमानप्रमाणम्—क्षत्रियः
३—प्रत्यक्षप्रमाणम्—वैश्यः
४—युक्तिप्रमाणम्—शूद्रः

३१—विवाहसापेक्ष चार वर्ण—

१—ब्राह्मविवाहः—ब्राह्मणः
२—स्वयंवरः—क्षत्रियः
३—गन्धर्वविवाहः—वैश्यः
४—पैशाचिकः—शूद्रः

३२—अधिकारिसापेक्ष चार वर्ण—

१—ज्ञानी—ब्राह्मणः
२—जिज्ञासुः—क्षत्रियः
३—अर्थार्थी—वैश्यः
४—आर्त्तः—शूद्रः

३३—वृत्तिसापेक्ष चार वर्ण—

१—मैत्री—ब्राह्मणः
२—करुणा—क्षत्रियः
३—मुदिता—वैश्यः
४—उपेक्षा—शूद्रः

३४—युगसापेक्ष चार वर्ण—

१—सत्ययुगः—ब्राह्मणः
२—त्रेतायुगः—क्षत्रियः
३—द्वापरयुगः—वैश्यः
४—कलियुगः—शूद्रः

३५—रात्रिसापेक्ष चार वर्ण—

१—कालरात्रिः (शिवरात्रिः)—ब्राह्मणः
२—महारात्रिः (दीपावली)—क्षत्रियः
३—मोहरात्रिः (जन्माष्टमी)—वैश्यः
४—दारुणरात्रिः (होलिका)—शूद्रः

३६—रिपुसापेक्ष चार वर्ण—

१—कामः—ब्राह्मणः
२—क्रोधः—क्षत्रियः
३—लोभः—वैश्यः
४—मोहः—शूद्रः

३७—अवस्थासापेक्ष चार वर्ण—

१—कृतकृत्यावस्था—ब्राह्मणः
२—कर्म्मावस्था—क्षत्रियः
३—जाग्रदवस्था—वैश्यः
४—सुषुप्त्यवस्था—शूद्रः

३८—वाक्सापेक्ष चार वर्ण—

१—परावाक्—ब्राह्मणः
२—पश्यन्तीवाक्—क्षत्रियः
३—मध्यमावाक्—वैश्यः
४—वैखरीवाक्—शूद्रः

३९—शब्दप्रपञ्चसापेक्ष चार वर्ण—

१—छन्दांसि—ब्राह्मणः
२—वाक्यानि—क्षत्रियः
३—पदानि—वैश्यः
४—वर्णाः—शूद्रः

४०—ह्राससापेक्ष चार वर्ण—

१—कलहासः—ब्राह्मणः
२—मन्दहासः—क्षत्रियः
३—अतिहासः—वैश्यः
४—अट्टाट्टहासः—शूद्रः

४१—पुरुषसापेक्ष चार वर्ण—

१—शशलक्षणः—ब्राह्मणः
२—हयलक्षणः—क्षत्रियः
३—कुरङ्गलक्षणः—वैश्यः
४—वृषभलक्षणः—शूद्रः

४२—अपरामुक्तिसापेक्ष चार वर्ण—

१—सायुज्यमुक्तिः—ब्राह्मणः
२—सारूप्यमुक्तिः—क्षत्रियः
३—सामीप्यमुक्तिः—वैश्यः
४—सालोक्यमुक्तिः—शूद्रः

४३—देवसापेक्ष चार वर्ण—

१—ब्रह्मा—ब्राह्मणः
२—रुद्रः—क्षत्रियः
३—विष्णुः—वैश्यः
४—गणपतिः—शूद्रः

४४—सृष्टिसापेक्ष चार वर्ण—

१—मानसीसृष्टिः—ब्राह्मणः
२—गुणसृष्टिः—क्षत्रियः
३—विकारसृष्टिः—वैश्यः
४—मैथुनीसृष्टिः—शूद्रः

४५—प्राणिसापेक्ष चार वर्ण—

१—जरायुजः—ब्राह्मणः
२—अण्डजः—क्षत्रियः
३—स्वेदजः—वैश्यः
४—उद्भिज्जः—शूद्रः

४६—नीतिसापेक्ष चार वर्ण—

१—धर्म्मनीतिः—ब्राह्मणः
२—राजनीतिः—क्षत्रियः
३—समाजनीतिः—वैश्यः
४—व्यक्तिनीतिः—शूद्रः

४७—अर्थसापेक्ष चार वर्ण—

१—परमार्थः—ब्राह्मणः
२—परार्थः—क्षत्रियः
३—स्वार्थः—वैश्यः
४—परमस्वार्थः—शूद्रः

४८—पशुषु चातुर्वर्ण्यम्

१—अजपशुः—ब्राह्मणः
२—अश्वपशुः—क्षत्रियः
३—गौपशुः—वैश्यः
४—अविपशुः—शूद्रः

४९—सर्पेषु चातुर्वर्ण्यम्

१—सुवर्णाभाः पन्नगाः—ब्राह्मणाः
२—स्निग्धवर्णा भृशकोपनाः—क्षत्रियाः
३—लोहिताधूम्राः पारावताः—वैश्याः
४—भिन्नानेकवर्णा रूक्षत्वचः—शूद्राः

५०—वनस्पतिषु चातुर्वर्ण्यम्—

१—अश्वत्थ-वट-पलाश-बिल्वादयः-ब्राह्मणाः

२—देवदारु-श्रीपर्णि-काश्मर्य्यादयः-क्षत्रियाः

३—फलपुष्पप्रदातारः सर्वे वृक्षाः—वैश्याः

४—वंश-तूलिकादयः—शूद्राः

५१—कीटेषु चातुर्वर्ण्यम्—

१—पुष्पादिगताः कीटाः —ब्राह्मणाः

२—ध्रुवधातुस्थाः कीटाः—क्षत्रियाः

३—कौशेयसूत्रनिर्म्मातारः—वैश्याः

४—विष्ठा पङ्कादिषु स्थिताः—शूद्राः

५२—पक्षिषु चातुर्वर्ण्यम्—

१—चक्रवाक-कपोतादयः—ब्राह्मणाः

२—शरभ-बकादयः—क्षत्रियाः

३—हंस-मयूरादयः—वैश्याः

४—काक-गृद्धादयः—शूद्राः

५३—शरीरावयवेषु चातुर्वर्ण्यम्—

१—शिरोमण्डलम्—ब्राह्मणः

२—हस्तौ-उरश्च—क्षत्रियः

३—उदरम्—वैश्यः

४—पादौ—शूद्रः

वर्णव्यवस्था, और श्रुतिसमर्थन—

वर्णविभाग के सम्बन्ध में बतला गए पूर्वोक्त कतिपय निदर्शनों के मौलिक रहस्य-परिज्ञान के लिए एक स्वतन्त्र-ग्रन्थ अपेक्षित है। विज्ञपाठकों को स्वयंही ब्राह्मणग्रन्थोक्त पदार्थविद्या के तारतम्य से सम्बन्ध रखने वाले इन विभागों का तात्त्विक समन्वय कर लेना चाहिए। अब पूर्व-प्रतिज्ञानुसार वे श्रौत-स्मार्त्तादि कुछ एक वचन उद्धृत किए जाते हैं, जिनका समन्वय पूर्वकथनानुसार वर्णव्यवस्था को प्रकृतिसिद्ध माने विना सर्वथा असम्भव हो जाता है।

१—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्, बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

—यजुःसं० ३१।११

"ब्राह्मण इस (प्रजापति) का मुख था, क्षत्रिय (इसके) बाहू से निष्पादित है, उस समय प्रजापति का जो ऊरू भाग था, वही वैश्य बना, एवं पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ" इस श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, त्रैलोक्य व्यापक विराट् पुरुष के मुखस्थानीय प्राणाग्नि से ब्राह्मणवर्ण का, बाहुस्थानीय मरुत्वानिन्द्र से क्षत्रियवर्ण का, ऊरुस्थानीय विश्वेदेवों से वैश्यवर्ण का, एवं पादस्थानीय पूषा से शूद्रवर्ण का विकास हुआ है। इस प्रकार मन्त्रश्रुति स्पष्ट ही वर्णोत्पत्ति की प्राकृतता-नित्यता सिद्ध कर रही है।

२—प्रजापतिरकामयत–'प्रजायेय' इति। स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत, तमन्वग्निर्देवता अन्वसृज्यत, गायत्री छन्दः, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणां, अजः पशूनाम्। तस्मात्ते मुख्याः, मुखतो ह्यसृज्यन्त ॥१॥

उरसो, बाहुभ्यां पंञ्चदशं निरमिमीत, तमिन्द्रो देवता अन्वसृज्यत, त्रिष्टुप्छन्दः, बृहत्साम, राजन्यो मनुष्याणां, अविः पशूनाम्। तस्माद्ते वीर्य्यवन्तः, वीर्य्याद्ध्यसृज्यन्त ॥२॥

मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत, तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त, जगतीछन्दः, वैरूपं साम, वैश्यो मनुष्याणां, गावः पशूनां, तस्मात्ते आद्याः। अन्नधानाद्ध्यसृज्यन्त, तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्यः। भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त ॥३॥

पत्त एकविंशं निरमिमीत, तमनुष्टुप्छन्दोऽन्वसृज्यत, वैराजं साम, शूद्रो मनुष्याणां, अश्वः पशूनाम्। तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः। न हि देवता अन्वसृज्यत। तस्मात् पादावुपजीवतः। पत्तो ह्यसृज्येताम् ॥४॥

—शत० ब्राह्मण।

"(सृष्टिकामुक) प्रजापति ने (यह) कामना की कि, मैं प्रजारूप में परिणत हो जाऊं—(प्रजा उत्पन्न करूं)। (मनोव्यापारलक्षणा) अपनी इस 'प्रजापतिरूपा' कामना को सफल बनाने के लिए प्रजापति ने प्राणव्यापारलक्षण 'तप.कर्म्म'-अन्तर्व्यापार-क्रिया, तप के अनुरूप वाग्व्यापारलक्षण 'श्रमकर्म्म'—बहिर्व्यापार-क्रिया। इस प्रकार 'काम-तप-श्रम' इन तीन सृष्ट्यनुबन्धों के समन्वय से प्रजापति ने (अपने) मुख से (सर्वप्रथम स्तोमों में)—'त्रिवृत्स्तोम–९' उत्पन्न किया, त्रिवृत्स्तोम के अनुरूप (देवताओं में) 'अग्निदेवता' उत्पन्न किया, छन्दों में 'गायत्री छन्द' उत्पन्न किया, (सामों में) 'रथन्तरसाम' उत्पन्न किया, मनुष्यों में 'ब्राह्मण' उत्पन्न किया, एवं पशुओं में 'अजपशु' (बकरा) उत्पन्न किया। इसलिए ये (ब्राह्मण और अज) 'मुख्य' कहलाए, क्योंकि इन्हें (प्रजापति ने अपने) मुख से उत्पन्न किया है ॥ १ ॥

(प्रजापति ने अपने) उरस्थान, तथा बाहू से (स्तोमों में) 'पंचदशस्तोम-१५' उत्पन्न किया, पञ्चदशस्तोम के अनुरूप (देवताओं मे) 'इन्द्रदेवता' उत्पन्न किया, (छन्दों में) 'त्रिष्टुप्छन्द्' उत्पन्न किया, (सामों में) 'बृहत्साम' उत्पन्न किया, मनुष्यों में 'राजन्य' (क्षत्रिय) उत्पन्न किया, एवं पशुओं में 'अविपशु' (मेड़) उत्पन्न किया। इसलिए ये (क्षत्रिय और अविपशु) 'वीर्य्यवान्' (प्राणवलयुक्त) कहलाए, क्योंकि इन्हें (प्रजापति ने अपने) वीर्य्य से (वीर्य्यात्मक उर, तथा बाहू से) उत्पन्न किया है॥ २॥

(प्रजापति ने अपने) मध्यस्थान से (मध्यस्थानोपलक्षित उद्गीथ केन्द्र से) (स्तोमों में) 'सप्तदशस्तोम-१७' उत्पन्न किया, सप्तदशस्तोम के अनुरूप (देवताओं में) 'विश्वेदेव' नामक देवता उत्पन्न किए, (छन्दों में) 'जगतीछन्द्' उत्पन्न किया, (सामों में) 'वैरूपसाम' उत्पन्न किया, मनुष्यों में 'वैश्य' उत्पन्न किया, एवं पशुओं में 'गौपशु' उत्पन्न किया। इसलिए ये (वैश्य, और गौपशु) आद्य (भोग्य) कहलाए, क्योंकि इन्हें (प्रजापति ने अपने) अन्नधान (अन्न को धारण करनेवाले उदरस्थानीय मध्यभाग) से उत्पन्न किया है। इसलिए ये (वैश्य और गौपशु इतर वर्णों की अपेक्षा) संख्या में अधिक हैं, क्योंकि (प्रजापति ने) इन्हें (विश्वेदेवरूप) बहुसंख्यक देवताओं से उत्पन्न किया है॥ ३॥

(प्रजापति ने अपने) पाद भाग से (स्तोमों मे) 'एकविंशस्तोम-२१' उत्पन्न किया, एकविंशस्तोम के अनुरूप (छन्दों मे) 'अनुष्टुप्छन्द्' उत्पन्न किया, (सामों में) 'वैराजसाम' उत्पन्न किया, मनुष्यों में 'शूद्र' उत्पन्न किया, एवं पशुओं में 'अश्व' उत्पन्न किया। इसलिए शूद्र यज्ञकर्म्म में अनधिकृत है। (क्योंकि) इसे किसी (यज्ञिय) देवता के अनुरूप उत्पन्न नहीं किया है। इसलिए ये (शूद्र और अश्व) पैरों से ही अपनी जीविका चलाते हैं, क्योंकि (प्रजापति ने) इन्हें (अपने) पैरों से ही उत्पन्न किया है॥ ४॥

२—सोऽकामयत-'यज्ञं सृजेय' इति। स मुखत एव त्रिवृतमसृजत। तं गायत्री छन्दोऽन्वसृजत, अग्निर्देवता, ब्राह्मणो मनुष्यः, वसन्त ऋतुः। तस्मात् 'त्रिवृत्'-स्तोमानां मुखं, 'गायत्री'च्छन्दसां, अग्निर्देवतानां, ब्राह्मणो, मनुष्याणां, वसन्त ऋतूनाम्। तस्माद्-ब्राह्मणो मुखेन वीर्य्यङ्करोति। मुखतो हि सृष्टः॥ १॥

'स उरस्त एव बाहुभ्यां पञ्चदशमसृजत। तन्त्रिष्टुप्छन्दोऽन्वसृजत, इन्द्रो-देवता, राजन्यो मनुष्यः, ग्रीष्म ऋतुः। तस्माद्राजन्यस्य पञ्चदशस्तोमः, त्रिष्टुप्छन्दः इन्द्रो देवता, ग्रीष्म ऋतुः। तस्मादु बाहुवीर्य्यः। बाहुभ्यां हि सृष्टः' ॥ २ ॥

'स मध्यत एव प्रजननात् सप्तदशमसृजत। तञ्जगतीछन्दोऽन्वसृज्यत, विश्वेदेवा देवताः, वैश्यो मनुष्यः, वर्षा ऋतुः।' तस्माद्वैश्योऽद्यमानो न क्षीयते। प्रजननाद्धि सृष्टः। तस्मादु बहुपशुः। वैश्वदेवो हि। जागतः, वर्षाह्यस्यर्त्तुः। तस्माद् ब्राह्मणस्य च राजन्यस्य चाद्योऽधरो हि सृष्टः' ॥ ३ ॥

'स पत्त एव प्रतिष्ठाया एकविंशमसृजत। तमनुष्टुप्छन्दोऽन्वसृज्यत, न काचन देवता, शूद्रो मनुष्यः। तस्माच्छूद्र उत बहुपशुः-अयज्ञियः। विदेवो हि। न हि तं काचन देवताऽन्वसृज्यत। तस्मात् पादावनेज्यन्नाति वर्द्धते। पत्तो हि सृष्टः। तस्मादेकविंशः स्तोमानां प्रतिष्ठा। प्रतिष्ठाया हि सृष्टः। तस्मादानुष्टुभं छन्दांसि नानु व्यूहन्ति ॥ ४ ॥

—ताण्ड्य ब्राह्मण, ६।१।६-८-१०-११ कं०।

"प्रजापति ने कामना की कि, (मैं सर्वसाधक 'अग्निष्टोम' नामक) यज्ञ उत्पन्न करूं। (इस कामना की पूर्त्ति के लिए) उसने अपने मुख से 'त्रिवृत्स्तोम' उत्पन्न किया, त्रिवृत्-स्तोम के अनुरूप 'गायत्रीछन्द' उत्पन्न किया, त्रि० के अनुरूप (ही) 'अग्नि देवता' उत्पन्न किया, त्रि० के अनुरूप (ही) 'ब्राह्मण मनुष्य' उत्पन्न किया, एवं त्रि० के अनुरूप (ही) 'वसन्त ऋतु' उत्पन्न की। (चूंकि त्रिवृत्स्तोमादि भावों को प्रजापति ने अपने मुख से उत्पन्न किया) अतएव स्तोमों में (अयुग्मस्तोमों में) त्रिवृत्स्तोम मुख कहलाया, छन्दों में गायत्री छन्द मुख कहलाया, देवताओं में अग्नि देवता मुख कहलाया, मनुष्यों में—ब्राह्मण मनुष्य मुख कहलाया, एवं ऋतुओं में वसन्त ऋतु मुख कहलाई। अर्थात् मुख से उत्पन्न होने के कारण ये मुख्य कहलाए। इस लिए ब्राह्मण अपने मुख से ही (स्वाध्यायादि द्वारा) वीर्य्य

"प्रजापति ने अपने प्रतिष्ठारूप पादों से 'एकविंशस्तोम' उत्पन्न किया, एकविंशस्तोम के अनुरूप 'अनुष्टुप्छन्द' उत्पन्न किया। (परन्तु ब्रह्म-क्षत्र-विट्-सृष्टियों की तरह इस स्तोम में) कोई देवता उत्पन्न नहीं किया। (देवसम्पत्तिशून्य) एकविंश के अनुरूप 'शूद्रमनुष्य' उत्पन्न किया। चूंकि इसके उपादान में देवता का अभाव था, अतएव (वैश्य-वत्) बहुपशुसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ भी यह अयज्ञिय माना गया। अपिच चूंकि यह प्रजापति के पाद भाग से उत्पन्न हुआ है, अतएव ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्यवर्ग के पादप्रक्षालन (सेवा) के अतिरिक्त और इसका कोई दूसरा स्वधर्म्म नहीं है। साथ ही मे यह भी स्मरण रखने की बात है कि, प्रजापति ने इसे प्रतिष्ठा से उत्पन्न किया है, अतएव एकविंशस्तोमात्मक शूद्रवर्ग (सेवा, वाह्यकर्म्म, शिल्प-कला आदि धर्म्मों से) इतर तीनों वर्णों की प्रतिष्ठा बना हुआ है। श्रुति का अभिप्राय यही है कि, यद्यपि पाद भाग से उत्पन्न होने के कारण शूद्र को यज्ञादि कर्म्मों में अवश्य ही अधिकार नहीं है। एतावता ही द्विजाति को इसे अनुपयुक्त नहीं मान लेना चाहिए। जैसे मस्तक-बाहू-उदर आदि उत्तमाङ्ग केवल पैरों के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, एवमेव तीनों वर्णों की प्रतिष्ठा पादस्थानीय शूद्र ही है। शूद्र की उपेक्षा से तीनों वर्णों की प्रतिष्ठा उखड़ जाती है। शूद्रवर्ण के उत्पथ गमन से समाजानुबन्धिनी वर्णव्यवस्था में शिथिलता आ जाती है" ॥ ४ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त शतपथ-श्रुति, तथा ताण्ड्य श्रुति ने स्पष्ट ही प्रजापति के द्वारा ही वर्ण-सृष्टि का उद्गम बतलाया है। वर्णसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रजापति सम्वत्सर प्रजापति ही है, जिस का कि पूर्व के—'अदिति-दितिमूलावर्णअवर्णसृष्टि' प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। स्तोम, छन्द, देवता, ऋतु, आदि ही वर्णों के उपादान बतलाए गए हैं। ये सब उपादान ईश्वरीय कर्म्म से उत्पन्न हुए हैं। एवं इन्हीं कर्म्मों से स्वयं प्रजापति ही वर्णसृष्टि के प्रवर्त्तक बने हैं। इन सब विस्पष्ट परिस्थितियों को देखते हुए कौन वेदनिष्ठ वेद-प्रमाण से प्रमाणित वर्णव्यवस्था का ईश्वरकर्तृत्व, अतएव योनिप्रधानत्व स्वीकार न करेगा।

करता है, अर्थात् ब्राह्मण की ब्रह्मशक्ति वाग्वीर्य्य से ही सम्बन्ध रखती है, वाणी ही ब्राह्मणवर्ण का मुख्य बल है—(वाचि वीर्य्यं द्विजानाम्)। क्योंकि ब्राह्मण प्रजापति के मुख से ही उत्पन्न हुआ है" ॥ १ ॥

"प्रजापति ने अपने उर, तथा बाहू से 'पंचदशस्तोम' उत्पन्न किया, पञ्चदशस्तोम के अनुरूप 'त्रिष्टुपछन्द' उत्पन्न किया, पञ्च० के अनुरूप (ही) 'इन्द्र देवता' उत्पन्न किया, पञ्च० के अनरूप (ही) राजन्य (क्षत्रिय) मनुष्य' उत्पन्न किया, एवं पञ्च० के अनुरूप (ही) 'ग्रीष्म ऋतु' उत्पन्न की। इस लिए राजन्य का पञ्चदशस्तोम है, इन्द्र देवता है, त्रिष्टुपछन्द है, एवं ग्रीष्म ऋतु है। चूकि राजन्य प्रजापति के बाहू से उत्पन्न हुआ है, अतएव यह बाहुवीर्य्य माना गया है। बाहू से ही राजन्य के स्ववीर्य्य का विकास होता है—(बाह्वोर्वीर्य्यं यत्तु तत् क्षत्रियाणाम्)" ॥ २ ॥

"प्रजापति ने प्रजननरूप मध्यस्थान से 'सप्तदशस्तोम' उत्पन्न किया, सप्तदशस्तोम के अनुरूप 'जगतीछन्द' उत्पन्न किया, सप्त० के अनुरूप (ही) 'विश्वेदेवदेवता' उत्पन्न किए, सप्त० के अनुरूप (ही) 'वैश्य मनुष्य' उत्पन्न किया, एवं सप्त० के अनुरूप (ही) 'वर्षा ऋतु' उत्पन्न की। चूकि वैश्यवर्ण प्रजापति के प्रजननधर्म्म से उत्पन्न हुआ है, अतएव वैश्यवर्ण (ब्राह्मण-क्षत्रियादि द्वारा) खाया जाता हुआ भी स्वस्वरूप से कम नहीं होता। चूकि वैश्य विश्वेदेवताओं से उत्पन्न होने के कारण वैश्यदेव है, उधर विश्वेदेवताओं से सम्बन्ध रखने के कारण ही यह वैश्य 'जागत' (जगतीछन्दोयुक्त) है। पशुसम्पत्ति 'जागत' है। इसी पारम्परिक सम्बन्ध में वैश्यदेव-जागत वैश्यवर्ग बहुपशुसम्पत्ति (भूत-सम्पत्ति) से युक्त रहता है। अपिच वर्षा इस की अपनी ऋतु है, एवं वर्षा ही पशुसम्पत्ति की अधिष्ठात्री मानी गई है, इसलिए भी वैश्य बहुपशुसम्पत्तिशाली रहता है। चूकि प्रजापति के मध्यभाग से यह वैश्यवर्ग ब्राह्मण-क्षत्रियवर्ग के पीछे उत्पन्न हुआ है, अतएव दोनों का यह उपजीवनीय बना रहता है। अर्थात् ब्रह्म-क्षत्र भोक्ता हैं, अन्नाद हैं, वैश्य भोग्य है, आद्य है। वैश्य की सम्पत्ति उस की अपनी भोग्य सम्पत्ति नहीं है। वैश्य केवल सम्पत्ति के सञ्चय का अधिकारी है। इसका उपभोग (उपयोग-राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुसार) ब्राह्मण की अनुमति से क्षत्रिय राजा ही करते हैं" ॥ ३ ॥

"प्रजापति ने अपने प्रतिष्ठारूप पादों से 'एकविंशस्तोम' उत्पन्न किया, एकविंशस्तोम के अनुरूप 'अनुष्टुप्छन्द' उत्पन्न किया। (परन्तु ब्रह्म-क्षत्र-विट्-सृष्टियों की तरह इस स्तोम मे) कोई देवता उत्पन्न नहीं किया। (देवसम्पत्तिशून्य) एकविंश के अनुरूप 'शूद्रमनुष्य' उत्पन्न किया। चूकि इसके उपादान में देवता का अभाव था, अतएव (वैश्यवत्) बहुपशुसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ भी यह अयज्ञिय माना गया। अपिच चूकि यह प्रजापति के पाद भाग से उत्पन्न हुआ है, अतएव ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्यवर्ग के पादप्रक्षालन (सेवा) के अतिरिक्त और इसका कोई दूसरा स्वधर्म्म नहीं है।" साथ ही मे यह भी स्मरण रखने की बात है कि, प्रजापति ने इसे प्रतिष्ठा से उत्पन्न किया है, अतएव एकविंशस्तोमात्मक शूद्रवर्ग (सेवा, बाह्यकर्म्म, शिल्प-कला आदि धर्म्मों से) इतर तीनों वर्णों की प्रतिष्ठा बना हुआ है। श्रुति का अभिप्राय यही है कि, यद्यपि पाद भाग से उत्पन्न होने के कारण शूद्र को यज्ञादि कर्म्मों में अवश्य ही अधिकार नहीं है। एतावता ही द्विजाति को इसे अनुपयुक्त नहीं मान लेना चाहिए। जैसे मस्तक-बाहू-उदर आदि उत्तमाङ्ग केवल पैरों के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, एवमेव तीनों वर्णों की प्रतिष्ठा पादस्थानीय शूद्र ही है। शूद्र की उपेक्षा से तीनों वर्णों की प्रतिष्ठा उखड़ जाती है। शूद्रवर्ण के उत्पथ गमन से समाजानुबन्धिनी वर्णव्यवस्था मे शिथिलता आ जाती है" ॥ ४ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त शतपथ-श्रुति, तथा ताण्ड्य श्रुति ने स्पष्ट ही प्रजापति के द्वारा ही वर्णसृष्टि का उद्गम बतलाया है। वर्णसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रजापति सम्वत्सर प्रजापति ही है, जिस का कि पूर्व के—'अदिति-दितिमूलावर्णअवर्णसृष्टि' प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। स्तोम, छन्द, देवता, ऋतु, आदि ही वर्णों के उपादान बतलाए गए हैं। ये सब उपादान ईश्वरीय कर्म्म से उत्पन्न हुए हैं। एवं इन्हीं कर्म्मों से स्वय प्रजापति ही वर्णसृष्टि के प्रवर्त्तक बने हैं। इन सब विस्पष्ट परिस्थितियों को देखते हुए कौन वेदनिष्ठ वेद-प्रमाण से प्रमाणित वर्णव्यवस्था का ईश्वरकर्तृत्व, अतएव योनिप्रधानत्व स्वीकार न करेगा।

मुखत एव	उरस्त एव	मध्यत एव	पत्त एव
१—त्रिवृत्स्तोमः	१—पञ्चदशस्तोमः	१—सप्तदशस्तोमः	१—एकविंशस्तोमः
२—अग्निर्देवता	२—इन्द्रो देवता	२—विश्वेदेवादेवताः	+ + + +
३—गायत्रीछन्दः	३—त्रिष्टुप्छन्दः	३—जगतीछन्दः	२—अनुष्टुप्छन्दः
४—रथन्तरं साम	४—बृहत्साम	४—वैरूपं साम	३—वैराज साम
५—प्रातःसवनम्	५—माध्यन्दिनंसवनम्	५—सायंसवनम्	+ + + +
६—ब्राह्मणो मनुष्यः	६—राजन्यो मनुष्यः	६—वैश्यो मनुष्यः	४—शूद्रो मनुष्यः
७—अजः पशुः	७—अविः पशुः	७—गौः-पशुः	५—अश्वः पशुः
८—मुख्याः	८—वीर्य्यवन्तः	८—आद्याः	६—प्रवर्याः
त इमे जात्या ब्राह्मणाः	त इमे जात्या क्षत्रियाः	त इमे जात्या वैश्याः	त इमे जात्या शूद्राः
अन्नादवर्गः - भोक्तृवर्गः		अन्नवर्गः—भोग्यवर्गः	

४—"अभिषेचनीयानि पात्राणि भवन्ति, यत्रैता आपोऽभिषेचनीयानि भवन्ति। पालाशं भवति, तेन ब्राह्मणोऽभिषिञ्चति। ब्रह्म वै पलाशः। नैय्यग्रोधपादं भवति। तेन मित्र्यो राजन्योऽभिषिञ्चति। पद्भिर्वै न्यग्रोधः प्रतिष्ठितः। मित्रेण वै राजन्यः प्रतिष्ठितः। आश्वत्थं भवति, तेन वैश्योऽभिषिञ्चति"।

—शत० ब्रा० ५।३।५।१२

राजसूययज्ञ में मूर्द्धाभिषिक्त राजा का 'सरस्वती'-'स्यन्दमाना'-'प्रतीपस्यन्दिनी-'अपयती - नदीपति- निवेष्य- स्थावरह्द- आतपवर्ष्या - वैशन्ती – कूप्या— प्रुस्वा— मधुशविष्ठा -गोरुल्ब्या - पयः- घृतं - मरीचि-द्वे ऊर्म्मी' इन सत्रह तरह के जलों से अभिषेक किया जाता है। ऋत्विक् ब्राह्मण, मित्रराजा, तथा वैश्य ही तत्तदभिषेचनीय पात्रों में रक्खे हुए, तत्तद्विशेषशक्ति-वीर्य्य-गुणक, तत्तदभिषेचनीय जलों से मूर्द्धाभिषिक्त राजा का अभिषेक करते हैं। इसी सम्बन्ध में प्रकृत श्रुति ने यह व्यवस्था की है कि,—"वे अभिषेचनीय पात्र कहलाते हैं, जिन में कि अभिषेचनीय जल रक्खे रहते हैं। इन पात्रों में पलाश लकड़ी

के पात्र में रक्खे हुए अभिषेचनीय जल से ब्राह्मण अभिषेक करता है। चूंकि पलाश ब्रह्म (ब्रह्मवीर्य्य युक्त होने से ब्राह्मण) है, अतः तत्सम ब्राह्मण इसीसे अभिषेक करेगा। जिस पात्र की बैठक वटवृक्ष की लकड़ी की होती है, नैग्यग्रोधपादलक्षण उस पात्र के जल से मित्र-राजा अभिषेक करता है। पादभाग से ही न्यग्रोध प्रतिष्ठित रहता है, एवं मित्रराजाओं के बल से ही मूर्द्धाभिषिक्त सम्राट् प्रतिष्ठित रहता है। पिप्पलपात्र से वैश्य अभिषेक करता है"।

श्रुति ने पात्रों का भेद बतलाते हुए तत्तद्वृक्षविशेषों में भी ब्रह्म-क्षत्र-विड्-वीर्य्यों की भेद से अवस्थिति सिद्ध की है। भला बतलाइए तो सही, पलाश ब्राह्मणोचित कौन से कर्म्म करता है, जिनके आधार पर इसे ब्रह्म कह दिया गया? अवश्य ही ब्रह्म-क्षत्रादिभाव ईश्वरीयकर्म्म से सम्बन्ध रखते हैं। एवं इसी आधार पर सनातनधर्म्मावलम्बियों नें वर्णव्यवस्था को योनिमूला माना है।

५—(क)—'ब्रह्म वै ब्राह्मणः' (तै० ब्रा० ३।६।१४।२)—"ब्रह्म (ब्रह्मवीर्य्य) ही ब्राह्मण (वर्ण) का स्वरूपनिर्म्माता है।

(ख)—'गायत्रछन्दा वै ब्राह्मणः' (तै० ब्रा० १।१।६।६) "ब्राह्मण अष्टाक्षर गायत्री-छन्द से युक्त रहता हुआ 'गायत्रछन्दा' कहलाया है"।

(ग)—'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' (तै० ब्रा० २।७।३।१)—"वर्णों में ब्राह्मण वर्ण प्राणाग्नि ब्रह्म की प्रधानता से 'आग्नेय' है"।

(घ)—'दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः' (तै० ब्रा० १।२।६।७)—"दिव्यभाव की प्रधानता से वर्णों में ब्राह्मण वर्ण "दैव्यवर्ण" माना गया है"।

(ङ)—'सोमो वै ब्राह्मणः' (ताण्ड्य ब्रा० २३।१६।५।)—"सोमतत्व ब्राह्मण है"।

(च)—'यद् ब्राह्मण एव रोहिणी' (तै० २।७।६।४)—"ब्राह्मणनक्षत्रों[१] में समाविष्ट रहने से 'रोहिणी' *नक्षत्र भी अग्निप्रधान बनता हुआ 'ब्राह्मणनक्षत्र' है।*

---

१ "सप्त सप्त क्रमाज्ज्ञेया विप्राद्याः कृत्तिकादयः" इस ज्योति शास्त्र-सिद्धान्त के अनुसार 'कृत्तिका' नक्षत्र से आरम्भ कर 'अश्लेषा' नक्षत्र तक सात नक्षत्र ब्राह्मण हैं, 'मघा' से आरम्भ कर 'विशाखा' पर्य्यन्त सात नक्षत्र क्षत्रिय हैं, 'अनुराधा' से आरम्भ कर 'श्रवण' नक्षत्र पर्य्यन्त सात नक्षत्र वैश्य हैं, एवं 'धनिष्ठा' से आरम्भ कर 'रेवती' पर्य्यन्त सात नक्षत्र शूद्र हैं। इस नाक्षत्रिक वर्णव्यवस्था के मूल भी अग्नि आदि से सम्बद्ध ब्रह्मादि प्राकृतिक वीर्य्य ही समझने चाहिए।

(छ)—'ब्रह्म वा अजः' (शत० ब्रा० ६।४।४।१५)—"पशुओं में अजपशु-ब्राह्मण है"।

(ज)—'ब्रह्मणो वा एतद्रूपं, यदहः' (शत० ब्रा० १३।१।५।४) -"दिन-रात, दोनों में दिन ब्राह्मण है"।

(झ)—'गायत्रं वै प्रातःसवनं, ब्रह्म गायत्री, ब्राह्मणेषु ह पशवोऽभविष्यन्' (शत० ब्रा० ४।४।१।१८।) "प्रातःसवन गायत्र है, गायत्री ब्रह्म है, ब्रह्म ब्राह्मण है, (प्रातःसवनीय कर्म्म से) ब्राह्मणों में पशु सम्पत्ति प्रतिष्ठित होगी"।

(ञ)—'सर्वेषां वा एष वनस्पतीनां योनिर्यत् पलाशः' (ऐ० ब्रा० २।१।)—"यच्चयावत् वनस्पतियों की यह योनि है, जो कि पलाश है"। श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, पलाश ब्रह्म (ब्राह्मण) है, एवं ब्रह्म ही सबकी योनि है। अतः तद्रूप पलाश को अवश्य ही इतर वनस्पतियों की योनि कहा जा सकता है।

(ट)—'ब्रह्म हि वसन्तः, तस्माद् ब्राह्मणो वसन्ते आदधीत' (शत० २।१।३।५।) "वसन्त ऋतु ऋतुओं मे ब्रह्म (ब्राह्मण) है, अतः तत्सम ब्राह्मण को वसन्त ऋतु में ही अग्न्याधान करना चाहिए।"

(ठ)—'सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः' (तै० ३।१२।६।२।) "ब्राह्मणवर्णात्मक सामवेद से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न हुआ है"।

६—(क)—'क्षत्रस्य वा एतद्रूपं, यद्राजन्यः' (शत० ब्रा० १३।१।५।३।)—"यह प्राकृतिक क्षत्र (क्षत्रियवर्ण) का ही दूसरा (भौतिक) रूप है, जो कि मनुष्यों में क्षत्रियवर्ण है"।

(ख)—'आदित्यो वै दैवं क्षत्रम्' (ऐ० ब्रा० ७।२०)—"देवताओं में आदित्य जाति का देववर्ग क्षत्रियवर्ण है"।

(ग)—'क्षत्रं वा इन्द्रः' (कौ० ब्रा० १२।८)—"देवताओं में इन्द्रदेवता क्षत्रियवर्ण है"।

(घ)—'त्रिष्टुप्छन्दा वै राजन्यः' (तै० ब्रा० १।१।९।६।)—"क्षत्रियवर्ण त्रिष्टुप्-छन्द से छन्दित है"।

(ङ)—'ऐन्द्रो वै राजन्यः' (तै० ब्रा० ३।२३।२।)—"क्षत्रियवर्ण इन्द्रक्षत्रप्रधान बनता हुआ 'ऐन्द्र' है"।

(च)—'क्षत्रं हि राजन्यः, तस्माद् राजन्यो ग्रीष्मे-आदधीत' (शत० २।१।३।५।) "ऋतुओं में ग्रीष्म ऋतु क्षत्रिय है, अतएव तत्समानवर्ण क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु मे ही अग्न्याधान करना चाहिए"।

(छ)—'ऐन्द्रं माध्यन्दिनं सवनं, क्षत्रमिन्द्रः, क्षत्रियेषु ह वै पशवोऽभविष्यत्' (शत० ब्रा० ४।४।१।१८।)—"माध्यन्दिन सवन ऐन्द्र है, इन्द्र क्षत्र है, (माध्यन्दिन सवनीय कर्म्म से) क्षत्रियों में पशु सम्पत्ति प्रतिष्ठित होगी"।

(ज)—'क्षत्रं वा अश्वः, विडितरे पशवः' (तै० ब्रा० ३।६।७।१)—"पशुओं में अश्व क्षत्रिय है, इतर पशु वैश्य है"।

(झ)—'क्षत्रस्यैतद्रूपं, यद्धिरण्यम्' (शत० १३।२।२।१७)—"यह साक्षात् क्षत्रिय का रूप है, जो कि सुवर्ण है"।

(ञ)—'क्षत्रं वा एतदारण्यानां पशूनां, यद् व्याघ्रः' (ऐ० ब्रा० ८।६)—"आरण्य पशुओं में यह क्षत्रिय है, जो कि व्याघ्र है"।

(ट)—'क्षत्रं वै प्रस्तरः, विश इतरं बर्हिः' (शत० १।३।४।१०) "यज्ञ मे उपयुक्त कुशमुष्टि क्षत्रिय है, इतर बिखरे हुए कुश वैश्य हैं"।

७—(क)—'जगतीछन्दा वै वैश्यः' (तै० ब्रा० १।१।६।७)—"वैश्यवर्ण जगतीछन्द से छन्दित है"।

(ख)—'अन्नं वै विशः' (शत० २।१।३।८)—"अन्न (भोग्य) का ही नाम वैश्य है"।

(ग)—'विडेव वर्षाः, तस्माद् वैश्यो वर्षास्वादधीत' (शत० २।१।३।५) "ऋतुओं मे वर्षाऋतु वैश्य है, अतएव तत्समानवर्ण वैश्य को वर्षा ऋतु में ही अग्न्याधान करना चाहिए"।

(घ)—'वैश्वदेवं वै तृतीयसवनं, सर्वमिदं विश्वेदेवाः, तस्मात् सर्वत्रैव पशवः' (शत० ब्रा० ४।४।१।१८)—सायंसवन वैश्वदेव है, सभी पदार्थ वैश्वदेवात्मक वैश्य हैं, (सायंसवनीय कर्म्म से) सर्वात्मक वैश्यों में पशुसम्पत्ति प्रतिष्ठित होगी"।

८—(क)—'स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्' (शत० १४।४।२।२।२५)—"प्रजापति ने 'पूषा' नामक शूद्रवर्ण उत्पन्न किया"।

(ख)—'असतो वा एष सम्भूतो यच्छूद्रः' (तै० ३।२।२।३।३।६)—प्रजापति के असत् (मलिन-किट्ट) भाग से ही शूद्र उत्पन्न हुआ है"।

(ग)—'असुर्य्यः शूद्रः' (तै० ब्रा० १।२।६।७)—शूद्रवर्ण तमोगुणप्रधान बनता हुआ असूर्य्य (ज्योति से हीन) है।

९— 'चत्वारो वै वर्णाः—ब्राह्मणः, राजन्यः, वैश्यः, शूद्रः' (शत० ५।५।४।९)— "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भेद से चार वर्ण प्रसिद्ध हैं"।

अब कुछ एक श्रुत्यनुगत पौराणिक-स्मार्त्त वचनों पर भी दृष्टि डाल लीजिए, जिस से यह आशङ्का निकल जाय कि, वर्णव्यवस्था कर्म्मानुगत हो सकती है क्या? विस्तारभय से वचनों का अर्थ उद्धृत न करते हुए केवल मूलरूप ही उद्धृत कर दिया जाता है—

१—लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुख-बाहू-रु-पादतः।
ब्राह्मणं-क्षत्रियं-वैश्यं-शूद्रं च निरवर्त्तयत् ॥ १ ॥

—मनुः १।३१

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्म्माण्यकल्पयत् ॥ २ ॥

—मनुः १।८७

२—विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥

—भागवत ११।१७

३—वक्त्राद्यस्य ब्राह्मणाः सम्प्रसूतास्तद्वक्षसः क्षत्रियाः पूर्वभागैः।
वैश्यास्चोर्वोर्यस्य पद्भ्यां च शूद्राः सर्वे वर्णा गात्रतः सम्प्रसूताः।

—वा० पु० ७१ अ०

४—ततः कृष्णो महाभाग ! पुनरेव युधिष्ठिर ! ।
ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत् प्रभुः ॥ १ ॥
बाहुभ्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरुतः शतम् ।
पद्भ्यां शूद्रशतं चैव केशवो भरतर्षभ ! ॥ २ ॥
स एवं चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य महातपाः ।
अध्यक्ष्यं सर्वभूतानां धातारमकरोत् स्वयम् ॥ ३ ॥

—म० शा० २०७ अ० ।

५—मुखतोऽवर्त्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरुद्वह !
यस्तून्मुखत्त्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः ॥ १ ॥
बाहुभ्योऽवर्त्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥ २ ॥
विशोऽवर्त्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्त्तां नृणां यः समवर्त्तत ॥ ३ ॥
पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषाधर्म्म-सिद्धये ।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद् वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥ ४ ॥

—भागवत ३।६।

योनिमूलक वर्णविभाग—

उक्त श्रौत-स्मार्त्त-पौराणिक वचनों का समन्वय कर लेने के अनन्तर अवश्य ही वादी महोदय को वर्णविभाग की योनिमूलकता में कोई सन्देह न रहेगा। और उसे यह अनुभव होगा कि, मैं जिन पौराणिक वचनों को कर्म्मप्रधान मानने की चेष्टा कर रहा हूं, वे सब वचन केवल कर्म्मातिशय के द्योतक हैं। वायवीय पुराण के जिन वचनों को वादी ने उद्धृत करते हुए वर्णव्यवस्था का 'त्रेतायुग' से सम्बन्ध बतलाया था, उसका प्रत्युत्तर यद्यपि वहीं दिया जा चुका है, तथापि वादी के पूर्ण परितोष के लिए यहां भी एक दूसरी दृष्टि से समाधान कर देना अनुचित न होगा। वर्ण-

विभाग, तथा तन्मूला वर्णव्यवस्था, दोनों हीं अनादि हैं, इस में तो कोई सन्देह नहीं। फिर भी वायुपुराण ने त्रेता सम्बन्ध से व्यवस्था का जो विधान बतलाया है, उस का एकमात्र यही तात्पर्य्य है कि, त्रेतायुग में वर्णों में स्वधर्म्म परिपालन की उपेक्षावृत्ति का समावेश हो गया था, अतएव उस युग में मर्य्यादासूत्र के दृढ़ बन्धन लगाया गया था। स्वयं मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम का अवतार भी इसी दृढ़ बन्धन का सूचक बना हुआ है। रही बात वर्णव्यवस्था के अनादित्व की, वह निम्न लिखित उसी वायुपुराण के वचनों से स्पष्ट ही है—

ततः सर्गे ह्यवष्टब्धे सिसृक्षोर्ब्रह्मणस्तु वै।
प्रजास्ता ध्यायतस्तस्य सत्यभिध्यायिनस्तदा॥ १॥
मिथुनानां सहस्रं तु सोऽसृजद्वै मुखात्तदा।
जनास्ते ह्युपपद्यन्ते सत्वोद्रिक्ताः सुचेतसः॥ २॥
सहस्रमन्यद्वक्षस्तो मिथुनानां ससर्ज ह।
ते सर्वे रजसोद्रिक्ताः शुष्मिणश्चाप्यशुष्मिणः॥ ३॥
सृष्ट्वा सहस्रमन्यत्तु द्वन्द्वानामूरुतः पुनः।
रजस्तमोभ्यामुद्रिक्ता ईहाशीलास्तु ते स्मृताः॥ ४॥
पद्भ्यां सहस्रमन्यत्तु मिथुनानां ससर्ज ह।
उद्रिक्तास्तमसा सर्वे निःश्रीका ह्यल्पतेजसः॥ ५॥

—वायुपुराण ८ अ०। ३६ से ४० पर्य्यन्त।

इसी प्रकार वही पुराण कुछ आगे जाकर—'तेषां कर्म्माणि धर्म्मांश्च ब्रह्मा तु व्यदधात्-प्रभुः' 'संस्थितौ प्राकृतायां तु चातुर्वर्ण्यस्य सर्वशः' यह कहता हुआ स्पष्टरूप से वर्णविभागानुबन्धिनी धर्म्म-कर्म्म-व्यवस्था की नित्यता सिद्ध कर रहा है। स्वयं भागवत ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया है, जैसा कि पूर्व वचनों से स्पष्ट है। श्रुति ने जिस भांति प्रजापति के ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शौद्र-वीर्य्यों से चारों वर्णों की उत्पत्ति बतलाई है, ठीक उसी का स्पष्टीकरण इन ऐतिह्य-स्मार्त्त-तथा पौराणिक वचनों द्वारा हुआ है।

अथवा थोड़ी देर के लिए वादी ही के कथन को सिद्धान्त-पक्ष मानते हुए हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि, वर्णव्यवस्था कर्म्मानुसारिणी ही है। यह स्वीकार करते हुए हम कर्म्मवादी वादी से प्रश्न करते हैं कि, वर्णों से सम्बन्ध रखने वाला यह कर्म्म-भेद किस आधार पर, किन के द्वारा उत्पन्न हुआ ? । समाजशास्त्रियों नें समाज की सुव्यवस्था के लिए कर्म्मभेद व्यवस्थित किया, यदि आप इस प्रश्न का यह उत्तर देंगे, तो पुनः हम प्रतिप्रश्न करेंगे कि, बिना किसी कारण के ही समाजशास्त्रियों नें कुछ एक व्यक्तियों को तो वेदाध्ययनादि जैसे उत्कृष्ट कर्म्मों में किस आधार पर प्रतिष्ठित कर दिया ? कुछ को राजसिंहासन का अधिकार क्यों दे दिया, एवं कुछ एक को सेवा जैसे निम्न कर्म्म में क्यों नियुक्त कर दिया ? जब कि सभी मनुष्य समान-आदर के पात्र थे। भला समाज में ऐसा वह कौन व्यक्ति होगा, जो उत्तम कर्म्मों को छोड़ कर निम्न कर्म्मों का अनुगामी बनेगा। अगत्या आप को यही समाधान करना पड़ेगा कि, जिस की जैसी प्रवृत्ति देखी, जिसे जिस कर्म्म के योग्य पाया, उसे उसी कर्म्म में नियुक्त किया गया। लीजिए, मान लिया आपने जन्मभाव का प्राधान्य। सीधी तरह से न सही, द्रविड़ प्राणायाम से ही सही, प्रवृत्ति को कारण मानते हुए आपने भी जन्म-प्राधान्यवाद स्वीकार कर ही तो लिया। प्रवृत्ति का मूल प्रकृति है, प्रकृति का तूल रूप ही वर्ण, किंवा जाति है, और निश्चयेन यही कर्म्मव्यवस्था का भी मूलाधार है। वास्तव में वर्णविभाग ही कर्म्मविभाग का मूल है। आप प्रयत्नसहस्रों से भी कर्म्मविभाग को वर्णविभाग का मूल सिद्ध नहीं कर सकते। वर्णों की योग्यता, प्रवृत्ति, प्रकृति, स्वभाव, शक्ति, गुणविशेषों के आधार पर ही कर्म्मों का विभाजन हुआ है, न कि कर्म्मविभागानुसार वर्णविभाग। देखिए, इस सम्बन्ध में गीताशास्त्र क्या कहता है—

> ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां-शूद्राणां च परन्तप !
> कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
>
> —गीता १८।४१

वादी की ओर से इसी सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति और उपस्थित होती है। वह कहता है कि, "हम थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि, ब्राह्मण- क्षत्रियादि जातिभेद स्वभाव सिद्ध हैं, प्राकृतिक है, नित्य हैं। जन्मकाल से ही वीर्य्यों में प्रतिष्ठित रहने वाला देवप्राण-भेद ही जातिभेद का कारण है, देवभेद की यह विलक्षणता ईश्वर से ही सम्बद्ध है, फलतः वर्णभेद का कर्त्ता

भी एकमात्र ईश्वर ही है। यह सब कुछ ठीक है। फिर भी वर्णव्यवस्था को वंशानुगत नहीं माना जा सकता, अथवा सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए इसे वंशानुगत नहीं मानना चाहिए"। क्यों ? सुनिए !

"ब्राह्मण के अमुक कर्त्तव्य हैं, क्षत्रिय के लिए अमुक कर्म्म नियत हैं, अमुक वर्ण के आहार-विहारादि अमुक प्रकार के होनें चाहिए" इस प्रकार की कर्म्मभेदरूपा जो व्यवस्था हमें यत्र तत्र उपलब्ध हो रही है, उसके सम्बन्ध में यह तो निर्विवाद है कि, प्रकृतिरहस्यवेत्ता भारतीय समाजशास्त्रियों नें हीं व्यवस्था को ऐसा सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया है। यही कारण है कि, बीजरूप से सर्वत्र विद्यमान रहती हुई भी यह व्यवस्था केवल भारतवर्ष में ही पुष्पित-पल्लवित हुई है। प्राणदेवताओं के तात्त्विक ज्ञान में पारङ्गत, प्रकृति देवी के गुप्त रहस्यों के तात्त्विक परीक्षक भारतीय महर्षियों नें अपने इस भारत देश में प्रकृत्यनुकूल कर्म्मों का विभाग कर, उन कर्म्मों के अनुरूप ही आहार-विहारादि का नियमन करते हुए वर्णविभाग को एक सुव्यवस्थित रूप दे डाला है। और यही सिद्धान्त सिद्धान्तवादी ने भी पूर्व में 'कर्म्मभिर्वर्णतां गतम्' का समाधान करते हुए स्वीकार किया है। चूंकि भारतेतर देशों में ऐसे दिव्य-परीक्षकों का अभाव था, अतएव स्वाभाविक विभाग के रहने पर भी उन देशों में इसे ऐसा स्थूलरूप व्यवस्थित न हो सका। इसी से यह भी साधु ससिद्ध है कि, मूल वर्ण-विभाग के जन्मसिद्ध होने पर भी, ईश्वरकृत होने पर भी, साथ ही में वर्णकर्म्मों के भी प्राकृत होने पर भी यह स्थूल वर्णव्यवस्था भारतवर्ष में महर्षियों के द्वारा कर्म्मविभाग के आधार पर ही व्यवस्थित हुई है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा वर्णव्यवस्था का कर्तृत्व समाजानुवर्त्ती ही बन जाता है।

ऐसी दशा में यही उचित है कि, जिस व्यक्ति में ब्राह्मणवर्णानुकूल स्वभाव, कर्म्म, गुण देखे जायं, उसे ही ब्राह्मण कहा जाय। एक ऐसा व्यक्ति, जो ब्राह्मण-दम्पती से उत्पन्न हुआ हो, परन्तु जिस का स्वभाव, गुण, कर्म्म ब्राह्मणत्व से सर्वथा विपरीत हो, उसे ब्राह्मण मानना तो सर्वथा प्रकृतिविरुद्ध ही कहा जायगा। एवमेव एक ऐसे शूद्र को, जिसका स्वभाव ब्राह्मण जैसा है, शूद्र कहना-प्रकृति-विरुद्ध माना जायगा। इस दृष्टि से (वर्णविभाग को प्रकृतिसिद्ध मानते हुए भी) वर्णव्यवस्था का कर्म्मप्रधानत्व ही न्यायसङ्गत कहा जायगा। फलतः इस सम्बन्ध में वंशानुगति का अभिनिवेश रखना कोई महत्व नहीं रखता। यह किसी भी दृष्टि से आवश्यक, तथा उचित नहीं है कि, एक ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण्यधर्म्म-कर्म्मों से वञ्चित रहता

हुआ भी ब्राह्मण कह कर ही समाज में प्रतिष्ठित माना जाय, उधर एक शूद्रपुत्र ब्राह्मण्य-भाव से युक्त रहता हुआ भी शूद्र ही कहा जाय"।

वादी की विप्रतिपत्ति अवश्य ही 'चारु-वाक्' बनती हुई 'चार्वाक' (नास्तिक) मत का पोषण कर रही है। अपने कर्म्माभिनिवेश में पड़ कर वादी यह भूल जाता है कि, बिना वंशानुगति स्वीकार किए वर्णव्यवस्था का तात्विक स्वरूप ही सुरक्षित नहीं रह सकता। वादी के कथनानुसार हम मान लेते हैं कि, ईश्वरकृत वर्णविभाग के आधार पर समाज-शास्त्रियों नें त्रेतायुग में हीं इस व्यवस्था को जन्म दिया। परन्तु इस के साथ ही वादी को यह भी नहीं भुला देना चाहिए कि,-'कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते' के मर्म्मज्ञ महर्षियों नें व्यवस्था के साथ साथ ही इसे वंशानुगामिनी भी बना डाला था। अथवा बना क्या डाला था, वर्णतत्व स्वयं अपने हीं रूप से वंशानुगत बना हुआ है। ऋषि तो वंश प्रवृत्ति के (नियमबन्धन द्वारा) रक्षकमात्र रहे हैं। 'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः' सिद्धान्त सर्वमान्य, एवं विज्ञान सम्मत है। यह निःसंदिग्ध विषय है कि, यदि माता-पिता का रजो-वीर्य्य शुद्ध है, तो (बिना किसी विशेष प्रतिबन्ध के आए) अवश्य ही इन के मिथुन से सवर्ण ही सन्तान उत्पन्न होगी, एवं वह प्रकृत्या तद्वर्णोचित कर्म्मों में हीं अपनी प्रवृत्ति रक्खेगी। मधुर बीज से कटुफल, तथा कटुबीज से मधुर फल उत्पन्न हो, यह भी तो सर्वथा प्रकृति-विरुद्ध ही है। अवश्य ही प्रकृति-विपर्य्यय के कोई विशेष कारण होनें चाहिएं। जिनके कि आ जाने से जन्मतः विद्यमान रहते हुए भी ब्राह्मणत्वादि उसी प्रकार अभिभूत हो जाते हैं, जैसे कि मेघावरण से रहता हुआ भी सौर प्रकाश अभिभूत हो जाता है। यदि वर्णों में ऐसा प्रकृतिविपर्य्यय देखा जाय, तो परीक्षक को विश्वास करना चाहिए कि, या तो रजो-वीर्य्य के मिथुन में साङ्कर्य्य है, अथवा देशदोष, शिक्षादोष, अन्नदोष, कुसङ्ग, संस्काराभावादि कारण हैं। परन्तु ऐसे अपवाद प्रकृतिसिद्ध 'सवर्ण नियम' को बाधित करने में सर्वथा असमर्थ हैं। अवश्य ही तद्वर्ण की सन्तान तद्वर्ण ही मानी जायगी। जिस प्रकार वर्णविभाग प्रकृतिसिद्ध है, उसी प्रकार समाजशास्त्रियों द्वारा व्यवस्थित वंशानुगत वर्णपरम्परा भी प्रकृति सिद्ध ही है, एवं दोनों का मूल योनिभाव ही है।

इस पर यदि आप यह आपत्ति उठावें कि, वर्णव्यवस्था की योनिमूलकता में तो प्रमाण है, परन्तु यह वंशानुगत भी है, इस में क्या प्रमाण ?। उत्तर में निवेदन करना पड़ेगा कि, पुनः आप को आत्मविस्मृति हो रही है। आपने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के जिस 'कवषऐलूपा-ख्यान' को उद्धृत किया था, वही इस सम्बन्ध में प्रमाण है। "ब्राह्मण का पुत्र भी ब्राह्मण

सकता। प्रकृत में वक्तव्यांश केवल यही है कि, 'ऐतरेयब्राह्मण' ऋग्वेद का ब्राह्मण है। हमारे उक्त आख्यान का सम्बन्ध इसी प्राचीनतम ब्राह्मणग्रन्थ के साथ है। उस में जब वंशानुगति का स्पष्ट उल्लेख है, तो फिर किस आधार पर इसे कल्पना कहा जा सकता है।

जिस 'विश्वामित्राख्यान' पर वादी महोदय अभिमान कर रहे हैं, वह भी तत्त्वतः हमारे ही सिद्धान्त का समर्थक बन रहा है। विश्वामित्र ने वसिष्ठ के ब्रह्मबल से परास्त होकर यह प्रतिज्ञा की कि, 'मैं इसी जन्म में ब्राह्मण बनूंगा'। अपने इस संकल्प की सिद्धि के लिए विश्वामित्र ने वर्षों ऐसी घोर-घोरतम तपश्चर्य्या की, जिसके स्मरणमात्र से उन महानुभावों की हृद्गति अवरुद्ध हो सकती है, जो कि आज इच्छामात्र से ब्राह्मण बनने के लिए लालायित हो रहे हैं। विश्वामित्र फूत्कारमात्र से, संकल्प के अव्यवहितोत्तरकाल में ही ब्रह्मर्षि नहीं बन गए थे। यदि वादी के मतानुसार यह व्यवस्था वंशानुगता न होती, केवल कर्म्मप्रधान ही होती, तो विश्वामित्र कभी ऐसे तपोऽनुष्ठान में प्रवृत्त न होते। अपितु ब्राह्मणोचित कर्म्मानुष्ठान के साथ ही वे ब्राह्मण मान लिए जाते। यदि वादी यह कहे कि, तप से ही ब्राह्मणोचित योग्यता का आविर्भाव होता है, तो यह कथन और भी अधिक उपहासास्पद माना जायगा। विश्वामित्र की योग्यता इस सम्बन्ध में चरम सीमा पर पहुंची हुई थी, फलतः उन्हें इस के लिए विशेष तप की अपेक्षा न थी। योग्यता के रहने पर भी जन्माभिभव की कृपा से वसिष्ठादि समाजनेताओं नें विश्वामित्र को तब तक 'ब्राह्मण' उपाधि से अलङ्कृत न किया, जब तक कि लोकोत्तर तप से उन्होंने चरुविपर्य्यय सम्बन्धी जन्माभिव को हटाकर वीर्य्य का शोधन न कर लिया। इस प्रकार उत्कट तपोमूल, उसपर भी केवल जन्माभिव सम्बन्धी, अपवाद रूप विश्वामित्र का वर्णविपर्य्यय भी प्राकृतिक-सामान्य नियम का बाधक नहीं बन सकता।

पाठकों को यह विदित ही है कि, विश्वामित्र ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के द्रष्टा हैं। यह भी सिद्ध विषय है कि, ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम, प्राचीनतम ही क्यों अनादि मौलिक साहित्य है। यदि तभी से हमारी यह वर्णव्यवस्था कुलक्रमानुगता थी, तो इस के अनादित्व में भी क्या सन्देह रह जाता है। अपवाद रूप से उपलब्ध होने वाले कुछ एक उदाहरणों के आधार पर (जो कि अपवाद भी पूर्वकथनानुसार तत्त्वतः सामान्य नियम के ही उपोद्बलक बन रहे हैं, एवं जब कि इस व्यवस्था को, तथा इसकी वंशानुगत्ति को, दोनों को योनिमूलक सिद्ध करने वाला सम्पूर्ण आर्षसाहित्य विद्यमान है,) ऐसे विशाल आर्षसाहित्य को बिना सोचे समझे कर्म्म-पक्षपाती मान बैठना, एवं वर्णव्यवस्था, तथा इस की वंशानुगति पर

ही होता है, शूद्र का पुत्र भी शूद्र ही होता है, चाहे ब्राह्मणपुत्र विरोधी कर्मों का अनुगामी हो, अथवा चाहे शूद्रपुत्र ब्राह्मण्य का अनुगामी हो" यदि यह सिद्धान्त प्रकृति सम्मत न होता तो, ब्राह्मणस्वभावोचित यज्ञकर्म्म की भावना लेकर ऋषिसत्र में आने वाले कवष को श्रुति कभी 'अब्राह्मण' न कहती, न वह यज्ञमण्डप से बाहिर निकाला जाता, एवं न उस के इस जात्यधिकार विरुद्ध कर्म्म के लिए दण्डविधान होता। वंशानुगति के विरोधियों से हम पूछते हैं कि, यदि वर्णव्यवस्था का केवल व्यक्ति से ही सम्बन्ध था, तो ऋषियों नें यज्ञकर्म्म की इच्छा रखने वाले कवष का तिरस्कार किस आधार पर कर डाला ? क्यों नहीं उन्होंनें यज्ञकर्म्म की प्रवृत्ति देखकर उसे सानन्द, साभिनन्दन ब्राह्मण मान लिया। अपने जन्मान्तरीय, अत्युत्कट विशेष संस्कारों के प्रभाव से आगे जाकर कवष यदि आपोनप्त्रीय सूक्त के द्रष्टा बन भी गए, तो इस अपवाद स्थल के आधार पर वंशानुगति का आमूलचूड़ विरोध करना किस शास्त्र की पद्धति है ?

किन्हीं विशेष कारणों से यदि कहीं प्रकृतिविपर्य्यय हो भी जाता है, तो भी ऐसे अपवादों के आधार पर प्रकृति के सामान्य नियम कभी शिथिल नहीं मानें जा सकते। हम जानते हैं कि, प्रकृत्यनुसार मनुष्यदम्पती से मनुष्यसन्तान ही उत्पन्न होती है। अब किसी दैव-कारण से यदि किसी स्त्री के गर्भ से द्विमुख शिशु, सर्पाकृति शिशु, अजाकृति शिशु, आदि विकृत सन्तानें उत्पन्न हो भी जातीं हैं (जैसा कि, कई बार ऐसी घटनाएं प्रत्यक्ष में देखी, सुनी गई हैं), तो क्या इन कुछ एक प्रकृतिविपर्य्यात्मक अपवादों से प्रकृति के सामान्य नियम का अभाव मान लिया जायगा ?

विष्ठा सर्वथा निकृष्ट पदार्थ है, गोमय विष्ठात्वेन विष्ठा होता हुआ भी किसी विशेष उत्कर्ष से पवित्रतम मान लिया गया है। 'अस्थि' स्पर्शमात्र से जहां धर्म्माचार्य्य सचैलस्नान का विधान करते हैं, वहां शङ्खास्थि ने किसी अलौकिक गुण से देवोपासना जैसे पूततम कर्म्म में स्थान पा रक्खा है। 'चर्म्म' अपवित्र है, परन्तु यज्ञ जैसे श्रेष्ठतम कर्म्म में 'कृष्णमृगचर्म्म' का ग्रहण है। केश सर्वथा अस्पृश्य हैं, परन्तु चमरीगाय के केश (चामर-चमर-चँवर) देवपूजन कर्म्म में ग्राह्य मानें गए हैं। इस प्रकार विशेष गुणोत्कर्ष से सम्बन्ध रखने वाले गोमय-शङ्ख कृष्णमृगचर्म्म-केश आदि कतिपय अपवादों के आधार पर विष्ठा-अस्थि-चर्म्म-केशमात्र को पवित्र मान बैठना क्या प्रकृतिसिद्ध कहलाएगा ?। ठीक यही अवस्था कवषाख्यान की समझिए। किसी विशिष्ट कारण से विशेषगुण का अधिष्ठाता बनता हुआ कवष प्रकृतिसिद्ध, कुलक्रमानुगत, नित्य, वर्णव्यवस्था की सामान्यधारा का कभी विघातक नहीं माना जा

सकता। प्रकृत में वक्तव्यांश केवल यही है कि, 'ऐतरेयब्राह्मण' ऋग्वेद का ब्राह्मण है। हमारे उक्त आख्यान का सम्बन्ध इसी प्राचीनतम ब्राह्मणग्रन्थ के साथ है। उस मे जब वंशानुगति का स्पष्ट उल्लेख है, तो फिर किस आधार पर इसे कल्पना कहा जा सकता है।

जिस 'विश्वामित्राख्यान' पर वादी महोदय अभिमान कर रहे हैं, वह भी तत्त्वतः हमारे ही सिद्धान्त का समर्थक बन रहा है। विश्वामित्र ने वसिष्ठ के ब्रह्मबल से परास्त होकर यह प्रतिज्ञा की कि, 'मैं इसी जन्म में ब्राह्मण बनूंगा'। अपने इस संकल्प की सिद्धि के लिए विश्वामित्र ने वर्षों ऐसी घोर-घोरतम तपश्चर्य्या की, जिसके स्मरणमात्र से उन महानुभावों की हृद्गति अवरुद्ध हो सकती है, जो कि आज इच्छामात्र से ब्राह्मण बनने के लिए लालायित हो रहे हैं। विश्वामित्र फूत्कारमात्र से, संकल्प के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं ब्रह्मर्षि नहीं बन गए थे। यदि वादी के मतानुसार यह व्यवस्था वंशानुगता न होती, केवल कर्म्मप्रधान ही होती, तो विश्वामित्र कभी ऐसे तपोऽनुष्ठान में प्रवृत्त न होते। अपितु ब्राह्मणोचित कर्म्मानुष्ठान के साथ ही वे ब्राह्मण मान लिए जाते। यदि वादी यह कहे कि, तप से ही ब्राह्मणोचित योग्यता का आविर्भाव होता है, तो यह कथन और भी अधिक उपहासास्पद माना जायगा। विश्वामित्र की योग्यता इस सम्बन्ध में चरम सीमा पर पहुंची हुई थी, फलतः उन्हें इस के लिए विशेष तप की अपेक्षा न थी। योग्यता के रहने पर भी जन्माभिभव की कृपा से वसिष्ठादि समाजनेताओं नें विश्वामित्र को तब तक 'ब्राह्मण' उपाधि से अलङ्कृत न किया, जब तक कि लोकोत्तर तप से उन्होंने चरुविपर्य्यय सम्बन्धी जन्माभिव को हटाकर वीर्य्य का शोधन न कर लिया। इस प्रकार उत्कट तपोमूल, उसपर भी केवल जन्माभिव सम्बन्धी, अपवाद रूप विश्वामित्र का वर्णविपर्य्यय भी प्राकृतिक-सामान्य नियम का बाधक नहीं बन सकता।

पाठकों को यह विदित ही है कि, विश्वामित्र ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के द्रष्टा हैं। यह भी सिद्ध विषय है कि, ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम, प्राचीनतम ही क्यों अनादि मौलिक साहित्य है। यदि तभी से हमारी यह वर्णव्यवस्था कुलक्रमानुगता थी, तो इस के अनादित्व में भी क्या सन्देह रह जाता है। अपवाद रूप से उपलब्ध होने वाले कुछ एक उदाहरणों के आधार पर (जो कि अपवाद भी पूर्वकथनानुसार तत्त्वतः सामान्य नियम के ही उपोद्बलक बन रहे हैं, एवं जब कि इस व्यवस्था को, तथा इसकी वंशानुगति को, दोनों को योनिमूलक सिद्ध करने वाला सम्पूर्ण आर्षसाहित्य विद्यमान है,) ऐसे विशाल आर्षसाहित्य को विना सोचे समझे कर्म्म-पक्षपाती मान बैठना, एवं वर्णव्यवस्था, तथा इस की वंशानुगति पर

आक्षेप-प्रत्याक्षेप कर बैठना कौन सी शास्त्रनिष्ठा है ? यह उन्हीं शास्त्रमर्म्मज्ञों से पूछना चाहिए। "हम तो केवल श्रुति को ही प्रमाण मानते हैं" का उद्घोष करने वालों का सन्तोष पूर्वोक्त श्रुति-वचनों से हुआ होगा। यदि नहीं, तो आज उन के सामने एक ऐसा श्रौत वचन उद्धृत होता है, जो स्पष्ट रूप से जन्म-भाव का ही समर्थन कर रहा है। दृष्टि डालने का अनुग्रह कीजिए!

> "तद्य इह रमणीयचरणा, अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनि-
> मापद्येरन्—ब्राह्मणयोनिं वा, क्षत्रिययोनिं वा, वैश्ययोनिं
> वा, अथ य इह कपूयचरणा, अभ्याशो ह यत्ते कपूयां
> योनिमापद्येरन्—श्वयोनिं वा, शूकरयोनिं वा, चाण्डाल-
> योनिं वा"।
>
> —छान्दोग्य-उपनिषत् ५।१०।७

"श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, इस जन्म के परित्याग के अनन्तर दूसरा जन्म लेने वाला कर्म्मभोक्ता प्राणी अपने शुभाशुभ सञ्चित संस्कारों के अनुसार ही शुभाशुभ योनियों में जन्म लेता है। जिन के आचरण (सञ्चित संस्कार) रमणीय (उत्तम) होते हैं, निश्चयेन वे औपपातिक आत्मा कर्म्मतारतम्य से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों में से किसी एक रमणीय योनि में जन्म लेते हैं। जिनके आचरण कपूय (दूषित) होते हैं, वे श्वान, शूकर, अथवा चण्डाल, तीनों में से किसी योनि में जन्म लेते हैं"। श्रुति ने ब्राह्मणादि को स्पष्ट ही 'योनि' बतलाया है। जो महानुभाव केवल मनुष्य-पशु-पक्षी आदि को ही योनि (जाति) मानते हैं, और फिर भी वेदभक्ति को सुरक्षित रखना चाहते हैं, सम्भवतः उक्त छान्दोग्यश्रुति से वे कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे।

'कर्म्म करने से ही योनि बदल जाती है' इस सिद्धान्त के अनुयायी सम्भवतः 'हरिश्चन्द्राख्यान' से अपरिचित हैं। सत्यप्रतिज्ञा की रक्षा के लिए कुछ समय के लिए 'चाण्डाल कर्म्म' में नियुक्त राजर्षि हरिश्चन्द्र कभी चाण्डाल न माने गए, अपितु सदा ही उनकी क्षत्रिय योनि सुरक्षित रही। इसी प्रकार आज भी यदि कोई ब्राह्मण समाज की अविवेकता से, अथवा तो अपनी अयोग्यता से 'दास्य' आदि कर्म्मों का अनुगामी बन जाता है, तब भी

जाता वह ब्राह्मण ही माना जायगा। एवं इतर वर्गों की अपेक्षा उसकी जाति-श्रेष्ठता अक्षुण्ण ही रहेगी। हम देखते हैं कि, मदान्ध धनिकों की अविवेकता से, साथ ही में अविद्या के-अनुग्रह से पाक-कर्म्म में रत रहते हुए भी ब्राह्मण उन अविवेकियों द्वारा "महाराज" शब्द के अधिकारी बनते हुए कुलक्रमानुगता व्यवस्था के समर्थक बन रहे है। 'गुरू-देवता महाराज-पण्डित-' आदि शब्द आज भी इन जात्युपजीवी ब्राह्मणों का सत्कार व्यक्त कर रहे हैं।

विशेषगुणाधायक, अतएव क्वाचित्क, उपलब्ध होने वाले जो कतिपय उदाहरण वादी की ओर से उपस्थित हुए हैं, पहिले तो अपवादमर्य्यादाक्रान्ति से इस सम्बन्ध में उन्हें उदाहरण ही नहीं माना जा सकता। दूसरे वे सब उदाहरण तात्त्विक दृष्टि से अवलोकन करने पर योनिभाव के ही समर्थक बन रहे हैं। और कुलक्रमानुगता इस व्यवस्था की सब से बड़ी विशेषता तो यह है कि, अपवादात्मक ये परिगणित उदाहरण भी कुछ ही काल में स्मृतिगर्भ में विलीन हो गए हैं। हजार-दो हजार वर्षों पहिले नहीं, अपितु त्रेतायुग में ही, जिस युग में कि वादी समाजशास्त्रियों द्वारा वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति मानता है। अपवाद नियन्त्रण का मुख्य कारण यही था कि, कृतयुग में अवश्य ही विशेष-शक्ति-सामर्थ्य रखने वाले पुरुष कभी कभी प्रकृति के साथ द्वन्द्व करते हुए भी विजयलाभ कर सके हैं। उस युग में वर्णप्रजा विशेष बल-वीर्य्य-पराक्रमों से युक्त थी, अतएव क्वाचित्क अपवाद बन जाने पर भी वह उस के लिए विशेष दोषावह न होता था, साथ ही में स्वधर्म्म-स्वमर्य्यादा का स्वयमेव महत्व समझने वाली तत्कालीन प्रजा ऐसे अपवादों को अपना आदर्श भी नहीं मानती थी। परन्तु आगे जाकर युगपरिवर्त्तन से शक्ति ह्रास हुआ। प्रजा में अनृतभाव विशेषरूप से प्रबल बन गया। फलतः उन अपवादों पर भी समाजशास्त्रियों की ओर से दृढ़ बन्धन लगाया गया, साथ ही योनिधर्म्म के विरुद्ध आचरण करने वाले का पर्य्याप्त शासन किया गया। कृतयुगानन्तर त्रेतायुग में प्रजा की शक्ति शिथिल हो गई थी, एकमात्र इसी हेतु से व्यवस्था का दृढ़ नियन्त्रण हुआ था, यह भी उसी वायुपुराण से स्पष्ट है। देखिए!

संस्थितौ प्राकृतायान्तु चातुर्वर्ण्यस्य सर्वशः।
पुनः प्रजास्तु धर्म्मांश्च ब्रह्मा तु व्यदधात् प्रभुः॥ १॥
वर्णधर्म्मैरजीवन्त्यो व्यरुध्यन्त परस्परम्।
पुनः प्रजास्तु ता मोहात् तान् धर्म्मान्तानपलापयन्॥ २॥

क्षत्रियाणां बलं दण्डं युद्धमाजीवमादिशत् ।
याजनाध्यापनं चैव तृतीयं च परिग्रहम् ॥ ३ ॥
ब्राह्मणानां विभुस्तेषां कर्म्माण्येतान्यथाऽऽदिशत् ।
पाशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषिं चैव विशां ददौ ॥ ४ ॥
शिल्पाजीवं भृतिं चैव शूद्राणां व्यदधात् प्रभुः ॥ ५ ॥

—वायुपुराण ८ अ० । १६८ से १७१ प० ।

मर्य्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम का अवतार त्रेतायुग मे हुआ है, यह सर्वविदित है। इस युग में उक्त व्यवस्था कैसी दृढमूला बन चुकी थी, इस मे वाल्मीकिरामायण ही प्रमाण है। योनिधर्म्म विरुद्ध तपोऽनुष्ठान करने वाले 'शम्बूक' के पाप से असमय मे ही एक ब्राह्मणपुत्र की मृत्यु हो जाती है। ब्राह्मण के—"आप के राज्य मे अवश्य ही कोई पाप कर्म्म हुआ है, अतएव असमय में ही मेरे पुत्र का निधन हो गया है" यह कहने पर अन्तर्य्यामी भगवान् राम शम्बूक का पता लगा कर उस का वध कर डालते हैं, फल स्वरूप ब्राह्मणकुमार जीवित हो जाता है।

उसी युग के दूसरे उदाहरण भगवान् परशुराम हैं। क्षत्रिय में जो उग्र वृत्तियाँ, जो क्षात्र-धर्म्म होनें चाहिएं थे, वे सब परशुराम में विद्यमान थे। क्षत्रियवृत्युचित परशुधारण करना इन की स्वाभाविक वृत्ति थी। समय समय पर इन्होंनें शस्त्रबल का वडी सफलता के साथ उपयोग भी किया था, जैसा कि भीष्म के साथ होने वाले युद्ध से, एवं निःक्षत्रियभाव के उद्रेक से स्पष्ट है। इन सब क्षात्रकर्म्मों के रहने पर भी राम द्वारा परशुराम 'ब्राह्मण' कह कर ही पूजे गए। 'शस्त्रग्राही ब्राह्मणो जामदग्न्यस्तस्मिन् दान्ते कास्तुतिस्तस्य राज्ञः' (उत्तररामचरित) भी यही स्पष्ट कर रहा है।

आज से लगभग पाच सहस्र वर्ष पहिले महाभारत समाप्त हुआ था। धनुर्विद्या में पारङ्गत गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि ने महाभारत युद्ध मे क्षत्रियोचित सेनापत्य कर्म्म किया, फिर भी इन के ब्राह्मणत्व में कोई आपत्ति न समझी गई। महाभारत के जिन कतिपय सवादों को लेकर वादी ने कर्म्म का प्राधान्य सूचित करना चाहा था, उसी महाभारत के 'भीष्म-युधिष्ठिरसंवाद' पर दृष्टि डालिए, समाधान हो जायगा।

युधिष्ठिरः—नान्यस्त्वदन्यो लोकेषु प्रष्टव्योऽस्ति नराधिप !
क्षत्रियो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ! ॥ १ ॥
ब्राह्मण्यं प्राप्नुयाद्येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
तपसा वा सुमहता वा कर्म्मणा वा श्रुतेन वा ॥ २ ॥
ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत्तन्मे ब्रूहि पितामह ! ॥ ३ ॥

भीष्मः—ब्राह्मण्यं तात ! दुष्प्राप्यं वर्णैः क्षत्रादिभिस्त्रिभिः ।
परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद्युधिष्ठिर ! ॥ १ ॥
बह्वीस्तु संसरन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः ।
पर्य्याते तात ! कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते ॥ २ ॥

लीजिए, अनेक जन्मों के अनन्तर, फिर भी किसी सौभाग्यशाली को ही ब्राह्मणयोनि की प्राप्ति। यदि केवल कर्म्म ही वर्ण का जनक होता, तो भीष्म के उत्तर का क्या महत्त्व। इसी सम्बन्ध में भीष्म ने युधिष्ठिर के सामने 'मतङ्गोपाख्यान' रक्खा है। मतङ्ग जाति से शूद्र था, परन्तु उस में ब्राह्मणोचित सद्वृत्त विद्यमान था। इसने ब्राह्मण बनने की इच्छा से घोर तपश्चर्य्या द्वारा इन्द्र को प्रसन्न किया। जब इन्द्र सामने उपस्थित हुए तो इसने अपनी कामना प्रकट करते हुए कहा कि:—

इदं वर्षसहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहितः ।
अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्यं नाप्नुयां कथम् ॥ १ ॥
अहिंसा-दममास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम् ?

—म० आदि० २९ अ० ।

इन्द्र ने क्या उत्तर दिया ? यह भी सुन लीजिए।

श्रेष्ठतां सर्वभूतेषु तपोऽर्थं नातिवर्त्तते ।
तदग्र्यं प्रार्थयानस्त्वमचिराद् विनशिष्यसि ॥

"तेरा प्रयास व्यर्थ है। यदि इस सम्बन्ध में तू और प्रयास करेगा, तो अपना स्वरूप भी खो बैठेगा" उत्तर सुन कर मतङ्ग अपना सङ्कल्प छोड़ देता है। यह तो हुआ पौराणिकवृत्त। अब धर्म्मसूत्रकारों की सम्मति का विचार कीजिए। इस सम्बन्ध में तो कुछ भी वक्तव्य नहीं है। परितोष के लिए दो चार उदाहरण उद्धृत करदेना ही पर्य्याप्त होगा—

१—सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥ १॥
२—उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्त्तिर्धर्म्मस्य शाश्वती।
स हि धर्म्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २॥
३—ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्म्मकोशस्य गुप्तये॥ ३॥

—मनुः

४—ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव उत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः।

—हारीतः

५—जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च॥

इसी प्रकार भगवान् मनु ब्राह्मणों में विद्वान् ब्राह्मण को श्रेष्ठ ब्राह्मण कहते हुए अविद्वान् को भी ब्राह्मण ही कह रहे हैं—(देखिए, मनुः १।९७)। इसी तरह यदि एक अवरवर्ण उत्कर्ष की इच्छा करता है, ब्राह्मण बनना चाहता है, तो इस सम्बन्ध में भी मनु नियन्त्रण आवश्यक समझते हैं—(देखिए, मनुः १०।९७)। पराशर ने तो स्पष्ट ही इस नियन्त्रण की प्राकृतता-सिद्ध कर दी है, जो कि पराशरस्मृति विधवावेदन के पक्षपातियों की दृष्टि में प्रमाणमूर्द्धन्य बन रही है—

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य दुष्टां गां दुहेच्छीलवतीं खरीम्॥

—पराशरः

स्मृतिशास्त्रशिरोमणिभूत स्वयं मानवधर्म्मशास्त्र की यही सम्मति है—

१—अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥
२—श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्द्धते ॥
३—एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्वकर्म्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥

—मनुः ९।३१७-१८-१९

उक्त मीमांसा से पाठकों को विदित हुआ होगा कि, जिस प्रकार वर्णव्यवस्था शाश्वत है, योनिमूला है, तथैव उस का कुलक्रमानुगतत्व भी प्रकृतिसिद्ध, अतएव जन्मसिद्ध ही है। कर्म्म का विरोध तो कौन कर सकता है। अवश्य ही कर्म्मयोग्यता वर्णस्वरूप के विकास का कारण बनती है। इसीलिए तो—'योनि-विद्या-कर्म्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्' इत्यादि रूप से योनि (जन्म), विद्या (वेदतत्त्वपरिज्ञान), कर्म्म, तीनों को ब्राह्मणवर्ण की मूलप्रतिष्ठा बतलाना अन्वर्थ बनता है। कर्म्मशून्य ब्राह्मण जात्या ब्राह्मण रहता हुआ भी निन्दनीय माना गया है। स्वयं शास्त्र ने ऐसे ब्राह्मण को 'ब्राह्मणब्रुव' कहते हुए उसकी भर्त्सना की है। इसी लिए भगवान् व्यास ने कर्म्म-संस्कार-विद्याशून्य द्विजों को शूद्र-स्त्रीकोटि में रखते हुए द्विजबन्धु माना है, एवं शूद्र-स्त्रीवत् वेदाधिकार से इन्हें वञ्चित रक्खा है—'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' ।

एक नहीं, दो नहीं, सैकडों वचन स्वयं स्मृतिशास्त्र मे ऐसे उपलब्ध होते हैं, जो स्पष्ट शब्दों मे कर्म्म की अवश्यकर्त्तव्यता का विधान कर रहे हैं। साथ ही कर्म्म-शून्य द्विजाति को शूद्रसम बतला रहे हैं। और वास्तव में ऐसा कथन है भी यथार्थ। जिसने वर्णानुसार कर्म्म नहीं किया, उस का क्या महत्व। केवल जात्यभिमान ही तो वर्ण का वर्णत्व विकसित नहीं कर देता। हमें तो इस सम्बन्ध में यह भी कहने में कोई संकोच नहीं होता कि, जो द्विजाति वर्णानुसार कर्म्म नहीं करता, उसका जात्यभिमान भी एकान्ततः व्यर्थ है। न ऐसे महापुरुषों से समाज का ही कोई

कल्याण हो सकता, न ये स्वयं अपना ही कुछ हित साधन कर सकते। यही नहीं, अपितु ये समाज के लिए केवल भार ही बने रहते हैं। 'वयं ब्राह्मणाः वयं ब्राह्मणाः' (हम ब्राह्मण हैं, हम ब्राह्मण हैं) का चीत्कार करने वाले इन जात्युपजीवी ब्राह्मणों के अनुग्रह से ही आज वर्ण-व्यवस्थासूत्र शिथिल बनता जा रहा है। किट्टावरण से आवृत एक वज्र (हीरा) स्वस्वरूप से वज्र रहता हुआ भी जैसे निरर्थक है, एवमेव वीर्य्यत्वेन जात्या ब्राह्मण रहता हुआ भी कर्म्म-विद्या शून्य ब्राह्मण एक निरर्थक ब्राह्मण है, यह मान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए। विद्या-तप-कर्म्म ही जाति के बल हैं। बलशून्य को आत्मबोध कभी नहीं हो सकता। जो स्मृतिशास्त्र योनिभाव का पूर्ण समर्थक है, वही कर्म्माचरण का कैसा पक्षपाती है, यह वादी के पूर्वोद्धृत वचनों से तो स्पष्ट है ही, अब हम अपनी ओर से भी कुछ एक वचन इस सम्बन्ध में इस अभिप्राय से उद्धृत करना चाहते हैं कि, जिन द्विजातियों को जाति का अतिशय अभिमान है, जो ब्राह्मण केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से ही अपने आपको कृतकृत्य मान बैठे हैं, जिन्होंने जातिभाव को केवल उदरपोषण का साधक बना लिया है, वे उन वचनों को आंखें खोल कर देखें, और यह देखें कि, उन्हीं का शास्त्र कर्म्म-विद्यादि के अभाव में इन की कैसी भर्त्सना कर रहा है।

न जाति, र्न कुलं, राजन् ! न स्वाध्यायः, श्रुतं न वा।
कारणानि द्विजत्त्वस्य वृत्तमेव हि कारणम् ॥ १ ॥
किं कुलं वृत्तहीनस्य करिष्यति दुरात्मनः।
कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु ॥ २ ॥
जातिकर्म्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्म्मस्ववस्थितः ॥ ३ ॥
सत्यवाक् विघसाशी तु शीलवांश्च गुरुप्रियः।
सत्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥ ४ ॥
विद्या-तपश्च-योनिश्च एतद्-ब्राह्मणलक्षणम्।
विद्या-तपोभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥ ५ ॥

सत्यं, दानं, क्षमा, शील, मानृशंस्यं, दया, घृणा।
दृश्यन्ते यत्र लोकेऽस्मिन् तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ६ ॥
ब्रह्मचर्य्यं[1],* दया[2], क्षान्ति[3], ध्यानं[4], सत्यं[5], मकल्कता[6]।
अहिंसा[7],-स्तेय[8], माधुर्य्ये[9], दमश्चेति[10] 'यमाः' स्मृताः ॥ ७ ॥
स्नान[11]-मौनो[12]-पवासे[13]-ज्या[14]- स्वाध्यायो[15]-पस्थनिग्रहः[16]।
'नियमा'- गुरुशुश्रूषा[17]- शौचा[18]- क्रोधा[19]- प्रमादता[20] ॥ ८ ॥
साङ्गांस्तु चतुरो वेदान् योऽधीते वै द्विजर्षभ !
षड्भ्यो निवृत्तः कर्म्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥ ९ ॥

---

* १—निषिद्ध परस्त्रीगमन न करते हुए केवल स्वदारगमन (ऋतुकालादि में यथाशास्त्र) ही 'ब्रह्मचर्य्य' है। २—प्राणिमात्र को विपत्ति से मुक्त करने की इच्छा रखना ही 'दया' है। ३—सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आदि सांसारिक द्वन्द्वों को शान्ति पूर्वक सहने की शक्ति रखना ही 'क्षान्ति' है। ४—स्वाभिमत इष्टदेवता का स्मरण करते रहना ही 'ध्यान' है। ५—लोककल्याण के लिए यथार्थ बोलना ही 'सत्य' है। ६—दम्भवृत्ति का परित्याग रखना ही 'अकल्कता' है। ७—जिस हिंसा का शास्त्र विधान नहीं करता, उस से बचना ही 'अहिंसा' है। ८—न लेने योग्य दूसरे के स्वत्व पर दृष्टि न डालना ही 'अस्तेय' है। ९—समाज के शिष्टपुरुषों से अनुगृहीत लोकसम्मत वेश-भूषा, शिष्ट सम्भाषण, सभ्य चेष्टा, आदि का अनुगमन ही 'माधुर्य्य' है। १०—हित-मित-प्रियभोजनादि से, हित-मित-प्रियभाषणादि से इन्द्रियमदों को उत्तेजित न होने देना ही 'दम' है। ११—यथासमय ब्राह्ममूहूर्त्त में नित्यस्नान से, ग्रहण, आशौचादि से सम्बन्ध रखने वाले नैमित्तिक स्नान से कायशुद्धि रखना ही 'स्नान' है। १२—किसी को पीड़ा पहुंचाने वाली, निषिद्ध, अश्लील, असभ्य, शिष्टासम्मत वाणी का उच्चारण न करना ही 'मौन' है। १३—नित्य, नैमित्तिक देवतानुबन्धी अनशन करना ही 'उपवास' है। १४—देव-पितृ-ऋषि—आदि को उद्देश्य बना कर द्रव्यत्याग द्वारा यज्ञ-श्राद्ध-तर्पणादि करना ही 'इज्या' है। १५—नियमित रूप से साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन करना ही 'स्वाध्याय' है। १६—कामशास्त्रविरुद्ध, आयुर्वेदविरुद्ध कुत्सितरतिक्रीड़ा का निरोध रखना ही 'उपस्थनिग्रह' है। १७—गुरु की इच्छानुसार चलना ही 'गुरुशुश्रूषा' है। १८—मलमूत्र परित्याग, स्नानादि से कायशुद्धि

जो महानुभाव वर्णव्यवस्था के जन्मभाव पर आक्षेप करते हैं, बुरा करते हैं। परन्तु उनसे भी अधिक बुरा वे कर रहे हैं, जो जाति-मात्रोपजीवी बनते हुए भी वर्णव्यवस्था का निरर्थक अभिमान रखते हैं। जात्यभिमान ने वर्णव्यवस्था की जो दुर्दशा की है, उसी का यह दुष्परिणाम है कि, आज इस सर्वमान्य ईश्वरीय व्यवस्था पर लोगों को आक्षेप करने का अवसर मिल रहा है। दूसरों को दोषी ठहराते हुए हमें पहिले अपने दोषों का भी अन्वेषण कर लेना चाहिए। केवल चीत्कार से ही तो हम वर्णों का महत्व सुरक्षित नहीं रख सकते। सहयोगी कहा करते हैं, दान-धर्म्म उठ गया, धर्म्म-कर्म्म लुप्त हो गया। ठीक है, परन्तु क्यों? उत्तर स्पष्ट है। सारा दोष दूसरों पर डाल देना कहां तक न्याय सङ्गत है? यह उन्हीं सहयोगियों को विचार करना चाहिए। हम कुछ कर्त्तव्य करें नहीं, समाज को हम से सिवाय हानि के लाभ कुछ हो नहीं, और फिर जात्यभिमान का उद्घोष करते फिरें, सर्वथा निरर्थक।

अस्तु, 'कर्म्म की उपयोगिता सर्वमान्य है' यह स्वीकार करते हुए भी 'योनि का प्राधान्य सुरक्षित है' यह मान लेने में उन परपक्षियों को भी कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए। देखिए न, द्विज के द्विजत्त्व विकास के लिए ही श्रौत-स्मार्त्त सस्कारों का विधान हुआ है, जैसा कि आगे आनेवाले—'**संस्कारविज्ञान**' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। संस्कार-विधान केवल द्विजातिवर्ग के लिए ही नियत है। यदि जाति का कोई महत्व न होता, तो शूद्रवर्ग को संस्कारों से क्यों वञ्चित रक्खा जाता।

जाति का कोई महत्त्व न मानने वाले उन शास्त्रनिष्ठ बन्धुओं से हम पूछते हैं कि, विना 'जातिभाव' माने वे शास्त्रसिद्ध '**नामकरणसंस्कार**' को कैसे सुरक्षित रख सकेंगे? उत्पन्न शिशु का उत्पत्तिदिन से दसवें दिन नामकरणसंस्कार करने का विधान है। एव साथ ही में इस सम्बन्ध मे यह आदेश है कि —

करना, इन्द्रियसयमादि से अन्त करण शुद्ध रखना, विद्या-तप आदि से कारणात्मा को पवित्र बनाए रखना, इस प्रकार बाह्य-आभ्यन्तर मलों को दूर करते रहना ही 'शौच' है। १९,—विना कारण किसी को मार बैठना, गाली दे देना, अभिशाप दे बैठना, ओर ओर निन्द्य क्रूर कर्म्म कर बैठना क्रोध है, इन वृत्तियों से बचना ही 'अक्रोध' है। २०,—शास्त्रविहित कर्म्मों में प्रवृत्त रहना, शास्त्रनिषिद्ध कर्म्मों से बचना ही 'अप्रमादता' है।

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्, क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य जुगुप्सितम् ॥

उत्पन्न शिशु अभी किसी कर्म्म की योग्यता नहीं रखता। फिर उस का वर्णोचित नामभेद किस आधार पर विहित हुआ ? अवश्य ही आपको योनिभाव का आश्रय लेना पड़ेगा। विना इस के नामसंस्कार सम्भव नहीं। इन्हीं सब कारणों के आधार पर हम ने वर्णव्यवस्था, एवं इस का कुलक्रमानुगत भाव, दोनों को प्रकृतिसिद्ध ही माना है।

इसी कुलमहिमा से भारतवर्ष इस अवनत दशा में भी अपने आदर्श में सर्वश्रेष्ठ बना हुआ है। जो शिल्पकलाएं भारतवर्ष में उपलब्ध होती हैं, वीसवीं सदी का सुसमुन्नत पश्चिमी जगत् उस की नकल भी नहीं कर सकता। बात वास्तव में यथार्थ है। जिस की वंशपरम्परा में जो कर्म्म चला आ रहा है, जिस के मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा में, शुक्र-शोणित में सदा से वंशकर्म्मानुगत वासनाएं अविच्छिन्न रूप से चली आ रहीं हैं, वह उस वासना-वासित कर्म्म में जितना नैपुण्य प्राप्त कर सकता है, वह निपुणता एक नवीन शिष्य में कभी नहीं आ सकती। भारतवर्ष का सर्वोत्कृष्ट शिल्प, ब्राह्मणवर्ग का लोकोत्तर ज्ञानवैभव, क्षत्रियों का अपूर्व पौरुष, वैश्यों की प्रभूत पशुसम्पत्ति, ये सब कुछ विकास इसी कुलपरम्परा की महिमा हैं। यदि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था व्यक्तिप्रधान ही रही होती, तो कभी भारतवर्ष अभ्युदय-निःश्रेयस के इस सर्व्वोच्च शिखर का अधिकारी न बनने पाता।

आज जो इस देश मे अशान्ति हो रही है, इस का एक मात्र कारण वर्णसाङ्कर्य्य, एवं तन्मूलक कर्म्मसाङ्कर्य्य ही है। अपने कुलक्रमानुगत कर्म्मों का परित्याग कर आज सब बनना चाहते हैं [1]। यदि एक व्यक्ति चर्खा कातने दौड़ता है, तो सब उसी के पीछे लट्ठ लेकर दौड़ पड़ते हैं, मानों राष्ट्र की एकमात्र आवश्यकता यही रह गई हो। यदि कोई व्यक्ति चिकित्सक बनता है, तो सब उसी ओर झुक पड़ते हैं। यदि किसी वैश्य को व्यापार में लाभ हो जाता है, तो ब्राह्मण, अब्राह्मण सब उसी ओर झुक पड़ते हैं। कोई साहित्यिक पत्र निकालता है, तो सब को यही धुन सवार हो जाती है। किसी स्वर्णकार के बनाए

---

१ सर्वे यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे सर्वस्वमिच्छन्ति तत्र नाशः प्रवर्त्तते ॥

आभूषण यदि लोकप्रिय बन जाते हैं, बन्धुगण इसी ओर प्रणत बन जाते हैं। परिणाम य
होता है कि, किसी क्षेत्र में किसी को पूर्ण सफलता नहीं मिलती। समाज अपने नैतिक ब
को खोता हुआ अर्थसङ्कट में पड़ जाता है। आज बीमारों से अधिक चिकित्सक हैं, पढ़
वालों की संख्या से अधिक पत्रों की संख्या है, पहिनने वालों से अधिक आभूषण बना
वाले हैं। मुवक्किलों से अधिक वकील हैं। विद्यार्थियों से अधिक शिक्षक हैं, खरीदनेवाल
से अधिक दूकानें हैं, चढ़नेवालों से अधिक सवारियाँ हैं। और सभी "अब मरे, आज म
कल मरे, रोजगार मन्दा है" मन्त्र का जप कर रहे हैं।

यह निश्चित है कि, जबतक जातिविभाग के आधार पर कर्म्मविभाग न होगा, तबत
स्वयं परमेश्वर भी शान्ति स्थापित नहीं कर सकते। जो मनुष्य, जो वर्ण, अधिकार सि
कर्म्म का परित्याग कर दूसरी ओर जाता है, वह कभी सुखी नहीं रह सकता, एवं ऐसे अ
धिकृत व्यक्तियों का वह समाज भी, समाज समष्टिरूप राष्ट्र भी कभी समृद्ध नहीं बन सकत
'स्वे स्वे-कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' से बढ़कर शान्ति-स्थापन का और क
अन्यमार्ग नहीं है। विज्ञान, दर्शन, साहित्य शिल्प, कला, कृषि, पशु, वस्त्र, आदि स
राष्ट्र के लिए आवश्यक हैं। राष्ट्र को सभी चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब कि स
का वर्गीकरण किया जाय, सब का कर्म्म नियमित रूप से प्रकृतिसिद्ध श्रेणी-विभाग के आध
पर विभक्त किया जाय। क्योंकि सभी कर्म्म अन्योऽन्याश्रित हैं। आवेश में आकर स
का एकतः अनुगत बन जाना सर्वनाश का ही कारण है।

यह महादुःख का विषय है कि, आज हमनें अपनी अज्ञता के कारण ब्रह्म-क्षत्र, दोन
रक्षक बलों की उपेक्षा कर दी है, अपना लिया है, एकमात्र-वणिग्धर्म्म, तथा शूद्रधर्म्म। य
पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि, ब्रह्म-क्षत्र बल ही रक्षक बल हैं। अर्थ, तथा प्रवर्ग्यरू
राष्ट्र का बाह्य कलेवर इन्हीं दोनों से सुरक्षित रह कर पनपता है। यदि राष्ट्र इन रक्षकों क
उपेक्षा कर देता है, तो उस की विनष्टि निश्चित है। यदि हमें वास्तव में राष्ट्राभ्युदय अपेक्षि
है, यदि सचमुच में हम देश का कल्याण चाहते हैं, तो हमे सर्वप्रथम ब्रह्म बल का आश्रय लेन
पड़ेगा, ब्रह्मबल के आधारपर क्षत्रबल की प्राणप्रतिष्ठा करनी पड़ेगी। क्षत्र को ब्रह्म का अनु
गामी बनाना पड़ेगा। इस के लिए ब्राह्मणवंश को अग्रगामी बनाना पड़ेगा। इस उद्देश

उक्त वर्णमीमांसा का निष्कर्ष यही हुआ कि, वर्णसृष्टि का मूल जन्म ही है। साथ ही जन्मभाव की रक्षा, विकास, प्रसार आदि के लिए वर्णानुकूल कर्म्मानुष्ठान भी नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार 'जन्मप्रधानकर्म्म' ही वर्णव्यवस्था का मूलस्तम्भ बनता है। इसी रहस्य को व्यक्त करते हुए, जन्म-कर्म्म, दोनों को व्यवस्था की प्रतिष्ठा बतलाते हुए भगवान् ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥

—गी० ४।१३।

श्लोकस्थ 'गुण' शब्द सत्व-रज-स्तमोगुणमयी प्रकृति का ही सूचक है। प्रकृति ही जाति (योनि) की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार 'गुण' शब्द से जहां भगवान् वर्ण-व्यवस्था को जन्मपरक सिद्ध कर रहे हैं, वहां 'कर्म्म' शब्द द्वारा वर्णस्वरूपरक्षार्थ कर्म्म की भी अवश्य-कर्त्तव्यता सूचित कर रहे हैं। वर्णव्यवस्था के इसी तत्व को लक्ष्य में रख कर धर्म्माचार्य्यों ने कहा है—

'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च'।

—वसिष्ठ।

आर्षसाहित्य पर जिन्हें अणुमात्र भी निष्ठा है, वे अवश्य ही पूर्वप्रतिपादित 'वर्णव्यवस्था' स्वरूप के आधार पर भारतीय वर्णव्यवस्था की प्रामाणिकता, उपयोगिता, तथा अनुगमनीयता स्वीकार करेंगे। परन्तु अभी भारतवर्ष में ही एक समुदाय ऐसा शेष रह गया है, जो प्रत्येक विषय में पश्चिमी विद्वानों की सम्मति को ही मुख्य स्थान देता है। उस की दृष्टि में पूर्वी विद्वानों के विचार जहां केवल कल्पना प्रसूत हैं, वहां पश्चिमी विद्वानों के सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर कसे हुए, अतएव विशेष प्रामाणिक हैं। अवश्य ही हमें इस वर्ग की तुष्टि के लिए भी कोई न कोई उपाय ढूंढ निकालना पड़ेगा, जिस से कि इन परानुवर्त्तियों का ध्यान भी इस महत्व-पूर्ण व्यवस्था की ओर आकर्षित किया जा सके।

वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में परविचार—

सुप्रसिद्ध दार्शनिक (Philosopher) 'सुकरात' (Socrates) के प्रिय शिष्य, सर्वश्री 'प्लेटो' (Plato) के नाम से हमारा उक्त वर्ग भलीभाति परिचित होगा, साथ ही मे उसके सुप्रसिद्ध 'रिपब्लिक' (Republic of Plato) ग्रन्थ से भी वह अपरिचित न होगा। प्लेटो ने इसी ग्रन्थ म वडे विस्तार के साथ 'वर्णव्यवस्था' की मीमासा की है। और इस मीमासा के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुचा है कि, समाज को सुव्यवस्थित वनाए रखने के लिए मानववर्ग का चार भागों मे श्रेणि-विभाजन अत्यावश्यक है। इस मे तो कोई सन्देह नहीं कि, प्लेटो के ये विचार केवल भूतवाद से सम्बन्ध रखते हैं। भारतवर्ष मे जिस आधार पर इस व्यवस्था का आविष्कार हुआ है, उसके साथ प्लेटो की व्यवस्था की तुलना नहीं की जा सकती। क्यो कि वहा ब्रह्म-क्षत्र विट्-शूद्र भावों का विकास असम्भव है। यद्यपि यह ठीक है कि, प्लेटो ने भी भारतीयशास्त्र की तरह इन विभागो को प्रकृति-सिद्ध ही वतलाया है। तथापि 'यस्मिन् देशे मृगः कृष्णः'० वाले पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार इस ऐन्द्री व्यवस्था का उन वारुण देशों मे विकसित होना सर्वथा प्रकृतिविरुद्ध है। ब्रह्ममूलक वेदशास्त्र, तथा तन्मूलक वर्णाश्रम विभाग एकमात्र भारतवर्ष की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति है। इस कथन से अभिप्राय हमारा यही है कि, समाज सघठन के नाते स्वीकृत प्लेटो का वर्ण विभाग उद्धृत करने मात्र से ही कोई कल्पना रसिक यह न मान बैठे कि, भारत की तरह यदि वहा भी चार विभाग हो जायगे, तो व भी ठीक यहीं की तरह कर्म्म-कलाप के अनुगामी वन जायगे। अथवा तो उन्हें भी वेदस्वाध्याय, यज्ञादि कर्म्मों का अधिकार मिल जायगा, वहा के व्यक्ति भी ब्राह्मणवत् पूज्य वन जायगे। यद्यपि यह ठीक है कि, ब्रह्मक्षत्रादि वर्ण बीजरूप स न केवल वहा के मनुष्यों में ही प्रतिष्ठित हैं, अपितु पूर्वकथनानुसार चारो वर्ण, चारो अवर्ण पदार्थमात्र मे वीजरूप से प्रतिष्ठित हैं। और वहुत सम्भव है, इसी आधार पर प्लेटो ने इस अपने काल्पनिक विभाग को प्रकृतिसिद्ध भी मान लिया हो। तथापि सव स वडा ऐन्द्र-वारुणदेश भेद ही वहा के लिए प्रतिवन्धक वन रहा है, एव वना रहेगा। हा चारो वीजों का वारुणभाव से वहा भी अवश्य ही विकास सम्भव है, जिसका कि एकमात्र उपयोग वाह्य-सामाजिक सघठन पर विश्रान्त है। प्रकृत में प्लेटो के उदाहरण से हमे केवल यही सूचित करना है कि, मानवसमाज का वर्गीकरण पश्चिमी विद्वानो को भी स्वीकृत है। वे भी रजो-वीर्य्य की शुद्धि को विशेष महत्व दे रहे है। उन मे भी जातिविभाग आवश्यक रूप से स्वीकृत है। हा, तो पहिले सामान्य दृष्टि से उन देशों के वर्गीकरण की मीमासा कीजिए।

पश्चिमी देशों के मानव समाज को 'ज्ञान-क्रिया-अर्थ-प्रचर्य' भेद से चार भागों में विभक्त माना जा सकता है। यही क्यों, हमें तो आज यह कहने में भी कोई संकोच नहीं कि, जहां हमनें मूर्खतावश अपने श्रेणि-विभागों की उपेक्षा कर अपना सब कुछ खो दिया है, वहां पश्चिमी देशों नें अपने वर्ग-नियन्त्रणरूप व्यवस्था-विभाजन के आधार पर भूतोन्नति की परम सीमा प्राप्त कर ली है। अस्तु, प्रकृत में उन्नति-अवनति का ऊहापोह अनपेक्षित है। अभी हमें वहा के इन चारों विभागों के कर्त्तव्य-कर्म्मों का विचार करना है, जो कि विभाग उन्हीं की परिभाषानुसार क्रमशः १—क्लर्जी (Clergy), २—सोल्जर (Soldier), ३—मर्चेन्ट (Merchant), ४—लेबर (Labour), इन नामों से व्यवहृत किए जा सकते हैं।

धर्म्ममन्दिरों के (गिरजाघरों के) अधिष्ठाता, धर्म्मोपदेशक, धर्म्मगुरू ही 'क्लर्जी' हैं, जो कि 'पादरी'-'धर्म्मपिता' 'फादर' 'पोप' आदि नामों से भी व्यवहृत हुए हैं। ईसायित स्वीकार करते समय इन्हीं धर्म्मगुरुओं से 'बप्तिस्मा' लिया जाता है। पानी डालने की एक विशेष प्रक्रिया का ही नाम 'बप्तिस्मा' है। हमारे यहां भी यज्ञादि कर्म्मों में दीक्षित होने वाले यजमान को पहिले 'अप उपस्पर्श' ही करना पड़ता है। न केवल यज्ञकर्म्म में ही, अपितु सभी धार्मिक कृत्यों में पानी द्वारा ही संकल्प का अभिनय होता है, जिसका कि अनुकरणमात्र यत्र-तत्र स्वीकृत है। वक्तव्यांश प्रकृत में यही है कि, उपदेश देना, धर्म्मग्रन्थ (बाइबिल) का प्रचार करना, ईश्वरीयज्ञान की दीक्षा देना, ये सब 'क्लर्जीसम्प्रदाय' के ही कार्य्य माने गए हैं।

दूसरा विभाग 'सोल्जर' है। सिपाही को ही सोल्जर कहा जाता है। शस्त्रबल से समाज की रक्षा करना, पारस्परिक अशान्तियों का दमन करना, इस का मुख्य कर्म्म है। तीसरा व्यापारी वर्ग 'मर्चेन्ट' नाम से प्रसिद्ध है। वाणिज्य ही इस का मुख्य कर्म्म है। मजदूरपेशा लोगों का समुदाय ही 'लेबर' वर्ग है। शारीरिक श्रम से समाज की सेवा करना इस का मुख्य काम है। इसी दृष्टि के आधार पर हम कह सकते हैं कि, ज्ञानोपदेशक 'क्लर्जी' वहां का 'ब्राह्मणवर्ग' है, रक्षक सोल्जर 'क्षत्रियवर्ग' है, वाणिज्याधिष्ठाता मर्चेन्ट 'वैश्यवर्ग' है, एवं श्रमानुगामी लेबर 'शूद्रवर्ग' है। इस प्रकार रूपान्तर से वहां भी श्रेणि-विभाग स्पष्टरूप से उपलब्ध हो रहा है। अब इसी सम्बन्ध में प्लेटो के विचार भी सुन लीजिए।

the saviours of the State. But should they ever acquire homes or lands or moneys of their own, they will become housekeepers and husbandmen instead of guardians, enemies and tyrants instead of allies of the other citizens; hating and being pated, plotting and being plotted against, they will pass their whole life in much greater terror of internal than of external enemies, and the hour of ruin, both to themselves and to the rest of the State, will be at hand. For all which reasons may we not say that thus shall our State be ordered, and that these shall be the regulations appointed by us for our guardians concerning their houses and all other matters. ?"

—*Republic of Plato. 417.*

१—"(समाज के मुखिया ही 'गार्जियंस' कहलावेंगे)-उनका जीवन ऐसा (निम्न लिखित) होना चाहिए। जहा तक बन पड़े, ये मुखिया लोग अपनी कोई निजी स्थायी सम्पत्ति न बनावें, अथवा (राजनियमानुसार न बना सकें)। इनके निवासस्थानों में किसी का प्रवेश निषिद्ध न हो—(क्योंकि ये सबके शिक्षक हैं, सबके साथ मित्रता रखनेवाले हैं, सबकी जिज्ञासाओं का समाधान करना इनका आवश्यक कर्त्तव्य है)। इनका (ज्ञानीय) भाण्डार सबके लिए खुला रहना चाहिए। ऐसे संयमी, तथा उत्साही लोगों को (वारियर-श्रेणि के लोगों को), जो कि युद्ध करने में दक्ष हों, इन गार्जियन लोगों की आवश्यकताएं पूरी करनी चाहिएं। जिस वस्तु की इन्हें आवश्यकता हो, वह वस्तु उन योद्धाओं की

the saviours of the State. But should they over acquire homes or lands or moneys of their own, they will become housekeepers and husbandmen instead of guardians, enemies and tyrants instead of allies of the other citizens; hating and being pated, plotting and being plotted against, they will pass their whole life in much greater terror of internal than of external enemies, and the hour of ruin, both to themselves and to the rest of the State, will be at hand. For all which reasons may we not say that thus shall our State be ordered, and that these shall be the regulations appointed by us for our guardians concerning their houses and all other matters. ?"

—*Republic of Plato. 417.*

१--"(समाज के मुखिया ही 'गार्जियंस' कहलावेंगे)-उनका जीवन ऐसा (निम्न लिखित) होना चाहिए। जहां तक वन पड़े, ये मुखिया लोग अपनी कोई निजी स्थायी सम्पत्ति न वनावें, अथवा (राजनियमानुसार न बना सकें)। इनके निवासस्थानों में किसी का प्रवेश निषिद्ध न हो—(क्योंकि ये सबके शिक्षक हैं, सबके साथ मित्रता रखनेवाले हैं, सबकी जिज्ञासाओं का समाधान करना इनका आवश्यक कर्त्तव्य है)। इनका (ज्ञानीय) भाण्डार सबके लिए खुला रहना चाहिए। ऐसे संयमी, तथा उत्साही लोगों को (वारियर-श्रेणि के लोगों को), जो कि युद्ध करने में दक्ष हों, इन गार्जियन लोगों की आवश्यकताएं पूरी करनी चाहिएं। जिस वस्तु की इन्हें आवश्यकता हो, वह वस्तु उन योद्धाओं की ओर से इन्हें निश्चितरूप से मिला करे क्योंकि ये गार्जियन (निस्वार्थभाव से) समाज की सेवा करते हैं--(अतएव इनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति का भार समाज के सुसम्पन्नवर्ग पर ही है)। (समृद्ध समाज की ओर से) उन गार्जियनों को जो कुछ मिले, वह न अधिक हो, न कम। वे गार्जियन एक ही भोजनालय में भोजन करें, एवं इस तरह रहें, जैसे केम्पों में रहा करते हैं। (अर्थात् वे लोग अपने लिए ऐसे स्थायी प्रासाद न बना डालें, जिन का मोह इन की ज्ञानशक्ति का विघातक बन जाय, अपितु इन्हें केम्पों की भांति अस्थायी निवास-स्थान (पर्णकुटियां) हीं वनानें चाहिएं।

प्लेटो का यह विशेष आग्रह है कि, यह श्रेणि-विभाग प्रकृतिसिद्ध ही माना जाय। इस ने मनोविज्ञान (Psycology) के आधार पर सत्व रजः-तमोमयी त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अनुसार समाज को १—गार्जियंस (Guardians), २ सोल्जर्स (Soldiers), ३—आर्टिजंस (Artisans), इन तीन भागों मे विभक्त किया है। निगहवान, द्रष्टा, पथपदर्शक का ही नाम गार्जियन है। प्लेटो के मतानुसार इसे हाथ-पैरों से (शरीर से) विशेष काम नहीं लेना पड़ता, अपितु ज्ञान-शक्ति ही इस का प्रधान साधन है[1]। प्लेटो इन्हें समाज के 'मुखिया' मानता है, 'प्रधान' मानता है[2]। इस मुखिया वर्ग को अपना जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ प्लेटो कहता है—

1. "In the first place, none of them should have any property of his own beyond what is absolutely necessary; neither should they have a private house or store closed against any one who has a mind to enter; their provisions should be duly such as are required by trained warriors, who are men of temperance and courage; they should agree to receive from the citizens a fixed rate of pay, enough to meet the expences of the year and no more; and they will go to mess and live together alike soldiers in a camp. Gold and Silver we will tell them that they have from god; the divines metal is within them, and they have, therefore, no need of the dross which is current among men, and ought not to pollute the divine by any such earthly admixture; for that Commoner metal has been the source of many unholy deeds, but their own is undefiled. And they alone of all the citizens may not touch or handle silver or gold, or be under the same roof with them, or wear them, or drink from them. And this will be their salvation, and they will be

---

[1] भगवान् मनु ने भी ज्ञानोपासक ब्राह्मण के लिए शारीरिकश्रम निषिद्ध माना है।

[2] ब्राह्मण अग्नि प्रधान है, अग्नि प्रजापति का मुखस्थानीय है। तत्स्थानीय ज्ञानोपदेशक वर्ग मुख्य बनता हुआ अवश्य ही समाज का 'मुखिया' माना जायगा।

the saviours of the State. But should they ever acquire homes or lands or moneys of their own, they will become housekeepers and husbandmen instead of guardians, enemies and tyrants instead of allies of the other citizens; hating and being pated, plotting and being plotted against, they will pass their whole life in much greater terror of internal than of external enemies, and the hour of ruin, both to themselves and to the rest of the State, will be at hand. For all which reasons may we not say that thus shall our State be ordered, and that these shall be the regulations appointed by us for our guardians concerning their houses and all other matters. †"

—Republic of Plato. 417.

१—"(समाज के मुखिया ही 'गार्जियंस' कहलावेंगे)-उनका जीवन ऐसा (निम्न लिखित) होना चाहिए। जहां तक बन पड़े, ये मुखिया लोग अपनी कोई निजी स्थायी सम्पत्ति न बनावें, अथवा (राजनियमानुसार न बना सकें)। इनके निवासस्थानों में किसी का प्रवेश निषिद्ध न हो—(क्योंकि ये सबके शिक्षक हैं, सबके साथ मित्रता रखनेवाले हैं, सबकी जिज्ञासाओं का समाधान करना इनका आवश्यक कर्त्तव्य है)। इनका (ज्ञानीय) भाण्डार सबके लिए खुला रहना चाहिए। ऐसे संयमी, तथा उत्साही लोगों को (वारियर-श्रेणि के लोगों को), जो कि युद्ध करने में दक्ष हों, इन गार्जियन लोगों की आवश्यकताएं पूरीं करनीं चाहिएं। जिस वस्तु की इन्हें आवश्यकता हो, वह वस्तु उन योद्धाओं की ओर से इन्हें निश्चितरूप से मिला करे क्योंकि ये गार्जियन (निस्वार्थभाव से) समाज की सेवा करते हैं—(अतएव इनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति का भार समाज के सुसम्पन्नवर्ग पर ही है)। (समृद्ध समाज की ओर से) उन गार्जियनों को जो कुछ मिले, वह न अधिक हो, न कम। वे गार्जियन एक ही भोजनालय में भोजन करें, एवं इस तरह रहें, जैसे केम्पों में रहा करते हैं। (अर्थात् वे लोग अपने लिए ऐसे स्थायी प्रासाद न बना डालें, जिन का मोह इन की ज्ञानशक्ति का विघातक बन जाय, अपितु इन्हें केम्पों की भांति अस्थायी निवास-स्थान (पर्णकुटियां) हीं बनानें चाहिएं।

गार्जियन वर्ग को मालूम होना चाहिए कि, उन के हृदयों में परमात्मा ने दैवीसम्पत्ति प्रतिष्ठित कर रक्खी है, अतएव उन्हें सोने चाँदी की कोई आवश्यकता नहीं है। पार्थिव-सम्पत्ति उन के आध्यात्मिक (दैवी) धन को अपवित्र (निर्बल) बनाएगी, क्योंकि इस सिक्के ने हीं संसार में असंख्य उपद्रव खड़े किए हैं। (चूंकि सांसारिक भौतिक सम्पत्ति का परिग्रह दैवी आध्यात्मिक ज्ञानसम्पत्ति का विरोधी है, इस के स्वाभाविक विकास को रोकने वाला है, अतएव) उन के लिए सोने चाँदी को छूना पाप है। जिस मकान में ये धातु हों, (उन सम्पत्तिशालियों के उच्च प्रासादों में) जाना (स्थायीरूप से रहना) पाप है। इन धातुओं के आभूषण पहिनना, और इन धातुओं के बरतनों में पानी पीना पाप है। यदि वे इन नियमों का (यथावत्) पालन करते रहेंगे, तो वे अपनी, तथा अपने समाज की रक्षा कर सकेंगे।

(ठीक इस के विपरीत) जब वे सम्पति का संग्रह कर लेंगे, जब उन के पास जमीन, घर, रुपय्या पैसा हो जायगा, तो (वे इन सांसारिक सम्पत्तियों के मोह में फँस कर) रक्षक होने के स्थान में एक जमीन-घर-दौलत वाले व्यापारी बन जायँगे, और परिणामस्वरूप अपने समाज के सहायक होने की जगह उसे दबाने वाले स्वामी बन जायँगे। उन का जीवन घृणा करने, तथा किए जाने में, षड्यन्त्र करने, तथा षड्यन्त्रों का शिकार बनने में बीत जायगा। फलतः समाज नष्ट हो जायगा। इस लिए गार्जियन की स्वरूप रक्षा के लिए इसी प्रकार के राजनियम बनना क्या आवश्यक नहीं है ? (जिन नियमों के नियन्त्रण से यह विपरीत मार्ग का अनुगामी न बन सके)।"

धर्म्माचार्य्य मनु ने ब्रह्मवीर्य्यप्रधान ब्राह्मणवर्ण के लिए जिन जिन नियमोपनियमों का विधान किया है, तत्वदर्शी प्लेटो ने भी ब्राह्मणवर्गस्थानीय, ज्ञानोपदेशक गार्जियनवर्ग के लिए उन्हीं नियमों से मिलते-जुलते नियमोपनियमों का नियन्त्रण आवश्यक समझा है। एवं इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, समाज-सुव्यवस्था के लिए प्लेटो की दृष्टि में समाज का वर्गीकरण ही अन्यतम साधन है।

गार्जियन, वारियर आदि श्रेणि विभाग केवल मनुष्य की ही कल्पना है ? अथवा इस विभाग में प्रकृति का भी कुछ हाथ है ? यह प्रश्न भी प्लेटो के सामने उपस्थित होता है। तत्त्वपरिशीलन के अनन्तर इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी वह इसी निष्कर्ष पर पहुंचता है कि— नहीं, यह केवल सामाजिक कल्पना ही नहीं है, अपितु इस कल्पना के मूल में प्रकृति का पूर्ण सहयोग विद्यमान है। प्लेटो का अभिप्राय यही है कि, समाज में ज्ञान क्रिया-अर्थरूपा जो

शक्तियाँ उपलब्ध होतीं हैं, वे अवश्य ही उन व्यक्तियों के प्रातिस्विक गुण हैं। व्यक्तियों की समष्टि का ही तो नाम समाज है। यदि व्यक्तियों में ये शक्तियाँ प्रकृतिदत्त न होतीं, तो समाज में इन का विकास सर्वथा असम्भव रहता। यही बात यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, सामाजिक वर्गीकरण प्रकृतिभेद (स्वभावभेद, योनिभेद, जन्मभेद) पर ही अवलम्बित है। अपने इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए प्लेटो कहते हैं—

2. "Whether the Soul has three principles of life ?

Certainly it has. The three principle divisions of Society, that we practically see in the world, can be but the reflection of the Soul itself."

२—"क्या आत्मा की तीन प्रकार की प्रकृतियाँ होतीं हैं ? क्यों नहीं। (अवश्य होतीं हैं)। यदि समाज के तीन प्रकार के विभाग हैं, तो ये अवश्य ही प्रकृति के ही विभाग होंगे। क्योंकि समाज में तीनों गुण व्यक्तियों के गुणों से ही आते हैं"।

गार्जियन 'सीनेटर' है, सोल्जर 'वारियर' है, एवं मर्चेन्ट 'आर्टिजन' है। "समाज के इन सभी विभागों को अपने अपने अधिकारसिद्ध नियत कर्म्मों में हीं प्रवृत्त रहना चाहिए। यदि इन में कभी परस्पर संकरभाव की प्रवृत्ति देखी जाय, तो उन का राजदण्डद्वारा नियन्त्रण करना आवश्यक है" यह सिद्धान्त स्थापित करते हुए प्लेटो प्रकृति भाव के साथ साथ इस वर्गीकरण के वंशानुगामी बनने की भी कामना प्रकट कर रहे हैं। देखिए !

3. "But when the cobbler, or any other man whom nature designed to be a trader, having his heart lifted up by wealth or strength or the number of his followers, or any like advantage, attempts to force his way into the class of warriors, or a warrior into that of lagislators and guardians, for which he is unfitted, and either to take the implements or the duties of the other; or when one man is trader, lagislator, and warrior all in one, then I think you will agree with me in saying that this interchange and this meddling of one with another is the ruin of the State.

It is necessary for good administration in a State that all people should do their own business and they should not be allowed to intermeddle with one another."

—*Republic of Plato 434 B.*

३ - "जब ऐसा व्यक्ति, जो प्रकृति के अनुसार आर्टिजन (वैश्य) प्रवृत्ति का है, अभिमान में आकर वारियर (क्षत्रिय) श्रेणि मे प्रविष्ट होना चाहता है, जब वारियर अपनी ऊंची श्रेणि के योग्य न रहता हुआ सीनेटर (ब्राह्मण) श्रेणि मे आना चाहता है, इस प्रकार जब एक ही व्यक्ति सब काम करना चाहता है, तब समाज मे दुर्व्यवस्था फैल जाती है। किसी भी राज्य मे सुशासन होने के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि, भिन्न भिन्न व्यक्तियों को अपने अपने नियत कर्म्म मे ही प्रवृत्त रक्खा जाय, और अव्यवस्था न होने दी जाय"।

बीजरूप से सर्वत्र, सभी जड़-चेतन पदार्थों मे प्रतिष्ठित वर्णविभाग की प्रकृतिसिद्धता में किसी तरह का सन्देह नहीं किया जा सकता। 'सैय्यद, पठान, शेख, मुगल' रूप से मुस्लिम जगत् मे भी सामाजिक वर्णविभाग उपलब्ध हो ही रहा है। ऐसी दशा में वर्ण-व्यवस्था को केवल काल्पनिक वस्तु मान बैठना कदापि न्यायसङ्गत नहीं कहा जा सकता। सम्पूर्णविश्व मे बीजरूप से व्याप्त वर्णसृष्टि ने केवल भारतवर्ष में हीं व्यवस्थितरूप क्यों प्राप्त किया ? भारतीय वर्णव्यवस्था वंशानुगत क्यों मानी गई। ? इत्यादि प्रश्नों का यथावत् समाधान करने के अनन्तर इस सम्बन्ध में केवल यही निवेदन करना शेष रह जाता है कि, यदि हमे अपने भारतराष्ट्र का कल्याण अभीप्सित है, यदि वास्तव मे हम सुख-शान्ति चाहते हैं, तो हमे अपनी शक्तियों का उपयोग एकमात्र इसी व्यवस्था की रक्षा मे करना चाहिए। एव मौलिकरहस्य परिज्ञान के द्वारा अपनी भ्रान्त कल्पनाओं का परित्याग कर 'एष धर्म्मः सनातनः' को ही मूल मन्त्र बनाना चाहिए।

इति—वर्णव्यवस्थाविज्ञानम्

* *

*